ॐ

परमात्मने नमः

नाटक समयसार प्रवचन

(भाग-2)

अध्यात्म प्रेमी कविवर पण्डित बनारसीदासजी कृत
नाटक समयसार ग्रन्थ पर
अध्यात्म युगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
शब्दशः प्रवचन अजीव द्वार पद 1 से 14,
कर्ता-कर्म क्रियाद्वार पद 1 से 36,
पुण्य-पाप एकत्वद्वार पद 1 से 16, आस्रव द्वार पद 1 से 15
तथा संवर द्वार पद 1 से 11, प्रवचन क्रमांक 34 से 68

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250

फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत
2080

वीर संवत
2550

ई. सन
2023

—: प्रकाशन :—

तीर्थधाम स्वर्णपुरी–सोनगढ़ में आयोजित
श्री आदिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव
के अवसर पर दिनांक **19 जनवरी से 25 जनवरी 2024**

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250 फोन : 02846–244334
2. श्री कुन्दकुन्द–कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई–400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर
अलीगढ़।

प्रकाशकीय

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावायभावाय: सर्व भावान्तरच्छिदे॥

सदेह विदेह जाकर महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग सर्वज्ञ परमदेवाधिदेवश्री सीमन्धर भगवान की दिव्य देशना का अपूर्व संचय करनेवाले, भरतक्षेत्र में सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञानसाम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकाल सर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केली करनेवाले हालते-चालते सिद्ध-सम भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम संवत् 49 के वर्ष में हुए हैं।

भगवान महावीर से प्रवाहित ज्ञान में आचार्यों की परम्परा से श्री गुणधर आचार्य को ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें पूर्व अधिकार के तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। तत्पश्चात् के आचार्यों ने अनुक्रम से सिद्धान्त रचे और परम्परा से वह ज्ञान भगवान कुन्दकुन्द आचार्य को प्राप्त हुआ।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य वि.सं. 49 में सदेह महाविदेह में आठ दिन गये थे, उन्होंने श्री सीमन्धर भगवान के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्मचर्चा का अमूल्य खजाना हृदयगत करके भरतक्षेत्र में आकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें का एक श्री समयसारजी द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है, जो भवरहित अशरीरी होने का शास्त्र है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के बाद लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् अध्यात्म के अनाहत प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहरे हार्द को स्वानुभवगत कर श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञान हृदय को खोलनेवाले, सिद्धपद साधक, मुनिवर सम्पदा को आत्मसात करके निज स्वरूप साधना के अलौकिक अनुभव से श्री समयसार शास्त्र की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य श्री अमृतचन्द्र आचार्यदेव को प्राप्त हुआ। उन्होंने 'आत्मख्याति' नामक टीका की रचना की। तदुपरान्त उन गाथाओं पर 278 मार्मिक कलश तथा परिशिष्ट की रचना की। यह टीका वाँचते हुए परमार्थतत्त्व के मधुर रसास्वादी धर्मजिज्ञासुओं के हृदय में नि:सन्देह आत्मा की अपूर्व महिमा आती है, क्योंकि आचार्यदेव ने इसमें परम हितोपदेशक, सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर भगवन्तों का हार्द खोलकर अध्यात्मतत्त्व के निधान ठसाठस भर दिये हैं। अध्यात्मतत्त्व के हार्द को सर्वांग प्रकाशित करनेवाली यह 'आत्मख्याति' जैसी सुन्दर टीका अभी तक दूसरी किसी जैन अध्यात्मग्रन्थ की लिखी हुई नहीं है।

श्री समयसार कलश पर अध्यात्मरसिक पण्डित श्री राजमलजी पाण्डे ने टीका लिखी है, जो वि.सं. सत्रहवीं शताब्दी में हुए हैं। वह उन्होंने राजस्थान के ढूंढार प्रदेश में बोली जानेवाली प्राचीन ढूंढारी भाषा में लिखी है। सामान्यबुद्धि के जिज्ञासु जीव भी सरलता से समझ सकें, इस प्रकार विस्तार से स्पष्टतापूर्वक और जोरदार शैली से स्पष्ट किया है। टीका में स्थान-स्थान पर निर्विकल्प सहज

स्वानुभव का अतिशय महत्त्व बतलाया है और उसकी प्राप्ति करने के लिये प्रेरणा दी है। वे कविवर श्री बनारसीदासजी से थोड़े से वर्ष पहले ही हो गये हों, ऐसा विद्वानों का मानना है।

श्री समयसार कलश की विद्वान् पण्डित राजमलजी ने टीका की और उसके आधार से विद्वान् पण्डित कविवर श्री बनारसीदासजी ने 'नाटक समयसार' की रचना की है। यह ग्रन्थ अध्यात्म का एक उज्ज्वल रत्न है।

पण्डित बनारसीदासजी का जन्म वि.सं. 1943 के माघ महीने में मध्य भारत में रोहतकपुर के पास बिहोली गाँव में हुआ था। उनका कुल श्रीमाण था और गोत्र बिहोलिया था। विद्वान कविवर श्री बनारसीदासजी ने पण्डित राजमलजी रचित 'समयसार कलश' के आधार से 'नाटक समयसार' की रचना की है। उसमें मंगलाचरण तथा उत्थानिका के 51 पद, जीवद्वार के 35 पद्य, अजीवद्वार के 14, कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार के 36, पुण्य-पाप एकत्व द्वार—16, आस्रव द्वार—15, संवर द्वार—11, निर्जरा द्वार—61, बन्ध द्वार—58, मोक्ष द्वार—53, सर्वविशुद्धिद्वार—137, स्याद्वाद द्वार—21+1, साध्यसाधक द्वार—56, चौदह गुणस्थानाधिकार—115, ग्रन्थ समाप्ति और अन्तिम प्रशस्ति के 40 पद की रचना की गयी है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्राय: लुप्त हुआ था। मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था। जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त लुप्तप्राय: हुए थे। परमागम मौजूद होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था। ऐसे में जैनशासन के नभमण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मयुगसृष्टा, आत्मज्ञसन्त, अध्यात्म युगपुरुष, निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावि तीर्थाधिराज परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय हुआ।

भारत की भव्य वसुन्धरा, वह सन्तरत्न पकने की पवित्र भूमि है। उसमें सौराष्ट्र का नाम अग्रगण्य है। अर्वाचीनयुग में अध्यात्मप्रधान जैन गगनमण्डल में चमकते नक्षत्र सम समीप समयज्ञ श्रीमद् राजचन्द्र, अध्यात्म युगसृष्टा आत्मज्ञ सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी और प्रशममूर्ति स्वानुभवविभूषित पवित्रात्मा बहिनश्री चम्पाबेन जैसे असाधारण स्वानुभूति धर्मप्रकाशक साधक महात्माओं की जगत को भेंट देकर, सौराष्ट्र की धरती पुण्यभूमि बनी है। तथा सोनगढ़ में एक ही रात्रि में सम्यग्दर्शन प्राप्त कर श्री निहालचन्द सोगानीजी ने सोनगढ़ से अपनी मोक्षयात्रा शुरु की है।

परम देवाधिदेव चरमतीर्थंकर परम पूज्य श्री महावीरस्वामी की दिव्यध्वनि द्वारा पुन: प्रवाहित और गुरु परम्परा द्वारा सम्प्राप्त जिस परम पावन अध्यात्मप्रवाह को भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 'परमागम समयसार' इत्यादि प्राभृत भाजनों में सूत्रबद्ध करके चिरंजीवी किया है, उस पुनीत प्रवाह के अमृत का पान करके, अन्तर के पुरुषार्थ द्वारा स्वानुभूति समृद्ध आत्मसाक्षात्कार पाकर, जिन्होंने सौराष्ट्र, गुजरात, समग्र भारतवर्ष तथा विदेश में भी शुद्धात्मतत्त्व प्रमुख अध्यात्मविद्या का पवित्र आन्दोलन

प्रसारित कर वर्तमान सदी के विषमय भौतिकयुग में दुःखी जीवों का उद्धार किया है, वे जिनशासन प्रभावक, करुणामूर्ति परमोपकारी परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की शुद्धात्म सुधारस मंगलमय पवित्रता, पुरुषार्थ से धधकता ध्येयनिष्ठ सहज वैराग्य नितरता उत्तम बालब्रह्मचर्यसहित पवित्र जीवन, स्वानुभूतिमूलक वीतरागमार्गदर्शक सदुपदेशों और दूसरे अनेकानेक उपकारों का वर्णन चाहे जितना संक्षिप्तरूप से किया जाये तो भी बहुत पृष्ठ भर जायें, ऐसा है।

पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने 45-45 वर्षों तक अलौकिक प्रवचनों और तत्त्वचर्चाओं द्वारा मुमुक्षुओं को निहाल कर दिया। उन्होंने 15 शास्त्रों पर सम्पूर्ण तथा अन्य सात शास्त्रों पर अमुक प्रवचन तथा अमुक शास्त्रों पर बहुत बार प्रवचन किये हैं। लगभग 9400 घण्टे के प्रवचन टेप और सी.डी. में संग्रहित किये गये हैं।

यदि अक्षरशः प्रवचन की पुस्तक बनायी जाये तो उसका बहुत लाभ मुमुक्षुओं को होगा। प्रवचन में आये हुए सन्दर्भ को शान्तचित्त से विशेष घोलन कर सके। न समझ में आये हुए सन्दर्भ पूछ सके, तथा किस अपेक्षा से और न्याय पूज्य गुरुदेव निकालकर देते हैं, उसका अवलोकन भी कर सके इत्यादि। अलग-अलग मण्डलों तथा व्यक्तियों की भावना थी कि सभी शास्त्रों के अक्षरशः प्रवचन प्रकाशित हों तो मुमुक्षुओं को बहुत लाभ का कारण होगा।

हमारे पार्ला मण्डल के ट्रस्टियों के समक्ष मुमुक्षुओं ने अनुरोध करने पर उन्होंने सहर्ष स्वीकारता पूर्वक अनुमोदना दी और पार्ला मण्डल ने श्री नाटक समयसार पर अक्षरशः प्रवचन प्रकाशित करने का निर्णय किया और तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्यवाही श्री पंकजभाई प्राणभाई कामदार को सौंपी गयी। जिससे मुमुक्षुओं से प्रवचन लिखाना, उन्हें जाँचना, कम्पोज कराना, दो बार प्रूफ रीडिंग और भाषा दृष्टि से चैक कराना तथा प्रकाशित कराना इत्यादि गतिविधियाँ सम्मिलित हैं।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज भी लाभ प्राप्त करे, इस भावना से और हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज की विशेष माँग को दृष्टिगोचर करते हुए प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद और सी.डी. प्रवचन से मिलान करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राज.) द्वारा किया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ में नाटक समयसार अजीवद्वार पद 1 से 14, कर्ता-कर्म क्रियाद्वार पद 1 से 36, पुण्य-पाप एकत्वद्वार पद 1 से 16, आस्रवद्वार पद 1 से 15 तथा संवरद्वार पद 1 से 11 के कुल 34 प्रवचन संग्रहित हैं।

सभी आत्मार्थी मुमुक्षुजन प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का भरपूर लाभ प्राप्त करें, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण,
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विले पार्ला, मुम्बई

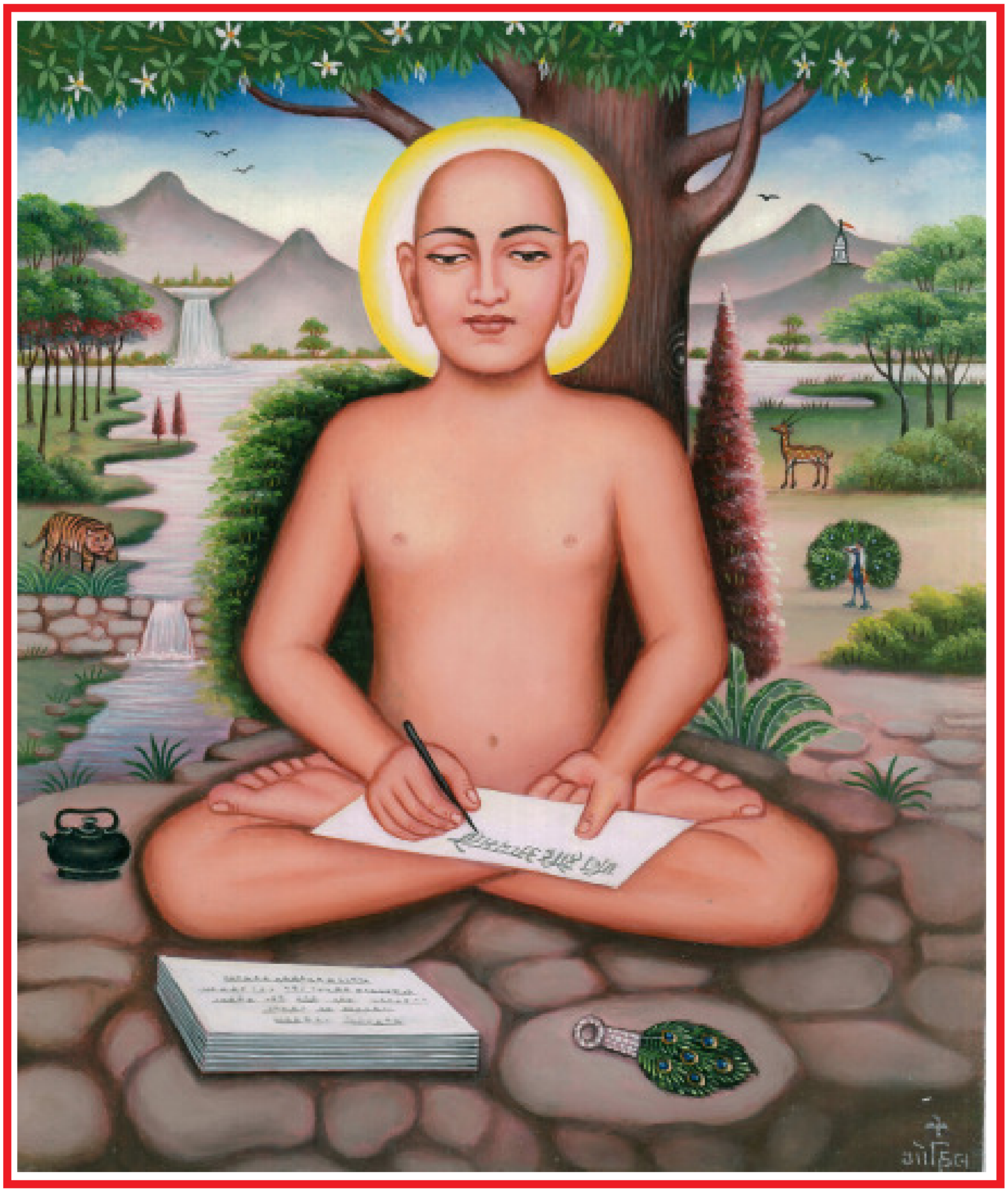

कलिकाल सर्वज्ञ श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

अध्यात्मयुगसर्जक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
– रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, – मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध–विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्लार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन–उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते–करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह–समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह

अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन–प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश–टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश–विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर–घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल–वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन–ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की

देश–विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश–विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 – फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार–पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी–कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय–व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र–गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग–मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर–कमलों से हुई।

जन्म–मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म–जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और

मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन,

और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं – यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	अधिकार तथा पद नम्बर	पृष्ठ नं.
३४.	**अजीव द्वार,** पद—८,९,१०	१
३५.	अजीव द्वार, पद—११,१२,१३ प्रवचन उपलब्ध नहीं	२३
३६.	अजीव द्वार, पद—१४ तथा अजीव द्वार का सार	२६
३७.	अजीव द्वार का सार, कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—१,२,३	४५
३८.	**कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार,** पद—४,५	६३
३९.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—६,७,८	८१
४०.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—९,१०	१०४
४१.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—११,१२	१२७
४२.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—१३,१४	१४४
४३.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—१५,१६	१६५
४४.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—१७ से २१	१८३
४५.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—२२,२३,२४	२०९
४६.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—२५, २६	२३३
४७.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—२७, २८	२५१
४८.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—२९, ३०	२७१
४९.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—३०,३१,३२	२९१
५०.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—३२,३३,३४	३०९
५१.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद—३५,३६	३२७
५२.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार का सार	३४४
५३.	कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार का सार तथा **पुण्य-पाप एकत्व द्वार,** पद—१,२,३	३६५
५४.	पुण्य-पाप एकत्व द्वार, पद—३ से ७	३८५
५५.	पुण्य-पाप एकत्व द्वार, पद—८, ९	४०७
५६.	पुण्य-पाप एकत्व द्वार पद—१०,११,१२,१३	४२९
५७.	पुण्य-पाप एकत्व द्वार पद—१४, १५	४४८
५८.	पुण्य-पाप एकत्व द्वार पद—१५, १६ और सार	४६६
५९.	पुण्य-पाप एकत्व द्वार अधिकार का सार	४८६
६०.	**आस्त्रव द्वार,** पद—१, २, ३, ४ प्रवचन उपलब्ध नहीं	५०६
६१.	आस्त्रव द्वार, पद—५ से १०	५०९
६२.	आस्त्रव द्वार, पद—११, १२, १३	४३२
६३.	आस्त्रव द्वार पद—१३, १४ तथा सार	५५०
६४.	आस्त्रव द्वार का सार	५७२
६५.	**संवर द्वार,** पद—१, २, ३	५९५
६६.	संवर द्वार, पद—३, ४	६१६
६७.	संवर द्वार, पद—५, ६, ७, ८	६३४
६८.	संवर द्वार, पद—९, १०, ११ तथा सार	६५६

ॐ

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

नाटक समयसार प्रवचन

(भाग - 2)

कविवर पण्डित बनारसीदासजी कृत **नाटक समयसार** पर
अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
अक्षरशः प्रवचन

प्रवचन नं. ३४, फाल्गुन शुक्ल ९, शुक्रवार, दिनांक ०५-३-१९७१
अजीवद्वार, पद ८, ९, १०

वर्णादि–सामग्र्य–मिदं विदन्तु निर्माण–मेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः।।७।।

★ ★ ★

काव्य - ८

जीव और पुद्गल की भिन्नता (दोहा)

वरनादिक पुदगल–दसा, धरै जीव बहु रूप।
वस्तु विचारत करमसौं, भिन्न एक चिद्रूप।।८।।

शब्दार्थ:–दशा–अवस्था। बहु=बहुत से। भिन्न=अलग। चिद्रूप (चित्=रूप)= चैतन्यरूप।

अर्थ:–रूप, रस आदि पुद्गल के गुण हैं, इनके निमित्त से जीव अनेक रूप धारण करता है। परन्तु यदि वस्तुस्वरूप का विचार किया जावे तो वह कर्म से बिल्कुल भिन्न एक चैतन्यमूर्ति है।

भावार्थः-अनन्त संसार संसरण करता हुआ जीव, नर नारक आदि जो अनेक पर्यायें प्राप्त करता है, वे सब पुद्गलमय हैं और कर्मजनित हैं, यदि वस्तुस्वभाव विचारा जावे तो वे जीव की नहीं हैं, जीव तो शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार, देहातीत और चैतन्यमूर्ति है।।८।।

काव्य - ८ पर प्रवचन

यह '**वरनादिक पुदगल-दसा**' पाठ में अर्थ किया है, यह कलश के अर्थ में मात्र समझाने के लिये किया है। कलश में आया नहीं, यह तो पूर्व में कहा था न कि सोने की म्यान के (कारण) सोने की तलवार कही जाती है और वास्तव में सोने की तलवार (नहीं है), तलवार तो लोहे की है। इसी प्रकार वर्णादि पुद्गल... वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शरीर, राग-द्वेष, दया-दान, विकल्प, गुणस्थानभेद, मार्गणाभेद—यह वास्तव में तो सब पुद्गल की दशा है। समझ में आया? सूक्ष्म बात, भाई! भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा हुआ आत्मा, वह आत्मा इसने कभी जाना नहीं और उसे जाने बिना इसे कभी जन्म-मरण मिटते नहीं।

कहते हैं कि '**वरनादिक पुदगल-दसा, धरै जीव बहु रूप।**' यह तो दृष्टान्त को लागू करने के लिये बात की है। जीव को शरीरवाला कहना, रागवाला, पुण्यवाला, दया-दान-व्रत-भक्ति या भेदवाला कहना, शरीर आदि जड़वाला कहना या पुण्य-पाप के विकल्पवाला कहना अथवा उसे गुणस्थान आदि के भेदवाला कहना, वह तो पुद्गल की दशा को व्यवहार से जीव की कहा जाता है। आहाहा! '**धरै जीव बहु रूप।**' भगवान आत्मा की दशा में... यह शरीर आदि तो मिट्टी-जड़ है, अजीव है। कर्म अजीव है। उस अजीव में जीव नहीं और जीव में अजीव नहीं। तथा पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव, वह भी वास्तव में तो पुद्गल सम्बन्ध के लक्ष्य से उत्पन्न हुए, वे भी पुद्गल हैं। उनमें जीव नहीं, जीव में वे नहीं। समझ में आया? तथा यह राग-द्वेष आदि के भाव के कारण आत्मा की दशा के भेद दिखते हैं, वह भेद भी वास्तव में आत्मा का स्वभाव नहीं, उसे आत्मा नहीं कहते। आहाहा! गजब!

'**वरनादिक पुदगल-दसा, धरै जीव बहु रूप।**' यह पर्यायदृष्टि से बात की है। व्यवहार से ऐसा कहा जाता है।'**वस्तु विचारत करमसौं**' भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव फरमाते हैं और ऐसा है कि वस्तु देखने से वह तो चैतन्यघन विज्ञानघन भगवान आत्मा है। वह '**करमसौं भिन्न एक चिद्रूप**' है, देखो! '**वस्तु विचारत करमसौं**' कर्म और कर्म के निमित्त में हुए पुण्य-पाप के विकार और उसके निमित्त से दशा में पड़ता भेद—वस्तु विचार करने से उनसे (वस्तु) भिन्न है। आहाहा! समझ में आया? पाठ है न उसमें?

'**वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु**' बस, जानो इतना, परन्तु क्या जानो? '**निर्माणमेकस्य हि पुद्‌गलस्य**' जरा जोर इतना है कलश में तो कि यह भगवान आत्मा तो विज्ञानघन एकरूप चैतन्य है। बाकी यह सब एक पुद्‌गल के जानो, ऐसा कहते हैं। है न पाठ? '**एकस्य हि पुद्‌गलस्य**' उसमें आत्मा की बिल्कुल अपेक्षा... भेद में, राग में और निमित्त में आत्मा की अपेक्षा है ही नहीं। भाई! आहाहा! अभी यह वास्तविक आत्मा किसे कहना और किसे जानने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है, इसकी खबर नहीं होती और उसे धर्म हो जाये (ऐसा नहीं होता)। अनन्त काल से ऐसा का ऐसा धर्म के नाम से भटककर स्वयं भूला है। भूलने से उसका भ्रमण अनन्त काल से मिटता नहीं।

कहते हैं कि भाई! भगवान आत्मा चैतन्यघन है न अन्दर एक। **एक चिद्रूप** है, (यह) विज्ञानघन का अर्थ किया है, कलश में विज्ञानघन (शब्द) है। उससे सब अन्य है। उसमें **भिन्न एक चिद्रूप....** धीरज की बात है, भाई! यह तो वीतरागस्वभाव की बात है। केवली परमात्मा ने कहा हुआ स्वभाव आत्मा का, वह चैतन्यघन है न, विज्ञान का घन है न, उसे आत्मा कहते हैं। और उसकी दृष्टि करने से जीव को सम्यग्दर्शन और धर्म होता है। कहो, समझ में आया?

यह दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम, वह तो विकल्प—राग है। उस राग को तो यहाँ पुद्‌गल कहा है।

मुमुक्षु : राग को पुद्‌गल कहते हैं, यह पकड़ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्‌गल का अर्थ ही यह कि एकरूप चैतन्य के अतिरिक्त सब

पुद्‌गल के कार्य हैं। एक जीव और बाकी सब अजीव—ऐसा यहाँ तो सिद्ध करना है। आहाहा! वह अजीव भी वस्तु है। एक ब्रह्म और जगत मिथ्या, ऐसा नहीं। ब्रह्म भी है और जगत भी है। ब्रह्म में जगत नहीं और जगत में ब्रह्म नहीं। समझ में आया?

यहाँ तो निर्माण... '**निर्माणं एकस्य हि**' जोर दिया है। भगवान आत्मा में एक (प्रदेश में) रंग, गन्ध, रस, स्पर्श जो यह मिट्टी दिखती है या अन्दर में यह दया-दान-व्रत-भक्ति, काम-क्रोध के भाव दिखते हैं, वह सब एक पुद्‌गल ही है। आहाहा! गजब बात है। धरमचन्दभाई! यह भारी कठिन पड़े लोगों को, हों! तीन लोक के नाथ परमात्मा तीर्थंकरदेव समवसरण में विराजते हों, उनकी भक्ति और उनकी स्तुति का भाव, कहते हैं कि पुद्‌गल से उपार्जित है। भगवान! तेरा नहीं। आहाहा! यह वह कहीं बात!

मुमुक्षु : तेरा हो तो ऐसा होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : तेरा हो तो भिन्न पड़े नहीं और भिन्न पड़े वह तेरा है नहीं।

यहाँ तो एक पुद्‌गल को पर की अपेक्षा बिना... भगवान आत्मा चैतन्यघन है, उसकी अपेक्षा बिना निरपेक्षरूप से (राग होता है)। जैसे आत्मा राग और पर की अपेक्षा बिना स्वत: तत्त्व है, ऐसे आत्मा के स्वभाव की अपेक्षा बिना भेद, राग, पुण्य, दया-दान और शरीर वह (किसी की) अपेक्षा बिना अकेले पुद्‌गल के हैं। पर की अपेक्षा उसमें है नहीं। समझ में आया? गले उतरना भारी कठिन! ऐई सेठी! यह जीव में होता है न?

मुमुक्षु : अज्ञान की दशा में चलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! कठिन काम।

'**वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु**' (**विदन्तु** अर्थात्) जानो। '**निर्माणमेकस्य हि पुद्‌गलस्य**' आहाहा! जिसे आत्मा की अपेक्षा नहीं। राग, दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम होने में, अरे! गुणस्थान आदि के भेद होने में... वस्तुस्वरूप जो अभेद चैतन्यघन है, जो सम्यग्दर्शन का विषय है, जो जीव का वास्तविक निश्चय सत्यस्वरूप है, उसकी अपेक्षा गुणस्थानभेद, पुण्य-पाप, दया-दान के भाव, कर्म और शरीर में जीव की बिल्कुल अपेक्षा नहीं। आत्मा की अपेक्षा बिना मात्र पुद्‌गल से बनी हुई चीज़ है। ऐई चन्दुभाई!

आहाहा! क्या करे? जगत को यह तत्त्व मिला नहीं, सुनने को मिलता नहीं। जैन में—वाडा में जन्मे, तो भी और ऐसे के ऐसे छह काय की दया पालो और यह व्रत करो और भक्ति करो और पूजा करो। अरेरे! जिन्दगी जाती है, भाई! वास्तविक तत्त्व की दृष्टि बिना अनन्त काल से ऐसा तो किया था, भगवान! तेरी चीज़ पूर्णानन्द प्रभु... विज्ञानघन कहा है यहाँ। क्योंकि वह भेद, राग और निमित्त का अभाव बतलाना है न! समझ में आया?

'**विज्ञानघनस्ततोऽन्यः**' भगवान आत्मा स्वयं चिद्घन है। आहाहा! कैसे बैठे? ....रंक होकर घूमे, भिखारी होकर घूमे। एक विकल्प आवे वहाँ, आहाहा! एक दया-दान, भक्ति के भाव किये वहाँ उसे ऐसा हो जाये कि आहाहा! हमने तो क्या किया मानो! समझ में आया? दो-चार-पाँच अपवास करे, वहाँ कहे आहाहा! अपने तो बड़ा धर्म किया। धूल भी नहीं, सुन न! तेरा अज्ञानरूपी पाडा ऐसी क्रिया को निगलकर राख कर डालता है, सुन न। समझ में आया? भगवान आत्मा विज्ञानघन उसके (लिये) यहाँ 'चिद्रूप' शब्द रखा। पद में रचना है न!

'**भिन्न एक चिद्रूप विज्ञानघनस्ततोऽन्यः**' उससे यह गुणस्थान के भेद, दया-दान-व्रत-तप के विकल्प—वृत्ति उठे, वह और कर्म और शरीर और रंग, गन्ध—यह सब विज्ञानघन से अन्य है और अन्य विघानघन की अपेक्षा रखे बिना पुद्गल से बने हुए—होते हुए हैं। चन्दूभाई! आहाहा! भारी कठिन काम! लोगों को जहाँ सुनने को मिला न हो, वहाँ चिल्लाहट मचा दे। यहाँ तो कहते हैं कि संसार का उदयभाव, वह सब पुद्गल है। भगवान! वह तेरी चीज़ नहीं। आहाहा! तीर्थंकरगोत्र का भाव विकल्प है, वह तेरा भाव नहीं, वह पुद्गल का है। गजब बात है। पोपटभाई! आहाहा! आत्मा के स्वभाव से बन्धन तीन काल में नहीं होता, उसे जीव का स्वभाव कहते हैं। जिस भाव से बन्धन हो, वह भाव जीवस्वभाव नहीं होता। आहाहा! जेठाभाई! आहा!

वे चिल्लाहट मचाते हैं। वे कहे, कर्म के कारण भटकता है। अब यह वहाँ इसे डाले। यह क्या अपेक्षा है? बापू! जीव की एकता के निर्मल स्वभाव के घन में उसका अभाव है। इसलिए उसका भाव—भेद का और पुण्य का और कर्म का—सब एक में डालकर (कहा कि) वह जीव के त्रिकाल स्वभाव की अपेक्षा बिना निरपेक्षरूप से हुए

एक पुद्गल स्वयं है। समझ में आया? कहो, भीखाभाई! अब इसमें क्या करना इसमें? आहाहा!

मुमुक्षु : कर्म आज्ञा करे तो हमारे वर्तन करना पड़े, ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्तना पड़े, ऐसा है। आहाहा! भारी विवाद उठे, हों! बाहर में तो विवाद ही उठे वाडावालों को तो।

मुमुक्षु : उनकी मान्यता खोटी....

पूज्य गुरुदेवश्री : मान्यता की खबर नहीं, बेचारे क्या करे? भाई! अरेरे! ऐसा तेरा भगवान विज्ञानघन है। वहाँ से दूर-दूर भागकर आत्मा को प्राप्त करना चाहे, वहाँ नहीं मिले, प्रभु! वहाँ नहीं। जहाँ नहीं, वहाँ से कैसे मिलेगा? और है कैसा, इसकी तुझे खबर नहीं। समझ में आया?

यह अजीव अधिकार है न! अजीव और अजीव के लक्ष्य से हुए भाव—भेद सब अजीव है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। आहाहा! प्रेमचनदभाई! बहुत बातें! वीतरागमार्ग है, उसकी खबर नहीं होती और वीतरागमार्ग ऐसा है, ऐसा लोग मानकर बैठे हैं भगवान के नाम से। आहाहा! बड़े के नाम से हुण्डी खपाय—खपे न! पण्डितजी! अरे भगवान! आहाहा! अनन्त ज्ञान का धनी प्रभु विशेष विज्ञानघन कन्द जिसमें भेद और विकल्प का प्रवेश नहीं। क्योंकि (चिद्) घन है, वह जीवस्वरूप है और भेद है, वह सब अजीवस्वरूप है। आहाहा! समझ में आया? लोगों को....

मुमुक्षु : बहुत अच्छी विचारणा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत अच्छा! आहाहा!

‘**वरनादिक पुद्गल-दसा, धरै जीव बहु रूप**’ यह तो दृष्टान्त है न पहले प्रश्न का। उसके साथ दृष्टान्त दिया वह। सोने की तलवार कहने जैसी है। तलवार सोने की नहीं। ऐसे पश्चात् भी घी के घड़े का दृष्टान्त दिया। घी का घड़ा कहनेयोग्य, परन्तु घड़ा घी का नहीं। घड़ा तो मिट्टी का है। समझ में आया? घड़ा कभी घी का होता होगा? घढ़ा है किसी ने घी का घड़ा?

मुमुक्षु : ना रे भाई, वह तो घढ़ा ही नहीं जाता।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान का रसकन्द है, वह तो चैतन्यरस स्वभाव का घन है। उसमें यह गुणस्थानभेद, राग, दया-दान-व्रत, व्यवहार रत्नत्रय—यह सब तो पुद्गल है, अजीवस्वभाव है। वह जीव का त्रिकाली स्वभाव, सम्यग्दर्शन का विषय वह नहीं। आहाहा!

कितने ही यह समयसार वाँचते हैं। एक व्यक्ति कहे, समयसार पन्द्रह दिन में वाँच गया। पन्द्रह दिन में क्या? रात्रि जागरण कर डाले तो दो-चार दिन में वंच जाये, उसमें क्या है? आहाहा! भाई! एक भी लाईन और एक भी गाथा समझना सूक्ष्म है, प्रभु! आहाहा! यह तो तुझे याद किया है उसमें। जेठाभाई! समयसार नाटक वाँच गये न दस घण्टे में। यह सब लाईन आ गयी होगी। हाँक गये गाड़ी, हो गया। दस घण्टे में वाँच गये भाई अभी। भक्ति में से बैठे थे, वे रात्रि के दस बजे तक। अक्षर वाँच गये अक्षर। आहाहा!

एक-एक लाईन में कितना भाव भरा है। संक्षेप में समझ में आये, ऐसा नहीं। संक्षेप में समझें हम और दूसरे विस्तार से (समझे), ऐसा भी नहीं। कुछ समझ में ही न आया हो और माने कि संक्षेप से समझ में आया है। समझ में आया? अब ऐसी बात है जरा। बापू! संक्षेप और विस्तार की व्याख्या तो ऐसी है कि वस्तु अभेद है और उसमें भेद और राग, दया-दान, शरीर और कर्म—यह सब पुद्गल से उपजे हुए हैं, इतना बहुत टूंका में—संक्षेप से समझे, उसका नाम संक्षेप कहलाता है। परन्तु इतना भी समझा नहीं और संक्षेप से समझे हैं, ऐसा नहीं होता। समझ में आया?

(संवत्) १९८० के वर्ष में यह संक्षेप की चर्चा हुई थी। ८० के वर्ष में। ४७ वर्ष हुए। संक्षेप रुचि है न, भाई! इसकी व्याख्या। संक्षेप रुचि। ऐसे सामने एक पड़े हुए। उन्होंने ऐसा कहा कि 'देखो, आपने तो सम्प्रदाय में पड़े हैं, वह बराबर श्रद्धा समकित है अपनी। अब संक्षेप रुचि अनुसार समझेंगे अपन। बहुत संक्षिप्त जानते हैं', ऐसा कहते थे। ऐई! पाँच महीने व्याख्यान हुआ थोड़ा इसलिए लोगों को ऐसा लगा कि और यह तो कुछ दूसरा प्रकार कहते हैं। इसलिए रात्रि में एक ने दूसरे को कहा कि 'भाई! अपने संक्षेप रुचि है, विस्तार नहीं जानते, इससे संक्षेप में अपने को (जानना)। अभी सम्प्रदाय

में धर्म मिला, वह समकित है। अब अपने व्रत और तप करना, वह चारित्र करने जैसा बाकी है।' अब धूल भी नहीं, कहा, इसमें। आहाहा!

अपने संक्षेप रुचि है, कहे। ऐई! तुम्हारे मूलचन्दजी ऐसा कहते थे। बेरिस्टर। क्या हो? उसमें उसे वह अज्ञान का ऐसा भाव हो जाये।

मुमुक्षु : उस प्रकार का ही करे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह प्रकार है। उसमें कुछ वह व्यक्ति की (आलोचना नहीं), वह तो दृष्टान्त... अरेरे! क्या हो? आहा! मृग की भाँति दौड़ादौड़ करे...। संकल्प, विकल्प और दया, दान, व्रत और भक्ति... 'दौड़त दौड़त दौड्यो जैसी मन की दौड़, प्रेम प्रतीक विचारो ढूंकडी, पण गुरुगम लई ल्यो जोड़।' यह बताते हैं कि अन्दर में अभेद चैतन्य वह तू है। समझे? यह दौड़-धूप क्रिया करके मर जा सूखकर। यह व्रत, तप और यह सब विकल्प हैं, वे सब पुद्‌गल हैं, उनमें तू है नहीं। उनसे तुझे तेरा प्राप्त होगा नहीं। आहाहा! समझ में आया? जेठाभाई!

'**वस्तु विचारत करमसौं**' देखो! यह शब्द रखा करम। परन्तु इसका अर्थ—यह कर्म कहो, पुद्‌गल कहो, भेद कहो, राग कहो, सब कर्म और सब पुद्‌गल। आहाहा! '**भिन्न एक चिद्रूप**' भगवान तो अन्दर ज्ञानानन्द चैतन्यरस विज्ञानरस एकरूप भाव, उसे भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा आत्मा कहते हैं। ऐसे विज्ञानघन पर दृष्टि पड़ने से उसे सम्यग्दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन तीन काल में दूसरे किसी प्रकार से नहीं होता। और सम्यग्दर्शन बिना उसे व्रत और तप—यह सब मूर्खाई से भरपूर बालतप और बालव्रत है। पण्डितजी! और पठन? बालतप और बालव्रत सब अज्ञान तप में आ गया।

'**निर्माणमेकस्य हि पुद्‌गलस्य**' यह तो 'एक' शब्द पड़ा है न इसमें, इसलिए संस्कृत में मैंने देखा कि 'एक' का अर्थ क्यों किया है। कहा, यह संस्कृत का अच्छा अर्थ किया है।

मुमुक्षु : अध्यात्म तरंगिणी में।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अध्यात्म तरंगिणी में। 'एक' है न, उसे एक को तो, एक ही पुद्‌गल है उसमें कोई दूसरा पक्ष ही नहीं (ऐसा कहा)। एक ही पुद्‌गल से बनी हुई

यह सब वस्तु है। ज्ञान, नहीं? (कलश) आठ में। '**निर्वर्त्य**' पश्चात्... देखो। यह ३९वाँ है।

'**निर्माणम् एकस्य... नान्यन्निष्पादितं**' है न? '**नान्यन्निष्पादितं... एकस्य धर्मादि पंचद्रव्य निरपेक्षस्य...**' धर्मास्ति, अधर्मास्ति, काल, आकाश और जीव—पाँच की अपेक्षा किये बिना बनी हुई यह सब पुद्गल की चीज़ है। बात तो यही कहनी है। उसमें 'एक' शब्द कहना है न। बजुभाई! समझ में आया? '**निर्माणम् एकस्य हि**' वापस जोर है न उसमें। एक ही पुद्गल का वह सब स्वरूप है। आहाहा! लोग चिल्लाहट मचाये। संसार की दशा, वह पुद्गल की दशा है, कहते हैं।

भिन्न एकरूप... देखो, वह अनेकता थी न, बहुरूप था न (उसके) सामने। भगवान आत्मा तो एकरूप विज्ञानघन, उसे निश्चय से सत्य जीव कहते हैं। इसलिए सब विकल्प और भेद, इन सबको एक ही पुद्गल कहते हैं। आहाहा! बातें बात। सुनते हुए चिल्लाहट मचाये। अरेरे! भगवान की भक्ति और देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा या भगवान एक सच्चे अरिहन्तदेव सच्चे, दूसरे कोई सच्चे नहीं, ऐसे सच्चे की श्रद्धा का राग, वह श्रद्धा का राग है, वह तो पुद्गल है। समझ में आया? बापू! तेरा भेद है उससे तू भिन्न है। आहाहा! समझ में आया? लो, यह श्लोक हुआ। '**वर्णादि सामग्र्यमिदं विदन्तु**' 'जानो' ऐसा है न? '**निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य**' वह सब एक पुद्गल की रचना (ऐसा) '**विदन्तु**'—जानो। '**ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा**'—इसलिए वह पुद्गल है, वह आत्मा नहीं। '**यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः**'—इसलिए विज्ञानघन भगवान जो सम्यग्दर्शन का विषय जो पूर्ण सत्यस्वरूप, उससे अन्य वह सब पुद्गल कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा!

तेरहवां गुणस्थान तेरा नहीं, अपने बोलते थे न भाई।

मुमुक्षु : चौदहवाँ भी तेरा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो तेरहवाँ तेरा नहीं, भाई कहते थे तलकचन्दभाई। भजन में रखा था। भजन है न! तेरहवाँ गुणस्थान तेरा नहीं। ऐसा कहीं सुना नहीं था। कहे, ऐई! आहाहा! तेरहवाँ गुणस्थान तेरा नहीं। ऐसा कि केवल (ज्ञान) तेरहवें गुणस्थान में

हो, वह आत्मा का नहीं। वह तो भेद है। अरे, अरे, भाई! समझ में आया? यह सातवाँ श्लोक, पद हुआ आठवाँ। अर्थ में है, देखो। **रूप, रस आदि पुद्‌गल के गुण हैं, इनके निमित्त से जीव अनेकरूप धारण करता है,....** देखो! इसके निमित्त से जीवदशा में अनेकरूप धारण करता है। **परन्तु यदि वस्तु स्वरूप का विचार किया जावे....** भगवान चैतन्यमूर्ति स्वरूप प्रभु का यदि विचार करे, अरेरे! **तो वह कर्म से बिल्कुल भिन्न एक चैतन्यमूर्ति है।** आहाहा!

यहाँ तो एक जरा सा उस बन्दर का दृष्टान्त दिया है न! वड के ऊपर बन्दर बैठा था। पत्र सूखे। एक-एक सूखता पड़े न सूखा नीचे, रोने लगे। वड की डाली के ऊपर बैठा हुआ। वड होगा न बड़ा। दो डाल के ऊपर.... दो पैर रखकर बैठा था। उसमें सूखे हुए पत्ते और हवा आवे। उसने माना हुआ कि यह सब मेरा है। सूखे पत्ते... एक पत्ता गिरे खड़खड़... हाय! हाय! एक दूसरा गिरे, हाय! हाय! ले! परन्तु यह कहाँ तू है, तेरा कहाँ है? ऐ पोपटभाई! कुछ थोड़ी लक्ष्मी आयी, उसमें थोड़ी जाये, कलेजा जलता है, यह मेरा। क्या है?

मुमुक्षु : तेल बहाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : तेल बहाया है, रामजीभाई कहते हैं। आहाहा! मेरा तो है क्या.... क्या हुआ? एक पत्ता टूटने पर.....

उसमें और वापस ऐसा था। उसमें दृष्टान्त दिया है। बन्दर बैठा था न ऊपर। नीचे धूप में उसकी छाया पड़ी। छाया पड़े न! ऊपर बैठा था और नीचे उसकी परछाईं। उसमें एक वह सिंह आया। छाया पर छाप मारी, ऊपर से नीचे गिरा। छाया गिरे न छाया। वह बन्दर वहाँ स्वयं कहाँ था? उस छाया को और जहाँ सिंह ने ऐसी छाप मारी, तो उसे ऐसा हो गया कि मुझे पकड़ा। नीचे गिरा। आहाहा! इसी प्रकार शरीर, वाणी, मन, पुण्य-पाप की छाया में जहाँ पकड़ा जाये, वहाँ उसे (ऐसा होता है कि) मैं पकड़ा गया। समझ में आया? आहाहा! मेरा कौन? भगवान तुझमें तो भेद नहीं न, अब तुझे किसे रोना है? किस चीज़ के जाने पर तुझे क्लेश करना है? समझ में आया? आहाहा!

भावार्थ: **अनन्त संसार संसरण करता हुआ जीव....** अनन्त काल से चौरासी के अवतार में भटकता है। नर—मनुष्य हुआ, नारकी, ढोर, देव आदि हुआ। **अनेक पर्यायें**

प्राप्त करता है... सधन, निर्धन, नारकी, देव (आदि) अनन्त अवस्था धारण करता है। **वे सब पुद्‌गलमय हैं...** वह तो सब पुद्‌गल की दशा के वेश हैं। आहाहा! यह स्त्री है और यह आदमी है और यह नपुंसक है। यह तो सब जड़ के वेश हैं। यह आत्मा कहाँ? यह तो आत्मा के वेश हैं ही कहाँ? परन्तु भ्रम घुसा है न इसे।

जहाँ शरीर जीर्ण हुआ, वहाँ (मानता है कि) मेरा शरीर जीर्ण हो गया, हों! मेरा शरीर जीर्ण हुआ। परन्तु मेरा-तेरा कब था? वह तो जड़ हुआ। आहाहा! **और कर्मजनित हैं...** वह तो कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए सब उपाधिभाव हैं। **यदि वस्तु स्वभाव विचारा जावे तो वे जीव की नहीं हैं।** वह जीव की दशा नहीं। **जीव तो शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार, देहातीत और चैतन्यमूर्ति है।** आहाहा! कब?

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि हो तब।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी ऐसा है वह, इसकी बात चलती है यह। आहाहा!

जीव तो शुद्ध है, बुद्ध है, निर्विकार है। विकार-फिकार वस्तु में है नहीं। देहातीत—देह से अतीत—भिन्न पड़ा है और वह है तो चैतन्यमूर्ति है। आहा! उसका विचार करने को अवसर कहाँ लिया है? यह जगत का भ्रमजाल, वहाँ से छोड़कर आया यहाँ व्रत, तप और साधु हुआ। वहाँ दया, दान, व्रत, भक्ति और तप में और गया वापस। तेल में से वह कहते हैं न? 'तेल में से चूल्हे में पड़ा।' वह की वह दशा है। आहाहा! समझ में आया? तेरा स्वरूप जो विकल्प से पार है, विज्ञानघन, देहातीत है, उसकी दृष्टि करने का इसने अवसर और अवकाश लिया नहीं। इसलिए कहते हैं कि यह ले अब तू। उसके अन्तर में स्वरूप के अभेद के भान बिना सम्यग्दर्शन होगा नहीं और सम्यग्दर्शन बिना कोई धर्म की दशा तुझे हो नहीं सकती। समझ में आया?

अब ९वाँ (पद)। इसमें ८वाँ, कलश ८वाँ।

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः।।८।।

वह दशा..... ली थी न उसकी।

★ ★ ★

काव्य - ९

देह और जीव की भिन्नता पर दूसरा दृष्टान्त (दोहा)

ज्यौं घट कहिये घीवकौ, घटकौ रूप न घीव।
त्यौं वरनादिक नामसौं, जड़ता लहै न जीव।।९।।

शब्दार्थ:-ज्यौं=जैसे। घट=घड़ा। जड़ता=अचेतनता।

अर्थ:-जिस प्रकार घी के संयोग से मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहते हैं परन्तु घड़ा घीरूप नहीं हो जाता, उसी प्रकार शरीर के सम्बन्ध से जीव छोटा, बड़ा, काला, गोरा आदि अनेक नाम पाता है, परन्तु वह शरीर के समान अचेतन नहीं हो जाता।

भावार्थ:-शरीर अचेतन है और जीव का उसके साथ अनन्त काल से सम्बन्ध है तो भी जीव शरीर के सम्बन्ध से कभी अचेतन नहीं होता, सदा चेतन ही रहता है।।९।।

काव्य - ९ पर प्रवचन

ज्यौं घट कहिये घीवकौ, घटकौ रूप न घीव।
त्यौं वरनादिक नामसौं, जड़ता लहै न जीव॥९॥

आहाहा! **जिस प्रकार घी के संयोग से मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहते हैं।** मिट्टी के घड़े को घी के सम्बन्ध से घी का घड़ा, ऐसा कहा जाता है। परन्तु वह घड़ा घी का नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **परन्तु वह घड़ा तो घीरूप नहीं हो जाता....** घड़ा कहीं घीरूप नहीं होता। घड़ा तो मिट्टीरूप ही रहा हुआ है, घीरूप होता नहीं। उसी प्रकार **शरीर के सम्बन्ध से जीव छोटा, बड़ा, काला, गोरा आदि अनेक नाम पाता है। परन्तु वह शरीर के समान अचेतन नहीं हो जाता।** आहाहा! समझ में आया?

शरीर छोटा, बड़ा.... अरे! रागी-द्वेषी, पुण्य-पापवाला, ऐसा जीव को कहा जाता है। अनेक नाम पाता है। यह पुण्यवन्त है और यह पापी है और यह अधर्मी है न, बापू! इसे पुण्य पूर्व का था, वह सब अभी सामग्री मिली है। यह तो डाले उसे निकलते हैं न। क्या धूल डाली है तूने? सुन न अब! ऐई मलूकचन्दभाई! क्या है यह? कहाँ गया तुम्हारा आया या नहीं, आया अभी?

मुमुक्षु : जापान गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : जापान गया, कहो। कहो, समझ में आया?

कहते हैं कि नाम दो उसे (मिट्टी के) घड़े को घी का (घड़ा), परन्तु कहीं घी का घड़ा होता नहीं। उसी प्रकार भगवान आत्मा को, यह पुण्यवाला और यह पापवाला और यह नपुंसक और यह पुरुष है और यह स्त्री है। यह मूर्ख है और यह पण्डित है — यह सब नाम दो, परन्तु वह कहीं उस वस्तुरूप होता नहीं। आहाहा! तब पैसावाला कौन होता होगा? यह पैसावाला नहीं होता आत्मा?

मुमुक्षु : पैसावाला पैसा होता है। पैसावाला जीव होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसावाला तो जड़ है। वह कहाँ आत्मा पैसावाला है? अरे, अरे गजब परन्तु!

वीतराग परमात्मा ऐसा कहते हैं, भाई! वह तो जड़ है न, वह जड़ तो जड़ के होकर रहते हैं। इसी प्रकार पुण्य-पाप के भाव विकार होकर, पुद्गल होकर रहे हैं, तेरे होकर रहे नहीं। आहाहा! बांथ में भरा है इसने। दया, दान, व्रत, भक्ति, और तप का जहाँ भाव-विकल्प आवे, वहाँ यह मेरे। बांथ भरी है मेरा मानकर। समझ में आया? बन्दर को.... उस घड़े में बोर थे बोर और घड़ा था छोटा। मुख छोटा, घड़ा तो बड़ा था। हाथ डाला। खाली हाथ तो गया अन्दर, परन्तु वह मुट्ठी भरी बड़ी। ऐसे निकालने गया, उसे लगा, यह भूत ने पकड़ा। कोई अन्दर भूत पकड़ता है। परन्तु यह मुट्ठी तूने पकड़ी है, सुन न अब!

इसी प्रकार शरीर, वाणी, मन, पुण्य और पाप में स्वयं पकड़ा गया है। यह मेरे... यह मेरे... पकड़ा तूने, छोड़ न अब! समझ में आया? मुझे पर ने पकड़ा है, कहे। ले! हीराभाई कहते होंगे भीखाभाई को?

मुमुक्षु : प्रभु! मैं पकड़ाया हूँ। वह नहीं पकड़ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा होगा? परन्तु हीराभाई जैसा लड़का हो, ऐसे वह आमदनीवाला। तुमको तब ३० रुपये वेतन मिलता था। और वह पीछे से कैसे ऐसा चतुरा और हलका और शान्ति से ऐसा.... देखो, ऐसा कुछ व्यवहार से तो कहलाये या

नहीं कि इस पिता का पुत्र? या घी का घड़ा कहना, ऐसा वह कहलाता है। आहाहा! अरे, अरे! गजब बात, भाई!

यह पुत्र का पिता होता नहीं। यह राग का पिता होता नहीं, तो फिर पुत्र का कहाँ से रह गया? आहाहा! पुद्गल का स्वामी जीव होगा? तब तो जीव जड़ हो जाये। यह दया-दान-व्रत-भक्ति के भाव विकल्प हैं, वह तो राग है, जड़ है, अचेतन है। उसमें चैतन्य का अंश नहीं है। उसका स्वामी हो तो वह जीव जड़ हो जाये। आहाहा! भाषा से बोला ऐसा जाता है कि इसने यह पुण्य किया, इसने व्रत पालन किये और यह... परन्तु वह जीव का स्वरूप ही नहीं। समझ में आया? कठिन काम, भाई! ऐसी बात भगवान की होगी? कोई ऐसा कहे, हों! अपने तो भाई जैनदर्शन में तो कन्दमूल नहीं खाना, रात्रिभोजन नहीं करना, अपवास करना, छह परबी पालना—ऐसा सब आता था। इसमें तो यह बात भी (नहीं है)। यह बोल तो चलते भी नहीं इसमें। सुन न अब! वह तो सब तेरी विकल्प की राग की क्रिया की बातें हैं। वह राग है, वह तेरी चीज़ ही नहीं है। तूने क्या किया, सुन न! आहाहा!

और कितने ही तो ऐसा कहते हैं कि भगवान के पास ऐसी भक्ति धुन लगा देना कि अपने को भूल जाना। भगवान में तन्मय हो जाना, भगवत्स्वरूप हो जाना। इसका अर्थ क्या? ऐई! बहिन नहीं कहती थीं? भाई नहीं तुम्हारे क्या? वकील भगवानजीभाई की बहू थी न?

मुमुक्षु : मणिबेन।

पूज्य गुरुदेवश्री : मणिबेन थीं, वे कहती थीं। बस ऐसा हुआ, श्रीमद् में आये तो बहिन एकरूप हो गयीं, ऐसा कहे। यह कल्पना ऐसी औरी ऐसी। वह माना हो न श्रीमद् ऐसे और श्रीमद् ऐसे। एकरूप हो गये हम, कहे। ऐसे के ऐसे कितने ही गप्प मारते हैं। कहीं तो श्रीमद् का फोटो हो न, उसमें से कुछ पानी झरे (तो) वह आहाहा... उसमें से पानी झरता है। परन्तु पानी क्या है? वह जड़ है। अब तू कहाँ आया वहाँ? ऐई! यह भगवान की मूर्ति में कहीं पानी झरे न, फिर लाखों लोग देखने निकले। ओहोहो!

मुमुक्षु : श्वेताम्बर में सब मूर्ति में से पानी झरे, सर्वत्र अखबार में आया करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत निकले, वह तो रखा हो उसमें। आया करे। यह तो गड़बड़-घोटाला है साधारण। पानी तो जड़ है। अब जड़ कहाँ निकलता था... और हो तो भी वह चैतन्य की जाति कहाँ है ? वह तो पर है अब। वह तो कोई देव आकर बनावे कहीं। वह सच्चा है नहीं, खोटा सब कल्पना है। उसमें आत्मा कहाँ आया ? और उसकी भक्ति में जो भाव है, वह तो राग है। वह राग है, वह तो विकल्प है, अचेतन है, आत्मा का स्वभाव है ही नहीं। आहाहा ! भारी कठिन पड़े, हों ! वाडा में तो रहने न दे, हों ! यहाँ तो सोनगढ़ में कहीं वाडा नहीं होता। कौन निकाले ? किसे निकाले ? ले। हमारे वाडा में ऐसा नहीं चलता। अब उस वाडा में न चले, घुसाओ पाडा को। पोपटभाई ! आहाहा !

भाई ! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के मार्ग का स्वरूप तो जीव का यह है। आहाहा ! यह वीतराग के मार्ग को इसने सुना नहीं और जो सुना वह खोटा वीतराग के नाम से। बराबर ? प्रकाशदासजी ! आहाहा ! यह तो सत् की बात के लिये.... इन्हें कहीं कोई व्यक्ति... बेचारा वह आत्मा है। अरे ! परन्तु उसकी खबर नहीं होती इसे और मानता है कि हम धर्म.... यह यह खोटा है, यह खोटा हुआ है। गलती करते हैं, कहे, गलती। आये थे न वहाँ जामनगर। इस एक मार्ग के अतिरिक्त सब तुम्हारे झूठे हैं, कहा। याद रखो। तुम्हारे सब अपवास-बपवास करके मर जाते हो....

मुमुक्षु : आत्मा की प्राप्ति का.... निमित्त से कहा है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त से बिल्कुल मिलता नहीं। निमित्त जड़ है, पर है। कहो, सेठी ! करो स्पष्टीकरण यहाँ। जवाहरात में वहाँ बहुत परीक्षा करते थे ये। सेठी जवाहरात जाँचते थे न ! यह जवाहरात है, वह तो धूल है। परन्तु है क्या वहाँ ? आहाहा !

लो। कहते हैं, जैसे घी के सम्बन्ध से घड़े को घी का कहते हैं, दवा के सम्बन्ध से शीशी को दवा की शीशी कहते हैं, ऐसी दवा की शीशी हो जाती होगी ? आहाहा ! सोने की म्यान के कारण तलवार को सोने की कहते हैं, वह तलवार सोने की हो जाती होगी ? वह तो लोहे की है। इसी प्रकार जीव को शरीरवाला कहना, पुण्य और दयावाला कहना, भक्ति के भाववाला कहना—यह सब निमित्त के कथन हैं। घी के घड़े जैसी बात है। आहाहा ! समझ में आया ? अरे ! ऐसी बातें कहाँ ? यह एक ही निश्चय सच्चा, पश्चात् दूसरा कोई व्यवहार नहीं ? है न, यह जीव से अन्य है। कहा न, सुना नहीं ? है

अन्य, वस्तु अन्य है। परन्तु वह अन्य है, व्यवहार वह अन्य है, वह जीव नहीं। समझ में आया? अरे गजब कठिन काम।

'त्यौं वरनादिक नामसौं, जड़ता लहै न जीव' भले नाम रखो इसके व्यवहार से रागवाला और व्यवहारवाला और पुण्यवाला, परन्तु (निश्चय से) तो वह मुक्तस्वरूप ही है। समझ में आया? इसलिए सम्यग्दृष्टि (के लिये) कहा है न कि आत्मा चैतन्यस्वरूप का जहाँ भान हुआ तो समकिती तो व्यवहार से मुक्त है, व्यवहार उसमें है ही नहीं। आहाहा! चौथे गुणस्थान से। ऐई देवानुप्रिया! क्या है कुछ सामने? नहीं।

मुमुक्षु : अब इसमें सामने लेने जैसा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : लेने जैसा नहीं। ठीक कहते हैं यह। इसमें ऐसा कहे कि ध्यान रखने जैसा है। ऐसा कहते हैं। उस समय दूसरे तर्क उठाने जाये तो आड़े-टेढ़े (भटक जाये), ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया?

वे आये थे... भाई कषायी मूढ़ बहुत...

मुमुक्षु : कषाय में मिथ्यात्व जोरदार है, वह सच्ची कषाय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐ देवानुप्रिया! कुछ करने गये थे कुछ, फिर हार गये उसमें। आहाहा! अरे भगवान! कषाय मन्द किसे कहना? बापू! तुझे खबर नहीं। यह राग की मन्दता, वह पुद्गल जड़ है। आहाहा! सेठी! उससे उसे अच्छा कहना... यद्यपि मन्द कषाय मिथ्यादृष्टि को वास्तव में हो नहीं सकती, परन्तु राग की मन्दता हो और दृष्टि मिथ्यात्व हो, परन्तु वह सब जड़ है वह तो। उसमें चैतन्य कहाँ आया? समझ में आया? **अचेतन नहीं हो जाता।**

भावार्थ : **शरीर अचेतन है और जीव का उसके साथ अनन्त काल से सम्बन्ध है तो भी जीव शरीर के सम्बन्ध से कभी अचेतन नहीं होता।** लाख वर्ष मिट्टी के घड़े में घी रहे, तो घड़ा हो जाता होगा घी का? लाख वर्ष रहे थे?

मुमुक्षु : अनन्त काल रहे तो भी नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो मिट्टी की पर्याय घट हुई है, वह तो घी के कारण से नहीं।

एक कस्तूरी का दृष्टान्त दिया था न कस्तूरी का। वीरजीभाई ने दृष्टान्त नहीं दिया था कस्तूरी का? कोई कस्तूरी रख गया होगा।

मुमुक्षु : बहियों में, बहियों में।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सवा सेर कस्तूरी रख गया वीरजीभाई के यहाँ। यह वकील जामनगरवाले। वीरजीभाई के यहाँ सेर-सवा सेर कस्तूरी रख गया। यह इज्जतदार व्यक्ति न... सन्दूक में पड़ी हुई। वह बहुत वर्ष तक रही और फिर ले गये। परन्तु जहाँ (सन्दूक को) उघाड़े वह... और बहियाँ पड़ी हुईं। बहियों का पृष्ठ फिरावे और कस्तूरी की गन्ध आवे। कस्तूरी तो ले गये। एक सवा सेर कस्तूरी थी। वीरजीभाई कहते थे। फिर पृष्ठ-पृष्ठ में (गन्ध आवे)। वे बहियाँ अन्दर पड़ी हुई न, पृष्ठ-पृष्ठ में गन्ध आवे। परन्तु वह तो कस्तूरी के रजकण वहाँ थे, वे कहीं बहियों के नहीं। बहियाँ कहीं गन्ध नहीं मारती। वह तो कस्तूरी की गन्ध है। समझ में आया?

इसी प्रकार पुण्य और पाप के विकल्प की गन्ध, वह पुद्गल की जाति है, आत्मा की नहीं। (भले) चाहे जितना काल इकट्ठे रहा हो। यह कहते हैं, देखो! वह तो पुद्गल की गन्ध है। आहाहा! **अनन्त काल से सम्बन्ध है तो भी जीव शरीर के सम्बन्ध से कभी अचेतन नहीं होता, सदा चेतन ही रहता है।** अचेतन की व्याख्या—राग और पुण्यरूप कभी होता नहीं, ऐसा अचेतन होता नहीं, ऐसा कहना है। समझ में आया? अभी यहाँ स्थूल बात, ऐसा नहीं कि शरीररूप होता नहीं, शरीररूप (होता नहीं)।

अब **आत्मा का प्रत्यक्ष स्वरूप,** लो! नौवाँ (कलश) नीचे।

अनाद्यनन्त-मचलं स्वसम्वेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्य-मुच्चैश्चक-चकायते।।९।।

जब भेद (वह) जीव नहीं, दया-दान, भक्ति के भाव जीव नहीं; शरीर, कर्म जीव नहीं, तो है कौन तब अब जीव? आहाहा! आत्मा का स्वरूप प्रत्यक्ष। स्वसंवेद्य शब्द है न।

★ ★ ★

काव्य - १०

आत्मा का प्रत्यक्ष स्वरूप (दोहा)

निराबाध चेतन अलख, जानै सहज स्वकीव।
अचल अनादि अनंत नित, प्रगट जगतमैं जीव।।१०।।

शब्दार्थ:-निराबाध=साता-असाता की बाधा रहित। चेतन=ज्ञानदर्शन। अलख= चर्म-चक्षुओं से दिखाई नहीं देता। सहज=स्वभाव से। स्वकीव (स्वकीय)=अपना। प्रगट=स्पष्ट।

अर्थ:-जीव पदार्थ निराबाध, चैतन्य, अरूपी, स्वाभाविक, ज्ञाता, अचल, अनादि, अनन्त और नित्य है, सो संसार में प्रत्यक्ष प्रमाण है।

भावार्थ:-जीव साता-असाता की बाधा से रहित है, इससे निराबाध है; सदा चेतता रहता है, इससे चेतन है; इन्द्रियगोचर नहीं, इससे अलख है; अपने स्वभाव को आप ही जानता है, इससे स्वकीय है; अपने ज्ञानस्वभाव से नहीं चिगता, इससे अचल है; आदि रहित है, इससे अनादि है; अनन्त गुण सहित है, इससे अनन्त है; कभी नाश नहीं होता, इससे नित्य है।।१०।।

काव्य - १० पर प्रवचन

निराबाध चेतन अलख, जानै सहज स्वकीव।
अचल अनादि अनंत नित, प्रगट जगतमैं जीव॥१०॥

अर्थ : **जीव पदार्थ निराबाध है।** इसका अर्थ बाद में करेंगे नीचे, हों! **चैतन्य, अरूपी, स्वाभाविक, ज्ञाता, अचल, अनादि, अनन्त और नित्य है, सो संसार में प्रत्यक्ष प्रमाण है।** कहते हैं कि तू ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञात हो, ऐसा ही आत्मा है। समझ में आया? स्वसंवेद्य है। यह दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम से आत्मा ज्ञात और आत्मा को लाभ हो, ऐसा आत्मा है नहीं। आहाहा! **जीव साता-असाता की बाधा से रहित है, इससे निराबाध है...** अब व्याख्या की एक-एक की। यह साता-असाता शरीर के परमाणु या

विकल्प उसमें है ही नहीं। वह—आत्मा तो आनन्द की मूर्ति है, उसे आत्मा कहते हैं। 'निराबाध' है। उसे कोई बाधा—पीड़ा करे, पीड़ा हो, अरे! उसमें विकल्प जो उठे दु:खरूप, वह आत्मा नहीं। साता की अनुकूलता शरीर में, पैसे की यह धूल आवे और उसमें मुझे ठीक है, ऐसा जो मानता है, यह ठीक है, यह राग है। राग है, वह दु:ख है, वह जीव नहीं। कहो, समझ में आया?

पाँच पच्चीस लाख, पचास लाख मिले हों और बस, आहाहा! बाग-बगीचा बनाया हो, फूल झाड़ में बैठा हो, शाम के चार बजे के पश्चात् निवृत्ति में, धूप जरा, सूर्य ऐसे नीचे पड़ा हो उस ओर, निवृत्त होकर सब आवे, श्रीखण्ड-पूड़ी तैयार किये हों और मील-दो मील में बड़े फूलझाड़ बाग हो। बड़े-बड़े राजा को बड़ा बाग होता है न। इसको थोड़ा पैसा तो थोड़ा... कितना होगा? थोड़ा? आधे मील में है, बाग कितना है बाग तुम्हारे? बाग। थोड़ा-बहुत होगा, लो न...

मुमुक्षु : यह तो मकान का भभका हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो, कहे, वहाँ ऐसी ऋद्धि, उस ऋद्धि में रहना ही पड़े, ऐसा कहता था न?

मुमुक्षु : रहना क्या पड़े, मिले ही वह उसमें, ऐसे मकान मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे वृक्ष, पत्ते और आहाहा! सिर पर ऐसे द्राक्ष के मण्डप हों और उसके झूमझूम लटकते हों। सेर-दो सेर... और उसमें कुर्सी डाली हो सोने की और उसमें बैठा हो और वह लकड़ी का होता न वस्त्र-बस्त्र ऐसा डालकर बैठा हो और १०-१५ ऐसे गप्प मारनेवाले सब सरीखे इकट्ठे हुए हों।

मुमुक्षु : मित्र हों, मित्र।

पूज्य गुरुदेवश्री : मित्र।

श्रीखण्ड और क्या कहा जाता है वह तुम्हारे? पतरवेलियां। अरबी और श्रीखंड। सुन मूढ़, कहते हैं, वह तो सातावेदनीय के फलरूप वस्तु है, वह जीव नहीं। और उसमें कल्पना करता है कि मुझे मजा आता है, वह राग है, दु:ख है; जीव नहीं। तू वह नहीं, ले! आहाहा! ऐई पोपटभाई! किसी समय बैठते होंगे न छहों इकट्ठे होकर सातों

व्यक्ति—छह लड़के और स्वयं। किसी समय। हर समय नहीं। कोई उत्साह का दिन हो, कोई दिवाली का हो। पहले से अधिक हुआ हो। अभी पैसे बढ़े हैं थोड़े। यह तो फिर ऐसा कोई अवसर हो तब होता है, जाति का इकट्ठा हो। ऐसा कहे, लोग बातें करते हैं कुछ। कहो, समझ में आया? अरे! गजब यह भ्रमणा की भूतावल क्या होगी?

मुमुक्षु : पक्की भूताबल।

पूज्य गुरुदेवश्री : पक्की भूताबल। कहते हैं कि साता से प्राप्त सामग्री जड़ और उसमें तू बैठे (और) कल्पना करे कि मुझे मजा आता है, वह भी जड़ है, वह तू नहीं। आहाहा! समझ में आया? वह चैतन्य नहीं, भगवान आत्मा नहीं। आत्मा तो आनन्द की मूर्ति है। आहाहा! गजब!

'**निराबाध**' उसमें (साता)-असाता दोनों लेना है वापस, हों! असाता की सामग्री सातवें नरक की। असाता के उदय से देखो तो रौरव नरक। परन्तु कहते हैं कि वह तो जड़ की सामग्री है और उसमें उहुं.... ऐसा होता है, अरुचि होती है, वह आकुलता दु:ख, वह भी जड़ है, तेरी जाति नहीं। आहाहा! तू तो निराबाध चैतन्य है। यह सुख-दु:ख की कल्पना की आकुलता से भिन्न और सामग्री से तो भिन्न है। आहाहा! यह भिन्न है, उसे आत्मा कहते हैं। आहाहा!

गजब भाई जगत को मिठास! उसमें शरीर जरा रूपवान हो, व्यवस्थित कोमलता हो और सब स्त्री ऐसी मिली हो और लड़के-लड़की भी ऐसे सब व्यवस्थित मिले हों, देखो, फिर मैं चौड़ा और गली सकरी। आहाहा! ऐ नेमिदासभाई! तुम्हारे लड़का नहीं तो क्या, परन्तु यह तो एक हो, उसकी बात है। आहाहा! परन्तु अभी सात लाख—दस लाख रुपये हैं, वहाँ डाले कहाँ? कुछ करेगा तो सही न? कहो, समझ में आया? आहाहा! गजब अब यह भारी भूताबल लगी है...।

पहले-पहले पालेज में गये न भाई! (संवत्) १९५९ का आसोज का महीना था। संवत् ५९ का आसोज महीना। यहाँ देश में से दुकान पर गये थे। दुकान पालेज में थी न, भरूच और बड़ोदरा के बीच। यह (संवत्) १९४६ में जन्म, इसलिए १४वाँ वर्ष चलता होगा। फिर एक उजाला दिन था या आसोज शुक्ल पूर्णिमा थी लगभग। इसलिए

फिर ऐसे दुकान के बाहर सो रहे थे। और उस समय तो पहला डरे, इसलिए बाहर में.... उसमें भूत है साथ में भूत। अब तो बिखेर दिया। वहाँ तो मकान हो गये हैं अब। जहाँ महिलायें रोना-पीटना करती थीं, इसलिए हम लड़कों ने मानो कहा, यह क्या है? इसलिए दूसरे कहे कि ....तुम छोटे लड़के हो न, इसलिए तुम्हारे वहाँ देखने नहीं जाना। क्यों? वह तो भूताबल यों ही भूताबल डाकन है, वह चुड़ैल है। यदि चुड़ैल बोले और हम हाँ करें तो चिपटेंगी। ओय मा! कहा, यह क्या है? चुड़ैल है।

मुमुक्षु : अब दृष्टान्त दिया तो पालना पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके लिये तो यह चलता है। कहते हैं, चुड़ैल है, वहाँ देखने जाना नहीं। और देखने जाने पर यदि वह कुछ बड़बड़ाये और हाँ किया तो चिपटेंगी, खून चूस लेगी। ओय ....! यह क्या? हमने कुछ सुना हुआ नहीं। फिर तो दुकान में धन्धा.... और फिर तो खबर पड़ी कि वह तो महिलायें फुरसत होकर रासडा लेती थीं। चुड़ैल-बुड़ैल कोई नहीं। इसी प्रकार इस अज्ञानी को राग और द्वेष तथा शरीर को देखकर 'ये मेरे हैं', यह चुड़ैल लगी हुई है इसे। मेरा... मेरा... मेरा... करके... खा जायेगी, तेरी चीज़ की शान्ति का खो हो जायेगा तुझे, सुन न! समझ में आया?

'**निराबाध**' आहाहा! भगवान! तू निराबाध है। पुण्य-पाप के विकल्प की गन्ध जिसमें नहीं, ऐसा प्रभु आत्मा है। ऐसे आत्मा को अन्दर में पहिचानकर श्रद्धा करना, इसका नाम धर्म है। वीतराग का धर्म यह है। समझ में आया? निराबाध है। सदा चेतना, चेतता रहे, इसके लिए चेतन है ऐसा। वह तो सदा जागृत है, इसलिए वह चेतन है। नींद के समय भी ऐसा कहे, मुझे बहुत मीठी नींद आयी थी। जागता है वहाँ वह, वह कहीं आत्मा सोता नहीं। आहाहा! समझ में आया? सदा चेतता रहता है, इसलिए यह चेतन है वह तो।

इन्द्रियगोचर नहीं इससे अलख है... है न तीसरा बोल? इन्द्रियगम्य नहीं, वह भगवान। यह (इन्द्रियाँ) तो जड़-मिट्टी-धूल, इनसे ज्ञात हो, ऐसा आत्मा नहीं है। विकल्प से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। अलख को कैसे पहिचानना? आता है न, भजन में आता है। अलख है, अलख। आहाहा! इन्द्रियाँ तो मिट्टी-जड़ है, उनसे गम्य कैसे हो?

वह तो अतीन्द्रिय प्रभु है आत्मा तो। आहाहा! इन्द्रियाँ खण्ड-खण्ड और जड़, उनसे भिन्न है, इसलिए उसे चेतन अलख कहते हैं।

अपने स्वभाव को आप ही जानता है.... स्वसंवेद्य। स्वकीव। '**जानै सहज स्वकीव**' ऐसा। स्वयं अपने आनन्द को और ज्ञान को जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। **अपने स्वभाव को आप ही जानता है....** अपना स्वभाव जानने के लिये पर की अपेक्षा नहीं। आहाहा! समझ में आया? स्वसंवेद्य है न मूल तो। इसका अर्थ किया है। '**सहज स्वकीव**' फिर डाला है। **जाने सहज स्वकीव**। वास्तव में '**स्वसंवेद्यमिदं**'... स्व अर्थात् अपने से, सम् अर्थात् प्रत्यक्ष। ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञात हो, ऐसा वह भगवान है। वह विकल्प से ज्ञात नहीं होता, वह राग से ज्ञात नहीं होता, निमित्त से ज्ञात नहीं होता, परोक्ष ज्ञान से भी ज्ञात नहीं होता। आहाहा! अपनी ज्ञानदशा, वह स्व और सम् अर्थात् प्रत्यक्ष ऐसे स्वसंवेदनमय यह भगवान है। उसके वेदन और उसे जानने के लिये किसी की अपेक्षा नहीं, ऐसा उसका स्वरूप है। ऐसे स्वरूप को अन्दर में पहिचानना और श्रद्धा—दृष्टि करके भान करना, इसका नाम जीव को जाना और आत्मज्ञान और धर्म कहा जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३५,
अजीवद्वार, पद ११, १२, १३ के ऊपर प्रवचन उपलब्ध नहीं हैं।
इसलिए मात्र ग्रन्थ पूर्ति हेतु छन्द दिये गये हैं।

काव्य - ११

अनुभव विधान (सवैया इकतीसा)

रूप-रसवंत मूरतीक एक पुदगल,
रूप बिनु औरु यौं अजीव दर्व दुधा है।
चारि हैं अमूरतीक जीव भी अमूरतीक,
याहीतैं अमूरतीक-वस्तु-ध्यान मुधा है।।
औरसौं न कबहूं प्रगट आप आपुहीसौं,
ऐसौ थिर चेतन-सुभाउ सुद्ध सुधा है।
चेतनकौ अनुभौ अराधैं जग तेई जीव,
जिन्हकौं अखंड रस चाखिवेकी छुधा है।।११।।

शब्दार्थ:-दुधा=दो प्रकार का। मुधा=वृथा। थिर (स्थिर)=अचल। सुधा=अमृत। अखंड=पूर्ण। क्षुधा (क्षुधा)=भूख।

अर्थ:-पुद्गलद्रव्य वर्ण, रस आदि सहित मूर्तिक है, शेष धर्म, अधर्म आदि चार अजीवद्रव्य अमूर्तिक हैं, इस प्रकार अजीवद्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक दो भेद रूप है; जीव भी अमूर्तिक है, इसलिए अमूर्तिक वस्तु का ध्यान करना व्यर्थ है। आत्मा स्वयंसिद्ध, स्थिर, चैतन्यस्वभावी, ज्ञानामृतस्वरूप है, इस संसार में जिन्हें परिपूर्ण अमृतरस का स्वाद लेने की अभिलाषा है, वे ऐसे ही आत्मा का अनुभव करते हैं।

भावार्थ:-लोक में छह द्रव्य हैं, उनमें एक जीव और पाँच अजीव हैं, अजीव द्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक के भेद से दो प्रकार के हैं, पुद्गल मूर्तिक है और धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार अमूर्तिक हैं। जीव भी अमूर्तिक है, जबकि जीव के सिवाय अन्य भी अमूर्तिक हैं तो अमूर्तिक का ध्यान करने से जीव का ध्यान नहीं हो सकता, अत: अमूर्तिक का ध्यान करना अज्ञानता है। जिन्हें स्वात्मरस आस्वादन करने

की अभिलाषा है, उन्हें मात्र अमूर्तिकता का ध्यान न करके शुद्ध चैतन्य, नित्य, स्थिर और ज्ञानस्वभावी आत्मा का ध्यान करना चाहिए।।११।।

★ ★ ★

काव्य - १२

मूढ स्वभाव वर्णन (सवैया तेईसा)

चेतन जीव अजीव अचेतन,
लच्छन-भेद उभै पद न्यारे।
सम्यक्दृष्टि-उदोत विचच्छन,
भिन्न लखै लखिकैं, निरवारे।।
जे जगमांहि अनादि अखंडित,
मोह महामदके मतवारे।
ते जड़ चेतन एक कहैं,
तिन्हकी फिरि टेक टरै नहि टारे।।१२।।

शब्दार्थ:-उभै (उभय)=दो। पद=यहाँ पद से पदार्थ का प्रयोजन है। उदोत (उद्योत)=प्रकाश। विचच्छन (विचक्षण)=विद्वान्। निरधारे=निश्चय किया। मद=शराब। मतवारे=पागल। टेक=हठ।

अर्थ:-जीव चैतन्य है, अजीव जड़ है; इस प्रकार लक्षण भेद से दोनों प्रकार के पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं। विद्वान लोग सम्यग्दर्शन के प्रकाश से उन्हें जुदे-जुदे देखते और निश्चय करते हैं, परंतु संसार में जो मनुष्य अनादि काल से दुर्निवार मोह की तीक्ष्ण मदिरा से उन्मत्त हो रहे हैं, वे जीव और जड़ को एक ही कहते हैं; उनकी यह कुटेक टालने से भी नहीं टलती है।

भावार्थ:-कोई एक ब्रह्म ही ब्रह्म बतलाते हैं, कोई जीव को अंगुष्ठ प्रमाण कोई तन्दुल प्रमाण और कोई मूर्तिक कहते हैं, सो इस पद्य में उन सबकी अज्ञानता बतलाई है।।१२।।

★ ★ ★

काव्य - १३

ज्ञाता विलास (सवैया तेईसा)

या घटमैं भ्रमरूप अनादि,
विसाल महा अविवेक अखारौ।
तामहि और स्वरूप न दीसत,
पुग्गल नृत्य करै अति भारौ।।
फेरत भेख दिखावत कौतुक,
सौंजि लियैं वरनादि पसारौ।
मोहसौं भिन्न जुदौ जड़सौं,
चिनमूरति नाटक देखन हारौ।।१३।।

शब्दार्थ:-घट=हृदय। भ्रम=मिथ्यात्व। महा=बड़ा। अविवेक=अज्ञान। अखारौ= नाट्यशाला। दीसत=दिखता है। पुग्गल=पुद्‌गल। नृत्य=नाच। फेरत=बदलता है। सौंजि= सांझा। पसारौ (प्रसार)=विस्तार। कौतुक=खेल।

अर्थ:-इस हृदय में अनादि काल से मिथ्यात्वरूप महा अज्ञान की विस्तृत नाट्यशाला है, उसमें और कोई शुद्ध स्वरूप नहीं दिखता केवल एक पुद्‌गल ही बड़ा भारी नाच कर रहा है, वह अनेक रूप पलतटता है और रूप आदि विस्तार करके नाना कौतुक दिखाता है; परन्तु मोह और जड़ से निराला सम्यग्दृष्टि आत्मा उस नाटक का मात्र देखनेवाला है (हर्ष-विषाद नहीं करता)।।१३।।

प्रवचन नं. ३६, फाल्गुन शुक्ल ११, रविवार, दिनांक ०७-३-१९७१
पद १४, तथा अजीवद्वार का सार

यह नाटक समयसार है। अजीव अधिकार। अर्थात् कि यह जीवस्वरूप भगवान आत्मा से अजीव भिन्न है। अजीव से जीव भिन्न है, इसलिए अजीव का ज्ञान कराते हैं। अन्तिम १३वाँ कलश है। नीचे ६४ पृष्ठ पर नीचे।

इत्थं ज्ञान-क्रकच-कलना-पाटनं नाटयित्वा,
जीवाजीवौ स्फुट-विघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या,
ज्ञातृ-द्रव्यं स्वय-मति-रसात्ताव-दुच्चैश्चकाशे ।।१३।।

इसका पद १४वाँ। भेदविज्ञान का परिणाम।

★ ★ ★

काव्य - १४

भेदविज्ञान का परिणाम (सवैया इकतीसा)

जैसैं करवत एक काठ बीच खंड करै,
जैसैं राजहंस निरवारै दूध जलकौं।
तैसैं भेदग्यान निज भेदक-सकतिसेती,
भिन्न भिन्न करै चिदानंद पुदगलकौं।।
अवधिकौं धावै मनपर्येकी अवस्था पावै,
उमगिकैं आवै परमावधिके थलकौं।
याही भांति पूरन सरूपकौ उदोत धरै,
करै प्रतिबिंबित पदारथ सकलकौं।।१४।।

शब्दार्थः-करवत=आरा। खंड=टुकड़े। निरवारै=पृथक् करे। सेती=से। उमगिकैं= बढ़कर।

अर्थ:-जिस प्रकार आरा काष्ट के दो खण्ड कर देता है, अथवा जिस प्रकार राजहंस क्षीर-नीर का पृथक्करण कर देता है, उसी प्रकार भेदविज्ञान अपनी भेदक-शक्ति से जीव और पुद्गल को जुदा-जुदा करता है। पश्चात् यह भेदविज्ञान उन्नति करते-करते अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और परमावधि ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और इस रीति से वृद्धि करके पूर्ण स्वरूप का प्रकाश अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप हो जाता है, जिसमें लोक-अलोक के सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं।।१४।।

काव्य - १४ पर प्रवचन

जैसैं करवत एक काठ बीच खंड करै,
जैसैं राजहंस निरवारै दूध जलकौं।
तैसैं भेदग्यान निज भेदक-सकतिसेती,
भिन्न भिन्न करै चिदानंद पुदगलकौं॥
अवधिकौं धावै मनपर्यैकी अवस्था पावै,
उमगिकैं आवै परमावधिके थलकौं।
याही भांति पूरन सरूपकौ उदोत धरै,
करै प्रतिबिंबित पदारथ सकलकौं॥१४॥

इसका अर्थ। '**जैसैं करवत काठ बीच खंड करै**' करवत है, वह लकड़ी के दो टुकड़े करती है। '**एक काठ बीच खंड करै**' ऐसा है न। लकड़ी एक हो, करवत लगाने से उसके दो खण्ड हो जाते हैं। यह एक दृष्टान्त। दूसरा दृष्टान्त। '**जैसे राजहंस निरवारै दूध जलकौं**' राजहंस होता है पक्षी। वह दूध और जल को —दोनों को भिन्न करता है। दूध और जल एक जगह रहे होने पर भी उनका स्वभाव भिन्न है। हंस की चोंच में खटाई है, इसलिए वह चोंच की खटाई दूध में डालने से, दूध और पानी दोनों भिन्न पड़ जाते हैं। यह दृष्टान्त हुआ।

अब सिद्धान्त। '**तैसैं भेदग्यान निज भेदक सकतिसेती**' ऐसा धर्मी जीव भेदज्ञान शक्तिसों.... भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है तथा शरीर, वाणी, मन, कर्म और

पुण्य-पाप के भाव—ये सब जड़ पुद्‌गल, अचेतनस्वरूप हैं। जिसे दो की भिन्नता करने की शक्ति जागृत हुई है कि मैं तो आत्मा चैतन्य आनन्दस्वरूप हूँ। मुझमें दान-व्रत-भक्ति का विकल्प अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, विषयवासना की वृत्तियाँ—यह सब अचेतन (है इसलिए भिन्न है)। जैसे दूध में पानी भिन्न चीज़ है। ऐसी सूक्ष्म बात है, भाई!

वैसे तो अनादि से शरीर, पुण्य और पाप मेरे, ऐसा मानकर पापदृष्टि सेवन कर पापी चौरासी के अवतार में भटकता है। आहाहा! उसकी इसे खबर नहीं। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने जो आत्मा कहा, वह आत्मा तो आनन्द और ज्ञान की मूर्ति है, वह आत्मा। उसे अनादि से नहीं मानकर, नहीं जानकर, नहीं पहिचानकर, शरीर-वाणी-मन-कर्म-पैसा-लक्ष्मी मेरे, इसके उपरान्त अन्दर में पुण्य और पाप के शुभ और अशुभ भाव होते हैं, वे मेरे—यह (मान्यता) पापदृष्टि है। यह मिथ्यादृष्टि है। यह पापदृष्टि (वाला) पापी प्राणी है। वह चौरासी के अवतार में भटकने का, रुलने का, रुलने का भटकाऊ है।

मुमुक्षु : टणक है कोई ऐसा कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : टणक है, तलकचन्दभाई कहते थे न। गुजराती भाषा चलती है सुमेरमलजी! थोड़ी-थोड़ी समझना। यहाँ तो काठियावाड़ी स्पष्ट भाषा है न, (इसलिए) हिन्दीवालों को जरा (कठिन पड़ती है)।

यहाँ तो कहते हैं, **'जैसैं करवत एक काठ बीच खंड करै'** जैसे आरा... आरा अर्थात् करौंत, काष्ठ के दो खण्ड करे अथवा राजहंस क्षीर-नीर को पृथक्करण करे। **भेदविज्ञान अपनी भेदक शक्ति से जीव और पुद्‌गल को जुदा-जुदा करता है...** आहाहा! यह उसकी—धर्मी की क्रिया। गजब बात, भाई! धर्मी जीव, उसे धर्म करना हो (तो) कैसे (करना, यह बात है।) अधर्म तो अनादि से करता है। अधर्म अर्थात् अपना जो ज्ञान और आनन्दस्वभाव भगवान आत्मा का है, उसे भूलकर, पुण्य-पाप के शुभ-अशुभ के भाव करता है, वह सब अधर्म है। समझ में आया? वह सब पाप है। पाप को अपना मानकर पापी अनादि का मिथ्यादृष्टि चौरासी की घानी में पिल रहा है। चिमनभाई! बराबर होगा?

मुमुक्षु : मूल में भूल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह सब पैसेवाले सुखी हैं, ऐसा मूढ़ लोग कहते हैं। ऐई! वे यह रहे। मूढ़ लोग ऐसा कहते हैं कि पैसेवाले सुखी हैं। यह रूपवान शरीर और स्त्री-पुत्र और मकान दो-पाँच-दस लाख के हों, हजीरा। हजीरा अर्थात् समझ में आया? बड़ा पत्थर का (मकान)। अरे भगवान! तेरी तुझे खबर नहीं प्रभु! तू कौन है? और कहाँ तू मानकर बैठा है? कहाँ तू मानकर, किसे मेरा मानकर बैठा है? और किसे तू भूल गया है? आहाहा! भगवान ऐसा कहते हैं कि भाई! भगवान आत्मा अन्दर जो है न, वह तो चैतन्य के प्रकाश का नूर है। नूर—प्रकाश है, तेज है चैतन्य का। जिसमें चैतन्य का तेज है और आनन्द की जिसमें मौज है। आहाहा! जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द की मौज है, उसे आत्मा कहते हैं।

उस आत्मा को धर्मी जीव भेदज्ञान की शक्ति द्वारा भिन्न करके... यह शुभराग का—पुण्य का विकल्प उठे, हों! पाप को लोग (हेय) माने वह तो ठीक। समझ में आया? अजीव अधिकार है न! यहाँ तो दया-दान-व्रत-पूजा भक्ति का भाव भी राग है, अचेतन है, अजीव है, जड़ है। आहाहा! चिल्लाहट मचाये अज्ञानी तो अन्दर। भगवान ऐसा कहते हैं कि भाई! तेरी चीज़ में वह नहीं। वह तूने अभानभाव से खड़े किये हैं। खड़े किये वह तुझे अवरोधक है, अवरोधकारक है। इसकी अज्ञानी को अनादि से खबर नहीं। आहाहा!

कहते हैं, धर्मी जीव **भेदविज्ञान अपनी भेदक शक्ति से...** अरे! मैं तो आत्मा अन्दर जाननेवाला—देखनेवाला, आनन्द, शान्ति का स्वभाव, अकषायस्वभाव ऐसा सत्त्व तत्त्व, वह मैं और यह पुण्य और पाप की लागनियाँ—वृत्तियाँ जो उठती हैं, वे सब अचेतन, जड़, अजीव, पुद्गल है। मुझे और उन्हें कुछ एकता का सम्बन्ध नहीं। आहाहा! समझ में आया? भारी सूक्ष्म, भाई! यह लोग तो सब धर्म करते हैं, धर्म करते हैं—ऐसा कर रहे हैं सब। बापू! धर्म कोई अलग चीज़ है, भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा, वह धर्म कोई अपूर्व भिन्न चीज़ है। उस धर्म में तो, शुभराग—पुण्य का कण भी सूक्ष्म मैल है, उससे भी मेरी चीज़ भिन्न है, पृथक् है; एक नहीं; दो है। राग दूसरी चीज़, वस्तु (आत्मा) दूसरी चीज़। सुमेरमलजी! गजब बापू!

इस प्रकार भेदज्ञान की शक्ति द्वारा... हंस जैसे चोंच की खटास द्वारा दूध का लच्छी कर डालता है और पानी को पृथक् कर डालता है। जैसे करवत लकड़ी के दो टुकड़े करती है। आहाहा! यह वह कुछ बात है! इसी प्रकार धर्मी उसे कहते हैं, सुख के पंथ में पड़ा हुआ उसे कहते हैं, दु:ख के पंथ से विमुख हुआ उसे कहते हैं... ...भाई! क्या होगा यह सब?

मुमुक्षु : सच्ची बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्ची बात है। परन्तु यह सब पाँच, दस-दस, बीस-बीस लाख... इसे फिर बीस लाख नहीं और करोड़पति। मलूकचन्दभाई का लड़का तो करोड़पति कहलाता है न! करोड़ अर्थात् अजीव, उसका पति वह जड़। आहाहा! क्या होगा यह? यह पैसेवाले न... ऐसा नहीं कहते? इज्जतवाळा, पुत्रवाळा, कितने वाळा? परन्तु कितने वाळां लगा है जरा? मकानवाळा....

हाम, दाम और ठामवाणा ऐसा भाई हमारे एक वकील कहते थे। जीवाभाई वकील थे ब्राह्मण। पुराने थे न हमारे उमराला गाँव के। मैंने दीक्षा ले ली, इसलिए कहे, अरे भाई! इनको तो हाम, दाम, ठाम थे, परन्तु छोड़कर (दीक्षा ली)। ऐसा बेचारे कहते थे। उस बेचारे को खबर नहीं। ब्राह्मण था। वकील जीवराजभाई। जीवाभाई कहते थे। अरे! हाम, दाम, ठाम किसे कहना? भगवान! ठाम—जगत के ठिकाने, दाम—पैसा जड़ का, हाम—इसे हिम्मत चले राग की। हम ऐसे हैं, हम ऐसे हैं। तीनों जड़ है। समझ में आया?

कहते हैं, **भेदविज्ञान अपनी भेदकशक्ति से...** देखो! इसमें क्या कहा कि बीच में वह पुण्य-पाप, दया-दान-व्रत के परिणाम राग की मन्दता आवे न, उससे भिन्न करना है। उसे साथ लेकर सहायक करके साथ में नहीं लेना। पण्डितजी! अरे... अरे...! गजब है! **भेदविज्ञान अपनी भेदकशक्ति से...** आहाहा! धीरज की बातें हैं, भाई! यह कहीं उतावल से आम पक जायें और फिर बाहर में खाये, वह चीज़ नहीं। यह तो अन्तर की धीरज की बातें हैं। मनीष! मनीष बराबर ध्यान रखता है...।

मुमुक्षु : इसे रस है।

पूज्य गुरुदेवश्री : रस है। लड़का लिखता है। यह भावनगरवलो प्रवीणभाई का (पुत्र)। आहाहा!

भगवान! तेरे आत्मा घर की बात है, प्रभु! क्या हो? तेरे घर की बात—तेरे घर में क्या है और तेरे घर में क्या नहीं? उसकी बात परमात्मा फरमाते हैं। आहाहा! परन्तु यह ननूर हो गया है न अनादि का। ननूर अर्थात् नूर रहित। भीखाभाई! सिर पर कोड़े पड़ें तो भी यह ऊंह नहीं करता जरा भी। आहाहा! कहते हैं, अरे! एक बार तो भेदज्ञान कर, प्रभु! राग, पुण्य और शरीर और लक्ष्मी (को) मेरा मानकर मिथ्यात्व तो अनन्त बार सेवन किया, अनन्त बार पाप को सेवन किया। अब एक बार यह तो कर अब। आहाहा! अनन्त काल में नहीं किया, ऐसा एक बार तो कर भाई! आहाहा!

कहते हैं, क्या करना है? कि **भेदविज्ञान अपनी भेदकशक्ति से जीव और पुद्गल को जुदा-जुदा करता है।** आहाहा! भागचन्दजी! आहाहा! शुभभाव भी भट्टी है। ज्ञानी को भी भट्टी है। आहाहा! यहाँ तो उससे भिन्न करना है। भाई! क्रिया तो, भाई! यह क्रिया उसने अनन्त काल में लक्ष्य में ली नहीं। इसे बाहर का माहात्म्य टलता नहीं और अन्दर का माहात्म्य आता नहीं। आहाहा! समझ में आया? भगवान तो आत्मा उसे कहते हैं। कहा था न एक बार?

'प्रभु तुम जाणग रीति, सौ जग देखतां...' हे नाथ! सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव! आपके केवलज्ञान में तीन काल, तीन लोक भासित हुए हैं। 'प्रभु तुम जाणग रीति सौ जग देखता हो लाल। निज सत्ताये शुद्ध सौने पेखता हो लाल।' हे नाथ! सर्वज्ञ परमात्मा को भक्त कहता है, 'प्रभु! हमारा आत्मा आप ऐसा देखते हो कि वह तो पुण्य और पाप के राग और कर्म, शरीररहित शुद्ध है। ऐसा आप देखते हो।' आहाहा! समझ में आया? भगवान जैसा देखते हैं, वैसा जिसे देखना आवे, उसे भेदज्ञानी और धर्मी कहा जाता है। आहाहा! गजब काम भाई! समझ में आया?

यह कहीं पाँच-पच्चीस हजार दे और धर्म हो जाये। न होगा? इतना तो थोड़ा सा... थोड़ा सा...

मुमुक्षु : टुकड़े-टुकड़े धर्म होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कुछ कहते हैं न? पीवे ऐसा पानी... कुछ कहते हैं। नहाया उतना... नहाया उतना पुण्य, ऐसा कहते हैं न, लोग बातें करते हैं। गप्प मारते हैं, ऐसे के ऐसे सब इकट्ठे होकर। नहाया अर्थात् पुण्य। बापू! जो कुछ हुआ वह किया। क्या किया, सुन न अब! 'वहाँ पचास हजार मैंने लिखाये हैं, इक्यावन हजार, हों! खबर है न तुमको? मुम्बई में समाचार में कौने में आया है। पुस्तक बुकिंग में नोट करायी है। एक ओर लिखा है। मेरा नाम है उसमें।' ...परन्तु मूढ़ वह कितना? तू वहाँ घुस गया कागज में? वह कागज तो जड़ है। जड़ के अक्षर जड़ हैं। पोपटभाई! फिर उसे चैन पड़े। इक्यावन हजार दिये न, दूसरे साधारण में दे और जब तक बाहर प्रसिद्ध न हो... ...मूर्खाई के वे गाँव अलग होंगे? समझ में आया? ऐसे मूर्खाई से भरे हुए लोग और... ऐई नटुभाई! यह वकील है। आहाहा!

कहते हैं, भगवान! तू वहाँ कहाँ गया? वहाँ तू कहाँ था? पैसे में तू नहीं था, पैसे तुझमें नहीं थे। पैसे का विकल्प उठा जरा देने का, वह राग है। राग में तू नहीं था, राग तुझमें नहीं था। अब तुझे क्या करना है परन्तु इसमें? आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो **भेदविज्ञान अपनी भेदकशक्ति से जीव और पुद्गल को जुदा-जुदा करता है।** पुद्गल शब्द से राग भी पुद्गल है, हों! आहाहा! ऐसा तो चला आता है। गजब बात है! समझ में आया? दया का, दान का, पूजा का, भक्ति का, करुणा का, कोमलता का, परोपकार का भाव—वह सब विकल्प है, वह पुद्गल है, जड़ है, अचेतन है। वह आत्मा की जाति से अत्यन्त भिन्न जाति है। अरे... अरे! गजब भाई यह! ऐई भीखाभाई! तब करना क्या इसमें? कुछ सूझ पड़ती नहीं। आहाहा! कहते हैं, जीव और पुद्गल को भिन्न-भिन्न करता है।

पश्चात्, **भेदविज्ञान उन्नति करते-करते...** ज्ञानप्रधान कथन है न, इसलिए अवधि, मन:पर्यय ऐसा लिया है। आहाहा! लक्ष्मी बढ़ती है अन्दर, कहते हैं। आत्मा (चेतन) और शुभ और अशुभराग अचेतन, पुद्गल... शरीर, वाणी, मन अचेतन, जड़, मिट्टी, धूल। यह तो धूल होकर रही हुई चीज़ है। यह कहीं आत्मा की होकर रही हुई (चीज़) नहीं। आत्मा की पर्याय में आयी नहीं। वह तो अपनी चीज़ अपने में भिन्न रहकर अपने

से रही हुई है। इसी प्रकार पुण्य और पाप के विकारी के भाव विकार होकर रहे हुए हैं। वह आत्मा के होकर रहे हुए (नहीं है)। गजब भाई! समझ में आया?

उनसे जिसने भेद किया। एक (पने) तो मानता था, वह तो अनादि की उसकी मिथ्यादृष्टि की क्रीड़ा थी, वह तो अज्ञानी की। त्यागी हुआ, साधु हुआ बाहर से, परन्तु अन्दर में राग की एकताबुद्धि इसने टाली नहीं। समझ में आया? त्यागी नहीं, परन्तु वह मिथ्यादृष्टि भोगी है। समझ में आया? कहते हैं, **भेदविज्ञान उन्नति करते-करते...** अर्थात् भगवान ज्ञानस्वरूप प्रभु ज्ञाता-दृष्टा का कन्द प्रभु और विकार तथा शरीर आदि अजीव, उनसे भिन्न करता हुआ अन्तर में, ज्ञान की उन्नति करता हुआ, अन्दर ज्ञान की एकाग्रता से ज्ञान की उन्नति बढ़ता हुआ, शुद्धता को बढ़ाता हुआ, अशुद्धता से भिन्न पड़ता, पड़ता, ऐसा कहते हैं।

भेदविज्ञान उन्नति करते-करते अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और परमावधिज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार से लिया है भाई ने। ज्ञान में मति-श्रुतज्ञान तो पहले प्रगट हुआ है। पुण्य-पाप के राग से, शरीर से आत्मा भिन्न—ऐसा भान हुआ, वहाँ मति-श्रुतज्ञान तो हुआ है। अन्दर भेदज्ञान में मति-श्रुत... भेदज्ञान स्वयं मति-श्रुतज्ञान है। गजब यह तो ऐसा धर्म किस प्रकार का? जैन परमेश्वर का ऐसा धर्म होगा? जैन में तो ऐसा होता है—कन्दमूल नहीं खाना, हरितकाय नहीं खाना, छह परबी पालना, रात्रि में चारों प्रकार का आहार करना (छोड़ना), शील पालना, देखकर चलना, दया पालना, सत्य बोलना—ऐसा सब सुना है, भाई यह तो। अरे सुन न! अब तेरी बात! वह सब लौकिक गधेड़ा जैसी बातें हैं। समझ में आया? गधामजदूरी की बात है वह सब। वह भगवान के घर की बात नहीं। आहाहा!

भगवान तो ऐसा कहते हैं कि ऐसे विकल्प से भिन्न हो। वह राग है, विकार है, मैल है, जहर है, दुःख है। आहाहा! भगवान! वह तेरी चीज़ नहीं, तेरा रूप नहीं। इससे भिन्न पड़ने से सम्यग्ज्ञान होता है और फिर क्रम-क्रम से जहाँ एकाग्रता बढ़े अन्दर में (तो) अवधिज्ञान होता है। समझ में आया? जिस ज्ञान द्वारा असंख्यात—असंख्य चौबीसी के जड़-चैतन्य के भावों को अपने में जानने की शक्ति प्रगट हो, ऐसा कहते

हैं। यहाँ ज्ञान की वृद्धि बतलानी है न! समझ में आया? मुनि हो, पश्चात् मन:पर्ययज्ञान होता है। मुनि अर्थात् आत्मा के आनन्द में रमता, राग से (और) शरीर की क्रिया से भिन्न पड़ता हुआ, स्वरूप के आनन्द की उग्र दशा जहाँ बढ़ जाती है, तब उसे बाहर की नग्न दशा हो जाती है। तब उसे अन्दर में आनन्द की दशा में मन:पर्ययज्ञान प्रगट होता है। समझ में आया? सामनेवाले के मन की बात जाने। जानने का जोर देना है न यहाँ।

परमावधिज्ञान। पश्चात् आगे बढ़ जाये। अवधि अर्थात् असंख्यात लोक जितना हो तो भी उसे जान सके, ऐसी एक शक्ति प्रगट होती है। ऐसा करते हुए लोकालोक तक ले जाना है न? भगवान आत्मा ज्ञान के सरोवर में आता हुआ... सरोवर आया था न अपने, नहीं? आया था इसमें। '**सर**' शब्द आया था। तू सरोवर और उसमें तू कमल और तू उसमें भँवरा। कमल की वासना तू ले, भगवान! तुझमें आनन्द की गन्ध पड़ी है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द हो, जो इन्द्रासन में इन्द्रों को नहीं। चक्रवर्ती के राज में हजारों रानियाँ, ९६ हजार रानियाँ पद्मिनी जैसी यह... समझ में आया? जिनके शरीर में सुगन्ध निकलने से भँवरे भ्रमे। उनका सुख सब जहर जैसा... जहर जैसा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? उनसे भिन्न पड़ता हुआ आत्मा धर्मी होता हुआ अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद तू ले तुझमें, ऐसा कहते हैं। यह गजब धर्म भाई ऐसा! ऐई भीखाभाई! आया था न कुछ, कहाँ आया था? ५६ पृष्ठ पर। ५६, देखो! ५६ न? भैया जगवासी, यह? पाँचवीं लाईन।

'**तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ, तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे।**' (अजीवद्वार तीसरा पद) **तेरौ घट....** यहाँ भगवान विराजता है देह में अन्दर। प्रभु! तू चैतन्य आनन्द का सागर है। परन्तु कैसे बैठे भिखारी को? इच्छा बिना चलता नहीं, राग बिना चलता नहीं। चन्द्रकान्तभाई! '**तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ, तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे।**' गजब बातें, भाई यह! भाई! तेरे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द की सुवास पड़ी है और उसमें से तू कमल खिला और भँवरा जैसे वास लेता है, इसी प्रकार उसकी वास ले, भाई! गजब बातें, भाई! सीधे धर्म ऐसा होगा? कुछ पहले कुछ दूसरा करने का होगा या नहीं? पहला यही करने का है। बाकी दूसरा करने का वह सब अज्ञान है। समझ में आया? आहाहा!

परमावधिज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और इस रीति से वृद्धि करके पूर्ण स्वरूप का प्रकाश... करता है। लो, केवलज्ञान... केवलज्ञान ले लिया। पहले दूज उगे, फिर तीज, चौथ, पंचम होकर पूर्णिमा होती है। इसी प्रकार पहले आत्मा शुभ और अशुभ के राग से भिन्न पड़कर आत्मा के ज्ञान की कला मति-श्रुत की खिलती है, वह दूज है। समझ में आया? ऐसी निरालम्बी बातें। भगवान चैतन्य की कला से भरपूर प्रभु आत्मा है, जिसमें केवलज्ञान अनन्त-अनन्त जिसमें पड़ा हुआ है अन्दर। ऐसे भगवान को... कहेंगे, आगे। **केवलज्ञान आदि गुण सम्पन्न आत्मा का स्वरूप समझानेवाला है।** सार लेते हैं न सार। पहली लाईन में है इस ओर। सार.... सार है न अजीव का सार। दूसरे अधिकार का सार, वहाँ लिया है। आहाहा!

जहाँ नजर डाल अन्दर में तो भगवान आनन्दस्वरूप विराजता है, कहते हैं। उसे सम्यग्दर्शन द्वारा राग से भिन्न भेदज्ञान द्वारा उसकी सुगन्ध की वासना ले, इसका नाम धर्म है। बाकी सब बिना एक के (शून्य और रण में) शोर मचाने जैसी बातें हैं। समझ में आया? आहाहा! कहते हैं, पूर्ण स्वरूप प्राप्त हो... **जिसमें लोक-अलोक के सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं।** ठेठ तक ले लिया भाई! मति-श्रुत से केवल तक। दूज उगने से (लेकर) पूर्णिमा। ज्ञान का सागर भगवान आत्मा, उसकी कली जैसे संकोचन—संकोच पर्याय में पायी है। उसे राग और शरीर की विकल्प दशा से भिन्न करने पर ज्ञान अन्तर में खिलता है। सम्यग्ज्ञान—सम्यग्दर्शन की दशा में उसे आनन्द का अनुभव आता है। उसे यहाँ सम्यग्ज्ञान की—भेदज्ञान की कला पहली कहा जाता है। समझ में आया?

एक बेचारे कहते थे, वे ईडरवाले, नहीं? नहीं आये ईडरवाले? कभी आया नहीं था महाराज! हमको विरोध लगता था। परन्तु हमारी जिन्दगी बीत गयी। बेचारा रो पड़ा। दो दिन सुनकर गया। ईडर का है कोई। कल था। पहले दो दिन था। यह बात सुनी नहीं थी। कहा, पहले-पहले आये? कभी आये थे यहाँ? 'अरे! नहीं आया था। जिन्दगी सब अलेखे—व्यर्थ गयी। यह बात हमने सुनी नहीं थी।' ऐसा कहकर आँख में रुदन (आँसू) आ गये। आहाहा! यह करो, यह करो, यह करो, इससे धर्म होगा। करने-करने में, राग की क्रिया में धर्म माना हो, जिन्दगी सब व्यर्थ गयी। समझ में आया?

मुमुक्षु : सही बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सही है। ऐसी बात है, परन्तु क्या हो? अब इसका सार। हो गया है न यह? '**याही भांति पूरन सरूपकौ उदोत धरै, करै प्रतिबिंबित पदारथ सकलकौं...**' लो! आहाहा! पुस्तक नहीं है भैया सुमेरुमलजी? दो, दो मेहमान को। मेहमान को पहले देना। अब दूसरे अधिकार का सार। 'अजीव अधिकार' का सार।

अजीव अधिकार का सार

मोक्षमार्ग में मुख्य अभिप्राय केवलज्ञान आदि गुण सम्पन्न आत्मा का स्वरूप समझाने का है। परन्तु जिस प्रकार सोने की परख समझाने के लिये सोने के सिवाय पीतल आदि का स्वरूप समझाना अथवा हीरा की परख समझाने के लिये हीरा के सिवाय कांच की पहिचान बताना आवश्यक है, उसी प्रकार जीव पदार्थ का स्वरूप दृढ़ करने के लिये श्रीगुरु ने अजीव पदार्थ का वर्णन किया है। अजीवतत्त्व जीवतत्त्व से सर्वथा विभिन्न है अर्थात् जीव का लक्षण चेतन और अजीव का लक्षण अचेतन है। यह अचेतन पदार्थ पुद्गल, नभ, धर्म, अधर्म, काल के नाम से पाँच प्रकार का है। उनमें से पीछे के चार अरूपी और पहिला पुद्गल रूपी अर्थात् इन्द्रियगोचर है। पुद्गलद्रव्य स्पर्श, रस, गंध, वर्णवन्त है। यह जीवद्रव्य के चिह्नों से सर्वथा प्रतिकूल है, जीव सचेतन है तो पुद्गल अचेतन है, जीव अरूपी है तो पुद्गल रूपी है, जीव अखण्ड है तो पुद्गल सखण्ड है। मुख्यतया जीव को संसार संसरण करने में यही पुद्गल निमित्त कारण है, इन्हीं पुद्गलोंमय शरीर से वह संबद्ध है, इन्हीं पुद्गलमय कर्मों से वह सर्वात्म प्रदेशों में जकड़ा हुआ है, इन्हें पुद्गलों के निमित्त से उसकी अनन्त शक्तियाँ ढँक रही हैं, इन्हीं पुद्गलों के निमित्त से उसमें विभाव उत्पन्न होते हैं, अज्ञान के उदय में वह इन्हीं पुद्गलों से राग-द्वेष करता है, वा इन्हीं पुद्गलों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता है, अगर पुद्गल न होते तो आत्मा में अन्य वस्तु का सम्बन्ध नहीं होता, न उसमें विकार वा राग-द्वेष होता, न संसार संसरण होता, संसार में जितना नाटक है सब पुद्गल जनित है।

अजीव अधिकार के सार पर प्रवचन

मोक्षमार्ग में मुख्य अभिप्राय... भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर के मार्ग में मुख्य अभिप्राय **केवलज्ञान आदि गुणसम्पन्न आत्मा का स्वरूप समझाने का है...** देखो भाषा! भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर के मोक्षमार्ग में मुख्य अभिप्राय—मुख्य श्रद्धा केवलज्ञानादि गुणसम्पन्न आत्मा.... आत्मा तो केवलज्ञान, अनन्त आनन्द आदि अनन्त गुणसम्पन्न प्रभु है। वह पुण्य और पाप के रागसहित नहीं। समझ में आया? यह ऐसा स्वरूप समझाने का है। भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध आनन्द—ऐसी अनन्त पवित्रता के पिण्ड से भगवान आत्मा भरपूर है, ऐसा समझाने का हेतु है। क्योंकि मोक्षमार्ग, वह आत्मा का ऐसा स्वभाव है, ऐसा अनुभव करे तो मोक्षमार्ग होता है। बाकी कोई पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत की क्रिया से धर्म-मोक्ष होता (नहीं), मोक्ष का मार्ग है नहीं। समझ में आया?

परन्तु जिस प्रकार सोने की परख समझाने के लिए... सोना की परीक्षा बतलाने के लिये **सोने के सिवाय पीत्तल आदि का स्वरूप समझाना...** पीतल का (स्वरूप) समझावे न! आहाहा! वह धूलधोया होते हैं न, धूलधोया सोने की दुकान के आगे। इसमें तीन प्रकार होते हैं। एक सोने का बारीक कण हो, एक पीतल के बारीक कण हों और एक काँच की चूड़ी के पीले वळ हों अन्दर, उसके टुकड़े टूटे हों तो उसके बारीक कण होते हैं। चूड़ी में होते हैं न वे पीले वळ वे टूट गये हों चूरा होकर, वहाँ वह टुकड़ा इकट्ठा पड़ा हो। उन तीनों को उसे पहिचानना पड़ेगा या नहीं? पहिचाने बिना सोने को किस प्रकार लेगा?

धूलधोया समझते हैं? साफ करनेवाला.... सूपड़ा लेकर ऐसा करे। फिर जोरदार कसवाली कणी वह ऐसे रह जाये और हल्की हो वह ऐसे हट जाये। काँच की कणी हल्की होती है, पीतल की हल्की होती है। सोना कसदार होता है, छोटी कणी भी कसदार होती है। समझ में आया? वह कस सोना हो, उसे उठा ले। समझ में आया? इसी प्रकार धर्मी जीव (के लिये) पुण्य-पाप के विकल्प वे पीतल जैसे है और शरीर, वाणी, मन तो काँच के टुकड़े जैसे हैं। भगवान अन्दर आनन्द का नाथ, वह सोने का

कन्द है। गजब बातें, भाई! समझ में आया? कुछ समझ में आता है, ऐसा आता है न? सब समझ जाये तो निहाल हो जाये। यह तो क्या कहते हैं, उसकी बात, मात्र क्या कहते हैं, इतनी बात। ऐई चन्दूभाई! आहाहा!

कहते हैं, सोने के सिवाय पीतल आदि का स्वरूप उसे समझाना पड़ता है। सोने को समझाने के लिये सोने से भिन्न चीज़ को समझाना पड़ता है। अजीव अधिकार है न इसलिए। **हीरा की परख समझाने के लिए हीरा के सिवाय काँच की पहिचान बताना आवश्यक है।** हीरा बतलाना—जनवाना हो तो हीरा के अतिरिक्त काँच ऐसे होते हैं, यह बतलाना पड़ता है या नहीं? यह दृष्टान्त है। इसी प्रकार **जीव पदार्थ का स्वरूप...** भगवान जीव चैतन्य आनन्दस्वरूप का **दृढ़ करने के लिए श्रीगुरु ने...** भगवान, भावलिंगी सन्तों ने—मुनियों ने, आनन्दकन्द के अनुभवियों ने अजीव पदार्थ का वर्णन किया है। इस कारण से अजीव का वर्णन किया है कि आत्मा यह है, इससे—इस अजीव से भिन्न है। हीरा यह है और इससे काँच के टुकड़े भिन्न हैं। कहो, समझ में आया? सोना यह है, सोने से पीतल आदि भिन्न है।

उसी प्रकार भगवान चैतन्य हीरा चैतन्य रत्नाकर गुण का भरा समुद्र भगवान है। उसे समझाने के लिये उससे भिन्न अजीव चीज़ को भी बतलाते हैं। वह किसलिए? कि उससे भिन्न करने के लिये। समझ में आया? अजीव वर्णन **अजीवतत्त्व जीवतत्त्व से सर्वथा विभिन्न है...** अजीवतत्त्व है, वह जीवतत्त्व से सर्वथा भिन्न है। **जीव का लक्षण चेतन...** देखो! भगवान आत्मा का लक्षण तो जानना, जानना है। अजीव का लक्षण अचेतन है। शरीर, वाणी, मन, पुण्य और पाप—यह सब अजीव का लक्षण है, अचेतन लक्षण है। आहाहा! समझ में आया? राग है न शुभराग, वह भी स्वयं अपने को जानता नहीं, तथा राग चैतन्य को जानता नहीं। वह राग पर द्वारा ज्ञात होता है, इसलिए उस राग को अचेतन कहा जाता है। समझ में आया?

राग पर द्वारा अर्थात् राग से भिन्न ऐसे ज्ञान द्वारा राग ज्ञात होता है। राग द्वारा राग ज्ञात नहीं होता। राग में जानने की सामर्थ्य कहाँ थी? समझ में आया? दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का विकल्प, करुणा का राग, वह तो अचेतन है, उसे (स्वयं को) जानने की स्वयं में सामर्थ्य नहीं है। जैसे राग में आत्मा साथ में ज्ञानस्वरूप है, उसे जानने की

उसकी शक्ति कहाँ है ? राग को जानना, वह दूसरे के द्वारा ज्ञात होता हो, ऐसा है। इसका अर्थ कि राग बिना की चीज़ चैतन्य है, उसके द्वारा राग ज्ञात हो, ऐसी चीज़ है। इसलिए उस राग को अचेतन और अजीव कहा गया है। आहाहा! बराबर है, पण्डितजी ? कठिन बात, भाई! यह तो कहे, महाव्रत के परिणाम, वह धर्म है। प्रकाशदासजी! यहाँ कहते हैं कि महाव्रत के परिणाम राग अचेतन है। अभी तक क्या सुना था? भूल में रहे। अनादि से भूलभुलैया है।

कहते हैं न, भूलभुलैया। वह वडोदरा में है न, वह क्या कहलाता है ? मेंहदी की भूल भूलाना है वड़ोदरा में। (संवत्) १९६३ के वर्ष में देखी थी। अन्दर घुसे सही, निकलना कैसे वापस ? १९६३ की बात है। १७ वर्ष की उम्र थी। तब केस चलता था। पालेज का अफीम का केस था, एकदम खोटा केस था। फुरसत हो... बहुत सात सौ रुपये का खर्च हो गया एक आधे रुपये की खींचतान में। ६३ के वर्ष की बात है। है न वडोदरा की उस ओर मेहंदी का है। अन्दर घुसे सही, परन्तु निकलना कहाँ? एक व्यक्ति खड़ा था। दो आना ले, उसमें से निकलने का बतावे। उसने कहा, 'देखो, ऐसे से ऐसे जाकर निकल जाओ।'

पोपटभाई! यह तो मिथ्यात्व की महा भूलभुलैया है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसमें से निकलने का आपने बतलाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसको कहा तो उसने बतलाया। दो-तीन आना दिये थे। संवत् १९६३ की बात है। तब १७ वर्ष की उम्र थी। १७-१७। कितने (वर्ष) हुए? ६४ वर्ष हुए। ६४ वर्ष पहले की बात है। यह ८१ चलता है अभी शरीर को। शरीर को या आत्मा को ? आहाहा! यह अच्छा कि वह वहाँ खड़ा था। परन्तु वह वहाँ खड़ा हो, उसके लिये खड़ा हो। शाम को दो रुपये पैदा हों न।.... इस ओर होकर इस ओर निकल जाओ। नहीं तो मेंहदी तोड़कर निकले तो मेंहदी टूट जाये। चौमासे नहीं वडोदरा? ६३ की बात है, हों!

यह भूलभुलैया मिथ्यात्व की (इसमें से) कैसे निकलना सूझ पड़े, ऐसा नहीं होता। आहाहा! कोई पुण्य में धर्म मनावे, दया-दान के परिणाम में धर्म मनावे, व्रत

करने में धर्म मनावे, अपवास करने में धर्म मनावे। आहाहा! महा भूलभुलैया मिथ्यात्व की, परन्तु उसमें पूरा घुस गया। यहाँ कहते हैं कि छूटना हो तो वह रूप तेरा नहीं। यह विकल्प और राग, वह तेरा स्वरूप (नहीं)। ऐसे भिन्न पड़ते हुए निकल सकूँगा, बाकी निकला जाये ऐसा है (नहीं)। आहाहा! समझ में आया?

देखो न भाई ने रचा है न ऐसा रमेशभाई ने। 'अरेरे साचा वारि रे अेने ना मळे।' गायन रचा है रमेश... रमेशभाई वींछिया (वाले ने)। और वहाँ क्या कहलाता है? घाटकोपर। 'दोडी हांफीने झांझवा जलनी रे काज, सरोवर कांठे रे मृगला तरस्या रे लाल, सरोवर कांठे रे मृगला तरस्या रे लाल, दोडी हांफे झांझवा जलनी रे काज।' दौड़कर हाँफे, उस मृग को पानी सच्चा... 'अरेरे! साचा वारि अेने नहीं मळे रे लोल।' अरेरे! सच्चा पानी बापू! वहाँ नहीं। मृगजल के जल में पानी नहीं। इसी प्रकार पुण्य और पाप के परिणाम में आत्मा का धर्म नहीं। भगवान! मर गया ऐसा अनादि से। वह मृगजल का जल है। आहाहा! 'मनना मृगलाने पाछां वाळजो रे लोल, अे मनना मृगलाने पाछां वाळजो रे लोल।' ऐ अमरचन्दभाई! तुम्हारे गाँव में गाया था न। आहाहा! बापू! यह पुण्य और पाप के विकल्प में मृग अज्ञानी चिपक गया है। भाई! वापस मोड़, बापू! वहाँ पानी नहीं, वहाँ आत्मा नहीं, वहाँ आत्मा का तेज नहीं। उसे जाननेवाला भगवान (और) राग को जाननेवाला राग से भगवान भिन्न है। ऐसा उसका लक्षण चैतन्य का है और अजीव का लक्षण अचेतन है। समझ में आया?

यह अचेतन पदार्थ पुद्गल... है। यह शरीर, वाणी जड़, मिट्टी, पुद्गल है। नभ—आकाश है। धर्मास्ति, अधर्मास्तिकाय दो तत्त्व भगवान ने देखे हुए हैं। धर्मास्ति, अधर्मास्ति नाम के दो तत्त्व भगवान केवली ने देखे हुए हैं। काल है।—यह पाँच प्रकार हैं। **उनमें से पीछे के चार अरूपी...** पुद्गल बिना के आकाश, धर्म, अधर्म और काल अरूपी। पहला पुद्गल रूपी। इन्द्रियजन्य है यह शरीर आदि जड़ मिट्टी। यह तो जड़ पुद्गल मिट्टी है; यह कहीं आत्मा नहीं। **पुद्गलद्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवन्त है।** यह शरीर, वाणी, मन में रंग, गन्ध, रस, स्पर्श भरे हैं। इसमें से तो रंग, रस, गन्ध, स्पर्श मिलेगा। इसमें तो क्या है, वह तो मिट्टी जड़ है। आहाहा! **पुद्गलद्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवन्त है।** इसका थोड़ा स्पष्टीकरण नीचे करेंगे, हों!

यह जीवद्रव्य के चिह्नों से सर्वथा प्रतिकूल है.... यह जीव... यह पाँच द्रव्य के लक्षण कहे हैं न, उनसे सर्वथा प्रतिकूल है। पुद्गल से और चार अरूपी से। **जीव सचेतन है तो पुद्गल अचेतन है।** आहाहा! चेतता नर... 'चेततो नर सदा सुखी' ऐसा कुछ आता है न? चेतता नर सदा सुखी। यह जरा भाषा में आवे, बोलते हैं, नहीं? चेतता नर सदा सुखी। जागता नर। राग और पुण्य से भिन्न पड़ता आत्मा चेतता नर सुखी है। समझ में आया? शान्तिभाई! कठिन बातें, भाई! शब्द तो रचते हैं... अन्दर बातों में (परन्तु) भाव में समझे नहीं। समझे नहीं और चले जाये अन्धे अन्ध। आहाहा!

जीव अरूपी है, पुद्गल रूपी है। भगवान आत्मा अरूपी है। उसमें कहीं रंग, गन्ध, वर्ण, स्पर्श नहीं है। पुद्गल रूपी है। रंग, रस, गन्ध, स्पर्श है। **जीव अखण्ड है तो पुद्गल सखण्ड है....** यह टुकड़े-टुकड़े होते हैं, यह तो सब। भगवान तो अखण्ड है चैतन्यमूर्ति। अरूपी चैतन्य कातली अखण्ड अभेद है अन्दर। वह क्या है परन्तु कभी सुना नहीं, कभी विचार नहीं किया। एक-एक आत्मा अखण्ड पर से भिन्न अन्दर चैतन्य स्थित है। ऐसे अनन्त आत्मा, हों! ऐसे वापस सब होकर एक नहीं। पुद्गल सखण्ड है। वह पुण्य-पाप सखण्ड है। घड़ीक में पुण्य और घड़ीक में पाप। पुद्+गल। पुद् और गलता है। आहाहा! भाव पुद्गल है, हों!

मुख्यतया जीव को संसार संसरण करने में यही पुद्गल निमित्तकारण है... निमित्तकारण हों। उपादान तो अपना है। परन्तु उस पुद्गल पर लक्ष्य करके मेरा माने, वह मिथ्यात्व भटकने का कारण है। आहाहा! अब किसी की चीज़ आकर खड़ी रही, खतौनी की अपने में। समझ में आया? पुत्र के विवाह में पाँच हजार के गहने ले आया गर्दन में डालने के लिये सेठ के घर से। पोपटभाई! यह मोती के हार आते हैं न ऊँचे पचास-पचास लाख के हार, दस-दस लाख के मोती के हार। सम्बन्ध के कारण ले आया, खतौनी कर डाली अपनी पूँजी में। चोर है। चोर है, कहते हैं, भाई! आहाहा! समझ में आया? सोने की घड़ी ले आते हैं न विवाह के समय, नहीं? मित्र ले आवे।

हुआ है न, हमारा छोटा भाई था न छोटा। मेरी दीक्षा के बाद विवाह हुआ था मगनभाई। वह सोने की किसी की कीमती घड़ी ले आया। विवाह के बीच में चोरी हो गयी। बारात में से ले गया कोई। ७६ की बात है। (संवत्) १९७६, ७६। अब क्या?

एक तो अपशकुन लगा, भाई ! सोना जाये तो अपशकुन लगता है। और सहज ऐसा हुआ कि दो वर्ष के विवाह में गुजर गया बेचारा। पहला अपशकुन जिसे ले गया टंक में वैसा करके, क्या कहलाता है ? छुंदी डाली हुई सोने की घड़ी, सोने का कछवो। फिर तो मिल गया वहाँ। सबको खड़े रखा, कहे, सबकी जड़ती दी। वहाँ तो निकला। परन्तु तब से वहम पड़ गया। ऐसे दो वर्ष में मर गया। वह तो जगत का वहम है। आयुष्य की स्थिति हो तत्प्रमाण होता है, एक समय बदलता नहीं। आहाहा !

अरे ! तेरा सोना लुटा बापू ! यह अपशकुन है सुन न ! आनन्द का नाथ चैतन्य भगवान ने राग और पुण्य मेरा मानकर चोर हुआ है भाई ! बराबर है ? आता है न भाई मोक्ष अधिकार में, नहीं ? किसी की है, यह मेरी (नहीं, मेरी माने तो) चोर है। दया, दान के व्रत के विकल्प हैं, उन्हें मेरा माननेवाला चोर है। दिया है न चोर का (दृष्टान्त)। आहाहा ! शास्त्र में तो अनेक दृष्टान्त, उदाहरण देकर उसे जाने की बातें की हैं, परन्तु यह जागे तब न ? ऐसा सोया है चद्दर तानकर और बराबर नाक के क्या कहलाते हैं ? नाक के खर्राटे बोलते हैं न बहुत, बराबर पक्का सोया हो।

इसी प्रकार मिथ्यात्व... आता है न उसमें बनारसीदास में आता है। मोह की नींद में सोकर झकोरे... यह सब शास्त्र में है, हों ! इसमें है कहीं। मोह की नींद में यह खर्राटे निकालकर सो रहा है। आता है न ! क्षेत्र न्यारा, सोने की खाट न्यारी, वस्त्र न्यारे, गहने न्यारे, वह ठग जीव न्यारा। आहाहा ! आगे आयेगा कहीं है। इसमें है नाटक में। समझ में आया ? यह तो पहले अजीव में गया न भाई वह आठ लकड़ियों में... खाट में नहीं। अजीव में—उसमें गया। चार पाये और चार वे, यह आठ, यह खाट वह स्वयं जीव नहीं, बापू ! उसमें सोनेवाला जीव अलग है। उसी प्रकार आठ कर्म और आठ कर्म से बननेवाले पुण्य-पापभाव, वे जीव। वह जीव नहीं, भाई ! जीव तो अन्दर निराला सच्चिदानन्द प्रभु है। आहाहा ! समझ में आया ?

कहते हैं, मुख्यतया संसार में संसरण करने का पुद्गल निमित्तकारण है, भटकने में। वह पुद्गल का नाच बताया है न इसलिए। **पुद्गलोमय शरीर से वह संबद्ध है...** यह पुद्गल में बँधा हुआ जड़, मिट्टी, धूल (मय शरीर) उसके साथ जीव को संबद्ध

माना जाता है। **इन्हीं पुद्गलमय कर्मों से वह सर्वात्म प्रदेशों में जकड़ा हुआ है...** माना है न! स्पर्श से बँधा हुआ हूँ, राग से बँधा हुआ हूँ। वह भावबन्ध माना है, है नहीं। वस्तु में राग और पर का बन्ध है ही नहीं। वस्तु अबद्धस्पृष्ट है। आहाहा! **इन्हीं पुद्गलों के निमित्त से उसकी अनन्त शक्तियाँ ढँक रही है...** अनन्त शक्ति का नाथ उस पुद्गल को बहुमान देने गया, वहाँ लुट गया। पुण्य के भाव हुए, आहाहा! बहुत किया हमने, बहुत पुण्य किया अपने। वह पुद्गल को बहुमान देने जाता है, वहाँ आत्मा की अनन्त शक्ति वहाँ लुट जाती है। हाथ से लुटाता है और वापस प्रसन्न होता है। आहाहा!

पुद्गलों के निमित्त से उसमें विभाव उत्पन्न होते हैं.... पुण्य और पाप विभाव, वह कहीं स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते, उसके स्वरूप में नहीं। वह तो कर्म के निमित्त का संग करे तब उत्पन्न होते हैं। आहाहा! अग्नि लोहे में जाये तो उसे घन पड़ते हैं। अकेली अग्नि को कोई घन नहीं मारता। इसी प्रकार भगवान आत्मा पुण्य-पाप के विकल्प की वृत्ति में देखने जाये, तो चार गति के दुःख के घन पड़ते हैं। समझ में आया? **अज्ञान के उदय में वह इन्हीं पुद्गलों से राग-द्वेष करता है...** लो! अज्ञान के उदय से यह पुद्गल अच्छा-बुरा ऐसा मानता है। **इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता है....** शरीर सुन्दर, स्त्री ठीक, लक्ष्मी ठीक, कीर्ति ठीक, (ऐसा) मूढ़ मानता है। ठीक-बीक कोई है नहीं, वह तो ज्ञेय है।

और शरीर खराब हो, कीर्ति न हो, अरेरे! हैरान हो गया, मार डाला। ऐसा कहता है न, हमारे एक खाट उठे और वहाँ दूसरा हो। छह महीने से घर में चैन नहीं है, ऐसी बातें करे वे। रोग आवे न रोग। स्त्री को रोग मिटे और पुत्र को हो, पुत्र को मिटे तो बहू को हो, पुत्र की बहू को मिटे तो तीसरे लड़के को हो। ऐ फूलचन्दभाई! फिर बनिया चिल्लाहट मचाये। छह महीने से खाट खाली नहीं होती। क्या है? परन्तु वह तो जड़ की अवस्था है। वह तो होने के काल में होता है, उसमें तू कहाँ घुस गया था? तू तो भिन्न है। चिमनभाई! बाहर का घेराव आवे, देखो, ऐसा करते... करते... कितने सम्बन्ध में घुस गया। अरे... अरे! कहाँ घुस गया तू? **(अगर पुद्गल न होते तो आत्मा में) अन्य वस्तु का सम्बन्ध नहीं होता, न उसमें विकार व राग-द्वेष होता।** यदि कर्म का संग न किया हो अर्थात् कि पुद्गल (सम्बन्ध) न हो, ऐसा इसका अर्थ। **आत्मा में अन्य**

वस्तु का सम्बन्ध नहीं होता, न उसमें राग-द्वेष होता, न संसार संसरण होता। संसार का संसरण भी कर्म के संग बिना होता नहीं।

संसार में जितना नाटक है सब पुद्गलजनित है। पुद्गलजनित... कहा था न? नाचे तो नाचो, भगवान तो आनन्दस्वरूप ज्ञान है। वह आत्मा राग में और पर में आता नहीं। आहाहा! ऐसा कहकर ज्ञाता हो—ऐसा कहते हैं न। अन्त में आया था न! '**सम्यग्दृष्टि आत्मा निराला जग से, नाटक का मात्र देखनेवाला है।'** तेरहवें में आया था, तेरहवें का अन्तिम शब्द, तेरहवाँ पद। इस ओर। बस यह अन्तिम लाईन। देखनहारा... सब अर्थ में है। **जड़ से निराला सम्यग्दृष्टि आत्मा उस नाटक का मात्र देखनेवाला है...** है न? राग हो तो भी जाननेवाला। मेरा है, ऐसा नहीं। द्वेष हो तो भी जाननेवाला, मेरा है—ऐसा नहीं। शरीर सुन्दर हो तो भी जाननेवाला। मेरा है, ऐसा नहीं। बिगड़ा हुआ हो तो शरीर जड़ का, मेरा है, ऐसा नहीं। ऐसा जानने के-देखने के भाव में रहना, इसका नाम भगवान धर्म और भेदज्ञान कहते हैं। उसने जीव को जाना और उसने मुक्ति होने के प्रयाण किये। बाकी पर को अपना माननेवाले को नरक और निगोद में जाने के प्रयाण हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३७, फाल्गुन शुक्ल १२, सोमवार, दिनांक ०८-३-१९७१
अजीव अधिकार का सार, कर्ता-कर्म-क्रियाद्वार, पद १, २, ३

तुम शरीर में कहीं चिऊंटी से दबाओ तो तुम्हें बोध होगा कि हमें दबाया है–हमें दु:ख का बोध हुआ है। बस, यह जानने की शक्ति रखनेवाला जीव है, वही तुम हो, चैतन्य हो, नित्य हो, आत्मा हो। आत्मा के सिवाय एक और पदार्थ जिसे तुमने चिऊंटी से दबाया है, वह नरम-सा, कुछ मैला काला-सा, कुछ खारा-सा, कुछ सुगन्ध-दुर्गन्धवान-सा प्रतीत होता है, उसे शरीर कहते हैं। यह शरीर जड़ है, अचेतन है, नाशवान है, परपदार्थ है, आत्मस्वभाव से भिन्न है। इस शरीर से अहंबुद्धि करना अर्थात् शरीर और शरीर के सम्बन्धी धन, स्त्री, पुत्रादि को अपने मानना मिथ्याज्ञान है। लक्षण भेद के द्वारा निज आत्मा को स्व और आत्मा के सिवाय सब चेतन-अचेतन पदार्थों को पर जानना ही भेदविज्ञान है, इसी का नाम प्रज्ञा है। जिस प्रकार राजहंस दूध और पानी को पृथक्-पृथक् कर देता है, उसी प्रकार विवेक के द्वारा जीव व पुद्गल का पृथक्करण करना पुद्गलों से अहंबुद्धि वा राग-द्वेष हटाकर निजस्वरूप में लीन होना चाहिये और 'तेरौ घट सर तामैं तूंही है कमल ताकौ, तूंही मधुकर है स्ववास पहचान रे।' वाली शिक्षा का हमेशा अभ्यास करना चाहिये।

अजीव अधिकार के सार पर प्रवचन

यह नाटक समयसार, अजीव अधिकार का सार। पृष्ठ ६५। दूसरा पेरेग्राफ।

यह शरीर और रागादि से आत्मा भिन्न है, ऐसा अनुभव करना, इसका नाम धर्म है। उसमें शरीर की स्थिति बतलाते हैं कि **तुम शरीर में कहीं चिऊंटी से दबाओ...** दबाओ तो **बोध होगा कि हमें दबाया है...** यह समझाने के लिये जड़ का दृष्टान्त दिया है। उसे कहाँ खबर है? ख्याल में (आत्मा को) आता है कि यहाँ कुछ है। यहाँ कुछ ऐसे चिऊंटी लगाता है, ऐसा ख्याल आयेगा, ऐसा कहते हैं। हमें इसका बोध हुआ। **हमें दु:ख का बोध हुआ**। कुछ दबता है ऐसा। **बस, यह जानने की शक्ति रखनेवाला जीव**

है। जानने की शक्ति रखनेवाला जीव है। **वही तुम हो, चैतन्य हो... वही तुम हो**। यह जाननेवाला जो है, वह जीव है। नित्य है, वह आत्मा है।

आत्मा के सिवाय... आत्मा की सिद्धि की। **एक और पदार्थ जिसे तुमने चिऊंटी से दबाया है, वह नरमसा कुछ मैला कालासा...** नरमसा—वह स्पर्श है। ऐसा नरम लगे न नरम। चिऊंटी लगावे तो नरम (लगे) वह स्पर्श। **मैला कालासा**—यह रंग। रंग, रंग। **कुछ खारासा**—यह रस और **कुछ सुगन्ध दुर्गन्धवानसा....** यह सुगन्ध-दुर्गन्ध जैसा दिखता है अन्दर, वह गन्ध। **ये प्रतीत होता है, उसे शरीर कहते हैं**। कहो, समझ में आया?

देखो, यह दो बातें की हैं, शरीर की और आत्मा की। आत्मा... ऐसे आत्मा भाषा नहीं, हों! यह वस्तु के स्वरूप की बात है। जहाँ-जहाँ कुछ होता है, वहाँ दु:ख का ज्ञान होता है, वह जाननेवाला आत्मा चैतन्य है, वह नित्य है, एकरूप है, चैतन्य है। इसके अतिरिक्त यह शरीर... स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाला दिखता है, वह शरीर है। स्थूल बात की है, हों! चैतन्य में तो राग को भी अचेतन कहकर... देखो न, शरीर के साथ का जरा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाते हैं।

यह शरीर जड़ है, अचेतन है। दोनों का आमने-सामने था न! वह जीव चेतन है, यह अचेतन है। वह नित्य है तो यह नाशवान है। वह स्व है, तो यह परपदार्थ है। शरीर पर है, जड़ है। **आत्मस्वभाव से...** शरीर **भिन्न है**। आहाहा! शरीर के स्वभाव से आत्मस्वभाव (भिन्न, ऐसा परस्पर) दोनों के स्वभाव भिन्न हैं। '**उभय पद न्यारा**'... आया था न! '**उभय पद न्यारा**'... यह सादी भाषा थी। उभय—दो भाव भिन्न हैं। '**उभय पद न्यारा**' आया था न? दो न्यारे हैं, भिन्न-भिन्न हैं। आया था इसमें। **लच्छन भेद उभै पद न्यारे...** बारहवाँ पद है पद। बारहवाँ पद, हों!

'**चेतन जीव अजीव अचेतन, लच्छन-भेद उभै पद न्यारै**' दोनों के पद अर्थात् दोनों भाव अत्यन्त भिन्न हैं। स्वभाव और पर भिन्न कैसे लगे इसे? शरीर में एकमेक मानो ऐसे चिऊंटी दबाने से वह दब जाता है, ऐसा कहते हैं। दबाता नहीं। यहाँ तो उसे ख्याल कराते हैं। उस समय जरा अरुचि होती है, उसका जाननेवाला वह आत्मा है, ऐसा बतलाना है। समझ में आया?

मुमुक्षु : वेदन तो आत्मा में होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : होता है, उसका जाननेवाला आत्मा। वह (न) सुहाना, वह अलग चीज़ है। अरुचि वह आत्मा नहीं। उसका जाननेवाला, वह आत्मा है। यह आया न भाई... **जानने की शक्ति रखनेवाला जीव है...** ऐसा। **दुःख का बोध हुआ, बस यह जानने की शक्ति रखनेवाला जीव है।** ऐसा बोध, यह जीव है। दुःख, वह जीव नहीं। समझ में आया? स्वरूप है, ऐसा सिद्ध करना है न!

बिच्छू काटा हो बिच्छू, उस समय जो दुःख होता है, उसका ज्ञान है, वह आत्मा है, ऐसा कहते हैं। दुःख भी (आत्मा) नहीं और यह (पर) चीज़ (भी आत्मा) नहीं। चैतन्यज्योति मूर्ति आत्मा, वह तो जाननेवाला-देखनेवाला, उसे आत्मा कहा जाता है। मेरे शरीर को कुछ हो, तो मुझे हो गया। शीत का बुखार आवे तो मुझे शीत का बुखार आया और मुझे गर्म का आया। मुझे यह आया। मुझे आया या शरीर को आया? तू तो उसका जाननेवाला है। मुझे अभी ठीक नहीं शरीर में, हों! भाई कुछ कहते थे कि मरने से पहले थोड़े समय में... कान्तिभाई या ऐसा कोई कहता था। मुझे अभी चैन नहीं। ...मुझे ठीक नहीं।

प्रेमचन्दभाई का पुत्र गुजर गया न! कोई कहता था कि प्रेमचन्दभाई को ठीक नहीं, ऐसा। वहाँ तो बदल डाला.... यह देह की स्थिति। वह जाननेवाला भगवान भिन्न है। उसे नहीं दुःख और उसे नहीं शरीर। समझ में आया? प्रेमचन्दभाई का पुत्र गुजर गया न, खारा, खारा। मुम्बई। अमरेलीवाला प्रेमचन्द भगवान। शरीर यह है, भाई! आहाहा! नाशवान... नाशवान... नाशवान... नाशवान... क्षणिक ऐसा सब... भगवान तो नित्य चैतन्यमूर्ति है। ऐसी क्षणिक की बाहर की बातें तो बहुत हैं। यहाँ तो पुण्य और पाप भी क्षणिक और दूसरी चीज़ है। भगवान तो उसका जाननेवाला है, उसे चैतन्य कहते हैं। समझ में आया?

यह पुण्य-पाप के भाव भी जीव के नहीं। क्योंकि उनमें—पुण्य-पाप के भाव में जानने का भाव नहीं। जिसमें जानने का भाव है, वह आत्मा है। कठिन काम, भाई! **इस शरीर से अहंबुद्धि करना अर्थात् शरीर और शरीर से सम्बन्धी...** शरीर सम्बन्धी लक्ष्मी, स्त्री.... अब कुछ स्त्री-फिस्त्री नहीं इसकी। वह तो बाहर से आयी कहीं से।

मुमुक्षु : आयी न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे आयी ? कहाँ आयी ? वह तो उसके पास रही है। ऐसे नजदीक आवे तो कहे, मेरी स्त्री। क्या हुआ है तुझे यह ? यह पागलपना हुआ है पागल।

मुमुक्षु : छोड़ यह सब।

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़। इतना यह कहा जाता है। बात तो यह है न! **शरीर सम्बन्धी धन, स्त्री पुत्रादि को अपने मानना मिथ्याज्ञान...** मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! यह सब (अपना) माने नहीं, तब तो बाबा हो जायेगा, जंगल में जायेगा, ऐसा माने। ऐसा होगा ? आहाहा!

लक्षणभेद के द्वारा निज आत्मा को स्व और आत्मा के सिवाय सब चेतन-अचेतन पदार्थों को पर जानना... सब दूसरे जीव भी भिन्न हैं। यह भेदविज्ञान है। राग, शरीर, स्त्री, लक्ष्मी—सब अचेतन और स्त्री का आत्मा, वह चेतन—वे सभी (मेरे) आत्मा से भिन्न हैं, भिन्नरूप होकर रहे हैं। ऐसा अन्तर में राग से और शरीर से भिन्न करके आत्मा के ज्ञान में अपनापन अनुभव करना, इसका नाम आत्मा का ज्ञान और धर्म कहा जाता है। समझ में आया ? भाई! लड़का हो तो उत्तराधिकार रखे, पीछे नाम रखे। बांझ के पीछे रहे कुछ ? पोपटभाई! बांझ हो, अविवाहित हो, उसकी कहीं दुनिया में कीमत है उसकी ? आहाहा!

भाई! तेरे आत्मा की चीज़ में कोई स्त्री, परिवार, राग आदि है (नहीं)। नहीं, उसे मानता है, यह मूढ़ता महापाप है। मिथ्यात्व का बड़ा पाप है। आहाहा! कठिन काम ऐसा! जीते जी तो कुछ काम आवे या नहीं ? लड़के के पैसे काम न आवे ?

मुमुक्षु : दुःख में निमित्त काम न आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे जयन्तिभाई और अमुभाई रहते थे। वह न्यालभाई भटकता अन्यत्र हो। यहाँ मर जाये तो फिर आता वह करने। परन्तु जीये हैं तो देखने आवे किसी दिन। परन्तु कौन किसका है ? ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब! यह तो भारी यह नाटक अलग प्रकार का।

इसी का नाम प्रज्ञा है। देखो! भगवान आत्मा को अचेतन और चेतन सब पदार्थों

से भिन्न अपनी जाति जाननेवाली चैतन्यलक्षण से लक्षित है, ऐसा अनुभव करना, उसका नाम प्रज्ञा है। उसका नाम ज्ञान और प्रज्ञा और बुद्धि कहा (जाता है)। बाकी सब कुबुद्धि है। **जिस प्रकार राजहंस दूध और पानी को पृथक्-पृथक् कर देता है। उसी प्रकार विवेक के द्वारा जीव व पुद्‌गल का पृथक्करण करना, पुद्‌गलों से अहंबुद्धि व राग-द्वेष हटाकर निज स्वरूप में लीन होना चाहिए...** पाठ में यह है न! '**तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ**' आया था न। तेरे घट सर तामैं आनन्द का सरोवर है भगवान! तू हंस तेरे आनन्द के मोती खा। आहाहा! यह हंस को उस दाने का भोजन नहीं होता, भाई! यह पुण्य-पाप का, हर्ष-शोक का भोजन, उस हंस को नहीं होता, आहाहा! ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

'**तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ**' देखो! यह कमल आया। ऐ प्रेमचन्दभाई! तुम्हारे पुत्र का नाम उपनाम है यह। वह '**कमल**' कहते हैं, तो यहाँ कमल आया, देखो!

मुमुक्षु : ध्यान नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्यान नहीं। उसका उपनाम लिया। '**तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ, तूही मधुकर**' सुवास—स्व-वास अपनी गन्ध पहिचान रे। तेरी गन्ध तो आनन्द की—अतीन्द्रिय आनन्द की है प्रभु! आहाहा! यह पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ, हर्ष और शोक—यह तेरी सुवास नहीं। वह सब कुवास है, आत्मा की नहीं। ऐसे आत्मा को भिन्न-भिन्न कहना, वह अलग बात है। और आत्मा के आनन्द का अनुभव करना, उसका नाम भिन्नता है, ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया?

'**तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ, तूही मधुकर**' (भँवरा) '**सुवास पहचानु रे**' **शिक्षा का हमेशा अभ्यास करना चाहिए**। लो! भगवान आनन्दस्वरूप है, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द के रस का समुद्र है। उसमें अन्तर में प्रवेश कर राग और विकल्प से भिन्न अनुभव करना, इसका नाम भेदज्ञान प्रज्ञा और आत्मा का जाननेवाला कहा (जाता है)। कहो, समझ में आया? यह अधिकार पूरा हुआ।

अब कर्ता-कर्म-क्रिया अधिकार। यह सूक्ष्म अधिकार है।

कर्ता-कर्म-क्रियाद्वार

काव्य - १

प्रतिज्ञा (दोहा)

यह अजीव अधिकारकौ, प्रगट बखानौ मर्म।
अब सुनु जीव अजीवके, करता किरिया कर्म।।१।।

शब्दार्थ:-प्रगट=स्पष्ट। बखानौ=वर्णन किया। मर्म=रहस्य। सुनु=सुनो।

अर्थ:-यह अजीव अधिकार का रहस्य स्पष्ट वर्णन किया, अब जीव-अजीव के कर्ता-क्रिया-कर्म को सुनो।।१।।

काव्य - १ पर प्रवचन

यह अजीव अधिकारकौ, प्रगट बखानौ मर्म।
अब सुनु जीव अजीवके, करता किरिया कर्म॥१॥

अजीव अधिकार में प्रगट वर्णन किया है, जीव-अजीव का मर्म—भिन्नता। **अब सुनो जीव-अजीव के, करता किरिया कर्म।** जीव की क्रिया रागादि, जड़ादि नहीं और जड़ की क्रिया आत्मा की ज्ञानादि की नहीं। **अब जीव-अजीव के कर्ता क्रिया कर्म को सुनो।** तीन बोल लिये, देखा! क्रिया का करनापना वह कर्ता। षट्कारक की क्रिया का कर्ता और कर्म की व्याख्या इसमें आयेगी।

भेदविज्ञान में जीव कर्म का कर्ता नहीं है, निजस्वभाव का कर्ता है। पहला कलश।

एक: कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी,
इत्यज्ञानां शमय-दभित: कर्तृ-कर्म-प्रवृत्तिम्।
ज्ञान-ज्योति: स्फुरति परमोदात्त-मत्यन्त-धीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम्।।१।।

आहाहा! देखो, अमृतचन्द्राचार्यदेव का कलश!

★ ★ ★

काव्य - २

भेदविज्ञान में जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है, निजस्वभाव का कर्त्ता है

(सवैया इकतीसा)

प्रथम अग्यानी जीव कहै मैं सदीव एक,
दूसरौ न और मैं ही करता करमकौ।
अंतर-विवेक आयौ आपा-पर-भेद पायौ,
भयौ बोध गयौ मिटि भारत भरमकौ।।
भासे छहौं दरबके गुन परजाय सब,
नासे दुख लख्यौ मुख पूरन परमकौ।
करमकौ करतार मान्यौ पुदगल पिंड,
आप करतार भयौ आतम धरमकौ।।२।।

शब्दार्थ:-सदीव=हमेशा। बोध=ज्ञान। भारत=बड़ा। भरम=भूल। भासे=ज्ञात हुए। परम=यहाँ परमात्मा का प्रयोजन है।

अर्थ:-जीव पहले अज्ञान की दशा में कहता था कि मैं सदैव अकेला ही कर्म का कर्ता हूँ, दूसरा कोई नहीं है; परन्तु जब अन्तरंग में विवेक हुआ और स्व-पर का भेद समझा, तब सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, भारी भूल मिट गई, छहों द्रव्य, गुण, पर्याय सहित ज्ञात होने लगे, सब दु:ख नष्ट हो गये और पूर्ण परमात्मा का स्वरूप दिखने लगा, पुद्गल पिण्ड को कर्म का कर्त्ता माना, आप स्वभाव का कर्त्ता हुआ।

भावार्थ:-सम्यग्ज्ञान होने पर जीव अपने को स्वभाव का कर्त्ता और कर्म का अकर्त्ता जानने लगता है।।२।। पुन:

काव्य - २ पर प्रवचन

'प्रथम अग्यानी जीव कहै, मैं सदीव एक, दूसरौ न और मैं ही करता करमकौ' आहाहा! अज्ञानी... अज्ञानी ऐसा कहता है, मैं तो सब एक हूँ। शरीर, राग और आत्मा सब एक हूँ। इसलिए वह रागादि का कर्ता दूसरा नहीं। शरीर और आत्मा, राग और आत्मा—दोनों एक हैं। इसलिए **'मैं ही करता करमकौ'** कर्म का कर्ता मैं ही हूँ। जड़कर्म का कर्ता अथवा पुण्य-पाप के भाव का कर्ता। क्या कहा, समझ में आया?

जिसे, राग और शरीर मैं हूँ, वह एक है—ऐसा जिसने माना है। वह आत्मा और राग तथा शरीर का कर्ता एक ही है, ऐसा मानता है। जिसका कर्ता माने, उसकी एकता माने बिना कर्ता (नहीं) मान सकता। समझ में आया? **'प्रथम अग्यानी जीव कहै, मैं सदीव एक,'** है न पाठ में यह है। **'एकः कर्ता'** ऐसी है न संस्कृत? **'एकः कर्ता'** की व्याख्या यह है कि भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप ऐसा मैं, पुण्य और पाप स्वरूप, ऐसा मैं; कर्म और शरीरस्वरूप हूँ। यह सब एक है। समझ में आया? मिथ्या दृष्टि के भ्रम में.... आहाहा! इसलिए मैं उस राग का कर्ता, विकल्प—दया, दान, व्रत के विकल्प हों, उनका मैं करनेवाला मैं हूँ। क्योंकि राग से भिन्न आत्मा का भान नहीं, इसलिए राग की और आत्मा की क्रिया दोनों एक है, ऐसा मानकर राग का कर्ता आत्मा है, दूसरा कोई है (नहीं, ऐसा मानता है)। आहाहा! बारीक सूक्ष्म बात है।

दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा—विकल्प जो उठता है, कहते हैं कि उसका कर्ता मैं हूँ। ऐसा मानो हम दोनों एक हैं। एक हो (तो) वह कर्ता हो, भिन्न का भिन्न कर्ता कैसे हो? ऐसा अज्ञानी (मानता है)। कहो, सेठी! राग तो जीव करता है। यह तो अज्ञानभाव से जीव राग करता है। यह तो कहा न, दोनों को एक माने वह कर्ता होता है। चिमनभाई! बहुत सूक्ष्म, भाई! मशीन-बशीन का तो कर सकता नहीं। भाव विकल्प वह इसका नहीं, इसकी जाति का नहीं, वह कुजाति का राग है। आहाहा! वास्तव में तो पुद्गल की चीज़ है। अपनी चीज़ हो तो अलग पड़े नहीं।

पाठ ऐसा लिया है कि **'एकः कर्ता चिदहमिह चिद्'** चिद् अर्थात् ज्ञान का और

राग का सबका मैं एक ही कर्ता हूँ, ऐसा। समझ में आया? कठिन काम, भाई! वह मशीन सँभालना... ऐ वजुभाई! लींबड़ी के और मुम्बई के कौन सँभाले? आत्मा सँभाले नहीं तो अपने आप सँभालता होगा? यहाँ तो कहते हैं कि जिसने दो को एक माना, वह अज्ञानी उसका कर्ता मानता है। परन्तु है नहीं दोनों एक नहीं, दोनों भिन्न हैं।

'**दूसरौ न और मैं ही करता करमकौ**' यहाँ कर्म लिया है, श्रद्धान भी लिया है। समझ में आया? देखो, **मैं सदैव अकेला ही कर्म का कर्ता हूँ, दूसरा कोई नहीं है...** आहाहा! जब तक इसकी दृष्टि राग और विकल्प पर पड़ी है, तब तक उस दृष्टि में राग और कर्म तथा आत्मा—दोनों एक मानता है। इसलिए उस अज्ञान में राग का कार्य और कर्म का कार्य मेरा है। मेरा हो, इसका कार्य मेरा ही होगा न, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! कहो, प्रकाशदासजी! यह तो महाव्रत के विकल्प का कर्ता होना, उसको हम अज्ञान मानते हैं, ऐसा कहते हैं। भारी गजब बात! यह धर्म है न चारित्र! आहाहा!

ज्ञान सरोवर प्रभु में वृत्ति का उत्थान, वह कहाँ उसकी जाति है? वह कहाँ उसका कार्य है? उसका कार्य हो तो वह भिन्न पड़े नहीं। आहाहा! यह बात है। मूल भूल.... उसका सँभाल दूँ, इसे सँभाल रखूँ, मेरी इज्जत बनाये रखूँ, मेरा रुतबा बनाये रखूँ, ऐ पोपटभाई! यह अभिमान करते हैं, क्योंकि बनाये रखने का अर्थ ही (है कि) वह और मैं एक मानता है; इसलिए उसे बनाये रखने की वृत्ति मिथ्यादृष्टि को होती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? कहो, देवशीभाई! खेती का बड़ा धन्धा, देखो! कौन करे? भानेज और दोनों का तुम करते हो। अरे... अरे! यहाँ कहते हैं, कौन करे? करे वह माने, दोनों का एक करे, ऐसा माने। जिसे दो की एकता की मान्यता है, वह करता हूँ, ऐसा वह माने। आहाहा! समझ में आया?

'**अंतरविवेक आयौ आपा-पर-भेद पायौ**' अब सुलटी बात होती है। '**अंतरविवेक आयौ**' अरे! मैं तो आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ। एक ही पद में कितना समा दिया है! यह तो धीर का काम है। आहाहा! जिसे अन्दर आत्मा की चीज़ राग और कर्म से भिन्न भासित हुई है, ऐसा पर से विवेक—भिन्न पड़ा है। उसमें एक माना था, इसमें विवेक हो गया, भेद पड़ा। '**अंतरविवेक आयौ आपा-पर-भेद पायौ**' आत्मा और पर का भेद जाना इसने। आहाहा! समझ में आया?

'**भयो बोध गयौ मिटी भारत भरमकौ**' लो, भयो बोध, धर्मी को ऐसे विवेक आने पर, 'धर्म विवेक से नीपजे जो करे तो होय' आता है न? राग के विकल्प से भिन्न चैतन्य की अन्तर एकाग्र होने पर वह राग का कार्य मेरा नहीं, क्योंकि '**आपा-पर-भेद**' जहाँ पायो। आपा—स्वयं जैन वीतरागस्वरूप चैतन्य है और राग है, वह विकारस्वरूप मैल है। ऐसे दो का भेद पाया, '**भयौ बोध**'—उसे बोध हुआ। **स्व-पर का भेद समझा, तब सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, 'भारी भूल मिट गयी।'** इसका अर्थ किया। '**भारत भरमकौ**' है न।

मुमुक्षु : भारत अर्थात् बड़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा। ओहोहो! भ्रम था भ्रम। प्रभु ज्ञानसूर्य है और राग, वह मलिन और दु:खरूप है। अरे! उसमें कितना पुरुषार्थ है! यह कहीं कायर का काम नहीं। समझ में आया?

अपना वीर्य जो रागरूप पड़ा था एकता मानकर.... विवेक आया कि यह नहीं। 'मैं तो आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा चैतन्यज्योति जलहल' (ऐसा) भेदज्ञान से भान हुआ। भेदज्ञान से भान हुआ। तो कहते हैं, '**मिटी भारत भरमकौ**' भ्रमणा का बड़ा भार था, वह मिटा दिया। आहाहा! देखो, यह चीज़ पहली, यह करने का है। **भारी भूल मिट गयी।** बड़ी भूल कि राग और पुण्य-पाप के मैल के विकल्प, वे मेरे, मैं उनका कर्ता और वह मेरा काम। बड़ी भूल है। कहो, इसमें टाईल्स-बाईल्स का काम तो कहीं रह गया। आहाहा!

बाहर में महत्ता लेने भटकता है न, देखो न! यहाँ से मिले और यहाँ से मिले और यहाँ से मिले। इसका अर्थ यह कि बाहर की चीज़ और अपनी को एक मानता है। ऐसा प्रत्यक्ष उसका लक्षण है। आहाहा! शशीभाई! यह तो सूक्ष्म बातें हैं, भाई! '**भयौ बोध गयौ मिटी भारत भरमकौ**' क्या कहा? भ्रमणा का बोझ नाश हुआ, राग से आत्मा पर—भिन्न है, वैसे ज्ञान का उत्पाद हुआ। ध्रुव वस्तु तो त्रिकाल पड़ी है। सूक्ष्म व्याख्या है। बापू! सेठिया लोग इस मूल बात में नहीं जाते, इसलिए बाहर में दौड़ गये हैं। ऐसे के ऐसे अनादि से हैं, कुछ नया नहीं है। आहाहा! अपनी चैतन्यबाजी तो ज्ञान और आनन्द में है। राग और उसमें आत्मा नहीं। जिसमें अपना अस्तित्व नहीं.... उसे

(आत्मा को) पर से भिन्न करके अस्तित्व का स्वभाव है, उसे पकड़ा और ज्ञान हुआ, भ्रम मिट गया, कहते हैं। अनादि की भ्रमणा थी।

'**भासै छहौं दरबके गुन परजाय सब**' लो, छहों द्रव्य के गुण-पर्याय भिन्न-भिन्न है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **छहों द्रव्य, गुण, पर्याय सहित ज्ञात होने लगे....** परमाणु परमाणुरूप से जड़, उसके रंग-गन्ध-रस-स्पर्श—गुण, उसकी यह अवस्था हिलना, चलना, बोलना—यह सब जड़ की अवस्था। उसके द्रव्य, गुण, पर्याय का—उसका ज्ञान हुआ। आत्मा की द्रव्य वस्तु और उसका आनन्द, ज्ञान आदि गुण और उसकी निर्मल अवस्था हुई, वह उसकी पर्याय। गजब काम! यह बोलना ही कठिन पड़े। वह तो दया पालो, व्रत पालो, भक्ति करो, पूजा करो, मन्दिर में आओ और रात्रिभोजन छोड़ो, लो! इतने का माँस छुड़ाया, इतनी सामायिक करके बैठे, इतने अवसर मनाये—दिन मनाये। कहते हैं, किसने मनाया? अन्धेरे में अन्धेरा है। राग आदि के कार्य मेरे मानकर अज्ञानरूप से दोनों को एक मानकर उल्टे कान पड़ा है।

ऐसा चैतन्यस्वभाव राग से भिन्न भगवान को पर से भिन्न भासित हुए बिना इसकी भ्रमणा मिटे (नहीं)। भ्रमणा जाने से सभी छहों द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय से काम द्रव्य कर रहे हैं। राग राग से काम करे, शरीर (शरीर से), कर्म कर्म के कारण से बँधे, कर्म कर्म के कारण से छूटे। मेरे कारण से बँधे और छूटे, ऐसा है नहीं। आहाहा! भारी सूक्ष्म! ऐसा कर्ता-कर्म अधिकार, समयसार में है, इतना स्पष्ट अन्यत्र कहीं ऐसा नहीं। इतना समयसार में ६९ गाथा से स्पष्ट किया है। '**भासे छहों दरबके गुन परजाय सब, नासे दु.ख लख्यौ मुख पूरन परमकौ**' यह दु:ख से नाशे और जाना परमात्मा अपना। '**लख्यौ मुख पूरन परमकौ**' परम की व्याख्या की है न अन्दर। **यहाँ परमात्मा का प्रयोजन है।** पूर्ण परमात्मस्वरूप चैतन्य आनन्दघन को जहाँ परखा... आहाहा!

'**करमकौ करतार मान्यौं पुद्गल पिंड**' 'मैं तो परमस्वरूप भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ'—ऐसा जहाँ अन्तर का विवेक और भान प्रज्ञा से हुआ, तब कर्म का कर्ता पुद्गल है। वास्तव में राग का आचरण भी जड़ का है, मेरा (नहीं)। कितनी क्रिया बेचारे करे? व्रत पाले, अपवास करे, चौविहार करे, चौविहार करे क्या? चौविहार (चार प्रकार का आहार) छोड़े। क्योंकि 'चौविहार करे' ऐसी भाषा सही नहीं है। चौविहार किया,

चौविहार किया का अर्थ चार आहार किया, कहा। चौविहार छोड़े—चार (प्रकार के) आहार को छोड़े। 'मैंने चार आहार को छोड़ा' कहते हैं, उसके द्रव्य-गुण-पर्याय की तुझे खबर पड़ी नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा तो उस देह की क्रिया, जड़ की क्रिया छोड़ना—ग्रहण से तो भिन्न है। बोझा, बोझा सिर पर ऐसा लगे। मूल बात में आने पर इसे पानी उतर जाता है। फिर वाद-विवाद करे।

'**करमकौ करतार मान्यौ पुदगल पिंड, आप करतार भयौ आतम धरमकौ**' देखो, इसमें आ गया वह राग का। भले पुद्गलपिण्ड का कर्ता तो कहा पर, परन्तु '**आप करतार भयौ आतम धरमकौ**' उसमें राग का भी कर्ता छूट गया, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ऐसा धर्म भारी, भाई! '**करमकौ करतार मान्यौ पुदगल पिंड, आप करतार भयौ आतम धरमकौ**' स्वयं तो ज्ञान, दर्शन और आनन्द का करनेवाला—रचनेवाला हुआ। उसे धर्म और उसे विवेकज्ञान कहा जाता है।

संसार के पढ़ने में कितना काल व्यतीत करता है, देखो न! पाप का पढ़ना है सब पाप का। कितने व्रत पाले.... यह अभ्यास करने के लिये समय लेना हो, अन्तर में भिन्न करने के अभ्यास (के लिये) समय मिलता नहीं, समय मिलता नहीं। मर जाता है ऐसा का ऐसा। आहाहा! अरेरे! कुछ मजदूरी कर-करके... स्त्री के लिये, पुत्र के लिये, कीर्ति के लिये, रुतबा के लिये। जो चीज़ अपने में नहीं, उसके कार्य में रुकने से जीव का कार्य अटक गया है। कहते हैं कि परन्तु पर से भिन्न करने पर अपना आत्मा आनन्द और ज्ञान का कर्ता, वह धर्म का कर्ता है। आहाहा! समझ में आया? यह मांगलिक किया। **आप स्वभाव का कर्ता हुआ,....** लो।

भावार्थः- सम्यग्ज्ञान होने पर जीव अपने को स्वभाव का कर्ता और कर्म का अकर्ता जानने लगता है। दूसरा श्लोक।

परपरिणति-मुज्झत् खण्डयद्भेदवादा-
निद-मुदित-मखण्डं ज्ञान-मुच्चण्डमुच्चैः।
ननु कथ-मवकाशः कर्तृ-कर्म-प्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ।।२।।

★ ★ ★

काव्य - ३

जाही समै जीव देहबुद्धिकौ विकार तजै,
वेदत सरूप निज भेदत भरमकौं।
महा परचंड मति मंडन अखंड रस,
अनुभौ अभ्यासि परगासत परमकौं।।
ताही समै घटमैं न रहै विपरीत भाव,
जैसें तम नासै भानु प्रगटि धरमकौं।
ऐसी दसा आवै जब साधक कहावै तब,
करता ह्वै कैसे करै पुग्गल करमकौं।।३।।

शब्दार्थ:-वेदत=भोगता है। भेदत=नष्ट करता है। परचंड (प्रचंड)=तेज। विपरीत=उल्टा। तम=अंधकार। भानु=सूर्य। ह्वै=होकर।

अर्थ:-जब जीव शरीर से अहंबुद्धि का विकार छोड़ देता है और मिथ्यामति नष्ट करके निजस्वरूप का स्वाद लेता है तथा अत्यन्त तेज बुद्धि को सुशोभित करनेवाले पूर्ण रस भरे अनुभव के अभ्यास से परमात्मा का प्रकाश करता है, तब सूर्य के उदय से नष्ट हुए अन्धकार के समान कर्म के कर्तापने का विपरीत भाव हृदय में नहीं रहता। ऐसी दशा प्राप्त होने पर वह आत्मस्वभाव का साधक होता है। तब पौद्गलिक कर्मों को कर्ता होकर कैसे करेगा? अर्थात् नहीं करेगा।।३।।

काव्य - ३ पर प्रवचन

जाही समै जीव देहबुद्धिकौ विकार तजै,
वेदत सरूप निज भेदत भरमकौं।
महा परचंड मति मंडन अखंड रस,
अनुभौ अभ्यासि परगासत परमकौं।।
ताही समै घटमैं न रहै विपरीत भाव,

जैसैं तम नासै भानु प्रगटि धरमकौं।
ऐसी दसा आवै जब साधक कहावै तब,
करता ह्वै कैसे करै पुग्गल करमकौं॥३॥

'**जाही समै जीव देहबुद्धिकौ विकार तजै**' शरीर और राग मैं नहीं, ऐसा जब विकार—मिथ्यात्व को तजे... देखो, जिस समय जीव स्वयं पुरुषार्थ से तजे, ऐसा कहते हैं। कर्म घटे और कर्म टले और ऐसा विवेक आवे, ऐसा नहीं इसमें। आहाहा! '**जाही समै जीव देहबुद्धिकौ विकार तजै, वेदत सरूप निज भेदत भरमकौं**' रागादि विकल्प पर्यायबुद्धि में अपने भासते (थे), उसने वस्तु की बुद्धि द्वारा इस भ्रम का नाश किया और '**वेदत सरूप निज भेदत**' अपने निज आनन्दस्वरूप को प्रत्यक्ष वेदता है। आहाहा! इसका नाम भेदज्ञान और इसका नाम सम्यग्ज्ञान है। आहाहा!

अनादि का जब तक पुण्य और पाप का वेदन है इसे, यह भ्रमणा का वेदन अज्ञान का और मिथ्यात्व का है। समझ में आया? जीव को शरीर का, स्त्री के शरीर का, दाल-भात-सब्जी का, पैसे का, मकान का वेदन नहीं, अज्ञान में भी (नहीं)। अज्ञान में इसे वेदन है हर्ष-शोक और राग-द्वेष के परिणाम का। इसने वेदन किया हो तो, अनन्त काल से निगोद से लेकर नौवें ग्रैवेयक तक जैन साधु होकर रहा, परन्तु इसने वेदन किया है विकार को। समझ में आया? आहाहा! शुभ-अशुभराग है न विकार, उसका इसे वेदन है। विकारभाव का वेदन, वह मिथ्यात्वभाव है। जिसका कर्ता हो, उसे यह भोगता है। समझ में आया?

राग और पुण्य-पाप के भाव का कर्ता हो, उसे वह भोगता है। बहुत सूक्ष्म बातें परन्तु! आहाहा!

मुमुक्षु : भाववेदन हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : वेदन की बात है न। भाव का ही वेदन है न। वेदन किसका है? उसकी तो यह बात आती है। परन्तु वह अज्ञान वेदन है। राग और द्वेष, हर्ष और शोक, विकार का वेदन, वह अज्ञान वेदन है। भगवान तो निर्विकारी स्वरूप है, उसकी तो इसे खबर नहीं। '**वेदत सरूप निज भेदत**' अपने... निज यहाँ लेना। '**वेदत सरूप**

निज' अपने आनन्दस्वरूप को वेदे, अनुभव करे। '**भेदत भरमकौं**' भ्रमणा, राग का वेदन मेरा, इस भ्रमणा का नाश होता है। आहाहा! यह धर्म की कला और यह धर्म की रीति है। यह धमाधम बाहर में चले.... .... यह तो उसी और उसी में मनाया है।

'**वेदत सरूप निज भेदत भरमकौं। महा परचंड मति मंडन अखंड रस**' **अत्यन्त तेज बुद्धि को सुशोभित करनेवाले पूर्ण रस भरे अनुभव के अभ्यास से परमात्मा का प्रकाश करता है...** क्या कहते हैं? महा प्रचण्ड मति-श्रुतज्ञान की उग्रता स्व के लक्ष्य से होने पर, मति और श्रुत स्वभाव के आश्रय से होने पर, महा प्रचण्ड जावे मति और श्रुतज्ञान का महा तेज है जिसका। राग का अन्धकार एकत्व का आताप टला, वहाँ चैतन्य के मति-श्रुत का तेज वहाँ प्रगट हुआ। '**परचंड**' **अत्यन्त तेज बुद्धि को सुशोभित करनेवाले पूर्ण रस भरे अनुभव के अभ्यास से...** '**मति मंडन अखंड रस**' भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का रस अखण्ड है, उसे वेदता मतिज्ञान '**अनुभौ अभ्यासि**' स्व स्वभाव के अनुसार का अभ्यास करता हुआ '**परमासत परमकौं**' परमात्मा का प्रकाश करता है। स्वयं परमात्मरूप से प्रकाश होता है। आहाहा! समझ में आया? कैसी भाषा सादी भाषा में....

'**अनुभौ अभ्यासि परगासत परमकौं**' अनादि से स्वरूप के अस्तित्व के भान बिना राग और विकल्प के अस्तित्व में अपना कर्तव्य मानकर अन्धकार में पड़ा था। कहते हैं कि उसे भिन्न करने से मति और श्रुतज्ञान के तेज बल द्वारा अपने अनुभव के अभ्यास द्वारा परमात्मा की शक्ति का प्रकाश सुशोभित करता है। समझ में आया? परमात्मस्वरूप—अपना परमस्वरूप, परमात्मा अर्थात् परमस्वरूप। शुद्ध घन, घन परमस्वरूप जो है, उसे राग से भिन्न करके अपना अनुभव करने पर परमस्वरूप का प्रकाश करता है। इसका नाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और विवेक कहा जाता है। समझ में आया? '**ताही समै घटमैं न रहै विपरीत भाव**' जहाँ सूर्य प्रगट हुआ, वहाँ अन्धकार किस प्रकार रहे? '**ताही समै घटमैं न रहै विपरीत भाव**' परमात्मा चैतन्यस्वरूप का विकल्प से भिन्न भान होने पर उस समय विपरीतभाव—राग की एकताबुद्धि होती (नहीं)।

'**जैसैं तम नासै भानु प्रगटि धरमकौं**' **सूर्य के उदय से नष्ट हुए अन्धकार के**

समान कर्म के कर्तापने का विपरीतभाव हृदय में नहीं रहता। जिस क्षण सूर्य का प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकार नहीं रहता। उसी प्रकार जिस क्षण राग और कर्म की बुद्धि का नाश होकर आत्मस्वभाव की बुद्धि होने से, वहाँ राग की एकता का अन्धकार—भ्रमणा नहीं रहती। '**तम नासै भानु प्रगटि धरमकौं**' लो, अपने सूर्य के स्वभाव से प्रगट होता है, उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव... भिन्न-भिन्न भाषा में भिन्न-भिन्न भाव की स्पष्टता है। समझ में आया? साधारण लोगों को एक का एक जैसा लगे (परन्तु) ऐसा नहीं है। प्रत्येक भाषा में स्पष्टता की छनावट बहुत सूक्ष्म है, अलग-अलग प्रकार की है। कहते हैं, '**ताही समै घटमैं न रहै विपरीत भाव**' विपरीत भाव अन्धकार रहता नहीं।

'**जैसैं तम नासै भानु प्रगटि धरमकौं, ऐसी दसा आवै जब साधक कहावै तब**' तब साधक कहा जाता है। यह आत्मा का साधक और परमात्मा का साधक। आहाहा! चौथे गुणस्थान से साधक कहा जाता है। आत्मा को राग और विकल्प से भिन्न करता हुआ और स्वभाव की एकता के अनुभव में अपने साधक स्वभाव को साधता हुआ, पर का कर्ता मिटता हुआ... है न? '**करता व्है कैसे करै पुग्गल करमकौं**' '**ऐसी दसा आवै जब साधक कहावै तब, करता व्है कैसे करै पुग्गल करमकौं**' धर्मी जीव राग और पुद्गल को कैसे करे वहाँ? जहाँ चेतन के प्रकाश का तेज प्रगट हुआ है, उस तेज की क्रिया का कर्ता आत्मा है। राग, वह अन्धकार है। सूर्य उगा और अन्धकार रहता नहीं, उसी प्रकार राग से भिन्न पड़कर चैतन्य के प्रकाश का भान हुआ, वहाँ राग की एकता का अन्धकार नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया?

हृदय में नहीं रहता। ऐसी दशा प्राप्त होने पर वह आत्मस्वभाव का साधक होता है... अनादि से विकार का साधक था, अब आत्मस्वभाव का साधक हुआ है। इसका नाम धर्म है। सेठी! गजब बातें, भाई! इसकी पद्धति तो समझे! इसकी पद्धति और यह मार्ग है। यह समझण करे तो इसे अन्दर अन्तर्मुख होने का—प्रयोग करने का अवसर आवे। परन्तु समझण ही जहाँ खोटी हो, उसे अन्तर में उतरने का प्रयत्न रहे नहीं। ऐसे से ऐसे होगा, ऐसे होगा। देखो न यह सब.... आज बहुत आया है। सुवर्णपाषाण साधक है। व्यवहार पहले होता है, पश्चात् निश्चय होता है। अरे भगवान! क्या हो?

यह पंचास्तिकाय का दृष्टान्त सब दिया है। भाई! सब बात है, सुन न! सोना

पत्थर में से भिन्न पड़े, इसलिए सोने का पत्थर है, वह साधक है। अरे! सोना स्वयं से भिन्न पड़ता है, तब उसको व्यवहार साधक की उपमा आती है। क्या हो? भगवान! आहाहा! टीका में है न! भाई! सोना अपने आप भिन्न पड़ता है। समझ में आया? स्वयं की पर्याय उस काल में भिन्न पड़ती जाती है, पत्थर से भिन्न। अब उसका क्या हो? कौन कहे? स्वयं जहाँ अटका हो, उसे अच्छा माने, उसे छुड़ावे कौन?

मुमुक्षु : परन्तु छोड़ना है ही कहाँ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! ऐसे अन्धेरे में उसमें से उजाला नहीं आता। राग तो अन्धकार है, (ऐसा) यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया? वह (राग) साधक होगा? नहीं होगा।

वीतराग स्वभाव आत्मा का, उसमें राग साधक और वीतरागता साध्य, (ऐसा होता नहीं)। तथापि उसमें साधक-साध्य भिन्न लिये हैं न!

मुमुक्षु : भिन्न है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ ही यह कि वहाँ साधक का ज्ञान कराया है, भाई! व्यवहारनय के कथन ऐसे हैं। इसलिए कहते हैं न, व्यवहार अन्यथा कहता है। ऐसा नहीं, इससे अन्यथा व्यवहार कहता है। जो व्यवहार की श्रद्धा रखे तो मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहा है। मोक्षमार्गप्रकाशक (में कहा है)। व्यवहार की श्रद्धा छोड़ो, वहाँ तो ऐसा कहते हैं। टोडरमलजी जैसे ने स्पष्ट किया है, हों! क्यों घड़ी बराबर है?......

कहते हैं, **...आत्मस्वभाव का साधक होता है। तब पौद्गलिक कर्मों को कर्ता होकर कैसे करेगा?** कर्ता होकर कैसे करेगा? जहाँ आत्मा का ज्ञान हुआ कि आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। उसमें विकल्पमात्र का अभाव है, (उसकी) गन्ध नहीं। ऐसा जहाँ भान हुआ, वह अपनी क्रिया ज्ञान की करे, आनन्द की करे, उसका कर्ता होता है। परन्तु राग की क्रिया करे, (ऐसा) कैसे बने? (बनता नहीं)। समझ में आया? यह व्यवहार करते-करते निश्चय होगा, उसे कहते हैं कि नहीं होगा। व्यवहार का कर्तापना छोड़, तब उसे साधकपना प्रगट होगा, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

...कर्ता कैसे करेगा? अर्थात् नहीं करेगा। वह पर को करेगा नहीं। ज्ञानी और

भेदज्ञानी (अर्थात् कि) राग और व्यवहार से भिन्न पड़ा हुआ प्रभु, उसके भान में व्यवहार साधन और निश्चय साध्य नहीं रहे। कहनेमात्र है वह। समझ में आया? व्यवहार का कर्ता हो तो निश्चय कार्य होता है। (बात) है सही, परन्तु आता है न (कि) धीरे-धीरे ऐसा होता है..... यह कहे। समय-समय में ऐसा होता है एकदम.....

मुमुक्षु : ....मूल स्थानक है न इसलिए....

मुमुक्षु २ : शुद्धि की वृद्धि अनुभव से होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुभव से वृद्धि होती है। अन्तर के स्वभाव का आश्रय करते-करते शुद्धि बढ़ती है। राग के कारण से शुद्धि बढ़ती है, ऐसा नहीं। भाई ने स्पष्टीकरण किया है। 'छठे गुणस्थान की शुद्धि सातवें की शुद्धि का कारण है।' उसमें ऐसा लिखा है न! परन्तु इतना लम्बा न करके, इतनी शुद्धि प्रगटी हो, वहाँ राग ऐसा किस जाति का होता है, उसके द्वारा उसे साधक कहकर कहा है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३८, फाल्गुन शुक्ल १३, मंगलवार, दिनांक ०९-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रियाद्वार, पद ४, ५

उसमें कर्ता-कर्म... क्रिया का कर्तापना हो न कर्मपना, ऐसा। इसलिए बराबर है। नीचे तीसरा कलश। ६९ पृष्ठ। सेठी लाये नहीं चश्मा-चश्मा? दो भाई सेठी को एक पुस्तक दो। चाहे जो दो न हिन्दी, गुजराती उसका कुछ नहीं। इन्हें गुजराती भी चलती है। इन्हें बलात् गुजराती.... पढ़ेंगे गुजराती।

मुमुक्षु : पुस्तक स्वयं ही हिन्दी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो हिन्दी है। ओहो! वह सवेरे का था। यह तो समयसार नाटक। वह सवेरे क्या कहलाये?

मुमुक्षु : नियमसार।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह गुजराती था। यह तो हिन्दी ही है, लो! नीचे तीसरा कलश है नीचे।

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां,
स्वं विज्ञान-घनस्वभाव-मभया-दास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृ-कर्म-कलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं,
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्।।३।।

★ ★ ★

काव्य - ४

आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है मात्र ज्ञातादृष्टा है। (सवैया इकतीसा)

जगमैं अनादिकौ अग्यानी कहै मेरौ कर्म,
करता मैं याकौ किरियाकौ प्रतिपाखी है।
अंतर सुमति भासी जोगसौं भयौ उदासी,
ममता मिटाइ परजाइ बुधि नाखी है।।

निरभै सुभाव लीनौ अनुभौके रस भीनौ,
कीनौ विवहारदृष्टि निहचैमैं राखी है।
भरमकी डोरी तोरी धरमकौ भयौ धोरी,
परमसौं प्रीति जोरी करमकौ साखी है।।४।।

शब्दार्थ:-प्रतिपाखी (प्रतिपक्षी)=यहाँ पक्षपाती का प्रयोजन है। नाखी[१]=छोड़ दी। निरभै (निर्भय)=निडर। भीनौ=मग्न हुआ। धोरी=धारण करनेवाला।

अर्थ:-संसार में अनादि काल का यह अज्ञानी जीव कहता है कि कर्म मेरा है, मैं इसका कर्ता हूँ और यह मेरा किया[२] हुआ है। परन्तु जब अन्तरंग में सम्यग्ज्ञान का उदय हुआ, तब मन-वचन के योगों से विरक्त हुआ, परपदार्थों से ममत्व हट गया, परजाय से अहंबुद्धि छूट गई, नि:शंक निजस्वभाव ग्रहण किया, अनुभव में मग्न हुआ, व्यवहार में है तो भी निश्चय पर श्रद्धा हुई, मिथ्यात्व का बन्धन टूट गया, आत्मधर्म का धारक हुआ, मुक्ति से मुहब्बत लगाई और कर्म का मात्र ज्ञाता-दृष्टा हुआ, कर्ता नहीं रहा।।४।।

काव्य - ४ पर प्रवचन

इसका पद। आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता है।

जगमैं अनादिकौ अग्यानी कहै मेरौ कर्म,
करता मैं याकौ किरियाकौ प्रतिपाखी है।
अंतर सुमति भासी जोगसौं भयौ उदासी,
ममता मिटाइ परजाइ बुधि नाखी है॥
निरभै सुभाव लीनौ अनुभौके रस भीनौ,
कीनौ विवहारदृष्टि निहचैमैं राखी है।
भरमकी डोरी तोरी धरमकौ भयौ धोरी,
परमसौं प्रीति जोरी करमकौ साखी है॥४॥

१. यह शब्द गुजराती भाषा में प्रचलित है। २. अर्थात् क्रिया का पक्षपात करता है।

क्या कहते हैं? '**जगमैं अनादिकौ अग्यानी कहै मेरौ कर्म**' जिसे वस्तु के स्वभाव का भान अन्तर्दृष्टि में नहीं (कि) आत्मा क्या चीज है? ज्ञान और आनन्द का धाम ऐसा भगवान आत्मा जिसकी दृष्टि में आया नहीं। इसलिए उसकी दृष्टि में पुण्य और पाप के विकल्प पर्यायबुद्धि में भासित होते हैं, इसलिए वह मेरा कर्म और मैं इसका कर्ता, ऐसा अज्ञानी को भासित होता है। समझ में आया? '**जगमैं अनादिकौ अग्यानी कहै मेरौ कर्म**' इसका अर्थ यह कि अज्ञान में स्वरूप चैतन्यमूर्ति ज्ञान, दर्शन, आनन्द—ऐसे स्वभाव के सन्मुख दृष्टि नहीं होने से और विभाव पुण्य-पाप के राग के सन्मुख दृष्टि होने से, वह मेरे अस्तित्व में ही विकार है—ऐसा मानकर, उस विकार का कर्ता होकर, विकार का कार्य मेरा है, ऐसा मानता है।

मुमुक्षु : बहुत लम्बा वाक्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शब्द का अर्थ किया। क्या? '**जगमैं अनादिकौ अग्यानी कहै मेरौ कर्म**' इसकी व्याख्या यह। '**करता मैं याकौ किरियाकौ प्रतिपाखी है**' प्रतिपाखी—पक्ष करता है क्रिया का। क्रिया का पक्षपात करता है। सूक्ष्म बात है!

आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, ऐसा जहाँ अन्तर्दृष्टि में महा प्रभु अपना अस्तित्व आया नहीं। इससे अनादि का अज्ञानी अर्थात् स्वरूप का अजान, वर्तमान में जो पुण्य और पाप के विकल्पों की वृत्तियाँ होती हैं, उसका उसे भास है। इसलिए वह क्रिया मेरी है और उसका मैं कर्ता हूँ। भारी सूक्ष्म! समझ में आया? पण्डितजी! कठिन काम ऐसा, भाई! अनादि की यह बात है। अनादि की है। निगोद से लेकर नौवें ग्रैवेयक जैन का दिगम्बर मिथ्यादृष्टि साधु हुआ, परन्तु उसे क्रिया का पक्षपात है, इसलिए ऐसे आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसका पक्षपात नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? मैं आत्मा ज्ञान और आनन्द का धाम महा शक्ति का सत्त्व हूँ। ऐसी दृष्टि के अथवा ज्ञान के अभाव के कारण यह अनादि से पुण्य और पाप की क्रिया का पक्षपाती है। यह क्रिया का कर्ता मैं और यह क्रिया मेरा कर्म। सेठी! भारी कठिन काम देखो यह! क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : मार्ग में ही रहे....

पूज्य गुरुदेवश्री : मार्ग यह है।

मुमुक्षु : समझने की क्रिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो, समझने की क्रिया है।

वस्तु स्वयं चैतन्यस्वरूप ज्ञान का सूर्य, आनन्द का धाम—ऐसी वस्तु की दृष्टि अनादि की नहीं है। इसलिए उसकी दृष्टि में तो पर्यायबुद्धि है अर्थात् अंशबुद्धि के ऊपर उसकी छाप है अन्दर अनादि से। वह अस्तित्व इतना ही है, ऐसा। इससे जो कुछ विकल्प शुभ, अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति, करुणा, कोमलता आदि विकल्प उठते हैं, वह परिणति की क्रिया, उस क्रिया का कर्म और उसका मैं कता, पलटती क्रिया, वह मेरा कार्य। समझ में आया? '**करता मैं याकौ किरियाकौ प्रतिपाखी**' प्रतिपाखी (अर्थात्) उसका पक्ष है। दया, दान, व्रत, भक्ति के आदि विकल्प उठते हैं, वहाँ का वह पक्षपाती है, क्योंकि वह विकल्परहित चीज़ है, ऐसी अन्तर में अन्तर्मुख होकर दृष्टि हुई नहीं। इसलिए अनादि का बहिर्मुख दृष्टिवाला बाह्य में दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम जो विकल्प हो—उस क्रिया का पक्षपाती, वह मेरा कार्य है और मैं उसका कर्ता—यह अज्ञानी का काम है। समझ में आया?

करता मैं.... मैं उसका कर्ता। क्योंकि उसकी दृष्टि में भगवान ज्ञान और आनन्द चैतन्य प्रभु वस्तु का स्वभाव, वह दृष्टि में तो आया नहीं। इसलिए उसकी दृष्टि में तो यह विकार विकल्प भासित होते हैं। इसलिए वह क्रिया परिणति विकार की, उसका मैं कर्ता और वह मेरा कार्य। समझ में आया? भारी सूक्ष्म, कहे... ऐसा धर्म! वे चिल्लाहट मचाये। कहे, 'नहीं व्यवहार से होता, पुण्य से होता, क्योंकि पुण्य पवित्रता का कारण है।' आहाहा! महा प्रभु आनन्द का धाम है, अकेला ज्ञान का रसिक चैतन्यतत्त्व है। वह रसिकपना अनादि से उसे छूट गया है और राग का रसिया हुआ है। समझ में आया?

वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा... ज्ञाता-दृष्टा कहो, वीतरागस्वभाव कहो। इसने (अपने) सन्मुख देखे बिना, इसने ऐसा देखा है एक अंश दृष्टि में। भगवान पूरा पड़ा रहा है दृष्टि में से (दूर)। जहाँ हो वहाँ मैंने किया, मैंने किया, दया के भाव मैंने किये, भक्ति के मैंने किये, पुण्य के मैंने किये। यह क्या करते हो? यह सब पुस्तक बनाने के काम मैंने किये। ऐ पोपटभाई! आहाहा! ऐसा जो विकल्प उठा, उसकी सम्हाल में उस क्रिया का पक्षपाती हो गया।

मुमुक्षु : अनादि से लग रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, इतनी दो पद में यह व्याख्या 'अनादि की'। समझ में आया?

'अंतर सुमति भासी जोगसौं भयो उदासी'....

मुमुक्षु : पलटा खाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : पलटा खाया। **'अंतर सुमति भासी' अन्तरंग में सम्यग्ज्ञान का उदय हुआ।** अरे! मैं तो आत्मा, पुण्य-पाप के विकल्प के भाव से भिन्न मेरी चीज़ है। उस चीज़ में तो अकेला ज्ञान और आनन्द पड़ा है। अकेला शक्ति मोक्षशक्तिस्वरूप मैं हूँ। ऐसी जहाँ अन्तर सुमति—सम्यग्ज्ञान हुआ। उस अज्ञान के सामने सम्यग्ज्ञान डाला। समझ में आया? इसका मार्ग अलग है, भाई! यह बाहर से माना है, ऐसा उसका स्वरूप नहीं। विधि से क्रिया करना....

मुमुक्षु : विधि की क्रिया ही है यह। एक ओर विधि ऐसी और ऐसी...

पूज्य गुरुदेवश्री : भीखाभाई! यह बाहर की विधि में कुछ नहीं तो दोष न लगे, उस क्रिया का बराबर ध्यान रखना.... आहाहा! कहते हैं, '**अंतर सुमति भासी**' अरे! यह विकल्प और राग, वह तो मैल है; मेरी चीज़ में नहीं। मैं स्वयं आत्मा वह तो चैतन्य आनन्द का निर्मलानन्द प्रभु है। निर्मलानन्द प्रभु ऐसा इस दृष्टि में सम्यग्ज्ञान हुआ।

कहते हैं, '**भासी जोगसौं भयौ उदासी**' आहाहा! यह शुभ-अशुभभाव और कम्पन से उदास हो गया। समझ में आया? '**मन वचन योगों से विरक्त हुआ...** परन्तु यह सब पर और सब लेना, एक मन-वचन डाला है इसमें। सब कम्पन और भाव दोनों। सम्यग्ज्ञान होने पर शुभ और अशुभ जो विकल्प और राग है, उसके योग से भया उदासी। भगवान आत्मा राग और विकल्प से भिन्न चीज़ का भान होने पर, भिन्न चीज़ जो रागादि, उससे तो उदास हुआ और स्वभाव के आसन में दृष्टि लगायी। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति और वीतरागता—ऐसा जो स्वभाव, वह सुमति अर्थात् सम्यग्ज्ञान में स्वसन्मुख होकर भासित हुआ। '**जोगसौं भयौ उदासी**' यह पुण्य-पाप की क्रिया से तो उदास हुआ। कहो, समझ में आया? भाषा बहुत संक्षिप्त भाव बहुत बड़े। कहो, समझ में आया?

'अंतर सुमति भासी जोगसौं भयौ उदासी, ममता मिटाइ परजाइ बुद्धि नाखी है। देखो, जो विकल्प है शुभ-अशुभभाव वह मेरे—यह ममता गयी। मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसी अन्तर समता हुई और राग की ममता गयी। आहाहा! ममता का अर्थ—यह विकल्प है, वह मेरे हैं, यह ममता गयी। समझ में आया? भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य विज्ञानघन ऐसा जहाँ भान हुआ (कि) 'मैं तो यह हूँ,' इससे वह पुण्य-पाप के विकल्प के भाव से उदास हुआ और वे मेरे हैं, यह ममता गयी। समझ में आया? मार्ग गजब! दुनिया से उदास... यह तो पुण्य-पाप के विकल्प से उदास हुआ, ऐसा कहते हैं। चन्दुभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है।

'ममता मिटाइ परजाइ बुद्धि नाखी है' अंशबुद्धि है, उसका नाश कर दिया है। 'नाखी है' देखो न भाषा अपनी है न! गुजराती है। **'परजाइ बुद्धि नाखी है'** नाखी (अर्थात्) छोड़ दी। देखो, **यह शब्द गुजराती भाषा में प्रचलित है।** नीचे लिखा है। नाखी, नाखी। तुम्हारे आता है? इसमें लिखते हैं इसमें। इसमें नीचे लिखते हैं, देखो। द्रव्यबुद्धि रखकर पर्यायबुद्धि छोड़ दी है।

मुमुक्षु : छोड़ दी।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! समझ में आया? पर्यायबुद्धि छोड़ दी है। कहो, समझ में आया? **'परजाइ बुद्धि नाखी है'** अर्थात् कि राग और पुण्य के परिणाम और अंशपना जो है, उतना हूँ, ऐसा माना था, उस बुद्धि को छोड़ दिया है। समझ में आया?

अब कहते हैं, देखो। छोड़ी, पश्चात् **'निरभै सुभाव लीनौ अनुभौके रस भीनौ'** आहाहा! **निःशंक निज स्वभाव ग्रहण किया।** ऐसा। निर्भय लिया है न, निःशंकता और निर्भयता, ऐसा लिया है न वहाँ? आठ आचार में निःशंक अर्थात् निर्भय। इसलिए यहाँ अभय शब्द में ऐसी निःशंकता डाली है। समझ में आया? यह अभय का अर्थ निःशंकता। पाठ में है न! **'स्वभावम् अभया'**—स्वभाव की निःशंकता के कारण, ऐसा। भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दघन, ऐसे स्वभाव की निःशंकता के कारण, ऐसा। मैं तो आनन्द और

ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा हूँ, ऐसा सम्यग्ज्ञान होने पर '**निःशंक सुभाव लीनौ**' निःशंक निजस्वभाव लीनो अर्थात् ग्रहण किया। वह राग और पुण्य के परिणाम को ग्रहण करता था... समझ में आया? अरे, कठिन ऐसी बात! यह क्रियाकाण्डी को तो ऐसा कठिन लगे, चोट जैसा लगे अन्दर। ऐ जेठाभाई!

ऐसा-ऐसा करते हैं तो भी कहे, ले! जैनधर्म नहीं! गलती करता है, कहते हैं। कहो, जाओ। ठीक भाई! आये थे सब कितने ही। गलती करता है, (ऐसा कहने)। जामनगर। भाई तुम पहिचानते हो उसे, बनिया, कौन?

मुमुक्षु : रतिलाल।

पूज्य गुरुदेवश्री : रतिलाल।

मुमुक्षु : मनजीमासा का पुत्र।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह।

मुमुक्षु : बर्मावाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह। आया था। लोगों का अकल्याण होता है, (ऐसा) कहे। अरे भगवान! ऐसा हमारे गुरु कहलाते हैं। बापू! इस मार्ग के अतिरिक्त दूसरा सब मार्ग गलत है। भगवान आत्मा वह पुण्य और पाप के विकल्प की क्रिया से पार है। ऐसी दृष्टि जब तक नहीं करे, तब तक मिथ्यादृष्टि पुण्य की क्रिया करके मर जाये, वह निगोद के पंथ में है। जेठाभाई! सब गर्म-गर्म पानी पीते और अपवास करते और उपधान करते थे, उस समय कहे तो चोट लगे, ऐसा है। .....

मुमुक्षु : अब तो विश्वास हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उस दिन की बात है। ...बात नहीं। हमारे सेठी को पहले की बात है।

मुमुक्षु : शुभक्रिया करे तो भी जीव निगोद में जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक है, यह तो प्रश्न समझने के लिये करते हैं, हों! अब ऐसा कुछ नहीं रहा। शुभक्रिया का अर्थ क्या है? राग है। और स्वभाव अनन्त आनन्द पवित्र

है। उसके साथ राग को मिलाते हैं, मिथ्यात्व होता है और मिथ्यात्व निगोद का बीज है। समझ में आया? शुभक्रिया वह मेरी—ऐसा कहा न! पक्षपाती कहा न यहाँ? पक्षपाती... उसमें और पक्षपाती लिखा है अर्थ मैं। यह उसका अर्थ 'प्रतिपाखी' है, ऐसा नहीं। यह कर्म मेरा है, ऐसा पक्षपात करता है, ऐसा लेना।

मुमुक्षु : यहाँ पक्षपाती का प्रयोजन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ प्रतिपक्षी की बात है। अर्थ प्रतिपक्षी अर्थात् विरुद्ध जानता है। पक्षपाती का प्रयोजन.... **यहाँ पक्षपाती का प्रयोजन है।** यही प्रयोजन है न! पक्ष, राग की क्रिया वह मेरी है, ऐसा पक्षपात करता है। कठिन काम...! समझ में आया?

मुमुक्षु : उधर बहुत कुछ करके भी खाली ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञान में प्रसन्न हो तो खाली ही रहे। स्वप्न में मिठाई खायी....

मुमुक्षु : भूख नहीं मिटी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भूख तो मिटी नहीं। जगा वहाँ पेट खाली। स्वप्न आया। भूख लगी थी लकड़हारे को। सुखड़ी—सुखड़ी (मिठाई) ताजा घी की बनायी हुई ऐसे-ऐसे। स्वप्न में खायी उसने पतली... पतली... भूख मिटायी। जहाँ ऐसे नींद उड़ी, अरे! यह तो स्वप्न था। इसी प्रकार राग की क्रिया में, मानो मेरी धर्म क्रिया मुझे होती है, मेरी अशान्ति टलती है और मुझे शान्ति मिलती है, ऐसा मिथ्यात्व-भ्रम में माना था। जहाँ जगा वहाँ, अरे! यह तो राग की क्रिया है, यह मेरा स्वरूप नहीं। जयन्तीभाई! अरे गजब यह तो! यहाँ तक आना, सुनने तक आना कठिन।

यहाँ कहते हैं, नि:शंक निजस्वभाव में ग्रहण करके '**अनुभौके रस भीनौ**' **अनुभव में मग्न हुआ।** आहाहा! अनादि से राग के भाव में मग्न था, वह अन्तर राग से भिन्न स्वभाव के सन्मुख होकर देखा, वहाँ अनुभव में मग्न हुआ। आहाहा! कठिन मार्ग ऐसा। समझ में आया? '**अनुभौके रस भीनौ**' अनुभव में मग्न हुआ। '**कीनौ विवहार**' व्यवहार में है। '**कीनौ**' का अर्थ—कीनो व्यवहार। दृष्टि निश्चय में रखी है, ऐसा। इसलिए व्यवहार है, अन्दर में हो।

मुमुक्षु : होता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक ऐसे विकल्प हो, **तो भी निश्चय पर श्रद्धा हुई।** देखो। '**कीनौ विवहार**' भाषा ऐसी कर डाली सरीखी। नहीं तो किया व्यवहार .... परन्तु व्यवहार है **तो भी निश्चय पर श्रद्धा हुई।** शुभभाव तो है, तो भी दृष्टि में निश्चय स्वभाव के ऊपर दृष्टि हुई, तब उसे सम्यग्ज्ञान हुआ।

कहते हैं कि व्यवहार है, शुभभाव-अशुभभाव आदि हो, परन्तु निश्चय पर श्रद्धा हुई। दृष्टि में निश्चयस्वभाव मेरा है, यह दृष्टि है। यह (रागादि व्यवहार) मैं हूँ, ऐसा है (नहीं)। ज्ञानी को अशुभ, शुभभाव होता है न? कहे, नहीं, वे ज्ञानी को होते नहीं। वे भिन्न हैं, उसे अपनी दृष्टि वहाँ रखता नहीं। आहाहा! समझ में आया? **व्यवहार में है तो भी निश्चय पर श्रद्धा हुई।** श्रद्धा तो ज्ञायक चिदानन्द आत्मा, उस स्वभाव में एकता हुई, राग की एकता गयी। आहाहा! समझ में आया? दृष्टि निश्चय में रखी है, देखो! '**भरमकी डोरी तोरी**' **मिथ्यात्व का बन्धन टूट गया।** भ्रम अर्थात् मिथ्यात्व। डोरी तोड़ी—राग की एकता की जो मिथ्यात्व डोरी थी, उसे एकदम तोड़ दिया। वह मैं नहीं। मैं तो आत्मा ज्ञानस्वरूप चिदानन्दस्वरूप हूँ।

'**भरमकी डोरी तोरी धरमकौ भयौ धोरी**' आत्मधर्म का धारक हुआ। '**धरमकौ भयौ धोरी**' जैसे बैल ढोता है न... बड़ा धोरी बैल, इसी प्रकार धर्म का करनेवाला हुआ। शुद्ध स्वभाव का धर्म का धोरी बैल जैसा हुआ। आहाहा! '**धरमकौ भयौ धोरी**' शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु आत्मा, ऐसा भान होने पर निर्मल—रागरहित, श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति—इस धर्म का धोरी जीव हुआ। उसे धर्मी कहा जाता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? '**भरमकी डोरी तोरी धरमकौ भयौ धोरी, परमसौं प्रीत जोरी**' **मुक्ति से मुहब्बत लगाई।** परम अर्थात् परमात्मा। अपना पूर्ण स्वभाव परमात्मस्वभाव के साथ मोहब्बत लगी। वहाँ प्रीति जोड़ी। **मुक्ति से मुहब्बत लगाई।**

देखो, '**परमसौं प्रीत जोरी करमकौ साखी है**' देखो, यह पुण्य और पाप के विकल्प और बन्धन हो, उसका धर्मी साक्षी है, ज्ञाता-दृष्टा है। उसे अपना माननेवाला वह है (नहीं)। आहाहा! अब स्त्री, पुत्र और मकान तथा राग तो कहीं रह गये।

मुमुक्षु : कहीं रह गये अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके घर में रहा, ऐसा। यह तो उसके घर में थे निर्बलता के (परिणाम) वह भी मेरे नहीं। समझ में आया? दृष्टि उछाली ऐसी पूरी एकदम, पुण्य-पाप के भाव से छूटा और उसकी मुक्ति के साथ मोहब्बत लगायी। आहाहा! उसका नाम सम्यग्ज्ञान और धर्म है। पोपटभाई! आहाहा!

'करमकौ साखी' अर्थात् पुण्य-पाप का साक्षी हो गया। कर्ता छूट गया। समझ में आया? साखी (शब्द) है न (अर्थात्) साक्षी। साक्षी हुआ, लो! आहाहा! एक-एक श्लोक देखो तो स्वभाव का समुद्र भरा है। अरे! यह करने का है और यह कर। बाकी सब समझने जैसा है। समझने जैसा अर्थात् सब पाप का पोटला है। आहाहा!

मुमुक्षु : पदार्थ जहाँ का तहाँ है, अपनी दृष्टि बदली है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जहाँ का तहाँ है, हेय है। दृष्टि में से उठ गया। आहाहा! वस्तु तो ऐसी की ऐसी रही।

दृष्टान्त नहीं देते कन्या का? १८ वर्ष की कन्या हो, २० वर्ष की और हो करोड़पति। ऐसे चार भाई हों, चार बहिनें हों, माँ-बाप हो, बहुएँ हों चार लड़कों की। सब कहते हैं कि हम करोड़पति, करोड़पति, करोड़पति। परन्तु जहाँ उसकी सगाई हुई। फलाने गाँव का यह लड़का, अभी वह पास हुआ है अमेरिका में फलाने। उसके साथ सगाई की। कितने पैसे उसके पास? कि उसके माँ-बाप के पास तो दो-चार लाख होंगे। बाकी लड़का होशियार है। हजार-दो हजार वेतन लायेगा। वह घर और वर हो गया, अभी तो वहाँ गयी नहीं।

मुमुक्षु : निश्चित हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चित हो गया। यह घर और यह नहीं, यह नहीं अब मेरा। वह घर और वह वर। जैसा है, वहाँ है सब। मलूकचन्दभाई! कुछ चला गया है कहीं?

मुमुक्षु : अभिप्राय बदला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! यह तो माँ-बाप दे तो सही, बाकी अब करोड़ के मालिक-बालिक हैं, ऐसा वह नहीं। दो वर्ष में विवाह हो, अभी दो-तीन वर्ष सगाई करके रहे तो मन में यही घुंटता है। यह नहीं, यह नहीं, वह है उतना अपना।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन होने पर राग और पुण्य का स्वामी टलकर चैतन्यस्वरूप का स्वामी होता है। अभी राग टलने में देरी लगे, तब तक (राग) रहे, परन्तु दृष्टि पूरी बदल गयी। समझ में आया? पाँच लाख पैदा करे, सुने कि मेरे पिता ने दस लाख पैदा किये हैं। तो भी वह समझे कि अब अपने को भाग-बाग मिले, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : कुछ नहीं पड़ा रहे। बापू आपने तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो माँ-बाप को देने होंगे तो देंगे। बाकी यह दस लाख पैदा किये, इसलिए हमको दस व्यक्तियों में से एक लाख मुझे आवे इस वर्ष में, (ऐसा) माने?

यद्यपि सरकार की ओर से तो ऐसा हुआ है कि पुत्री को भी देना। ऐसा कुछ कहते हैं। ....ऐसा कानून हुआ। मर जाने के बाद कौन देता था वहाँ? माँगे सही।

मुमुक्षु : कानूनन लड़ सकते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़ सकते हैं। है, हुआ है, ऐसा सुना है। कहो, समझ में आया? आहाहा! कहते हैं, दृष्टि बदलने पर जहाँ है वहाँ है सब। परन्तु मैं तो आत्मा ज्ञान और आनन्द का धाम हूँ। रागादि मेरे नहीं। यह राग का फल, बन्धरूप का फल परिवार, राग, स्त्री, लड़का-पुत्र, वह मेरे नहीं, हों! मेरे नहीं, हों! मेरे हों वे अलग होते ही नहीं। मलूकचन्दभाई! सच्चा होगा यह सब? यह तीसरा कलश हुआ।

चौथा। **भेदविज्ञानी जीव लोगों को कर्म का कर्ता दिखता है, पर वह वास्तव में अकर्ता है।** बाह्य में तो ऐसा दिखता है (कि) सबके साथ खाता हो, पीता हो, व्यापार करता हो, (ऐसा) सब दिखता है। परन्तु अन्दर में निराला है, ऐसा उसे भान रहता है। अज्ञानी वह देख नहीं सकता। समझ में आया? चौथा कलश।

व्याप्य-व्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि,
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
इत्युद्दाम-विवेक-घस्मर-महो-भारेण भिन्दन्स्तमो,
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान्।।४।।

इसका पाँचवाँ पद।

★ ★ ★

काव्य - ५

भेदविज्ञानी जीव लोगों को कर्म का कर्त्ता दिखता है, पर वह वास्तव में अकर्त्ता है।

(सवैया इकतीसा)

जैसो जो दरव ताके तैसो गुन परजाय,
ताहीसौं मिलत पै मिलै न काहु आनसौं।
जीव वस्तु चेतन करम जड़ जातिभेद,
अमिल मिलाप ज्यौं नितंब जुरै कानसौं।।
ऐसौ सुविवेक जाकै हिरदै प्रगट भयौ,
ताकौ भ्रम गयौ ज्यों तिमिर भागै भानसौं।
सोई जीव करमकौ करता सौ दीसै पै,
अकरता कह्यौ है सुद्धताके परमानसौं।।५।।

शब्दार्थ:-आनसौं (अन्य से)=दूसरों से। अमिल मिलाप=भिन्नता। नितंब=मोती। सुविवेक=सम्यग्ज्ञान। भान (भानु)=सूर्य। सोई=वह।

अर्थ:-जो द्रव्य जैसा है, उसके वैसे ही गुण-पर्याय होते हैं और वे उसी से मिलते हैं, अन्य किसी से नहीं मिलते। चैतन्य जीव और जड़ कर्म में जातिभेद है, सो इनका नितम्ब और कान के समान अमिलाप है, ऐसा सम्यग्ज्ञान जिसके हृदय में जागृत होता है, उसका मिथ्यात्व, सूर्य के उदय में अन्धकार के समान दूर हो जाता है। वह लोगों को कर्म का कर्ता दिखता है, परन्तु राग-द्वेष आदि रहित शुद्ध होने से उसे आगम में अकर्ता कहा है।।५।।

काव्य-५ पर प्रवचन

जैसो जो दरव ताके तैसो गुन परजाय,
ताहीसौं मिलत पै मिलै न काहु आनसौं।
जीव वस्तु चेतन करम जड़ जातिभेद,
अमिल मिलाप ज्यौं नितंब जुरै कानसौं॥

समझ में आया? नितम्ब—मोती। यह कान के साथ मोती लटके न मोती अलग हो न वह भी अलग हो। लटकाते हैं न यह कान का गहना! गहने का कान का गहना... कान का गहना। नेमिचन्दभाई का पत्र था भाई! आया था, पढ़ा तुमने? नहीं पढ़ा होगा। कि माँ साहेब का ५०-६० हजार का गहना गया, गया न? तथापि शान्ति रखी। हाँ, यह नेमिचन्दभाई। अकेली वृद्धि थी, साथ में कोई बहू घर में नहीं और ५०-६० हजार का गहना पड़ा हुआ। गहना क्या? जवाहरात। नेमिचन्द पाटनी आगरा में। रात्रि में डाकू आये। फिर कुछ छुरी मारी, इसलिए बोल न सके। साथ में दो-तीन व्यक्तियों ने छुरे मारे। घर में कोई नहीं मिले। लाओ। ५०-६० हजार के गहने थे। पहले के गृहस्थ व्यक्ति थे न! पचास लाख का पड़ा होगा तो, ले गये। उठा ले गये। पत्र था कि माँ साहेब ने उसमें बिल्कुल आर्तध्यान नहीं किया। महाराज फरमाते हैं कि जो जहाँ जिसका हो, वहाँ जायेगा। यह होनेवाला हो, वैसा होता है, ऐसा करके समता रखी—ऐसा लिखा है। यहाँ रहते थे न, बहुत बार आये हैं।

५० या ६० हजार के गहने आधे घण्टे में (गये)। जाओ। डाकू आये होंगे। वह तो बाँधकर आवे न, वह तो कुछ पहिचाने जायें, ऐसे आवें। बाँधकर-बाँधकर आये होंगे। आहाहा! समता रखी है, ऐसा कहे। नहीं हमको कुछ... ऐसा भाई का पत्र था। जो होनेवाला हो वह होता है, वह क्या? आर्तध्यान किया, वह तो पापबन्ध है। क्या हो, कहो? स्त्री का स्वभाव तो पाँच रुपये जाये वहाँ ऐसा... ऐसा... हो जाये अन्दर। पोपटभाई! ऐसा नेमिचन्दभाई का पत्र (है कि) माँ साहेब ने शान्ति बहुत रखी है।

मुमुक्षु : ....गुरुदेव की कृपा से कितनी शान्ति रख सके।

पूज्य गुरुदेवश्री : रख सकते हैं.... उसमें क्या है परन्तु अब? जो जानेवाला हो वहाँ जाये, रहने का हो तो उसके कारण से रहे। कहीं आत्मा के कारण से नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : मानता है इतना कि डॉक्टर ने एक बार कह दिया कि समाप्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसी स्थिति हो गयी थी। तो भी... अच्छा है। बच गये। चलता है भाई, क्या हो? आहाहा!

यह तो उसे स्वयं को विश्वास होना चाहिए न कि यह जड़ के परमाणु जहाँ

जानेवाले हैं, वहाँ जायेंगे। उन्हें तेरे रखने से रहे और ध्यान रखे तो रहे, यह तीन काल में बने, ऐसा (नहीं है)। क्यों, बराबर होगा, गुलाबचन्दभाई! वे रखने से नहीं रहते होंगे? वे छह भाई इकट्ठे हों और कितने लाखों रखे हों। ५-५, ६-६ लाख एक-एक को, ऐसा सब.... वह तो उनके कारण से आये हैं। ऐसा होगा रमणीकभाई? दृष्टि बदल दे कि वह चीज़ मेरी नहीं। उसे रहना होगा, उतना रहेगा और जाना होगा, उतना जायेगा। जादवजीभाई!

दृष्टि में ममता है कि यह मेरी है, इसलिए उसे ऐसा होगा, हाय! हाय! मेरी गयी। परन्तु तेरी थी कब? तू तो ज्ञान और आनन्द का घर है। वह तेरा ज्ञान और आनन्द कोई लूट जाये, ऐसा है (नहीं)। क्यों? '**जीव वस्तु चेतन करम। जड़ जातिभेद**' देखो, जातिभेद... '**अमिल मिलाप ज्यों नितंब जुरे कानसौं**' यह कान के साथ मोती लटकता हो, परन्तु वह कहीं कान के साथ एकमेक हो जाये? कान का गहना नहीं करते सोने के ऐरिंग, ऐरिंग। वह कान का चोर आवे और उसकी.... निकले, कान काटकर ले जाये।

ऐसौ सुविवेक जाकै हिरदै प्रगट भयौ,
ताकौ भ्रम गयौ ज्यों तिमिर भागै भानसौं।
सोई जीव करमकौ करता सौ दीसै पै,
अकरता कह्यौ है सुद्धताके परमानसौं॥५॥

अर्थः-'**जैसो जो दरब ताके तैसो गुन परजाय**' भगवान आत्मा द्रव्य है तो ज्ञान, आनन्द उसका गुण है और उसकी निर्मल पर्याय है—यह उसका है। वह (निर्मल) पर्याय, हों! साथ की मलिन पर्याय, वह उसकी पर्याय है ही नहीं। आहाहा! '**जैसो जो दरब ताके**' ताके द्रव्य अर्थात् वस्तु, '**तैसो गुन परजाय**' वैसा उसका गुण। भगवान आत्मा द्रव्य है, तो उसका ज्ञान, दर्शन, आनन्द गुण है, तो उसकी वर्तमान में निर्मल दशा, वह उसकी पर्याय है। रागादि, पुण्यादि की क्रिया, वह उसकी पर्याय नहीं, जातिभेद है। आहाहा!

'**ताहीसौं मिलत पै मिलै न काहु आनसौं**' जिस द्रव्य का जो गुण और जो पर्याय उसके साथ मिलान खाये—मिलाप। समझ में आया? परन्तु दूसरे के साथ मिलान खाये (नहीं)। भगवान आत्मा जाननेवाला-देखनेवाला गुणवाला है तो उसकी दृष्टि होने से

उस जाननेवाले-देखनेवाले की जो अवस्था निर्मल अरागी होती है, वह पर्याय उसमें उसकी, उसे पुण्य-पाप के राग के साथ उस पर्याय का मिलान और मनमिलाप नहीं है। जैसे कान को और मोती को कुछ मिलाप नहीं। उसी प्रकार यह राग और आत्मा की निर्मल पर्याय को मिलाप नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

'ताहीसौं मिलत पै मिलै न काहु आनसौं' अन्य के साथ मिले नहीं। शरीर, वह मेरा—ऐसा तो हो नहीं। परन्तु पुण्य-पाप के विकल्प के साथ आत्मा की निर्मल पर्याय को मिलान नहीं खाता। समझ में आया?

मुमुक्षु : अर्थपर्याय पहिचान बतलाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : 'जीव वस्तु चेतन करम जड़ जातिभेद' भगवान आत्मा तो जानने-देखनेवाला चेतन है और पुण्य-पाप के भाव और कर्म तो अचेतन, जातिभेद है। तेरी जाति के वे (नहीं)। आहाहा! गजब परन्तु पद बनाये हैं न! मक्खन बनाया है मक्खन। कहते हैं, जीववस्तु तो चेतन। उसमें राग-द्वेष आये? व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प है, वह कहीं चेतन नहीं, वह तो जातिभेद है, भगवान आत्मा के ज्ञानस्वभाव से उसका जातिभेद है। समझ में आया?

निहालभाई ने लिखा है न उसमें, नहीं पुस्तक में? लड़के को कहते हैं, 'मेरे को पंगु समझकर शरीर को टिकाने को दो वक्त आहार दो। मैं तो पंगु हूँ।' यह तुम्हारी दुकान-बुकान और धन्धे के लिये मैं पंगु हूँ, ऐसा लिखा है। निहालचन्दभाई सोगानी। 'मेरे को पंगु समझकर शरीर को टिकाने को दो वक्त आहार दो। मैं तो पंगु हूँ।' आहाहा! दुकान चलती थी बड़ी कपड़े आदि की। कलकत्ता न? दिल्ली, दिल्ली। कलकत्ता, कलकत्ता।

'अमिल मिलाप ज्यौं नितंब जुरै कानसौं' जातिभेद का मेल कैसे हो? कहते हैं, यह चैतन्य और दूसरे जड़—दोनों का जाति का भेद है, कैसे मेल करना? **'अमिल मिलाप ज्यौं नितंब जुरै कानसौं' इनका नितम्ब और कान के समान अमिलाप है।** भिन्न-भिन्न रहते हैं। आहाहा! यह वस्तु है, भाई! इसकी समझा कर, इसका ज्ञान कर और इसका ध्यान कर। आहाहा! बाकी सब क्रियाकाण्ड हो, तो उसका आत्मा कर्ता

नहीं। जातिभेद है। आहाहा! अभी तो थोड़ा भी बाहर का छोड़ना कठिन पड़े, उसे यह राग मेरा नहीं (यह कितना कठिन लगे)? आहाहा! **'ऐसौ सुविवेक जाकै हिरदै प्रगट भयौ'** ऐसा सम्यग्ज्ञान जिसके हृदय में जागृत हुआ। ऐसा जिसका विवेक... कान और मोती को दोनों को मिलाप नहीं। दो जाति ही अलग है। इसी प्रकार चैतन्यस्वभाव और राग के परिणाम—दो का मेल नहीं। आहाहा!

अभिलाप... अभिलाप आता है न उसमें कलशटीका में। कलश में आता है कहीं। दो-तीन-चार-पाँच जगह वह कलश में आता है कहीं। कलशटीका में आता है। अमेल है, अमेल है। कहाँ होगा यह किसे खबर है? अमेल है, अमेल है, अमेल है। ऐई! कहाँ है किसी को खबर नहीं? कलश में, कलश में। इसमें नहीं, हों! यह तो समयसार नाटक है। वह कलश है। वह कलश है न। यह तो वह साधारण आ गया। वे तो चार-पाँच जगह अभिलाप है, अमेल है, अमेल है। खबर नहीं कुछ? ऐई रामजीभाई! यह मेरे रामजीभाई को कहता हूँ। वाँचते हैं न। ऐसा कहा है इसमें कलश में? तुम सब निवृत्त लोग बहुत वाँचनेवाले। इसमें नहीं। यह उसमें अन्यत्र है कहीं। यह कलश में नहीं। अन्यत्र है कहीं। आस्रव या सर्वविशुद्ध में होगा कहीं। मेल नहीं, अमेल है, ऐसे शब्द हैं। कलशटीका की बात है, इसमें नहीं। कलशटीका। एक बार कहा था दो-तीन जगह है। देखना।

'ऐसौ सुविवेक जाकै हिरदै प्रगट भयौ, ताकौ भ्रम गयौ ज्यौं तिमिर भागै भानसौं' अरे! सूर्य उगे और अन्धकार रहे (ऐसा नहीं होता)। सूर्य उगे और अन्धकार का नाश हो जाये, इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान की ज्योति चैतन्यमूर्ति का जहाँ भान होता है, वहाँ कहते हैं, राग-बाग उसकी दृष्टि में आता नहीं। आहाहा! भिन्न रह जाता है भिन्न। भिन्न पड़ गया। **ताकौ भ्रम गयौ ज्यौं तिमिर भागै भानसौं'** भ्रम गया—भ्रमणा। यह विकल्प मेरा है और मेरा कर्तव्य—यह भ्रमणा टूट गयी। गयी, कहते हैं। आहाहा! **'सोई जीव करमकौ करता सौ दीसै पै'** बाहर में दिखता है कि यह खाता है, यह पीता है, ऐसा करता है, बोलता है। बापू! अन्दर में अन्तर पड़ गया है। समझ में आया? आहाहा!

धाय खिलावे बाळ, आता है न? 'सम्यग्दृष्टि जीवडो करे कुटुम्ब प्रतिपाळ, अन्तर से न्यारो रहे ज्यो धाय खिलावे बाळ।' ऐ भीखाभाई! अन्दर से प्रीति उड़ जाती है, कहते

हैं। यह मेरा हीरा है और यह मेरी चूड़ी का व्यापारी है, ऐसा कहते हैं। **'सोई जीव करमकौ करता सौ दीसै पै'** बाहर में लोगों को कर्म का कर्ता दिखे। क्रिया तो दोनों की समान दिखायी दे बाहर में, परन्तु अन्दर में अन्तर पड़ा, वह कौन देखे, कहते हैं। ज्ञानी को अधिक क्रिया हो, कोई पूर्व के कर्म के कारण से बड़ी क्रिया दिखाई दे राग-बाग, धन्धा और अज्ञानी निवृत्ति लेकर नग्न मुनि दिखाई दे। तथापि जहाँ राग और आत्मा को एक माना है, वहाँ सब प्रवृत्ति अन्धेरे में है, उसकी सब। आहाहा! राग से छूटा और छह खण्ड के राज में दिखाई दे, तथापि अन्दर में उसकी एकता नहीं होती। आहाहा!

'अकरता कह्यौ है सुद्धता परमानसौं' राग-द्वेष आदि रहित शुद्ध होने से उसे आगम में अकर्ता कहा है। लो। शुद्धता के कारण से, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? शुद्धता—ज्ञाता-दृष्टा की शुद्धता प्रगट हुई, उसकी ज्योति में राग का और पुण्य का वह कर्ता दिखायी (नहीं देता)। शुद्धता आयी, उसके प्रमाण में वह राग का कर्ता है ही नहीं। **राग-द्वेष आदि रहित शुद्ध होने से उसे आगम में अकर्ता कहा है।** देखो, परमागम में उसे अकर्ता कहा है। कर्ता, तो भी अकर्ता, ऐसा नहीं, हों! भाषा तो समझाने में क्या कहे?

मुमुक्षु : वह दूसरे को दिखायी दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा देखता है कि यह करता है, ऐसा दिखायी दे। समझ में आया? पकड़-पकड़ में अन्तर है। एक बिल्ली अपने बच्चे को पकड़े और एक बिल्ली सामने चूहे को पकड़े। पकड़-पकड़ में अन्तर है। चूहे को पकड़े तो ऐसे दबाव देकर पकड़ा हो। उसके बच्चे को एक घर से दूसरे ले जाये, ऐसे दाँत छूए नहीं। पोचा ऐसे ले जाये, ऐसे घुमाकर। बिल्ली, बिल्ली। पकड़-पकड़ में अन्तर है। इसी प्रकार अज्ञानी की पकड़ और ज्ञानी की पकड़ बाह्य में (समान) दिखाई दे, परन्तु अन्तर है। आहाहा! कान्तिभाई!

हमारे वहाँ दामनगर उपाश्रय के सामने एक अनाज की दुकान है। बिल्ली इतना बड़ा चूहा पकड़कर आवे मुख में, हों! उपाश्रय में सीधे निकले बिल्ली। दाने हो न दाने दुकान में, उसमें तो चूहे बहुत आवें, चूहे बड़े-बड़े जोरदार। बिल्ली पकड़े और उपाश्रय में आवे, सीधे निकले वापस। खाने का.... वाडा है न वहाँ उसमें जाकर अन्दर

घुसकर फिर खाये। ऐसे बहुत बार चूहे देखे हैं दामनगर में। बाजार में दुकान है। आहाहा! वह तो दबाव पड़े वहाँ ही वह तो—चूहा तो मर जाये। ऐसा लटकता हो मुख में और बिल्ली के बच्चे को भी वह स्वयं पकड़कर लावे परन्तु वह तो हमने देखा नहीं। पोचा रखे ऐसे पकड़ने में।

इसी प्रकार धर्मी की दृष्टि में अपने शुद्ध आत्मा का भास है, अनुभव है, इसलिए वह राग को पकड़ता नहीं। परन्तु वह राग होता है, उसे देखता है और दूसरे ऐसा कहते हैं, 'परन्तु यह राग तो करता है।' समझ में आया? आहाहा! राग-द्वेष आदि रहित शुद्ध होने से आगम में भगवान ने तो उसे अकर्ता कहा है। चौथा कलश हुआ न? अब पाँचवाँ '**जीव और पुद्गल के जुदे-जुदे स्वभाव**' लो। दोनों के स्वभाव अत्यन्त न्यारे हैं। आहाहा! पाँचवाँ इस ओर कलश।

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्,
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृ-कर्मभ्रम-मति-रनयोर्भाति तावन्न यावत्,
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः॥५॥

उसमें तीसरे कलश में था न, उसमें लिखा था न '**अज्ञानोत्थित-कर्तृकर्मकलनात्**' भाषा.... यह पद है न उसमें तीसरा... तीसरा कलश नहीं? '**अज्ञान उत्थित कर्तृकर्मकलनात्**' अर्थात् अज्ञानरूप ही कर्ताकर्मपना है, ऐसा। भाषा ऐसी कि अज्ञान से उत्पन्न होती कर्तृ-कर्म... भाषा। अज्ञान से उत्पन्न होता कर्ता-कर्म... परन्तु अज्ञानरूप ही कर्ता-कर्म है, ऐसा अर्थ लिया है अभेद। अज्ञान से उत्पन्न होता, ऐसा नहीं, परन्तु वह अज्ञानरूप ही कर्ता-कर्म है।

मुमुक्षु : अज्ञान से उत्पन्न, उसमें भेद आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : भेद आया। समझ में आया? है न? '**अज्ञान उत्थित कर्तृकर्मकलनात्**' अज्ञानरूप ही राग और पुण्य का कर्तापना उसे भासित हुआ है। यह ज्ञानपने वह कर्तापने रहता नहीं। विशेष (कहेंगे)।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३९, फाल्गुन शुक्ल १४, बुधवार, दिनांक १०-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद ६, ७, ८

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्,
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृ-कर्मभ्रम-मति-रनयोर्भाति तावन्न यावत्,
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ।।५।।

इसका छठवाँ पद है यह। **जीव और पुद्गल के जुदे-जुदे स्वभाव।** छठवाँ (पद)।

★ ★ ★

काव्य - ६

जीव और पुद्गल के जुदे-जुदे स्वभाव (छप्पय छन्द)

जीव ग्यानगुन सहित, आपगुन-परगुन-ज्ञायक।
आपा परगुन लखै, नांहि पुग्गल इहि लायक।।
जीवदरव चिद्रूप सहज, पुदगल अचेत जड़।
जीव अमूरति मूरतीक, पुदगल अंतर बड़।।
जब लग न होइ अनुभौ प्रगट,
तब लग मिथ्यामति लसै।
करतार जीव जड़ करमकौ,
सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै।।६।।

शब्दार्थः-ज्ञायक=जानने वाला। इहि लायक=इस योग्य। अचेत=ज्ञान-हीन। बड़=बहुत। मिथ्यामति=अज्ञान। लसै=रहे। भ्रम=भूल।

अर्थः-जीव में ज्ञान गुण है, वह अपने और अन्य द्रव्यों के गुणों का ज्ञाता है।

पुद्‌गल इस योग्य नहीं है और न उसमें अपने वा अन्य द्रव्यों के गुण जानने की शक्ति है। जीव चेतन है और पुद्‌गल अचेतन, जीव अरूपी है और पुद्‌गल रूपी, इस प्रकार दोनों में बड़ा अन्तर है। जब तक भेदविज्ञान नहीं होता, तब तक मिथ्यामति रहती है और जीव अपने को कर्म का कर्ता मानता है परन्तु सुबुद्धि का उजाला होने पर यह भ्रान्ति मिट जाती है।।६।।

काव्य-६ पर प्रवचन

जीव ग्यानगुन सहित, आपगुन-परगुन-ज्ञायक।
आपा परगुन लखै, नांहि पुग्गल इहि लायक॥
जीवदरव चिद्रूप सहज, पुदगल अचेत जड़।
जीव अमूरति मूरतीक, पुदगल अंतर बड़॥
जब लग न होइ अनुभौ प्रगट,
तब लग मिथ्यामति लसै।
करतार जीव जड़ करमकौ,
सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै॥६॥

'**जीव ग्यानगुण सहित**' आत्मा तो ज्ञानगुणसहित है। '**आपगुन-परगुन-ज्ञायक**' '**परिणति**' शब्द है न संस्कृत में, '**स्वपरपरिणति**' है। परन्तु 'परिणति' का अर्थ वहाँ अकेली पर्याय, ऐसा नहीं। मानो सब द्रव्य-गुण-पर्याय दोनों के। पाठ में तो ऐसा है न '**जानन्नपीमां स्वपरपरिणति**' परन्तु 'परिणति' का अर्थ—स्व द्रव्य-गुण-पर्याय और पर द्रव्य-गुण-पर्याय, ऐसे दो अर्थ इसमें आते हैं। परिणति नहीं, यह तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों, ऐसा। परिणति शब्द में तीनों लेना। इसलिए स्पष्टीकरण ऐसा किया न। '**जीव ग्यानगुन सहित, आपगुन-परगुन-ज्ञायक**' अपने भी द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने और पर के भी द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने। वह तो ज्ञायक है।

'**आपा परगुन लखै नांहि पुग्गल इहि लायक**' परन्तु पुद्‌गल तो स्वयं और पर.... अपने द्रव्य-गुण-पर्याय—एक को भी जान नहीं सकता। जड़-जड़, जड़ में तो

उसे कुछ जानने का स्वभाव नहीं। '**नांहि पुग्गल इहि लायक**' स्व और पर को जानने को पुद्गल योग्य नहीं है। '**जीव दरव चिद्रूप सहज, पुदगल अचेत जड़**' दोनों में इतना अन्तर है, कहते हैं। जीववस्तु है, वह तो ज्ञानस्वरूप है। स्वाभाविक, स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप है, चैतन्यप्रकाश है। और पुद्गल अचेतन—जड़ है, यह शरीर—वाणी यह तो जड़ है। '**जीव अमूरति मूरतीक, पुदगल अंतर बड़**' जीव है, वह अमूर्त है और मूर्तिक पुद्गल। अन्तर बहुत अधिक। रागादि सब... यह तो एक जड़ की करते हैं, पुद्गल की बात करते हैं यहाँ, परन्तु सब लेना। जीव अमूर्तिक—रंग, गन्ध, रस, स्पर्श रहित चीज़ और मूर्तिक पुद्गल अन्तर... दोनों में बहुत अन्तर है जीव और पुद्गल में।

'**जब लग न होइ अनुभौ प्रगट**' जब तक आत्मा राग से और पर से भिन्न होकर... देखो, यहाँ सब आया। जब तक आत्मा, आत्मा के ज्ञानस्वरूप में, राग और शरीर और कर्म से भिन्न पड़कर अनुभव प्रगट न करे, '**तब लग मिथ्यामति लसै**' तब तक अज्ञान की मिथ्याबुद्धि वहाँ '**लसै**' अर्थात् होती है। समझ में आया? वहाँ तक उसे मिथ्या दृष्टि रहती है कि राग का कार्य मेरा और राग का मैं कर्ता; कर्म का कार्य मेरा और कर्म का मैं कर्ता। कब तक? मिथ्यामति रहे वहाँ तक। आहाहा! वस्तु के स्वभाव में वह नहीं। परन्तु जब तक पुण्य-पाप के विकल्प और कर्म, शरीर से भिन्न—ऐसा जब तक ज्ञान अनुभव न करे, तब तक मिथ्यामति रहे, तब तक राग और पर का कर्ता माने। क्योंकि जिसने एकपना माना है, उसका कर्ता होता है, भिन्नता माने, वह उसका कर्ता नहीं होता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

'**तब लग मिथ्यामति**' और '**करतार जीव जड़ करमकौ**' तब तक जड़कर्म और विकार के परिणाम का कर्ता जीव माने-माने। '**सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै**' सम्यग्ज्ञान होने पर, मैं आत्मा रागादि विकल्प से भिन्न, ऐसी जहाँ दोनों की एकता टूटने से '**सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै**' ज्ञान का विकास होने पर राग मेरा कार्य और मैं कर्ता, यह भ्रमणा नाश हो जाती है। लो, यह मुद्दे की रकम। यह गर्म पानी पीने का विकल्प और यह सबका, कहते हैं कि कहाँ तक कर्ता? ऐसा कहते हैं। जब तक दो की एकता माने, तब तक। भिन्नता भान हुई, तब उसका कर्ता नहीं होता। क्योंकि भिन्न वस्तु का कर्ता हो कैसे? आहाहा! समझ में आया? कहो, पोपटभाई! राग का, हों!

भगवान तो ज्ञायकस्वरूप है। चैतन्यप्रकाशमय है। ऐसा आ गया न पहले, देखो! वह तो ज्ञायक है, अमूर्तिक है और सामने मूर्तिक और जड़ है। दो का एकपना जब तक माने अर्थात् कि जब तक उसकी दृष्टि पुण्य-पाप के विकल्प पर पड़ी है, अस्तित्वरूप से, परन्तु उनसे मेरा अस्तित्व भिन्न है, ऐसा भान नहीं, तब तक मिथ्याबुद्धि रहती है। वहाँ तक विकार का कर्ता और विकार अपना कार्य मानता है। कहो, समझ में आया? यह टाईल्स का कार्य और उसकी तो बात भी नहीं यहाँ।

मुमुक्षु : यहाँ न हो, मुम्बई में होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुम्बई में भी होती नहीं और कहीं नहीं होती। कहो, समझ में आया? जहाँ-जहाँ आत्मा ज्ञायकमूर्ति और राग तथा पर एक है, (ऐसी) मान्यता है, वहाँ-वहाँ, वह जहाँ हो, वहाँ वह जिसे अपना माने, उसका कर्ता हुए बिना नहीं रहता। यह सिद्धान्त। भाई! आहाहा! ऐसा कहना है।

'जब लग न होइ अनुभव, प्रगट तब लग मिथ्यामति लसै' राग और विकार, शरीर और कर्म—इनका अस्तित्व मेरी चीज़ में नहीं। मेरी चीज़ में तो जानना-देखना और आनन्द है। ऐसी जब तक दो की भिन्नता देखे नहीं और जब तक एकता माने, तब तक मिथ्यामति रहता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? तथापि बाहर के काम तो नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं। यह पत्थर के और लकड़ी के काम कोई नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : यहाँ न करे, वहाँ तो करते होंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ करते होंगे? नहीं करते। आहाहा! क्या करे? तू कहाँ है? ऐसा कहते हैं। तू जहाँ है, वहाँ उसका कर्ता हो। यदि तू राग में हो तो राग का कर्ता, यदि तू ज्ञान में हो तो ज्ञान का कर्ता, राग का स्वामी नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, सेठी!

ऐसा कहते हैं (कि) तू कौन है? कहाँ है? कैसे है? कहे, 'मैं तो राग हूँ। मैं पुण्य हूँ, मैं पाप हूँ। शरीर हूँ।' बहुत अच्छा, कहे। तो यह है तो इसका कर्ता हो, होता है मिथ्याबुद्धि से। समझ में आया? परन्तु जहाँ **'करतार जीव जड़ करमकौ, सुबुधि**

विकास' परन्तु जड़ विकारी परिणाम आस्रव है, दया-दान-व्रत के परिणाम भी आस्रव है, विकार है, मेरे स्वरूप में वे नहीं। ऐसे विकार से भिन्न पड़ने से, सुबुद्धि का विकास होने से, भिन्न का कार्य भिन्न (करे ऐसा) माने, यह बात रहती नहीं। कहो, समझ में आया? जेठाभाई वहाँ करते होंगे, ऐसा होगा?

मुमुक्षु : कुछ न करे तो जेठाभाई....

पूज्य गुरुदेवश्री : जहाँ यह आत्मा... बहुत सिद्धान्त सिद्ध किया है। सुबुद्धि हो अर्थात् भ्रम टले। और मिथ्यादृष्टि रहे, तब तक अपने को कर्ता मानता है। क्योंकि एकपने से भिन्न पड़ा नहीं। कहो, चेतनजी! क्या है यह? आहाहा!

मुमुक्षु : वह परिणाम को अपना मानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं कि राग-द्वेष के परिणाम, पुण्य-पाप के परिणाम वे मलिन हैं, भगवान आत्मा तो ज्ञान एक निर्मल है। ऐसे दोनों की एकता टूटी, तो भिन्न चीज़ का कर्ता रहता नहीं। अपने परिणाम का कर्ता कहना, वह भी उपचार से भेद करने पर कहा जाता है। ज्ञाता के परिणाम—जानने के परिणाम आत्मा करे और जानने के परिणाम जीव का कार्य, यह भी भेद पाड़कर उपचार से कथन है। कलश में है उसमें। उसमें भी है। दो कलश में है। एक कलश नहीं, दो कलश में है। समझ में आया?

क्या कहा? कहते हैं कि पुण्य और पाप और राग आदि भाव, वह पर्यायबुद्धि है। जब तक उसमें बुद्धि है, तब तक मिथ्या दृष्टि के कारण, मिथ्यामति के कारण, वह भाव उसे कर्ताबुद्धि का वहाँ पड़ा है। परन्तु वह राग... दृष्टि को अन्तर में झुकाने से राग और पुण्य के विकल्प भिन्न रह गये और भिन्न का कर्ता जीव और भिन्न का कार्य जीव का, यह बात वहाँ रहती नहीं। मात्र रहे इतना व्यवहार से कि राग आदि के जानने के परिणाम अपने, वह परिणाम कर्म—अपना कार्य और आत्मा कर्ता। यह भी अभेद में भेद करके विचारे तो इतने का पड़ता है। परन्तु पर का कर्ता तो उपचार से भी नहीं है।

कहा न कि राग आदि के भाव—विकारी व्यवहार का भाव, उसे जब तक एकरूप से चैतन्य द्रव्य में माने, तब तक मिथ्याबुद्धि टिक रही है। इसलिए उसकी मिथ्याबुद्धि में राग मेरा कर्म और मैं कर्ता, (ऐसा) मानता है। परन्तु राग से भिन्न पड़ने

पर, चैतन्यस्वभाव का भान होने पर, सुबुद्धि का विकास होने पर; राग से भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान 'राग का कार्य मेरा और मैं कर्ता' ऐसा वह मानता नहीं। मात्र रागसम्बन्धी का जो अपना ज्ञान, वह ज्ञान 'मेरा काम और मैं कर्ता' ऐसा भेद उपचार से किया जाता है। परन्तु राग का कर्ता आत्मा और राग आत्मा का कर्म, यह तो उपचार से भी ज्ञान में भान होने से यह रहता नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ऐसी बात है। आहाहा! कहो, जेठाभाई!

मुमुक्षु : भेदविज्ञान तुम्हारे जैसा....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

'करतार जीव जड़ करमकौ, सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै' आहा! सुबुद्धि का उजाला विकास का हुआ, सम्यग्ज्ञान का जहाँ प्रकाश हुआ, वहाँ रागरूपी अन्धकार का वह कर्ता रहता नहीं। समझ में आया? पर की दया पाल सकता हूँ, यह मान्यता तो मिथ्यादृष्टि की है। क्योंकि पर के कार्य में स्वयं मानो कुछ अधिकारी हो, ऐसा मानकर पर की दया पालन करूँ, ऐसा उसे भाव आया, वह मिथ्यादृष्टि है। वह जीव और यह जीव, दोनों को एक माना। इससे आगे जाकर, जीवदया का जो विकल्प आया, वह विकल्प और मैं दोनों एक माने, तब तक मिथ्यादृष्टि उस विकल्प का कर्ता और कर्म अपने को मानता है, वह मूढ़ है।

सेठी! यह है। क्या है? क्या है? पुण्य का भाव अपनी पर्याय में होता है या पर में होता है?

मुमुक्षु : निगोद की रक्षा का भाव....

पूज्य गुरुदेवश्री : रक्षा कौन कर सकता है?

मुमुक्षु : भाव आता है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव आता है, उस राग का कर्ता हो तो वह मूढ़ है।

मुमुक्षु : जीव को मारने का भाव तो नहीं आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : तो न मारने का भाव भी विकल्प है।

मुमुक्षु : बचाने का भाव तो आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : बचाने का विकल्प है, बचा नहीं सकते। परन्तु विकल्प आता है तो विकल्प में आत्मा एकत्व माने, तब तक मिथ्याबुद्धि में कर्ता-कर्म होता है। परन्तु राग से भिन्न अपने आत्मा का ज्ञान हुआ तो उसमें राग का कर्ता भिन्न तत्त्व (है और) भिन्न तत्त्व का कर्ता हो सकता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : उदयभाव आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आता है, कहा न, वह तो राग है। पहले (जैसा) अब भड़के ऐसा नहीं। पहले आये थे, भड़कते थे। अभी बराबर बैठी नहीं, ऐसा सेठ कहते हैं।

वह तो कहते हैं, पहले कहा था कि जीव '**ज्ञानगुण सहित आपगुन-परगुन ज्ञायक**' आत्मा ज्ञायकभाव है, जाननशक्तिवाला। तो राग आता है, उसी काल में राग के सम्बन्ध बिना वह अपने ज्ञान के साथ सम्बन्ध करके राग को जानता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग है। वहाँ मुम्बई में तो ऐसी धमाल चले ऐसी। बड़े बँगले और बड़ा यह और वह और.... लो। और पैसेवाले इसलिए उसे तो ऐसे पाँच लाख यहाँ डालो और दस लाख यहाँ डालो और उसका यह करो और उसका यह करो और ऐसा। क्या होगा यह सब?

मुमुक्षु : शुभभाव आता है तो उसको जानता है कि मुझे राग आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह राग को जानता है, ऐसा कहना भी व्यवहार है। राग सम्बन्धी अपने में भिन्न पड़ने से, स्व-पर का ज्ञाता का परिणाम सहज अपने में होता है। उसको जानता है, वह भी व्यवहार है।

भेद करके जाना कि आत्मा ने परिणाम जाना, (तो) भेद हुआ। अपना, हों! राग को पर में रखो।

मुमुक्षु : अपने को जानने के....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अपने को जानना भेद हुआ, उपचार हो गया। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : तो एक ज्ञान से भी इतनी भिन्नता हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्नता। ज्ञान जानता है बस वह, बीच में और 'मैं जानता हूँ और मेरा परिणाम है और मैं ज्ञायक हूँ और यह मेरा परिणाम है'—वह भी उपचार—भेद हो गया। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : बहुत स्पष्टीकरण....

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत सूक्ष्म! आहाहा! यह तो आया नहीं भाई! अपने सर्वविशुद्ध (ज्ञान अधिकार) में? आत्मा आत्मा को जाने, यह व्यवहार है, उससे तुझे क्या काम है? ऐई कनुभाई! भाई! बात तो ऐसी है। यह क्या काम.... है आत्मा, उसमें प्रयोजनसिद्धि क्या है? भगवान आत्मा-आत्मा, यह वह आत्मा जानता है, बस! आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : ध्यान तो तब....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, स्वच्छता तब रहती है कि अपना आत्मा अपने को जाने, ऐसा भेद भी नहीं। जाने बस। आहाहा! इससे ऐसा लिया न, देखो न! '**जीव ग्यानगुन सहित, आपगुन-परगुन ज्ञायक**' पाठ में परिणति ली है कि भाई! आत्मा अपनी परिणति को जाने और राग की परिणति को जाने। परन्तु वास्तव में तो आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने, पर के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने। अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव को जाने, पर के उत्पाद-व्यय-ध्रुव को जाने। बस, यह जानने का स्वरूप, वह चैतन्य का है। जड़ में वह जानपना नहीं, इसलिए वह स्व और पर को नहीं जानता।

राग में वह जानपना नहीं। दया का राग हुआ, वह राग नहीं जानता अपने को और नहीं जानता साथ में रहे हुए आत्मा को। दूसरे के द्वारा ज्ञात हो, ऐसा जो राग, वह अचेतन है। आहाहा! गजब काम भाई यह! समझ में आया? जेठाभाई! कितना अन्तर इसमें! आहाहा!

मुमुक्षु : आसमान-जमीन का अन्तर।

पूज्य गुरुदेवश्री : आसमान-जमीन का अन्तर, लो। आकाश और पाताल जितना अन्तर है। अभी की मान्यता जगत की जो है कि 'हम ऐसा पालन कर दें और हम दया पालते हैं, हम अहिंसा करते हैं, हम दान कर देते हैं, मन्दिर बना देते हैं और....

आहाहा! हम व्रत पालते हैं।' यह सब विकल्प के कर्ता होनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसा वीतराग का मार्ग है। यह छठवाँ श्लोक कहा।

मुमुक्षु : विभाव परिणति....

पूज्य गुरुदेवश्री : विभाव परिणति है तो स्वभाव परिणति से भिन्न है। वह आस्रवतत्त्व है और आत्मा ज्ञायकतत्त्व है। जब दो की एकता मानते हैं, तब अज्ञानी कर्ता-कर्म भ्रान्ति से मानते हैं। भ्रान्ति का—भ्रम का नाश हुआ और मैं तो ज्ञायक आत्मा हूँ। तो पर का काम मेरा और उसका मैं कर्ता—यह बात सुबुद्धि में—सम्यग्ज्ञान में रहती नहीं। यह बात है। आहाहा! भारी कठिन जगत को। अब उसमें सूझ पड़े, लो। आज वह छह कोस का भ्रमण करेंगे न?

मुमुक्षु : छह कोस की प्रदक्षिणा।

पूज्य गुरुदेवश्री : छह कोस की प्रतिष्ठा क्या कहलाती है? प्रदक्षिणा। फिरेंगे और फिर हाथ में आयेगा वह ढ़ेबरा और दही। और हमारे भाई चेतनजी तो ऐसा कहते थे कि श्रीखण्ड भी देते हैं बीच में किसी-किसी समय। दे, दे कोई कोई। श्रीखण्ड दे थक हार कर आये हों। धूप हो, श्रीखण्ड-श्रीखण्ड खाओ। ... श्रीखण्ड।

मुमुक्षु : शक्कर का पानी दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : शक्कर का पानी दे।

लोगों को तो ऐसा कि अपने से धर्म होता नहीं, तब कोई ऐसा करते हों (तो) लो न, हम भी भाग तो लें थोड़ा, ऐसा मानते हैं। धूल भी धर्म नहीं, सुन न! उसे भी धर्म नहीं और तुझे भी धर्म नहीं। आहाहा! उसमें जो शुभ विकल्प आया, उसका भी कर्ता हो, वह राग को और आत्मा को एक मानता है। पण्डितजी! गजब! आहाहा! एक लाख रुपये दो। फिर उसमें से जो ब्याज आवे न, श्रीखण्ड दो, ढेबरा और दही दो। क्या है? वह क्रिया तो जड़ की है। वह जड़ का कार्य मैं करूँ, यह मान्यता ही मूढ़ मिथ्यादृष्टि की है। तदुपरान्त यहाँ तो बात चलती है। उसमें हुआ जो राग शुभ, धर्म-बर्म नहीं। वह राग और आत्मा एक माननेवाला राग का कार्य मेरा, ऐसा मानता है। मिथ्यादृष्टि है तब तक (मानता है)। आहाहा!

अब यह वापस जयपुर जाना है। यह सवेरे दोपहर में विचार आया था कि भाई! यह बात तो अब बाहर कठिन पड़ती है। ऐई सेठी!

मुमुक्षु : ....शुद्धता नहीं रहती।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह लोगों को ऐई वाद-विवाद.....

मुमुक्षु : ....जरूरत नहीं। इधर रहने की जरूरत है, ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहते हैं (कि) यहाँ रहने की जरूरत है, जयपुर जाने की जरूरत नहीं। ऐसी बात कहाँ सुने? लोगों को झगड़ा—वाद-विवाद होता है। बेचारों को सत्य की खबर नहीं होती, अन्धे अन्ध... बात ऐसी है। यह दोपहर में ऐसा कहते थे। यह तो भाई! इतने में और इतने में समाये ऐसा है।

मूल वस्तु और एक ओर रही, परन्तु ऐसी बात बाहर में किस प्रकार स्पष्टता रखने से वाद-विवाद—झगड़ा खड़ा हो। सभा २-४-५ हजार की सभा हो, उसमें कभी आवे। 'लो, तब अब हमारे करना नहीं न' और ऐसा कहे (वह)।

मुमुक्षु : ऐसी बात सुनने को मिले न।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब उसे खबर नहीं पड़ी।

मुमुक्षु : जयपुर में ऐसा नहीं होगा, ऐसा बता दो।

मुमुक्षु २ : उनको सुनने को मिले तो विचारने का मौका तो मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यहाँ तो ऐसा मनुष्यदेह अनन्त काल में मुश्किल से मिला, भाई! यह आँखें मिंच जायेंगी, बापू! चला जायेगा कहीं। आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, वह राग की क्रिया से भी भिन्न है, ऐसा यदि भान नहीं किया, (तो) चौरासी के अवतार में कहाँ जायेगा, इसका अन्त नहीं आयेगा। यह दुनिया वहाँ दशा डालने नहीं आयेगी वहाँ।

कोई ऐसा जाने कि भाई, हमने यह पैसे दिये थे, इतना दान किया था। हमने ऐसा किया था। हमको अब कोई मदद करो। आहाहा! कौन करे? बापू! भाई! तेरी ही उल्टी दशा के परिणाम का कर्ता हो, वहाँ तुझे सुलटा कौन करावे? समझ में आया? यह

भ्रान्ति... मैं तो ज्ञानस्वरूप चैतन्य हूँ। शरीर आदि की क्रिया तो मुझसे होती नहीं, परन्तु राग भी मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! तब भ्रम मिटे। इसके बिना भ्रम नाश होगा नहीं और भ्रम—मिथ्यात्व का पाप तो लोगों को कुछ लगता नहीं। आहाहा! मिथ्यात्व का महापाप। थोड़ी छोटी भी मिथ्यात्व की श्रद्धा, (वह) महा बड़ा पाप है। कसाईखाने लगावे, उसकी अपेक्षा (भी) अनन्तगुना पाप है। अब लोगों को यह बात बैठती नहीं और बाहर में सब भपका हो...हा...

मुमुक्षु : राग की उलझन सूक्ष्म....

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म है। यह पाँचवाँ श्लोक हुआ। छठवाँ।

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।६।।

छठवाँ श्लोक का ७वाँ पद। **कर्ता, कर्म और क्रिया का स्वरूप।**

★ ★ ★

काव्य - ७

कर्ता कर्म और क्रिया का स्वरूप (दोहा)

करता परिनामी दरव, करम रूप परिनाम।
किरिया परजयकी फिरनि, वस्तु एक त्रय नाम।।७।।

शब्दार्थः-कर्ता=जो कार्य करे। कर्म=किया हुआ कार्य। क्रिया=पर्याय का रूपान्तर होना, जैसे-घट बनने में कुंभकार कर्ता है, घट कर्म है और मृत्तिका का पिण्ड पर्याय से घटरूप होना क्रिया है, पर यह भेद विवक्षा कथन है। अभेद विवक्षा में घट को उत्पन्न करनेवाली मृत्तिका है, इसलिए मृत्तिका ही कर्ता है, मृत्तिका घटरूप होती है, इसलिए मृत्तिका ही कर्म है और पिंड पर्याय मृत्तिका की थी वा घट पर्याय भी मृत्तिका ही हुई, इसलिए मृत्तिका ही क्रिया है। परिनामी=अवस्थायें पलटनेवाला। परिनाम=अवस्था।

अर्थ:-अवस्थाएँ पलटनेवाला द्रव्य कर्ता है, उसकी अवस्था कर्म है और अवस्था से अवस्थान्तर होना क्रिया है; इस प्रकार एक वस्तु के तीन नाम हैं।

विशेष:-यहाँ अभेदविवक्षा से कथन है, द्रव्य अपने परिणामों को करनेवाला स्वयं है, इसलिए वह उनका कर्ता है, वे परिणाम द्रव्य के हैं और उससे अभिन्न हैं, इसलिए द्रव्य ही कर्म है, द्रव्य अवस्था से अवस्थान्तर होता है और वह अपनी सब अवस्थाओं से अभिन्न रहता है, इसलिए द्रव्य ही क्रिया है। भाव यह है कि द्रव्य ही कर्ता है, द्रव्य ही कर्म है और द्रव्य ही क्रिया है; बात एक ही है, नाम तीन हैं।।७।।

काव्य-७ पर प्रवचन

करता परिनामी दरव, करम रूप परिनाम।
किरिया परजयकी फिरनि, वस्तु एक त्रय नाम ॥७॥

अर्थ में बहुत लम्बा लिखा है। शब्दार्थ है न, शब्दार्थ।

मुमुक्षु : भेद और अभेद और....

पूज्य गुरुदेवश्री : जो कार्य करे... उसका नाम कर्ता। जो कार्य करे, उसका नाम कर्ता और **किया हुआ कार्य...** यह कर्म। जो काम हुआ, वह कर्म। और **पर्याय का रूपान्तर होना...** यह क्रिया। रूपान्तर, दशा बदले—अवस्था बदले, उसका नाम क्रिया। यह तो जरा दृष्टान्त दिया है बाहर का व्यवहार का। **घट बनने में कुम्भकार कर्ता, घट कर्म, मृत्तिका का पिण्डपर्याय से घटरूप होना क्रिया।** यह भेद-विवक्षा है। वास्तव में उसका कर्ता नहीं। **अभेद विवक्षा में घट को उत्पन्न करनेवाली मृत्तिका है।** यह घड़े को उत्पन्न करनेवाली मिट्टी (है), कुम्हार नहीं। कुम्हार परद्रव्य है, वह मिट्टी की पर्याय का कर्ता नहीं हो सकता। समझ में आया?

यह परिणाम का कर्ता.... यह बाद में आयेगा। उसके बाद आयेगा।

मुमुक्षु : नौवें में।

पूज्य गुरुदेवश्री : मृत्तिका घटरूप होती है। देखो, मिट्टी घटरूप होती है या कुम्हार घटरूप होता है? कुम्हार तो कुम्हाररूप रहता है। इसलिए मिट्टी, वह घड़े की

कर्ता और घड़ा, वह मिट्टी का कार्य। **मृत्तिका ही कर्म है...** मिट्टी, ऐसा कहते हैं। **पिण्ड पर्याय मृत्तिका की थी व घटपर्याय भी मृत्तिका ही हुई।** मिट्टी की पर्याय पिण्डरूप हुई, वही घटरूप हुई, इसलिए मृतिका की वह क्रिया है। मिट्टी की क्रिया वह पिण्डरूप हुई और घटरूप हुई, वह क्रिया मिट्टी की है। वह कहीं कुम्हार की और दूसरे जीव की क्रिया नहीं। समझ में आया?

और **परिनामी=अवस्थाएँ पलटनेवाला... परिनाम=अवस्था...** दो अर्थ कर दिये स्पष्ट। **अवस्थाएँ पलटनेवाला द्रव्य कर्ता है।** आत्मा शुभाशुभपरिणाम अज्ञानभाव से करे, तो उन शुभाशुभ परिणाम का अज्ञानी कर्ता। ज्ञानभाव से भान होने पर—सम्यग्ज्ञान होने पर, उस राग को भी जानने के परिणाम को करे, उस परिणाम का कर्ता जीव और परिणाम—निर्मल परिणाम उसका कर्म। कहो, समझ में आया? अज्ञानी का कर्म पुण्य और पाप, भाव, हों! क्योंकि वह कर्ता अज्ञानरूप से होकर पुण्य-पाप के कार्य मेरे, ऐसा मानता है। और ज्ञानी का कर्म... ज्ञानी कर्ता, धर्मी कर्ता किसका? धर्म परिणाम (अर्थात् कि) रागरहित, पुण्य-पापरहित भाव ऐसे निर्मल वीतरागी भाव वह उसका कर्म और उसका वह धर्मी कर्ता। धर्मी राग का भी कर्ता नहीं और शरीर का कर्ता नहीं। आहाहा! गजब!

मुमुक्षु : पुण्यभाव....

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्यभाव क्या?

मुमुक्षु : यह पुण्यभाव भी पैदा हो....

पूज्य गुरुदेवश्री : हो तो राग है, उसको ज्ञानी जानते हैं क्योंकि राग के ऊपर से दृष्टि उठा ली है और दृष्टि ज्ञायकभाव पर पड़ी है। तो ज्ञायकभाव के परिणाम का कर्ता होता है। समझ में आया? **अवस्थाएँ पलटनेवाला द्रव्य कर्ता है।** कहो, मिट्टी घड़े की अवस्थारूप पलटती है। इसलिए मिट्टी घड़े की कर्ता। ऐसे रागरूप अज्ञानी पूर्व की विकारी दशा पलटाकर दूसरी दशारूप होता है, तो अज्ञानी विकार की अवस्था का कर्ता। आहाहा! समझ में आया?

उसकी अवस्था कर्म... अज्ञानी की अवस्था, पुण्य और पाप के भाव अपना माने, इसलिए अज्ञानी की अवस्था पुण्य और पाप, वह उसका कर्म। ज्ञानी की अवस्था,

वह पुण्य और पाप को भी अपने में रहकर अपने स्वभाव से जाने—देखे, वह जानने-देखने के परिणाम, वह ज्ञानी की अवस्था, वह उसका कार्य। अरे, यह भारी सूक्ष्म! पोपटभाई! ऐसा कहीं सुना नहीं होगा वहाँ। प्रतिक्रमण कर-करके आसन फटे कितने ही। यह तो बहुत क्रिया करते थे जेठाभाई! उपधान और अपधान और....

मुमुक्षु : आकुलता ही थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : आकुलता।

मुमुक्षु : इसीलिए उसका नाम अपधान किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपधान किया है। आहाहा! अरे! दुनिया कहाँ... कहाँ रही है और क्या होता है, इसकी उसे खबर नहीं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, यह कर्ता किसे कहना? कि जिस द्रव्य की जो अवस्था हो—करे, उस अवस्था का वह द्रव्य कर्ता। घड़े की अवस्था का कर्ता मिट्टी। पुण्य-पाप की अवस्था का कर्ता अज्ञानी जीव। पुण्य-पाप के परिणाम अज्ञानी का कर्म। घट, वह मिट्टी का कर्म। और ज्ञानी—धर्मी किसका कर्ता? धर्मी स्वयं शुद्ध परिणाम का कर्ता और शुद्ध परिणाम उसका कर्म। अरे! बहुत सूक्ष्म पड़े, वह व्यक्ति दूसरे रास्ते चले गये। रास्ता पड़ा रहा। मार्ग पड़ा रहा और उल्टे रास्ते चढ़ गये।

मुमुक्षु : उल्टे रास्ते का भान हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो यहाँ कि सुनने को वालों को कितनों को। दूसरों को तो ऐसा लगे (कि) ऐसे पक्के रास्ते चलते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : सुनना कठिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनना कठिन। ऐसी बात?

मुमुक्षु : दुनिया का उच्छेद निकालने आये?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! भगवान! सुन भाई! तेरे हित की बातें हैं, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

कहते हैं कि तेरी दृष्टि जब तक पुण्य-पाप के विकल्प / राग के ऊपर है, तब तक तेरे स्वभाव का तुझे अनादर है। ज्ञायक भगवान सच्चिदानन्द प्रभु है। राग के ऊपर

दृष्टि है, उसे इस ज्ञायकभाव का अनादर है। बहुत सूक्ष्म! और ज्ञायकभाव का जहाँ आदर हुआ, तब राग होता है परन्तु उसका आदर नहीं रहता। कहो, समझ में आया? मार्ग ऐसा है, भाई! ऐसा अन्त:तत्त्व का मार्ग लोगों को सुनने को मिलता नहीं और उसमें बेचारे जिन्दगियाँ व्यतीत करे, कितनों के पच्चीस-पच्चीस वर्ष, पचास-पचास वर्ष चले गये। उसमें कुछ हाथ आया नहीं।

मुमुक्षु : वास्तविक तो सुनने को मिला नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिला नहीं अभी। बहुत दूर है। आहाहा!

मुमुक्षु : आदर की बात....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ऐसा कहा कि जिसे पुण्य और पाप के भाव की जिसे मिठास और आदर है, उसे अनन्त आनन्दकन्द प्रभु भगवान का उसे अनादर है। और जिसे भगवान ज्ञायकस्वरूप है, ऐसे चैतन्यभाव का जिसे अन्तर में आदर है, उसे पुण्य-पाप के भाव का अन्तर में भेद पड़ा, इसलिए आदर नहीं रहता। समझ में आया?

ऐसा धर्म। कहे, भाई आओ! तब यह सब यात्रायें करे, अपवास करे, प्रौषध करे, सामायिक करे, बेचारे कितने ही करे। उन्हें कुछ धर्म नहीं होता होगा?

मुमुक्षु : अन्धोअन्ध पलाय (अन्धा चले और अन्धा रास्ता दिखाये)।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्धे अन्ध हैं। अन्धे चलनेवाले और अन्धे बोलनेवाले हैं। आहाहा! बापू! तुझे तेरे घर में ज्ञानस्वभाव तेरे घर में है। वह राग-बाग तेरे घर में नहीं। उस राग का जो कर्ता हो, वह राग की अवस्था उसका कर्म और उस अवस्था का कर्ता अज्ञानी, मेरा काम (माने), इसलिए वह कर्ता। **और अवस्था से अवस्थान्तर होना क्रिया है...** अवस्था से अवस्थान्तर हो। धर्मी की अवस्था प्रथम ज्ञान-आनन्द की थी, वह पलटकर विशेष ज्ञान और आनन्द की हुई, वह धर्मी की क्रिया। अज्ञानी को अशुभराग मिटकर शुभ हुआ, उसे शुभ मिटकर वापस शुभ हो, वह अवस्थान्तर क्रिया अज्ञानी की राग की क्रिया है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

विशेष : **यहाँ अभेद विवक्षा से कथन है, द्रव्य अपने परिणामों को करनेवाला स्वयं है, इसलिए वह उनका कर्ता है।** अज्ञानी विकार को अपना माने, इसलिए विकार

का कर्ता अज्ञानी है। धर्मी आनन्द और ज्ञानस्वरूप अपना मानता है, इसलिए उसके परिणाम का कर्ता धर्मी है। आहाहा! कठिन पड़े लोगों को, हों! **वे परिणाम द्रव्य के हैं और उससे अभिन्न हैं।** देखो! जो परिणाम हुए... मिट्टी के परिणाम घटरूप हुए, वे मिट्टी से अभिन्न हैं। ऐसे राग और विकल्प के परिणाम अज्ञानी को हुए, उसे अज्ञानी अभिन्नरूप से मानता है, इसलिए अभिन्न है। ज्ञानी के परिणाम जानने-देखने के हुए, वह जानने-देखने के (परिणाम) चैतन्य से अभिन्न हैं। **इसलिए द्रव्य ही कर्म है...** यहाँ तो इसलिए द्रव्य ही कार्य है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या कहा? इस मिट्टी में से घड़ा हुआ, यह घड़ा यह मिट्टी ही उसका कर्म है, कहते हैं। मिट्टी स्वयं ही कर्मरूप हुई, मिट्टी ही कर्म है। ऐसे राग और पुण्य के परिणाम कार्य हुए अज्ञानभाव में, उन्हें मेरा मानकर यह आत्मा ही स्वयं अज्ञानभाव के कर्मरूप परिणमित हुआ है। यह आत्मा ही कर्म है। विकारीभाव, वही आत्मा, ऐसा। यह सब बातें सब फेरफारवाली है या नहीं?

बहुत वर्षों किया हुआ। श्रीमद् का पढ़ा हुआ बहुत वर्षों। भक्ति करे, पूजा करे, घण्टे एक-दो-तीन घण्टे। हमारे वीरचन्द भूरा थे, वे भी बहुत करते थे। बोटाद।

मुमुक्षु : कर्ता ही कर्म हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता.... क्योंकि अभिन्न है न। जिसने राग को अपना माना, वह राग का कर्म और आत्मा—दोनों अभिन्न हो गये। अर्थात् आत्मा ही.... यह आत्मा ही स्वयं रागरूपी कर्म है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! और राग से भिन्न पड़ने पर, सम्यग्ज्ञान होने पर सम्यग्ज्ञानरूपी कर्म, वह आत्मा ही सम्यग्ज्ञानरूपी कर्म हुआ। आत्मा सम्यग्ज्ञानरूपी कार्य हुआ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह तो धीरज से समझनेयोग्य बात है। समझ में आया?

मुमुक्षु : वन्समोर।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या वह?

मुमुक्षु : अभी एकबार अधिक।

पूज्य गुरुदेवश्री : वन्समोर करते हैं, लो।

कहते हैं कि अभेद-विवक्षा कथन में द्रव्य और परिणामों के करनेवाला स्वयं है,

इसलिए वह कर्ता। अपने भाव का कर्ता अज्ञानी, इसलिए आत्मा ही स्वयं कर्ता। वह कर्तारूप से हुआ, इसलिए वह स्वयं ही कर्ता। **वे परिणाम द्रव्य के हैं...** वे विकारी परिणाम भी अज्ञानी के द्रव्य का है, इसलिए अज्ञानी का द्रव्य ही कर्म उसका स्वयं का। और धर्मी का द्रव्य शुद्ध है, राग से भिन्न है; इसलिए जानने के परिणाम, वही आत्मा। जानने के परिणाम वह आत्मा, कर्ता वह आत्मा, ऐसा। और वे परिणाम हुए जानने के, वे कर्म अर्थात् आत्मा ही स्वयं कर्म हुआ। आत्मा उसरूप हुआ, इसलिए आत्मा ही उसरूप कर्म हुआ। अरे... अरे! भारी समझ है! समझ में आया?

इसलिए द्रव्य ही कर्म है, द्रव्य अवस्था से अवस्थान्तर होता है और वह अपनी सब अवस्थाओं से अभिन्न रहता है, इसलिए द्रव्य ही क्रिया है... राग की क्रिया में द्रव्य कायम रहता है अज्ञानी को, इसलिए वह अवस्था—क्रिया हुई, वही उसका आत्मा। राग की क्रिया हुई, वह मेरी है—ऐसा माना है, इसलिए अज्ञानी ही स्वयं रागरूप हो गया है। आहाहा! ठीक उतारा है। यह तो आता है न, उन छह बोल में भी आता है। प्रवचनसार में नहीं आता उस स्वयंभू में? कि आत्मा ही स्वयं अभेद है। वह अब आत्मा स्वयं ही... घड़ा स्वयं ही मिट्टी है, ऐसे विकार स्वयं ही आत्मा है और अविकार स्वयं ही आत्मा है। समझ में आया? आहाहा!

यह पहले ज्ञान अधिकार में आता है न 'स्वयंभू' १६वीं गाथा। वहाँ आता है। अर्थ में आता है। छह के भेद किये, फिर कहे, भाई! आत्मा स्वयं ही विकाररूप हुआ तो वह विकारमय है ही वह कार्य। वह द्रव्य ही कार्य है। अभेद से द्रव्य ही कार्य है। ऐसा यहाँ इन्होंने घटित किया है। समझ में आया? भावार्थ—इस ओर का पृष्ठ था। समझ में आया?

मुमुक्षु : १६वीं गाथा, केवलज्ञानी में घटित किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, घटित किया है। स्वयंभू स्वयं अपने आप को प्राप्त हुआ। यह तो उसके छह कारक घटित किये हैं उसमें। यह तो उसे आत्मा को ही कहा बाद में। द्रव्य को ही अभेद करके कहा।

मुमुक्षु : पर्याय के साथ।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस।

यहाँ कहते हैं, भगवान आत्मा इस शरीर की अवस्थारूप कभी नहीं होता। यह आत्मा तो उसका कर्ता नहीं। यह शरीर चले-बोले उसका कर्ता आत्मा है ही नहीं। इस शरीर की अवस्था पलटकर अवस्थान्तर होता है, उसका कर्ता वह परमाणु है, इसलिए परमाणु ही उस क्रियारूप है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! उसका अतीन्द्रिय स्वभाव है भगवान आत्मा का, अतीन्द्रिय स्वभाव आत्मा का है। उस आनन्दस्वभाव का जहाँ भान हुआ, तो कहते हैं कि उस आनन्द का कर्ता आत्मा अर्थात् वह कर्ता स्वयं ही उसरूप परिणम गया और आनन्दरूपी कार्य, वह आत्मा ही है। आनन्द के परिणाम, वह आत्मा ही है, ऐसा। वह परिणाम, वह आत्मा ही है। और ज्ञान की और आनन्द की अवस्था पलटकर विशेष हुई, वह क्रिया भी आत्मा ही है। आहाहा! कहो, जेठाभाई! इतना गूढ़ सुना वहाँ पचास वर्ष में?

मुमुक्षु : कहाँ से सुना?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं सुना था।

मुमुक्षु : कुँए में हो नहीं तो हौज में कहाँ से आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं आवे। ठीक बात करते हैं। आहाहा!

अरे! इसे सत्य बात सुनने को मिलती नहीं और उल्टे रास्ते चला जाता है और मानता है कि हमारे धर्म होता है। अरे! इसका अन्त कब आवे? बात ऐसी है। वीतराग के मार्ग की बात महँगी है, भाई! यह दुनिया के साथ मिलान खाये, ऐसा नहीं है। यह भाई ने डाला है न! यह गायन व्याख्यान का बनाया है।

मुमुक्षु : बहुत अच्छा लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। दूसरे के साथ मिलान करें तो मिलता नहीं यह। वह पत्र आया है न? सेठी! रमेशभाई का पत्र दिया है न।

मुमुक्षु : भजन, भजन।

पूज्य गुरुदेवश्री : भजन। तुमको नहीं दिया?

मुमुक्षु : हाँ, हाँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ... हाँ... भूल गये वापस। इन्होंने सम्हाला नहीं हो घर में। दूसरे के साथ तुलना नहीं करना। यह मार्ग वीतराग का है। सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने फरमाया है। आहाहा! कठिन काम!

यह क्रिया.... **भाव यह है कि द्रव्य ही कर्ता, द्रव्य ही कर्म और द्रव्य ही क्रिया है।** लो, अभेद कर दिया। शरीर की अवस्था परमाणु से हुई, वह परमाणु स्वयं शरीर की अवस्था, ऐसा। शरीर की अवस्था, वही उसका कार्य और अवस्था बदलकर ऐसे—ऐसे होती है वह क्रिया शरीररूप—जड़रूप है। आत्मा उसका बिल्कुल कर्ता-कर्म है नहीं। आहाहा! इसी प्रकार आत्मा अज्ञानभाव से राग का कर्म करे तो वह आत्मा ही कर्म है। राग का कर्ता अज्ञानी होता है, तो राग का आत्मा ही कर्ता है और क्रिया पलटकर, राग पलटकर राग दूसरा हो तो वह क्रिया भी आत्मा है। दूसरे चीज़ नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। कुछ हुआ पलटकर, इसलिए दूसरी चीज़ है, ऐसा नहीं है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है।

पहले राग कुछ अशुभ था और पश्चात् शुभ हुआ, इसलिए कुछ दूसरा है वह द्रव्य, ऐसा नहीं। वह तो स्वयं ही उसरूप हुआ है। आहाहा! समझ में आया? अथवा जानने का स्वभाव, राग से भिन्न हूँ—ऐसा भान और पश्चात् ज्ञान की अवस्था विशेष होती है, बढ़ती है, तो दूसरा रूप हो गया, तो वह कोई दूसरा आत्मा होगा?

मुमुक्षु : नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं, नहीं, वह आत्मा ही उसरूप हुआ, वह आत्मा है स्वयं। आहाहा! सम्यग्दर्शन—ज्ञान के परिणामरूप आत्मा हुआ, इसलिए वह आत्मा ही है। पलटकर कहीं दूसरा हुआ, इसलिए वहाँ दूसरा आत्मा है, ऐसा है नहीं। समझ में आया?

ग्रीक-लेटिन (अटपटा) जैसा अनजाने व्यक्ति को तो लगे। ऐई जयन्तीभाई! सुनायी देता है? सुनायी देता है, ऐसा कहा, हों! यह प्रेम है परन्तु, अभी है अन्दर... समझ में आया? आहाहा! ऐसा मार्ग, बापू! जगत को सुनने को मिलता नहीं। क्या हो? लुटता है और हर्ष मानता है। क्या हो?

मुमुक्षु : लुटता है और मानता है हर्ष।

पूज्य गुरुदेवश्री : हर्ष। ठीक हो गया इतना भार हल्का हो गया। ...पैसा ले गया और थोड़ा माल उठाकर घर ले जाना हो, इसकी अपेक्षा वह ले गया, ऐसा। घर में उठाकर ले जाना था, लो! उसकी अपेक्षा उसने....

मुमुक्षु : मदद की।

पूज्य गुरुदेवश्री : मदद की। आहाहा!

भगवान आत्मा... भाई! तेरी चीज़ में, यह पुण्य-पाप के शुभ-अशुभभाव होना, वह भी तेरी चीज़ की वस्तु नहीं। तो उत्साह करके उस भाव का कर्ता है और कर्म मानता है, वह आत्मा के स्वभाव का अनादर हो जाता है। चैतन्यमूर्ति भगवान परमानन्द परमात्मा का उसे अनादर होता है। समझ में आया? लो, **बात एक ही है, नाम तीन हैं...** कौन? कर्ता, कर्म और क्रिया। नाम तीन, परन्तु वस्तु तो वह की वह है, ऐसा कहते हैं। '**वस्तु एक त्रय नाम**' है न। ऐसा इसका अर्थ किया है। '**वस्तु एक त्रय नाम**' पड़ा है कर्ता परिणामी द्रव्य बदलनेवाला उस-उस परिणाम का कर्ता, कर्मरूप परिणाम जो कार्य हुआ, वह उसका परिणाम—कार्य, कर्म, क्रिया पर्याय की फेरनी, उसकी दशा बदली, वह उसकी क्रिया। परन्तु ये तीन नाम पड़े, परन्तु वस्तु तो एक की एक है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : परम मर्म की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परम मर्म की बात है।

'धार तलवारनी दोह्यली सोह्यली, चौदमा जिनतणी चरणसेवा।' वीतराग की आज्ञा का मार्ग तलवार की धार से भी दुर्लभ है, अनसमझण की अपेक्षा से। समझ में आया? यह छठवें कलश का अर्थ हुआ। छठवें कलश का सातवाँ (पद) अर्थ हो गया। अब सातवाँ कलश।

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्या-दनेक-मप्येक-मेव यतः।।७।।

इसके प्रश्न आये हैं भाई। फूलचन्दजी ने लिखा होगा न कुछ जवाब—उत्तर,

उसके प्रश्न आये हैं, उसके बहुत विरोध में। जैनसन्देश में ही आये हैं। फूलचन्दजी ने तो बराबर लिखा है। परन्तु वे कहें, 'नहीं, ऐसा नहीं होता।' बुलन्दशहर का कोई है। बहुत बड़ा पत्र है।'नहीं, निमित्त आवे तो होता है। उपादान में तो शक्ति थी, परन्तु जैसा निमित्त आवे, वहाँ होता है।' अब इतनी-इतनी चर्चा—बात हुई, तो भी अब वह की वह बात रही। आहाहा!

मुमुक्षु : किनका कहना है यह?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई है बुलन्दशहर का कोई। फूलचन्दजी ने (कहा), उपादान में उपादान से ही कार्य होता है। निमित्त कुछ कार्य करता नहीं, परन्तु होता है। तो कहे, 'नहीं, ऐसा नहीं।'

मुमुक्षु : निमित्त बिना काम नहीं चलता।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त बिना काम नहीं चलता।

मुमुक्षु : निमित्त हो तो ही फिर नहीं चलने का प्रश्न ही कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह निमित्त होता है, तो उसके कार्य में है। यहाँ कार्य हुआ, वहाँ निमित्त कहाँ घुस गया है?

यह जैनसन्देश में है। आहाहा! तथापि फिर उसने डाला, ऐसा कहता हूँ। आहाहा! (जैन)सन्देशवाले ने।

मुमुक्षु : उसकी ही मार्मिकता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने सामने वाँचा है, सब किया है। ऐसे उसकी दलील दी है... ऐसा होता है... पानी को ठण्डा हो तो उसे बर्फ चाहिए। परन्तु गर्म करना हो तो अग्नि चाहिए। अपने आप हो जाता होगा?

मुमुक्षु : अपने आप ही हो न!

मुमुक्षु २ : मिट्टी में शक्ति हो तो अनेक....

पूज्य गुरुदेवश्री : तो यह बनावे, यह बनावे ऐसा। फलाना बनावे। परन्तु धूल भी बनावे नहीं, सुन न! जो पर्याय होनेवाली है, वही पर्याय होती है। आहाहा!

कितनी (स्पष्टता हुई थी) खानिया चर्चा में। वह चर्चा आ गयी है। जयपुर की खानिया चर्चा।

मुमुक्षु : जयपुर का जयपुर में रह गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता-कर्म-क्रिया का आठवाँ (पद)। कर्ता, कर्म और क्रिया का एकत्व।

★ ★ ★

काव्य - ८

कर्ता कर्म और क्रिया का एकत्व (दोहा)

करता करम क्रिया करै, क्रिया करम करतार।
नाम-भेद बहु विधि भयौ, वस्तु एक निरधार।।८।।

शब्दार्थ:-बहु विधि=कई प्रकार का। निरधार=निश्चय।

अर्थ:-कर्ता, कर्म और क्रिया का करनेवाला है, कर्म भी क्रिया और कर्तारूप है, सो नाम के भेद से एक ही वस्तु कई रूप होती है।।८।। पुनः

काव्य-८ पर प्रवचन

करता करम क्रिया करै, क्रिया करम करतार।
नाम-भेद बहु विधि भयौ, वस्तु एक निरधार॥८॥

करनेवाला—रचनेवाला और उसका कर्म—कार्य और उसका पलटने की क्रिया... क्रिया का करनेवाला है। **कर्ता, कर्म और क्रिया का करनेवाला है, कर्म भी क्रिया और कर्तारूप है।** तीनों एक हैं, ऐसा कहते हैं। कर्ता, कार्य और क्रिया करनेवाला एक है। तथा कर्म और क्रिया और कर्ता भी एक ही है। आहाहा! दूसरा उसकी क्रिया करे और दूसरा उसका कर्ता है और दूसरे का वह कर्म है—ऐसा है नहीं। आहाहा! मिट्टी में लो,

कुम्हार न आवे तो घड़ा होगा अपने आप? अब सुन न अब! घड़े की पर्याय का काल मिट्टी में होने के काल में स्वयं से होता है, वहाँ कुम्हार से घड़ा होता नहीं। लो, यह दाल-भात-रोटियाँ पड़ी रहे उसमें, अपने आप बफेगी? गर्म पानी करेंगे, उसमें चावल डालेंगे और उसके प्रमाण में डाले तो। समझ में आया?

ऐसा डालते हैं या नहीं? वह क्या कहलाता है? बैठे चावल करे वह। अकेला पानी डाले उसमें। इतना और इतना पानी चढ़कर चावल हो जाते हैं उसमें। पानी निकालना न पड़े, निकालना न पड़े।

मुमुक्षु : उसमें कस निकल जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बैठा चावल कहते हैं न बैठा चावल, कहे। .... बराबर याद नहीं। वह चावल डाले और फिर इतना पानी, उसका माप हो।

मुमुक्षु : बढ़े नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इतना पानी रखे, फिर वह बराबर चावल डूब जाये, पककर उसमें समा जाये सब। उसे वह करना न पड़े, निकालना न पड़े। वह अपने आप होता होगा?

मुमुक्षु : अपने आप ही होता है न, किससे होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह तो बापू! तुझे खबर नहीं, भाई! उस चावल का एक-एक रजकण स्वयं के कारण से वहाँ बफ कर पक्का होता है। पानी और अग्नि के कारण नहीं। आहाहा! बस तीनों ही—कर्ता, कर्म और क्रिया अभेद में होती है, ऐसा कहते हैं। पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४०, फाल्गुन शुक्ल १५, गुरुवार, दिनांक ११-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद ९, १०

....ऐसा कहते हैं। समझ में आया? तो उसमें ऐसा कहते हैं कि श्वेताम्बर की वाणी वीतराग की वाणी नहीं है। ऐसा कहते हैं।

आठवाँ कलश है। नीचे आठ।

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्यादनेक-मनेक-मेव सदा।।८।।

इसका नौवाँ पद, आठवें (कलश) का।

★ ★ ★

काव्य - ९

एक करम करतव्यता, करै न करता दोइ।
दुधा दरव सत्ता सधी, एक भाव क्यौं होइ।।९।।

शब्दार्थः-दुधा=दो प्रकार।

अर्थः-एक कर्म की एक ही क्रिया व एक ही कर्ता होता है दो नहीं होते, सो जीव पुद्गल की जब जुदी जुदी सत्ता है, तब एक स्वभाव कैसे हो सकता है?

भावार्थः-अचेतन कर्म का कर्ता वा क्रिया अचेतन ही होना चाहिए। चैतन्य आत्मा जड़ कर्म का कर्ता नहीं हो सकता।।९।।

काव्य-९ पर प्रवचन

एक करम करतव्यता, करै न करता दोइ।
दुधा दरव सत्ता सधी, एक भाव क्यौं होइ॥९॥

क्या कहते हैं? '**एक करम करतव्यता**' जड़ और आत्मा जो भिन्न-भिन्न है, उसका वर्तमान जो कार्य—पर्याय होता है, उसका कर्ता वह द्रव्य एक है। एक कर्तव्य के दो द्रव्य कर्ता नहीं। समझ में आया? जैसे कि आत्मा में राग और द्वेष होता है, वह अज्ञान आत्मा का कर्म अर्थात् कार्य है। वह कार्य जीव भी करे और कर्म भी कर्ता होकर वह विकार करे, ऐसा होता नहीं। '**नोभौ**' ऐसा है न पाठ में पहला! '**एक करम करतव्यता, करै न करता दोइ**' एक काम दोनों इकट्ठे होकर नहीं करते। कहो, ज्ञानावरणीय कर्म का उदय वह ज्ञानावरणीय का कार्य और आत्मा में ज्ञान की हीनता होने का कार्य जीव का। वह ज्ञान की हीनता का कार्य जीव भी करे और कर्म भी करे, ऐसा नहीं हो सकता। कहो, दोनों इकट्ठे होकर करें। यह आता है न यह सब (दृष्टान्त)! हल्दी और फिटकरी दोनों इकट्ठे होकर लाल रंग होता है। कुछ इकट्ठे होकर नहीं होता, वह तो स्वतन्त्र है। समझ में आया?

सब यह दृष्टान्त देते हैं समयसार का। यह आता है। हाँ, जयसेन आचार्य का। सब यह दृष्टान्त देते हैं कि जैसे पुत्र के (जनक) माता-पिता दो होते हैं, एक से पुत्र नहीं होता। इसी प्रकार कार्य दो कारण होते हैं, एक कारण से (कार्य) नहीं होता। ऐई! आहाहा! यह तो दो कारण समझाने के लिये, अलग एक (वस्तु) है, ऐसा बताने के लिये बात की है। बाकी कार्य तो जीव स्वयं अपना विकार करे, उसका कर्ता अज्ञानी स्वयं है। वह विकार स्वयं भी करे और कर्म भी करावे, ऐसा नहीं होता। ऐसी दूसरी बात। जीव की दया पले, सामने जीव है, उसका आयुष्य हो तो वह बचे। उसका कार्य एक वह करे (और दूसरा) जीव भी बचाने का काम करे, दोनों इकट्ठे होकर उसका कार्य करे, ऐसा नहीं होता।

मुमुक्षु : भागीदारी नहीं होती?

पूज्य गुरुदेवश्री : भागीदार कौन था? कौन भागीदार? आहाहा! समझ में आया?

पण्डितजी! तो पर की दया आत्मा पाल सकता नहीं? आत्मा राग करे। राग का कर्तव्य अज्ञानरूप से स्वयं माने। परन्तु वह पर की दया पाल सकता हूँ, वह कार्य मैं कर सकता हूँ, ऐसे एक कार्य के दो कर्ता नहीं हो सकते। आहाहा!

मुमुक्षु : दृष्टान्त दो तब हमारी बात खोटी (यह) समझ में पड़े....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहो, भीखाभाई ! समझ में आया ? दो आना अथवा रुपया है एक, लो। एक रुपया ऐसे जाता है ऐसे। वह कर्म—कर्तव्य परमाणु का है और जीव भी उसे जाने का कार्य करे पैसा देने का, (ऐसा) एक काम के दो कर्ता नहीं हो सकते।

मुमुक्षु : जड़ न करे तो जीव करे, ऐसा मानो तो एक कर्ता हुआ न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु जड़-चैतन्य दोनों... यहाँ तो यह कहा, देखो !

'एक भाव क्यौं होइ... दुधा दरव सत्ता सधी' जड़ और चैतन्य दोनों की सत्ता जहाँ भिन्न सधती है, वहाँ एक के कार्य दो (मिलकर) करे, ऐसा कैसे हो ? अपनी सत्ता का नाश हो जाये तो काम हो। कहो, समझ में आया ? यह (८६) गाथा के सब श्लोक हैं, यह सब—८६, ८६। ८६ है न ? यह कर्ताकर्म (अधिकार) है न, उसके यह सब श्लोक—कलश हैं।

देखो अर्थ — **एक कर्म की एक ही क्रिया...** एक कर्म अर्थात् कार्य, उसकी एक ही क्रिया हो और कर्ता भी उसका (एक ही होता है)। समझ में आया ? दया के भाव होते हैं, उस विकल्प का कर्ता अकेला अज्ञानी। वह दया का भाव कर्म भी करावे अथवा सामने दुःखी है, इसलिए यहाँ दया के भाव हुए, इसलिए उसने भी कराया और इसने किया (ऐसा है) नहीं। अरे ! कहो, यह नोट, वह ऐसे जाता है। उस नोट का जाना, वह जड़ का कर्म है। कर्म अर्थात् कार्य। उसमें अँगुली उसने ऐसे हिलाकर दे (इससे) इस अँगुली का भी वह कार्य और उसका (नोट का) भी कार्य, (ऐसा) दोनों का वह पैसा जाने का कार्य, ऐसा नहीं हो सकता। शान्तिभाई ! बराबर होगा यह ? गजब ! तब तो कोई किसी का करे नहीं, फिर हो गया। समझ में आया ?

एक कर्म की एक ही क्रिया और एक ही कर्ता होता है। जो कुछ परमाणु और आत्मा में जिस समय में जो दशा होती है, वह उसका कर्म कहलाता है। कर्म अर्थात् कार्य—पर्याय। द्रव्य अर्थात् आत्मा और परमाणु, वह द्रव्य है। उसकी जिस समय की जो पर्याय होती है, वह उसका कार्य। कार्य कहो या कर्म कहो, उस कर्म का कर्ता दो द्रव्य नहीं हो सकते। आत्मा भी कर्ता और कर्म भी कर्ता (अथवा) दूसरा भी कर्ता, ऐसे दो नहीं होते। दो भागीदार होकर आधा यह करे और आधा यह करे, समझ में आया ?

ऐसा नहीं हो सकता। **एक कर्म की एक ही क्रिया व एक ही कर्ता होता है।** बस .... समझ में आया?

एक ही कार्य के और एक ही क्रिया के... एक क्रिया और एक कर्म उसके दो कर्ता नहीं हो सकते। यह सिद्धान्त है, पश्चात् तो दृष्टान्त दे तब समझ में आये कि इस भगवान की मूर्ति का स्थापनरूपी कार्य होता है, वह कार्य परमाणु ने भी किया और साथ में रहा हुआ (जीव) उसने भी यह स्थापन का कार्य किया, ऐसा है नहीं। कहो, समझ में आया? अथवा परमाणु और आत्मा में बदलती अवस्था—पलटती अवस्था वह अवस्थारूपी क्रिया जिस क्षण में उसकी जो क्रिया हुई, उसका कर्ता वह द्रव्य एक है। दो द्रव्य होकर पलटती क्रिया होती नहीं। ऐसे बदला है न, बदलता है न! बदलता है, वह एकरूप क्यों नहीं रही? आत्मा के विचार बदले, कर्म की अवस्था बदले, शरीर की अवस्था बदले, तो बदलने की क्रिया पहले थी दूसरी और (पश्चात्) तीसरी हुई, तो उस क्रिया के कर्ता दो हों तो हों या एक हो तो हो? एक स्वयं कर्ता है उस क्रिया का जो परिणमित द्रव्य परिणमा वह।

देखो, यह आया। '**एक करम करतव्यता करै न करता दोइ**' पाठ में तो ऐसा है, देखो! '**नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत उभयोर्न परिणतिः**' दो की (एक) क्रिया नहीं होती। समझ में आया? आहाहा! गजब बात, भाई! दूसरे की दया पाल सकते हैं (यह बात) झूठ है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि वे परमाणु और आत्मा दोनों भिन्न तत्त्व है और दया पालनेवाले का विकल्प, वह उससे भिन्न है। इसलिए विकल्प है तो वहाँ वह दया पालता है सामनेवाले की, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? '**नोभौ**'.... **दो नहीं होते, सो जीव पुद्‌गल की जब जुदी-जुदी सत्ता है...** पाठ में है न! '**दुधा दरव सत्ता सधी**' जहाँ एक आत्मा और दूसरा आत्मा, उनकी सत्ता ही भिन्न है, जिनका अस्तित्व भिन्न है, ऐसे आत्मा और जड़ का अस्तित्व भिन्न है। उस भिन्न अस्तित्व में भिन्न की क्रिया दो होकर करे, ऐसा नहीं हो सकता। कहो, क्या होगा इसमें फूलचन्दभाई?

धन्धा भी करे और आत्मा राग भी करे—ऐसी दो (क्रिया) होगी? अरे! धन्धे की क्रिया वह करे। कहो, भीखाभाई! यह चूड़ी पहनाने की क्रिया भी करे।

मुमुक्षु : राग ही है। भगवान! मैं तो मेरा राग करता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दो घण्टे वहाँ जाकर ध्यान रखे तो वह कार्य होगा या नहीं?

मुमुक्षु : ऐ बापू! .... सब मर गये....

पूज्य गुरुदेवश्री : मर गये! दो घण्टे जाये दुकान में। घर में न सुहाता हो तो चलो भाई, दो घण्टे वहाँ जाकर ध्यान रखते हैं जरा कैसा है ऐसा। तो उस कार्य का स्वयं भी सावधान होकर करे तो स्वयं भी कर्ता और वह जो काम होता है, उसका वह (द्रव्य) भी कर्ता। दो होकर उस क्रिया का कर्ता, ऐसा हो सकता है या नहीं? पोपटभाई! अच्छे लड़के को वहाँ बैठाओ अकेला काम करता हो, उसकी अपेक्षा तुम जाकर करो तो दोनों (मिलकर) अन्तर पड़ता है या नहीं काम में?

मुमुक्षु : अन्तर तो पड़ता ही है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु अन्तर भी किस कारण?

मुमुक्षु : दो कारण से अन्तर नहीं पड़ता?

पूज्य गुरुदेवश्री : हो गया! यही यहाँ कहते हैं। आहाहा!

सेठ का भाव सेठ के पास और जड़ का भाव जड़ के पास। कोई किसी का भाव कोई करे, ऐसा तीन काल तीन लोक में नहीं होता। गजब काम भाई!

मुमुक्षु : एक बार जो जीव हाथी के भव में उसकी दया की और....

पूज्य गुरुदेवश्री : दया... यह सब बात झूठी है। दया से परित्संसार किया, ऐसा आता है न उसे मेघकुमार की (बात में), यह बात ही झूठी है।

मुमुक्षु : हाथी के भव में दया....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! वह तो कल्पित शास्त्र बनाया है। यह परित्संसार... पर की दया का भाव तो विकल्प—राग है। राग से संसार परित् होता है? यह ज्ञातासूत्र में आता है। पहला ही .... है न। .... पैर ऊँचा किया। हाथी ने पैर ऊँचा किया। खरगोश घुस गया। उसकी दया पालन की तो.... परित्संसार किया। यह सिद्धान्त ही जैन का नहीं है। पोपटभाई! सुना था या नहीं यह मेघकुमार का? नहीं सुना होगा। थोड़ा-थोड़ा सुना होगा।

मुमुक्षु : संसार तो किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, संसार तो किया। ऐसा पाठ है। परित्‌संसार किया, संसार को घटा दिया। पर की दया के भाव से संसार घटा दिया (यह) बात ही झूठी है। ऐसे सम्मेदशिखर की यात्रा की... तो कहते हैं न 'एक बार वंदे जो कोई, (ताहि) नरक-पशु (गति) न होई।' उसका अर्थ क्या? क्या सम्मेदशिखर को वंदन करने से.... वह तो भाव शुभ है, राग है, पुण्य है। उससे संसार परित् नहीं होता, नाश नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

एक काम के दो कर्ता हों, एक क्रिया के दो कर्ता हों, (ऐसा) नहीं हो सकता। यह सम्मेदशिखर ने यहाँ शुभराग कराया, ऐसा नहीं है। भगवान की प्रतिमा है तो यहाँ शुभभाव हुआ, ऐसा है नहीं, ऐसा कहते हैं। क्योंकि शुभभावरूपी कर्म आत्मा करता है और प्रतिमा उसकी पर्याय की कर्ता वह प्रतिमा है। वह पर्याय जो है, उसका कर्म है प्रतिमा का, उसका कर्म का वह कर्ता है। राग का कर्ता दूसरा है। प्रतिमा राग—शुभभाव कराती है, ऐसी यह बात सच्ची है नहीं। गजब बात, भाई! कहो, समझ में आया? **जीव पुद्‌गल की जब जुदी-जुदी सत्ता है, तब एक स्वभाव कैसे हो सकता है?** तथा दो होकर एक भाव कैसे बन सकता है? बन नहीं सकता।

अचेतन कर्म का कर्ता वा क्रिया अचेतन ही होना चाहिए... देखो! यह शरीर चलता है यहाँ ऐसे, तो उस क्रिया का कर्ता परमाणु है; आत्मा नहीं।

मुमुक्षु : तो अब पूरा पैर उठाना या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन उठावे? वह उसमें से आया है। पैर उठाया तो परित् संसार हुआ। बहुत चर्चा की थी भाई के साथ, वह गाँधी नहीं तुम्हारा राजकोट का? कौन? गोकुलदास। गोकुलदास गाँधी। राजकोट के थे न मन्दिरमार्गी। उनके साथ बहुत बात हुई थी। देखो शास्त्र और चर्चा करो। उठाओ कहा उसमें। ऐसे मेघकुमार के दया के भाव से संसार परित् हुआ, यह बात सच्ची है? बने ऐसा कभी तीन काल में परद्रव्य की दया से? और दूसरे दस बोल थे साधु के। मिथ्यादृष्टि था... सुबाहुकुमार का अधिकार आता है।

मिथ्यादृष्टि दान देनेवाला और धर्मी को दान देता है और परित् संसार करता है। तो पर को दान देने के भाव से संसार परित् हो, यह बात सत्य है सत्य की दृष्टि से? झूठी दृष्टि है। वे सुबाहुकुमार के दस बोल आते हैं न? सुबाहुकुमार साधु को आहार देते हैं और परित् संसार करते हैं, साथ में विपाक में। ...सब झूठी बात। यह जैनसिद्धान्त ही नहीं है। यह तो कल्पित अपने कारण से बनाया हुआ है। ऐसी बात है।

मुमुक्षु : मनगढ़ंत।

पूज्य गुरुदेवश्री : मनगढ़ंत। यहाँ तो कहते हैं कि दिगम्बर सम्प्रदाय में रहकर भी, दो द्रव्य मिलकर एक कार्य होता है, ऐसा कोई माने तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु : और एक द्रव्य दूसरे का न करे तो दिगम्बर जैन नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह और ऐसा कहता है एक व्यक्ति, लो। रतनजी कहते थे इन्दौर में। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का न करे, ऐसा मानना, वह दिगम्बर जैन नहीं। कहो ठीक! यहाँ कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का करे, वह दिगम्बर जैन नहीं। समझ में आया?

भावार्थः—अचेतन कर्म का कर्ता वा क्रिया अचेतन की ही होना चाहिए। चैतन्य आत्मा जड़ कर्म का कर्ता नहीं हो सकता।

नौवाँ श्लोक। इस ओर नीचे है, नौवाँ।

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एक-मनेकं यतो न स्यात्।।९।।

एक वह अनेक कभी नहीं होता। आहाहा! **कर्ता, कर्म और क्रिया पर विचार।** दसवाँ पद।

★ ★ ★

काव्य - १०

कर्ता कर्म और क्रिया पर विचार (सवैया इकतीसा)

एक परिनामके न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है।।
जीव पुदगल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपनें अपने रूप कोउ न टरतु है।
जड परनामनिकौ करता है पुदगल,
चिदानंद चेतन सुभाउ आचरतु है।।१०।।

शब्दार्थ:-करतूति=क्रिया। एक खेत-अवगाही (एक क्षेत्रावगाही)=एक ही स्थान में रहनेवाले। ना टरतु है=नहीं हटता है। आचरतु है=वर्तता है।

अर्थ:-एक परिणाम के कर्ता दो द्रव्य नहीं होते, दो परिणामों को एक द्रव्य नहीं करता, एक क्रिया को दो द्रव्य कभी नहीं करते, दो क्रियाओं को भी एक द्रव्य नहीं करता। जीव और पुद्गल यद्यपि एक क्षेत्रावगाह स्थित हैं तो भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। पुद्गल जड़ है इसलिए अचेतन परिणामों का कर्ता है और चिदानंद आत्मा चैतन्यभाव का कर्ता है।।१०।।

काव्य-१० पर प्रवचन

एक परिनामके न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है॥

जीव पुदगल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपनें अपने रूप कोउ न टरतु है।
जड परनामनिकौ करता है पुदगल,
चिदानंद चेतन सुभाउ आचरतु है॥१०॥

यह है वहाँ, यही है न, सामने है। शुं—क्या कहते हैं, देखो! '**एक परिनाम के न करता दरव दोइ**' ज्ञानावरणीयकर्म जो बँधता है, उस बँधने की क्रिया के दो कर्ता नहीं। अर्थात् जो ज्ञानावरणीय कर्म के छह कारण बाँधने के हैं, उन बाँधने के कारण से भी कर्म बँधा और कर्म स्वयं से भी बँधा—ऐसे दो कर्ता नहीं है। दो कर्ता नहीं है। समझ में आया? आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म बाँधे, यह बात एकदम झूठी है।

मुमुक्षु : निश्चय है या व्यवहार?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह व्यवहार-निश्चय कौन सा दूसरा था? व्यवहार तो, वहाँ बन्धन की क्रिया जड़ में होती है, वहाँ आत्मा के परिणाम निमित्त है, इसलिए व्यवहार से कहा जाता है कि आत्मा कर्म को बाँधता है, निश्चय से ऐसा है नहीं। आहाहा! गजब बात!

कहो, दर्शनावरणीय कर्म आत्मा... आता है न शास्त्र में? छह कारण से ज्ञानावरणीय बँधता है, छह कारण से दर्शनावरणीय कर्म बँधता है। ओ पण्डितजी! आता है? यह कहते हैं कि वह तो निमित्त क्या था बन्धन में? यह बताने की चीज़ है। परन्तु आत्मा वह छह परिणाम करे... ज्ञान की असातना—ज्ञान की विराधना, वह काम भी आत्मा करे और आत्मा ज्ञानावरणीय का बन्धन भी करे—ऐसे एक परिणाम के दो कर्ता नहीं हो सकते। कर्म के परिणाम जीव भी करे और कर्म के परिणाम जड़ भी करे—ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया? यह अभी पूरा बड़ा विवाद है उपादान और निमित्त का। निमित्त आवे तो होता है, यह बात एकदम झूठ है। उपादान उस-उस द्रव्य की उस-उस समय की जो-जो क्रिया होती है, उस-उस क्रिया का कर्ता वह-वह द्रव्य है। एक क्रिया के दो कर्ता नहीं हो सकते। है? '**एक परिनामके न करता दरव दोइ**' समझ में आया?

कहो, छह लड़के और पोपटभाई—सात मिलकर मशीन करे, यह बात सच्ची होगी?

मुमुक्षु : अरे! बड़ी कम्पनी करके करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कम्पनी करे। कोठारी ब्रदर्स। फलाना ब्रदर्स और ऐसे नाम देते हैं न कुछ? यह दूसरे भी देते होंगे न? ऐसे नाम सबके होंगे उनके, लो। एक भाई का नाम न देना हो तो कोठारी ब्रदर्स।

मुमुक्षु : वोरा ब्रदर्स।

पूज्य गुरुदेवश्री : वोरा ब्रदर्स। तो वे सब वोरा इकट्ठे होकर काम करते होंगे? दीपक बुझा दीपक। उसे अँगुली ने छुआ, इसलिए दीपक बुझा। हवा ने छुआ, इसलिए दीपक बुझा, ऐसा है नहीं। दीपक बुझने की क्रिया का कर्ता वह दीपक स्वयं है। अँगुली और हवा से दीपक बुझे, ऐसे दो द्रव्य की क्रिया हो—ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। गजब बात, भाई!

मुमुक्षु : सब बात में भूल।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु बहुत अन्तर सब बात में! आहाहा!

कहते हैं, '**दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है**' पहले ऐसा कहा कि एक परिणाम के दो कर्ता नहीं। समझ में आया? जीव की दया पालने की क्रिया, वह परिणाम सामनेवाले के हुए। उस परिणाम के दो कर्ता नहीं। जीव भी उस परिणाम से बचा और दूसरे जीव ने भाव किये बचाने के, इसलिए वह बचा, ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया? '**एक परिनामके न करता दरव दोइ, दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है**' दो परिणाम एक पदार्थ धारण नहीं करता। जीव राग को भी करे और सामने जीव की दया के परिणाम को करे। दया और रक्षा सामनेवाली की रक्षा। ऐसे दो परिणाम एक द्रव्य नहीं करता। 'एक धरतु नहीं।' दो परिणाम एक द्रव्य नहीं धार सकता। अरे! भारी सूक्ष्म यह तो! यह तो निमित्त से नहीं होता, ऐसा इसमें तो आता है, देखो!

निमित्त-निमित्त के कार्य को करे। उपादान, उपादान के काम को करे। ऐसा है इसमें। अभी इसका विवाद उठाया फूलचन्दजी के सामने। कि नहीं, ऐसा होता है। पानी

ठण्डा हो, उसे उष्णता अग्नि आवे तो होती है, अपने आप गर्म नहीं होता। यहाँ कहते हैं कि पानी ठण्डे से गर्म हुआ, वह परिणति—क्रिया अग्नि ने नहीं की, पानी ने की है। परन्तु द्रव्य... भिन्न-भिन्न द्रव्य है या नहीं? पानी भिन्न द्रव्य है, अग्नि भिन्न द्रव्य है। दोनों की सत्ता भिन्न है। तो सत्ता भिन्न (है तो) एक परिणाम—काम को दो सत्ता कैसे करे? समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : इस दृष्टान्त से यह न्याय बैठता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे बैठे बिना इसका निस्तारा नहीं है। वस्तु की स्थिति ऐसी है। यह कहीं बलजोरी से बैठाना नहीं है। समझ में आया?

वस्तु की मर्यादा ऐसी है। पानी आग के बिना ही गर्म होता है, ऐसा कहते हैं। पानी के परमाणु, अपनी पर्याय ठण्डी है, वह बदलकर क्रिया बदलकर उष्ण अपने से होती है। उस क्रिया के दो कर्ता हैं नहीं। अग्नि भी पर्याय का कर्ता और पानी भी कर्ता, ऐसा नहीं है। और वह परिणाम दो द्रव्य धार सके, ऐसा नहीं है। यह बात ही सब गुम हो गयी। सब यह करो... इसका करो और इसका करो। आहाहा! यह बात ही इतनी है। यह तो हमारे परिचित हैं। ... बात में नहीं। बहुत अन्तर पड़ गया, बहुत अन्तर पड़ा। ओहोहो! अनन्त तत्त्व मानना और एक तत्त्व की होती क्रिया में दो तत्त्व की मिलावट मानना, यह अनन्त तत्त्व पृथक् नहीं रह सकते। न्याय है न, न्याय! बात ऐसी है। मलूकचन्दभाई! क्या होगा यह? ओहोहो!

'दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है' दो पर्याय एक द्रव्य करे, ऐसा नहीं होता। अग्नि अपनी पर्याय को करे और अग्नि पानी की गर्म पर्याय को करे, ऐसा नहीं होता। अग्नि अपनी पर्याय को करे, पानी अपनी पर्याय को करे। ऐसा है।

मुमुक्षु : तो (पानी से) अग्नि बुझती है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अग्नि स्वयं के कारण से बुझी है, पानी से नहीं। उस अग्नि में उष्णता की पर्याय पलटकर ठण्डी हुई, उस क्रिया की कर्ता वह अग्नि है, वह पानी नहीं। अरे! निश्चित करो। जिसकी सत्ता भिन्न है, उसके परिणाम दूसरे करे, ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता। ईश्वर जगत का कर्ता तो नहीं, वह बात तो कहीं रह गयी,

आहाहा! परन्तु एक तत्त्व दूसरे तत्त्व की पर्याय को करे, यह तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

अपने ऐसा करो... अपने ऐसा करो, लो। लौकिक यही बातें आती हैं न लौकिक में। एक 'जैनप्रकाश' (पत्रिका) में प्रामाणिकता की बात आयी है। ऐसी बातें लोगों को अच्छी लगती हैं। वे थे हजरत अली। उनकी एक बात जैनप्रकाश में... हजरतअली आता है न मुसलमान में... हाँ, पैगम्बर हुए न, वे प्रमाणिक बहुत प्रमाणिक। इसलिए लौकिक ऐसी प्रामाणिकता की बातें करे इसलिए.... हजरत अली थे, वे राज के नाम करते राज के। राज के काम करते वहाँ वह मोमबत्ती जलाते, उसकी—राज की मोमबत्ती। एक व्यक्ति कुछ पूछने आया उनके घर का। घर का पूछने आया तो वह मोमबत्ती बन्द कर दी और अपने घर की मोमबत्ती शुरु की। तब भाई ने पूछा दूसरे ने कि साहेब! ऐसा क्यों? 'भाई! राज का काम हो, तब तक मोमबत्ती राज की हो। परन्तु अपने घर के काम के लिये एक मिनिट भी मोमबत्ती राज की जलाना, (यह) न्याय नहीं।' ऐई!

ये लोग इसलिए बाहर में नीति में महिमा पा गये, प्रमाणिकपने में बहुत (महिमा पा गये)। यहाँ तो ठिकाना नहीं होता प्रमाणिकपने का। आहाहा! अभी तो नीति का ठिकाना नहीं होता। ऐई! पोपटभाई! यह बात आयी है उसमें—जैनप्रकाश में। हजरत अली थे, उन्होंने ऐसा कहा। और दूसरे एक लड़के की बात आयी है। एक लड़का था, उसे रास्ते में जड़ा—मिला—एक रुपया। उसकी माँ ने कहा कि देख भाई! रुपया मिले तो वह रुपया कहीं तेरा नहीं है। वह रुपया तो जिसका है, उस मालिक का हो। किसी का (था), वह पड़ा है वह इसलिए किसी से लिया नहीं जाता। लड़के ने लिया। लिया और उसकी माँ (की बात) याद आयी। मेरी माँ ने इनकार किया है। पैसा अपना नहीं है।

फौजदार के पास गया। 'साहेब! यह रुपया राजखाते का लो। मुझे हाथ आया है।' फौजदार कहता है, ओहोहो! ऐसा तू प्रमाणिक! तुझे रुपया मिला कहीं का किसी का, वह जेब में डाला नहीं और तेरा नहीं, ऐसा रखकर देने आया। जा, तुझे ईनाम देता हूँ रुपये का। ईनाम दिया कि जा खाना। उसकी माँ के पास गया। माँ! इस प्रकार बना

है। अरे! फौजदार कैसा? किसी का रुपया और हराम का खाना, यह सिखलावे वह किस प्रकार का व्यक्ति? चल फौजदार के पास। खाने का कहा? रुपया देकर हराम का पकवान खाना, यह किसका? चल फौजदार के पास।

फौजदार को कहे, कैसे कहा? वह कहे, स्वयं प्रमाणिकरूप से बोला, इसलिए मुझे देने का मन हुआ। तुझे देने का अधिकार क्या है? और उसे देकर, अधिकार नहीं (तो भी) वापस उसे खाने को कहा, सिखलाना है न मुफ्त खाने का? किसी का चोरकर खाता है वापस। ऐसी प्रामाणिकता सिखलाते हो तुम? फौजदार के अधिकारी के पास गये। साहेब? इसने यह रुपया फौजदार ने इस प्रकार से दिया है। इसलिए फौजदार को रद्द कर दो। नौकरी रद्द कर दी नौकरी। यह तो वह प्रामाणिकता की बातें अच्छी लगे। नैतिक जीवन कैसा होता है इतना। बाकी धर्म की नीति तो यह दूसरी है। यह तो भाई दूसरी बात है। समझ में आया?

रामजीभाई प्रमुख थे, तब तक यहाँ पानी गर्म करके नहाते। प्रमुख (पद) छूट गया, अब गर्म पानी नहीं करो। यहाँ नहीं करो। ले भाई! यहाँ क्या है अब? पानी में नहीं, यह अब वहाँ। ऐई! इनका जीवन ऐसा है, पहले से, हों! बहुत जीवन दूसरे प्रकार का। **परन्तु लौकिक प्रामाणिकता तो चाहिए या नहीं पहली? यह ज्यों त्यों गप्प मारे आड़े-टेढ़े और लौकिक प्रामाणिकता का ठिकाना नहीं। उसे धर्म समझ में आये और बैठे, तीन काल में नहीं बैठता।** समझ में आया? ऐई! यह तो लोकोत्तर नीति है यह। यह नीति लोगों के ओर की। आहाहा! शान्तिभाई! ऐसे दृष्टान्त आते हैं। .... वे भाई है... चित्रभानु नहीं? वे ऐसे दृष्टान्त बहुत देते हैं, इसलिए लोगों को बहुत पसन्द आते हैं। आहाहा!

नीति के दृष्टान्त। **एक पाई भी हराम की कोई ले तो उसे पूरा दुनिया का राज....** शास्त्र ऐसा कहते हैं, हों! **जिसे अनीति से एक पाई पचाने की शक्ति है, उसे अनीति से यदि पूरा राज्य मिले तो लेने की शक्ति है।** इतनी ममता उसके पास है। बराबर है? अन्याय से और अनीति से एक भी रुपया या पैसा किसी का लेकर पचाना, उसे यदि अनुकूलता हो और उसे यदि पुण्य का योग हो तो पूरा राज दुनिया का मिले तो ले सकता है। इतनी उसके पास ममता है। पोपटभाई! इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि **एक**

द्रव्य का दूसरा द्रव्य कर्ता माने, पूरी दुनिया की पर्याय का कर्ता वह अज्ञानी मान रहा है। समझ में आया? आहाहा!

सत्त्व से सत्त्व अलग... तत्त्व से तत्त्व अलग... यह एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का करे, यह करनेवाला हो कौन परन्तु? करनेवाला है, वह स्वयं अपनी सत्ता रखता है और दूसरा भी जो करनेवाला है, उसके परिणाम का, वह भी अलग सत्ता रखता है। तो अलग सत्तावाला अलग सत्ता का कार्य करे, तब तो इसका अर्थ हुआ कि अलग सत्ता का अभाव हो तो इस सत्ता में मिलकर काम करे। परन्तु अलग सत्ता का अभाव तो कभी होता नहीं। न्याय समझ में आता है? आहाहा! **'एक परिनामके न करता दरव दोइ, दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है'** दो पर्याय को एक द्रव्य करे, ऐसा होता नहीं। आहाहा!

'एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै' यह कर्म लिया है अब। समझ में आया? एक कर्तव्य दो मिलकर कभी नहीं करते। एक कर्तव्य हो जड़ का या चैतन्य का, वह कर्तव्य दो द्रव्य मिलकर करे, ऐसा नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया? यह प्रश्न उठा था... कैंची है न, कैंची। कैंची ऊँची की सात-आठ-दस व्यक्तियों ने। एक व्यक्ति नहीं कर सकता, (इसलिए) दस व्यक्तियों ने की। कहे, बात खोटी है। एक व्यक्ति ने की नहीं (और किसी) दूसरे ने (भी) की नहीं। क्योंकि दस कहीं एक तो हुए नहीं। तो एक ने भी की नहीं और दस ने भी की नहीं। दस तो भिन्न-भिन्न रहे हैं, तो दस से हुई नहीं, दस से हुई नहीं।

मुमुक्षु : तो कैसे हुई?

पूज्य गुरुदेवश्री : उससे हुई है। दस एक हुए हैं? दस तो दस रहे हैं। जैसे एक कर सकता नहीं, वैसे दूसरा कर सकता नहीं, तीसरा कर सकता नहीं... और दसवाँ कर सकता नहीं। ऐसे दस के दस भिन्न हैं। बराबर है? आहाहा! समझ में आया?

'एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै' देखो! तीन काल में एक कर्तव्य के दो करनेवाले हो सकते, ऐसा हो सकता नहीं। आहाहा! लड़के का पालन करना और स्वयं को राग करना—दो के कार्य जीव करे, यह बराबर होगा? फूलचन्दभाई! यह तो सब खबर नहीं कि लड़के के आगे कहीं तुम्हारा बेचारा होता नहीं। तो उसका कार्य वह

करे, तुम्हारा कार्य तुम करो। उसमें क्या है? सब स्वतन्त्र आत्मायें हैं। उसके परिणाम वह करे और तुम्हारे (तुम)। उसके परिणाम वह करे, इससे यहाँ नुकसान पहुँचता है? है? बाप हो, इसलिए नुकसान न पहुँचे? परन्तु बाप था कब? (ऐसा) यहाँ कहते हैं। कान्तिभाई! लड़के ने कुछ परिणाम किये, इसलिए उसके बाप को नुकसान होता है, ऐसा कुछ है? आहाहा! अरे! पोपटभाई! क्या होगा यह? आहाहा!

भाई! तेरी सत्ता भिन्न है, और जड़ तथा दूसरे चैतन्य हैं, उनकी सत्ता भिन्न है। उनकी सत्ता मिटकर असत्ता हो जाये, तब तो उनके कार्य तू करे और तेरी सत्ता मिटकर असत्ता हो जाये तो दूसरे तेरा कार्य करे, परन्तु ऐसा तो होता नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह अँगुली जो यह हिलती है, वह कर्तव्य... क्या कहा यहाँ? '**एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै**' यह हिलती है, उसका कार्य परमाणु भी करे और आत्मा की इच्छा भी उसे हिलाने का कार्य करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : उलट-पुलट हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : जगत से उलट-पुलट है, जगत से उलटा है। आहाहा!

मुमुक्षु : कन्धे से अँगुली न ही हिले तो करना क्या अब?

पूज्य गुरुदेवश्री : करना क्या? जैसा जो होनेयोग्य, करनेयोग्य हो, वह करना। आत्मा ज्ञानानन्द है तो करनेयोग्य ज्ञान और दर्शन और आनन्द है, वह करना। आहाहा! समझ में आया?

'**एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै, दोइ करतूति एक दर्व न करतु है**' दो कर्तव्य एक द्रव्य होकर करे, ऐसा होता नहीं। यह द्रव्य अपना भी कर्तव्य करे और पर का भी कर्तव्य करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता।

मुमुक्षु : विकार भी करे और कर्म भी बाँधे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई दूसरा बाँधता नहीं। विकार करे, इतना कर्तव्य करे। कर्म बाँधे, वह कर्तव्य आत्मा नहीं करता। तथा आत्मा आत्मा के आश्रय से अपनी संवर, निर्जरा—धर्म की शुद्धता प्रगट करके धर्म कर्तव्य करे और इससे कर्म का नाश हो, वह कर्म आत्मा भी करे, ऐसा नहीं है। कर्म के नाश की क्रिया कर्म के कारण से

होती है। आत्मा के धर्म की क्रिया आत्मा के कारण से होती है। कर्म हटा तो यहाँ धर्म होने का प्रसंग बना, ऐसा नहीं है। आहाहा! कर्म के कार्य कर्म में रहे और आत्मा का कार्य आत्मा में है। दो कार्य को एक द्रव्य करे, ऐसा नहीं हो सकता। तथा दो परिणाम का एक कर्ता अथवा एक परिणाम दो द्रव्य इकट्ठे होकर करे, (ऐसा नहीं होता)। आहाहा!

महासिद्धान्त है परन्तु जगत को भारी कठिन! एकमेक हो गया है न। गर्म पानी पीना, वह क्रिया, कहते हैं (कि) आत्मा नहीं करता, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : परमाणु की क्रिया परमाणु करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! यह गजब बात! खाने की क्रिया का विकल्प अज्ञानी जीव करे राग का कर्ता होकर, तो वह कर्तव्य करे, परन्तु खाने की क्रिया करे, दाँत में ऐसे रोटी तोड़े और तोड़े, वह काम आत्मा तीन काल में नहीं कर सकता।

मुमुक्षु : पेट में दाँत नहीं, इसलिए बराबर चबाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें... पेट में दाँत नहीं, इसलिए चबाना, ऐसा। परन्तु कौन चबावे? समझ में आया? लो, यह दर्जी कपड़े नहीं सिलता, ऐसा कहते हैं। ऐई मोहनभाई!

मुमुक्षु : अब कहाँ सिलता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अब कहाँ... कब सिलता था? राग करता था तब राग। आहाहा! भारी काम, भाई!

मुमुक्षु : कहते हैं, कानजीस्वामी ने नया पंथ निकाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : नया पंथ भी किसका है? क्या नया है? है अन्दर है? यह नया है या अनादि का है? वीतराग भगवान के मार्ग में अनादि का यह मार्ग है। बाकी न्याय करो, तुलना करो। अनादि से यह मार्ग... अनन्त तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का करे तो एक तत्त्व भिन्न रह सकता नहीं, मिलावट हो जाती है। मिलावट कभी होवे नहीं। अपनी सत्ता छोड़कर दूसरी सत्ता में जाता नहीं। समझ में आया? यह लोग तो आये ही नहीं। सवेरे सुना, अभी नहीं आये। एकाध आया है एकाध।

मुमुक्षु : पालीताणा गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : गये, पालीताणा गये? गये होंगे। शाम को आनेवाले हैं? शाम को आनेवाले हैं, ऐसा होगा। कैसे हैं इसमें समझ में आया?

भाई! आत्मा अपने ज्ञान की क्रिया करे और जानने में दूसरे क्रिया आवे, उसे भी करे। सावधानीरूप से रहे तो वह भी काम करे, ऐसा तीन काल में होता नहीं। क्योंकि दोनों का अस्तित्व भिन्न... अस्तित्व के अस्तित्व में यह अस्तित्व वहाँ जाता नहीं और वह (दूसरा) अस्तित्व यहाँ आता नहीं। यह बोलने की क्रिया, इस जड़ की क्रिया के दो कर्ता नहीं। आत्मा भी बोलने की क्रिया करे और जड़ भी करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। देखो, **'दोइ करतूति एक दर्व न करतु है'** बोलने की क्रिया भी आत्मा करे और इच्छा भी आत्मा करे अथवा ज्ञान भी आत्मा करे—दोनों नहीं होते। आहाहा! गजब काम, भाई!

मुमुक्षु : गजब....!

पूज्य गुरुदेवश्री : गजब! वे तेरापंथी तो कहते हैं कि उपदेश देने से आत्मा को धर्मलाभ होता है। ऐसा कि बचाने का नहीं कहना, परन्तु उपदेश देना कि भाई! यह क्या करते हैं ऐसा। तो उपदेश देने से धर्म का लाभ... धूल भी नहीं। उपदेश तो जड़ है। आहाहा! समझ में आया?

भीखनजी में यह आता है। ब्रह्म.... है न उनकी पुस्तक। सब देखा है न! सब देखा है उसका....

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भी खोटी बात है। समझ में आया? ऐसा कि दूसरे को अपने को बचाना, (परन्तु) नहीं मारना, ऐसा नहीं कहना। परन्तु उपदेश देना कि भाई! किसी प्राणी को दु:ख नहीं देना। ऐसा उपदेश देने से अपने को धर्म का लाभ होगा। धूल भी नहीं होगा। धर्म का लाभ तो अन्तर ज्ञान के आनन्द की दृष्टि करे तो होता है। उपदेश की क्रिया से होता होगा? उपदेश की तो क्रिया जड़ की है। समझे न? उपदेश देने का विकल्प तो राग है। राग से धर्म का लाभ होगा? मूढ़ है। पोपटभाई! कठिन काम है।

जगत के साथ वीतराग के मार्ग को मिलाना नहीं—तुलना करना नहीं। आहाहा! भाई ने लिखा है न! लो, है न, कहाँ है वह? उसमें है वह? कहीं था न वह? होगा कहीं। होगा तो इसमें अवश्य कहीं। इसमें? एक पृष्ठ था एक। देखो, इसका आया है न! एक पृष्ठ है। अच्छा, एक पृष्ठ दे दो भाई को। लो। यह किसका है? कहाँ है अधिक है? अन्तिम है। है न! देखो!

'मारग साधुना जगने दोह्यलां रे लोल। दोह्यली जेने आतम केरी वाट। अे तो जीवडा मानवभव छे दोह्यलां रे लोल। अे मानवभव जगमां दोह्यलो रे लोल। दुर्लभ-दुर्लभ जैन अवतार। अेनी साथे सद्गुरु छाया दोह्यली रे लोल। देखो! सरोवर कांठे रे मृगलां तरस्यां रे लोल। आहाहा! आ दोडे हांफी झांझवा जळनी काज। अरेरे! साचां वारि अेने न मळे रे लोल।'

सच्चा पानी मृगों को नहीं मिलता। समझ में आया? फिर यहाँ तो यह कहना है कि यहाँ। मींढववुं... मींढववुं कहाँ आया? मींढवणी आता है या नहीं?

मुमुक्षु : छठवीं लाईन।

पूज्य गुरुदेवश्री : छठवीं। हाँ, यह। 'मार्ग जुदा जगतथी संतना रे लोल। जगत साथे मींढवणी नव थाय। संतपथ जगपंथथी जुदा जाणजो रे लोल। संतपथ जगपंथथी जुदा जाणजो।' यह व्याख्यान में आया था, वह सब उतारा उसने।

दुनिया के मार्ग से भगवान का मार्ग—वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव जिनके हुकम में आया, वह मार्ग—पूरी दुनिया से अलग है। वाडावालों को खबर नहीं। तो अन्यमत में तो यह मार्ग हो सकता नहीं। कहो, समझ में आया? यह आया, भाई! तुमको यह पृष्ठ? दो इन्हें पृष्ठ दो। रखना। यह तो पृष्ठ बनाये हैं। वाँचो तो सही सब। देखो, है अन्दर? 'मार्ग जुदा जगतथी संतना रे लोल। जगत साथे मींढवणी नव थाय। संतपंथ जगपंथथी जुदा जाणजो रे लोल। दर्शन दोरो रे राज...' देखो! उसमें आ गया बाकी। 'अेम मनना मृगलां ने पाछा वाळजो रे लोल। जोड़ी द्यो आतम सरोवर आज।'

यह ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान पूर्णानन्द का नाथ ध्रुव स्वरूप हूँ। उस ओर दृष्टि को मोड़ और वहाँ स्थिर हो जा। उसमें तेरा कार्य सफल हो जायेगा। दूसरे के कार्य करने

जाने से उसका कर दूँ और उसका कर दूँ और दूसरे को उपदेश देकर धर्म प्राप्त करा दूँ। धूल भी नहीं, कहते हैं सुन। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : भगवान ने तो सबको प्राप्त कराया।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी ने प्राप्त नहीं कराया किसी को। ऐई! 'तिन्नाणं तारयाणं' आता है न 'नमोत्थुणं' में? यह तो निमित्त से कथन है। जिसकी अपनी योग्यता से स्वयं से हुए, तब भगवान को निमित्तरूप से कहा गया है। कोई किसी को तारे तो एक भगवान हो तो सबको तिरा दे, तो यह संसार रहे नहीं। संसार तो अनादि पड़ा है ऐसा का ऐसा। आहाहा! 'आस्रव, बंध विभाव करो रुचि आपणी।' आस्रव और विभाव के अपने भाव माने और फिर कहे कि भगवान मुझे समझ में आये हैं और बैठे हैं। वे तुझे बैठे नहीं, सुन न! समझ में आया? सब बात बहुत है, देखो!

'एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै, दोइ करतूति एक दर्व न करतु है' 'जीव पुदगल एक खेत-अवगाही' भले एक क्षेत्र में जड़ और चैतन्य रहा हुआ हो, **'अपने अपने रूप कोउ न टरतु है।'** जड़ और चैतन्य तथा एक-एक परमाणु और आत्मा अपनी सत्ता को कोई छोड़ते नहीं। कहो, समझ में आया? इस शरीर का कुछ कर सकता नहीं, ऐसा कहते हैं। जरा खाने-पीने का ध्यान रखे। गर्म-गर्म ढेबरा, भजिया शाम को हो, सवेरे हलवा-पूड़ी हो, दोपहर में फलाना हो। यह सब ध्यान रखे तो ठेठ शरीर अच्छा रहे। ऐसा कुछ कर सकता नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : कच्चा-कच्चा खाये तो निरोगी रहे ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कच्चा खाये और कौन पक्का खाये? खाये कौन? आहाहा! खाने की क्रिया वह जड़ की, उसका कार्य जड़ करे। आत्मा बहुत तो आगे बढ़कर राग का कर्ता हो अज्ञानी। परन्तु उस खाने की क्रिया का कर्ता आत्मा है नहीं। गजब है!

यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग का मार्ग है, भाई! जिसने तीन काल-तीन लोक ज्ञान में जाने। उनकी भिन्न-भिन्न सत्ता जानी। भिन्न-भिन्न सत्तावाले का अस्तित्व स्वयं के कारण से है, उसके द्रव्य का, उसके गुण का और उसकी दशा का। पर के कारण से उसके द्रव्य-गुण-पर्याय की अस्ति है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : पानी उतर जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : पानी उतर जाये अभिमान का खोटा मुफ्त का। यह मशीन को करते हैं और ढींकणा को करते हैं....

मुमुक्षु : अभिमान निकल जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : निकल जाये। हाँ, यह चिमनभाई को दो-तीन लाख कुछ नहीं होता था। क्या कहलाता है तुम्हारे वह? इनकमटेक्स। कितने ही भरने पड़ते थे, और कम हो गये। वह तो सब क्रिया होने की थी, ऐसी हुई —ऐसा कहते हैं। बहुत ध्यान रखा था, इसलिए हुआ, ऐसा है नहीं। आहाहा! गजब बात!

साधु नाम धरावे। हम ऐसे दूसरे का कर दें, हम ऐसा कर दें। एक व्यक्ति कहे, 'देखो, हमारे पास पैसे नहीं हैं, परन्तु हम पैसे दान में इकट्ठे करा देते हैं।' अरे भगवान! क्या कहते हो तुम यह? जड़ पैसा... दूसरे को ऐसा उपदेश दें.... ऐसा उपदेश दें.... वे मणिभाई थे न भाई गोंडलवाले, नहीं? क्या कहा जाता है उन्हें मणिभाई जोरावर। मिले थे तब हमको। हाँ, वे। (संवत्) १९९९ में मिले थे। तब तो बहुत उसमें थे न! एक ओर बढवाण से हजारों लोग तथा एक ओर इस ओर हजारों लोग। बीच में लोग... लोग... ओहोहो! जोरावर जाते जाये। तब, हों! नब्बे के वर्ष की बात है। बहुत लोग। तब मणिभाई थे। वे मणिभाई कहे दूसरे को। मेरे पास नहीं बोल सकते।

'हम तो ऐसा उपदेश देते हैं, पैसे झरते हैं। महिलाओं से निकलवाते हैं। ऐई, तुम महिलायें नौकर हो? कौन है? महिलाओं को नौकर रखकर भी.... यदि नौकर रखे तो उसे सौ-दो सौ (रुपये) वेतन मिले। तुम्हारे पचास वर्ष का वेतन गिनो। तुम्हारे अधिकार में कुछ नहीं देने का? पति कहे तो देना और तुम्हारे अधिकार में कुछ नहीं। छोड़ो गहने रखो। तुम्हारे पास से गहने रखो।' गहने छुड़ा देते हैं, ऐसा मणिभाई कहते थे। भाषण ऐसा था। 'तुम्हारा कुछ हक नहीं। नौकर रखे उसे पचास रुपया वेतन महिने का गिनो, तत्प्रमाण गिनो। बारह महीने के छह सौ। पचास वर्ष के कितने? पच्चीस हजार। तो पच्चीस हजार देने की शक्ति तुम्हारे हो। पति को पूछना पड़ता होगा कि यह गहने हम दें या नहीं?' सब सुनते थे न। सुनने आते थे सब। स्थिर हो गये तब, हों! सुनकर सब।

ऐसे व्यक्ति हजारों बढवाण से आये थे। नब्बे के वर्ष में। और यहाँ सामने आये जोरावर के गाँव के। उसमें (स्थानकवासी में) थे न तब तो। लोगों बहुत मान देते थे न तब तो। यह जहाँ बदला वहाँ, हाय! हाय! यह तो सब बदल गया। आहाहा! तब कहते कि हम ऐसा करते हैं। बापू किया! एक साधु ऐसा कहता था, हमारे पास पैसा नहीं परन्तु करोड़ोपति से हम पाँच-पाँच, दस लाख इस प्रकार निकलवा लेते हैं। ऐ, उपदेश का कार्य तेरा और उसने पैसे दिये वह तेरे कारण हो और दे। किसका मिथ्यात्व का ऐसा सेवन किया है?

मुमुक्षु : वास्तव में वह तो आचार्य भगवान....

पूज्य गुरुदेवश्री : आचार्य भगवान क्या करे? आत्मा का करे या पर का करे? राग का करते थे, वे आचार्य नहीं, वह तो मूढ़ है। पर के कार्य की तो बात ही कहाँ? परन्तु राग का कर्ता हो, वह आत्मा को विकारी माननेवाला (और) अविकारी का अनादर करनेवाला है। आहाहा! समझ में आया?

यह तो भाई, जिसे आत्मा का हित करना हो, उसकी बात है। समझ में आया? वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। भगवान ने कहा है, इसलिए है? वह स्वरूप ही ऐसा है। भगवान है, ऐसा देखा; देखा, वैसा जाना और जानकर वैसा कहा। आहाहा! कहो, यह सेठिया-बेठिया कितने ही कहे न कि हम बहुतों को पालते हैं। हम क्या यह कहीं धन्धा करते हैं? हम तो बहुतों को दस-दस हजार लोगों को पालने के लिये यह धन्धा करते हैं, निभाने के लिये। सच्ची बात होगी? ऐ मधुरभाई! क्या होगा यह?

मुमुक्षु : कोई किसी को पाल थोड़े ही सकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, परन्तु तुम्हारा भाई कहता है, देखो।

मुमुक्षु : उसने अभी सुना नहीं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं सुना।

मुमुक्षु : सुना हो तो बोले नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात सच्ची है।

यह कहे, हम यह सात-आठ हजार लोगों को पोषण करते हैं। किसे पोषे भगवान? तुझे खबर नहीं। तुझमें विकल्प उठे, उसका कर्ता हो तो चैतन्य निर्विकल्प को भूल जाता है। आहाहा! यह वह कहीं मार्ग! और विकल्प का कर्ता होकर खड़ा रहे और इससे दूसरे के कार्य पैसे देने के और लेने के और कमाने के तथा निभाने के, हराम है तीन काल में। सत् की और सत् के पंथ की तुझे खबर नहीं। समझ में आया? ऐई जयन्तीभाई! सुना यह? वह कहे, करो प्रौषध, करो प्रतिक्रमण और छोड़ो आहार। परन्तु क्या प्रौषध-प्रतिक्रमण कहना किसे? भान है तुझे? तूने विकल्प किया कि प्रौषध किया। परन्तु प्रौषध किया, ... नहीं खाया। फिर वह चार-चार रुपये, दो-दो रुपये वापस उसे... क्या कहलाता है वह? बक्षीस।

मुमुक्षु : प्रभावना।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभावना दे। धूल भी नहीं सुन न!

पैसे की क्रिया जाने-आने की कहाँ तुझसे हुई है? और उसने कदाचित् राग मन्द करके प्रौषध किया हो तो उसे पुण्यबन्धन का कारण हो। वह तुझसे होता है, ऐसा है नहीं। इसलिए तू पैसा दे तो उससे कुछ लाभ आवे थोड़ा, ऐसा है नहीं। साधु हो और जब उठे तब (कहे कि) भाई! यह भाथुं डालो भाथुं। चार महीने चातुर्मास किया, अब अन्त में कुछ प्रत्याख्यान करो और भाथुं डालो। यह प्रत्याख्यान करे और उससे लाभ हो। मूढ़ वह कहीं मूढ़ के गाँव अलग होंगे? आहाहा! उसके राग की क्रिया उसके पास। तेरे राग की क्रिया तेरे पास। किसी की राग की क्रिया के कर्ता दो हों, ऐसा नहीं होता। अथवा एक राग की क्रिया के दो कर्ता हो अथवा दो परिणाम का एक कर्ता हो (ऐसा) तीन काल-तीन लोक में होता नहीं। आहाहा!

'ऐसा मार्ग वीतराग का भासित श्री भगवान, समवसरण के मध्य में श्री सीमन्धर भगवान।' सीमन्धर भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा ने यह फरमाया है। ऐसा है, बापू! तुझे बैठे, न बैठे। स्वतन्त्र है। समझ में आया? ऐसा सुनकर वे कहे, 'ऐ.... यह सब गलन करते हैं। लोगों के कल्याणमार्ग को विघ्न करते हैं।' ऐई! जामनगर आये थे थोड़े (लोग) यह तो और धीरुभाई साथ में थे। वे कहे, क्या कहते हो तुम? कहा, हम किसी

के साथ वाद-विवाद नहीं करते। हम यह जो मार्ग चलता है, वह मार्ग एक ही सत्य है, इसके अतिरिक्त सब मार्ग मिथ्या हैं। कहो, क्या कहना है तुम्हारे? कहा। हम वाद-विवाद किसी के साथ करते नहीं। समझ में आया?

परन्तु भाई थे हिम्मतभाई, बहुत होशियार व्यक्ति। धीरुभाई के भाई थे। महाराज ऐसा कहते हैं, फिर तुम्हारे ऐसी बात करने का क्या काम है? ना ही करते हैं। बहुत जिस बात (में) भटके हैं, वह ना करते हैं। फिर यह प्रश्न भी क्या? किसके साथ करे? कुम्हार के साथ या तुम्हारे? ऐसी बातें समझे कौन और हाँ करे कौन? सब पंगु हो सब बाहर के। ऐसा कहे कि देखो, चश्मा हो तो दिखता है या नहीं? लो, लाओ पूछो। किसे पूछें? सुन न! चश्मा जड़ की क्रिया। जानने की क्रिया आत्मा की भिन्न। वह चश्मे के कारण जानने की क्रिया होती है, (ऐसा) तीन काल तीन लोक में है नहीं। यह कहे, वाद करो। आहाहा!

'जीव पुदगल एक खेत-अवगाही दोउ, अपने अपने रूप कोउ न टरतु है... जड परिनामनिकौ करता है पुदगल' लो, जाओ आठ कर्म बँधते हैं, वे कर्म के कारण बँधते हैं। **'चिदानंद चेतन सुभाउ आचरतु है।'** लो, वह कहते थे न तब (संवत्) २००६ के वर्ष में, भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकर कहते हैं कि कर्म के कारण चार गति में भटका। हम कहते नहीं, तीन काल में ऐसा है नहीं। अपनी भूल के कारण भटका, वह भूल कर्म कराता है, ऐसा है नहीं। २००६ के वर्ष पालीताणा। यहाँ तो चेतन... **'चिदानंद चेतन सुभाउ आचरतु है।'** ज्ञानानन्द भगवान या अज्ञानरूप से राग को आचरे और ज्ञानरूप से आनन्द को आचरे। बाकी दूसरा कुछ कर सकता नहीं, ऐसा उसका स्वभाव त्रिकाल अनादि-अनन्त है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४१, फाल्गुन कृष्ण १, शुक्रवार, दिनांक १२-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद ११-१२

दसवाँ कलश चलता है दसवाँ। दसवाँ कलश, ग्यारहवाँ पद। यह अधिकार कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार है। अर्थात् आत्मा कर्ता और (जड़) कर्म की क्रिया उसका कर्म—कार्य, ऐसा होता नहीं। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, ऐसी दृष्टि न हो... मिथ्यादृष्टि, 'शरीर की क्रिया मैं करता हूँ, पर को मदद करके मैं सबको सुखी करता हूँ, पर को दु:खी करता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं रागी हूँ, मैं पुण्यवन्त हूँ, मैं पाप परिणामवाला हूँ'—ऐसा जो अहंकार(रूप) मिथ्यात्वभाव (जिसे) है, वह अज्ञानी (अपने को) पर का कर्ता मानते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई जैनदर्शन! वह कहते हैं। दसवाँ कलश है नीचे। नीचे है नीचे। जगह दो जगह... बहुत जगह है.... लड़के आये हैं न? मेहमान होंगे।... है न!

मुमुक्षु : धूलेटी।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूलेटी।

दसवाँ कलश।

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽह-मित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिना-मिह महाहंकार-रूपं तमः।
तद्भूतार्थ-परिग्रहेण विलयं यद्येक-वारं व्रजेत्,
तत्किं ज्ञान-घनस्य बन्धन-महो भूयो भवे-दात्मनः।।१०।।

इसका पद-पद।

★ ★ ★

काव्य - ११

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का स्वरूप (सवैया इकतीसा)

महा धीठ दुखकौ वसीठ परदर्वरूप,
अंधकूप काहूपै निवार्‌यौ नहि गयौ है।
ऐसौ मिथ्याभाव लग्यौ जीवकौं अनादिहीकौ,
याही अहंबुद्धि लिए नानाभांति भयौ है।।
काहू समै काहूकौ मिथ्यात अंधकार भेदि,
ममता उछेदि सुद्ध भाव परिनयौ है।
तिनही विवेक धारि बंधकौ विलास डारि,
आतम सकतिसौं जगत जीत लयौ है।।११।।

शब्दार्थ:-धीठ (धृष्ट)=ढीठ। वसीठ=दूत। निवार्‌यौ=हटायौ। समै (समय)=वक्त। उछेदि=हटाकर। परिनयौ=हुआ। सकति (शक्ति)=बल।

अर्थ:-जो अत्यन्त कठोर है, दु:खों का दूत है, परद्रव्य जनित है, अन्धकूप के समान है, किसी से हटाया नहीं जा सकता[1] ऐसा मिथ्यात्वभाव जीव को अनादि काल से लग रहा है। और इसी कारण जीव, परद्रव्य में अहंबुद्धि करके अनेक अवस्थाएँ धारण करता है। यदि कोई जीव किसी समय मिथ्यात्व का अहंकार नष्ट करे और परद्रव्य से ममत्वभाव हटाकर शुद्धभावरूप परिणाम करे तो वह भेदविज्ञान धारण करके बन्ध के कारणों को[2] हटाकर, अपनी आत्मशक्ति से संसार को जीत लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।।११।।

१. मिथ्यात्व विभाव भाव है, उसे हटाकर अनन्त जीव मुक्त हुए हैं। पर हां, कठिनाई से हटता है इस दृष्टि से 'निवार्‌यौ नहि गयौ है' यह पद दिया है।

२. मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय योग।

काव्य-११ पर प्रवचन

महा धीठ दुखकौ वसीठ परदर्वरूप,
अंधकूप काहूपै निवार्‌यौ नहि गयौ है।
ऐसौ मिथ्याभाव लग्यौ जीवकौं अनादिहीकौ,
याही अहंबुद्धि लिए नानाभांति भयौ है॥
काहू समै काहूकौ मिथ्यात अंधकार भेदि,
ममता उछेदि सुद्ध भाव परिनयौ है।
तिनही विवेक धारि बंधकौ विलास डारि,
आतम सकतिसौं जगत जीत लयौ है॥११॥

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग।

क्या कहते हैं, '**महा धीठ दुखकौ वसीठ**' मिथ्यात्वभाव है, (वह) महा धीठ है और दुःख को दूत है। दुःख को दूत। कषाय अग्नि से जला, ऐसा मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? 'मैं शरीर की क्रिया करूँ, मैं पर की दया पाल सकता हूँ, मैं पर की हिंसा कर सकता हूँ और अपने में जो पुण्य-पाप का विकल्प होता है, वह भी मेरा कर्तव्य है'—ऐसी मान्यता मिथ्यात्व का महा धीठभाव है। समझ में आया? अणुव्रत और महाव्रत और यह सब तो विकल्प है, राग है। आहाहा! इस राग का अहंपना (कि) यह मेरा कर्तव्य-कार्य है, यह मिथ्यात्वभाव महा धीठ है और दुःख का दूत है। पण्डितजी! गजब बात, भाई! ऐसा मार्ग!

भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, जानन-देखन स्वभाव। वह निजद्रव्य को भूलकर शुभ-अशुभभाव का कर्ता अहंपने हो, वह मिथ्यात्वभाव है। आत्मा, उसका शरीर आदि पर, 'उसका मैं कुछ कर दूँ, उसको मदद करूँ, उससे मुझमें मदद मिले'—ऐसा जो अहंकार (वह) मिथ्यात्वभाव है। '**महा दुःखकौ वसीठ परदर्वरूप**' 'परद्रव्य की क्रिया मैं करूँ' यह परद्रव्यरूपभाव मिथ्यात्व परद्रव्यरूप ही है वास्तव में तो। अन्धकार है। आहाहा! मुनि भी अनन्त बार हुआ जैन का साधु, पंच महाव्रत का पालन किया, २८ मूलगुण का पालन किया। परन्तु वह राग की क्रिया है। 'वह मेरी है और मैं

करता हूँ'—ऐसा जो अहंपना मिथ्यात्वभाव महा धीठ, दु:ख को दूत है। समझ में आया? और वहाँ से हटकर लेवे तो वह आत्मा की एक समय की पर्याय है न, पर्याय का प्रगट अंश, उस अंश पर बुद्धि पड़ी है, वह भी मिथ्यात्वभाव है। सूक्ष्म बात है! वीतराग का मार्ग ऐसा है। समझ में आया?

भगवान सच्चिदानन्द प्रभु सिद्धस्वरूपी चैतन्यघन विज्ञानघन आत्मा है। वह अपने स्वभाव को भूलकर, मिथ्यात्वभाव में अपनी क्रिया 'यह परद्रव्य का कार्य कर सकता हूँ, अपने स्वभाव के सिवाय विभाव का कार्य करता हूँ और विभाव को जाननेवाला ज्ञान का वर्तमान अंश (जो) है, वह अंश ही मेरी पूर्ण चीज़ है (और) यह मैं आत्मा हूँ'—ऐसा जो अहंकार, उसका नाम मिथ्यात्वभाव कहते हैं। **दु:खकौ....** अर्थात् पर का—कर्म का करूँ, ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व है, वह तो दु:ख है और राग-द्वेष का परिणाम करूँ, वह मिथ्यात्वभाव भी दु:ख है।

यहाँ कहा न, '**याहि अहंबुद्धि लिए... महा धीठ दु:खकौ वसीठ परदर्वरूप अंधकूप**' अन्ध कूप है अन्ध कुँआ। आहाहा! चैतन्य ज्ञानज्योति ऐसी अपनी निज चीज़ को भूलकर पर का कर्ता मानना महा मिथ्यात्वभाव है।'पर की दया पाल सकता हूँ, वह मेरा कर्म है... ... यह वीतराग की बात। दया का भाव है, वह भी विकल्प है, यह भी मेरा कर्तव्य (है वह) अहंपना है।

'**महा धीठ दु:खकौ वसीठ**' दु:ख का दूत है, दु:ख का दूत है। परद्रव्यरूप है। वह तो परद्रव्य (रूप) विकार मिथ्यात्वभाव, वह अपना स्वभाव ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? अर्थ में 'परद्रव्यजनित है' ऐसा लिया है। परन्तु वह वास्तव में तो परद्रव्यस्वरूप ही है। आत्मा भगवान ज्ञानस्वरूप चैतन्य का सत्कार नहीं किया और इसका भान नहीं किया और ऐसे अपने निज स्वभाव को भूलकर राग और द्वेष का विकल्प का भाव (किया) जो परद्रव्यस्वरूप है, अपना स्वरूप नहीं। वास्तव में तो एक अंश जो है, वह भी परद्रव्यस्वरूप है, (वह) अपना द्रव्यस्वरूप नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! भगवान आत्मा अबन्धस्वरूपी प्रभु पूर्ण आनन्दघन को आत्मा कहते हैं। ऐसी आत्मा की दृष्टि हो, तब तो राग-द्वेष, पर और अंशबुद्धि उसकी नाश हो जाती है। तम अर्थात् अज्ञान का नाश होकर आनन्द की प्राप्ति होती है। दु:ख का दूत कहते हैं न! सुख

का दूत। सुख चाहिए। तरस आती है। ओहो! सम्यग्दर्शन होते... सम्यग्दर्शन इसको कहते हैं, वह आगे कहेंगे।

'**मिथ्यात अंधकार भेदी**' भगवान आत्मा... आहाहा! यह बात भी अभी तो मिलना मुश्किल हो गयी है। और बाहर की धमाल... धमाल... धमाल... अन्यत्र शोधे... यहाँ तो ऐसा लिया है। यह तो पिछली रात्रि में है.... क आँख मिल जाये तो, पौन सेकेण्ड के अन्दर निद्रा (बाद में) सप्तम गुणस्थान आ जाये। क्षण में आनन्द का अनुभव प्रगट व्यक्त विशेष। क्षण में विकल्प होता है तब .... क्षण में नींद खुल जाती है, एक पौन सेकेण्ड के अन्दर।

मुमुक्षु : जिनकल्पी साधु....

पूज्य गुरुदेवश्री : जिनकल्पी नहीं, सच्चे साधु। क्या कहते हैं यह? यह सब जिनकल्पी के लिये होता है। यह सबके लिये नहीं होता, ऐसा सब बचाव करते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? बापू! स्थविरकल्पी हो या जिनकल्पी हो।

मुमुक्षु : सभी वस्तु की व्यवस्था की हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवस्था की हो। आहा! जिनकल्पी हो या स्थविरकल्पी हो, दोनों ही नग्न रहते हैं, दोनों ही जंगलवासी हैं। नाट में है पीछे। समझ में आया? पीछे छठवें गुणस्थान की बात है न वहाँ। उसमें बात हो न। यह तो नया है न यह तो। छठवें गुणस्थान की बात होगी, वहाँ होगी। चतुर्दश गुणस्थान, प्रतिमा....

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आया है। हाँ, यह बस। लो, ९०-९१ है। ३९७ पृष्ठ। उसमें तीन, नौ और सात है। देखो। ९०-९१ पद है। (चतुर्दश गुणस्थानाधिकार)।

'**सहि साधै सिवपंथ। थविरकल्पि जिनकल्पि धर, दोऊ सम निरग्रंथ**' दोनों निर्ग्रन्थ दिगम्बर होते हैं। एक वस्त्र का धागा भी दोनों साधुओं को नहीं होता। '**जो मुनि संगतिमैं रहै, थविरकल्पि सो जान, एकाकी जाकी दसा, सो जिनकल्पि बखान।**'

मुमुक्षु : इतना अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इतना अन्तर है। जिनकल्पी अकेले रहते हैं, स्थविरकल्पी

साथ में रहते हैं। दो-चार साधु साथ में रहते हैं। परन्तु दोनों ही जंगलवासी निर्ग्रन्थ मुनि, एक वस्त्र का धागा भी नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....का त्याग होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है ही उसमें। दूसरा पक्ष से कहते थे वे, परन्तु लोग ऐसा कहते हैं। 'दो ही निर्ग्रन्थ धार।' समझ में आया?

मुमुक्षु : 'दोऊ सम निगरंथ।'

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों समान निर्ग्रन्थ दिगम्बर, एक वस्त्र का धागा भी नहीं। वस्त्र का धागा रखकर मुनि मानते हैं, मनाते (हैं, वह) मिथ्यादृष्टि निगोद में जायेगा। ऐसी बात है, भैया!

मुमुक्षु : लाखों मुनि....

पूज्य गुरुदेवश्री : लाखों.... धूल भी नहीं, सब मिथ्यादृष्टि हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : थे कहाँ? साधु... मुनिराज। दिगम्बर में भी साधु है ही नहीं कोई। साधु किसको कहे (उसकी) खबर नहीं अभी तो। आहाहा! समझ में आया? यह तो आगम की पद्धति है, भाई! व्यक्तिगत, वह व्यक्तिगत है।

मुमुक्षु : रोज नई दीक्षा....

पूज्य गुरुदेवश्री : रोज नई दीक्षा। दख्या। नयी दख्या—दु:ख को बहोरते हैं मिथ्यात्व। आहाहा! अरे भाई! अभी तुझे खबर नहीं। भगवान आत्मा अकेली ज्ञान की क्रिया करनेवाला है। राग की क्रिया करना, वह भी मिथ्यात्वभाव है। मैं राग की क्रिया करता हूँ.... आहाहा! ऐसा मिथ्यात्व छूटे बिना समकित होता नहीं और फिर स्वरूप में आनन्द की लहर आये बिना अव्रत छूट जाते नहीं। यह कुछ बात है! समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, देखो। '**महा धीठ...**' भाषा कैसी प्रयोग की है! मिथ्यात्व... '**निवार्‌यौ नहि गयौ, ऐसौ मिथ्याभाव लग्यौ जीवकौं अनादिहीकौ।**' निगोद से लेकर दिगम्बर साधु होकर नौवें ग्रैवेयक गया, परन्तु मिथ्यात्व लगा है। तन की—देह की

क्रिया मैं करता हूँ और महाव्रत का विकल्प मेरा है और मुझे धर्म होता है—यह मिथ्यात्वभाव है। नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार मिथ्यादृष्टि जिनलिंग धारण करके (गया)। वस्त्र धारण (करना) वह तो कुलिंग है, वह तो (द्रव्य) लिंग भी नहीं। समझ में आया? वस्त्र धारण करके तो नौवें ग्रैवेयक जा सकता ही नहीं। आहाहा! गजब काम, भाई! यह तो जगत से भारी उल्टा है।

मुमुक्षु : पुण्य होता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य हुआ तो क्या हुआ? पुण्य में धर्म क्या हुआ उसमें? वह तो बन्ध है। वह तो बन्ध का कारण है। मनपूरणी, वचनपूरणी, कायपूरणी, यह तो शुभभाव की बात है। धर्म क्या आया? समझ में आया?

पंच महाव्रत का विकल्प भी धर्म नहीं, वह राग है, विकल्प है, पुण्यबन्ध का कारण है। आहाहा! आस्रव है। उसमें धर्म होता है, (यह) मानना मिथ्यात्व का पोषक है। अकेला मिथ्यादर्शन शल्य को पुष्ट करता है। आहाहा!

मुमुक्षु : खबर पड़ती नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : खबर पड़ती नहीं। क्या करे अज्ञान में..! आहाहा! यह कहते हैं, देखो, '**मिथ्याभाव लग्यौ जीवकौं अनादिहीकौ, याही अहंबुद्धि**' यह भाषा है, देखो! अपना निज आनन्दस्वरूप के अतिरिक्त अंश में, राग में, निमित्त में, बाहर में 'यह मेरा है, यह कर्तव्य मैं करता हूँ पर का'—यह अहंबुद्धि मिथ्यात्व अनादि से लगा है।

'**नानाभांति भयौ है अहंबुद्धि लिए**' अनेक प्रकार... 'मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं स्वर्ग में हूँ, मैं पुण्य करनेवाला हूँ'—सब मिथ्यात्वभाव के अनेक प्रकार हैं। सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है (यह बात) लोगों ने सुनी नहीं। क्या चीज़ है। आहाहा! ऐसी चीज़ है भाई! समझ में आया? '**काहू समै काहूकौ मिथ्यात अंधकार भेदि**' अब सुलटा। किसी समय किसी को मिथ्यात्व... अपनी परद्रव्य में से अहंबुद्धि छोड़कर... 'परद्रव्य का कारण, कर्ता मैं नहीं, उसकी पर्याय मुझसे नहीं हुई है, राग भी मेरा कर्तव्य नहीं और एक समय की पर्याय में भी मैं पूरा आता नहीं।' आहाहा! गजब काम! भीखाभाई! गजब काम ऐसा कठिन है। लोगों को अभी मिथ्यात्व और समकित दोनों की खबर नहीं

होती। चारित्र तो कहाँ बापू? आहाहा! चारित्रवन्त को तो गणधर नमस्कार करे, चार ज्ञान और चौदह पूर्व की रचना करनेवाले। '**णमो लोए सव्वसाहूणं**' ऐसा कहे। वह चारित्र.... गणधर का जिसके चरण में नमस्कार, वह साधुपद कैसा है, भाई! आहाहा!

यहाँ तो यह कहते हैं, '**काहू समै काहूकौ मिथ्यात अंधकार भेदि**' 'अरे! मैं पर में नहीं, पर का कार्य मेरा नहीं, यह दया-दान-व्रत के विकल्प में भी मैं नहीं, यह कार्य मेरा नहीं और एक अंश के भाव में भी मैं नहीं; मैं तो ध्रुव सच्चिदानन्द प्रभु ध्रुव अनन्त भगवान की पर्याय का—अनन्त भगवान पर्याय का पिण्ड हूँ।' सिद्ध भगवान की जो पर्याय है, ऐसी अनन्त पर्याय का पिण्ड यह भगवान आत्मा है। आहाहा! यह क्या कहा? क्या कहा, समझ में आया? कि एक समय की अवस्था (में) नौ पूर्व का ज्ञान का विकास, वह भी आत्मा नहीं। समझ में आया?

आत्मा में तो अनन्त-अनन्त बेहद—अपरिमित—मर्यादातीत... अपरिमित—मर्यादातीत ऐसी ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं। यह अनन्त शक्ति में अनन्त भगवती पर्याय सिद्ध की जितनी है, ऐसी अनन्त सिद्ध पर्याय, वह भगवान आत्मा में अन्दर पड़ी है। तो वह रागी नहीं और अल्पज्ञ पर्याय जितना भी आत्मा नहीं। आहाहा! और एक गुण में अनन्त पर्याय है तो ऐसा एक गुणरूप भी मैं नहीं। आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दर्शन की व्याख्या चलती है।

शरीर-वाणी-मन, अन्य पदार्थ, देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार वे तो मेरे नहीं, उनसे तो मुझे लाभ है नहीं। अरे! गजब बात, भाई! और अन्तर में पुण्य और पाप के विकल्प होते हैं, वह भी विभाव और आस्रव है, बन्ध का कारण है। वह बन्ध का कारण मेरी चीज़ नहीं। मेरी चीज़ तो अबन्धस्वरूपी भगवानस्वरूप है। और मेरी चीज़ की अल्पज्ञ पर्याय में ज्ञानादि का विकास हुआ, इतना भी मैं नहीं। और जो अनन्त सिद्ध भगवान हुए, उनकी एक समय की सिद्धपर्याय है, ऐसी अनन्त-अनन्त पर्याय केवलज्ञान की एक ज्ञानगुण में है। केवलज्ञान की पर्याय जो भगवान को उत्पन्न हुई, उस पर्याय जितना भी मेरा गुण नहीं। ऐसी अनन्त पर्याय का समुदाय—पिण्ड(रूप) गुण, (उस) एक गुण जितना भी मैं नहीं। आहाहा! गजब, भाई! समझ में आया?

'काहू समै काहूकौ मिथ्यात अंधकार भेदि ममता उछेदि' ममता का अर्थ ? 'मैं अंशरूप हूँ, मैं रागरूप हूँ, मैं एक गुणरूप हूँ'—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उसका उच्छेद कर दिया। आहाहा! गजब बात, भाई! **'ममता उछेदि सुद्धभाव परिनयौ है'** भगवान आत्मा (के) एक ज्ञानगुण में अनन्त केवलज्ञान की पर्याय पड़ी है, एक दर्शनगुण में अनन्त दर्शनगुण की पर्याय पड़ी है, एक श्रद्धागुण में अनन्त क्षायिक समकित की अनन्त पर्यायें पड़ी हैं, एक आनन्द में अतीन्द्रिय आनन्द परमात्मा को हुआ एक समय का, ऐसा अनन्त आनन्द एक आनन्दगुण में पड़ा है। तो इतना मैं एक पर्याय जितना नहीं, राग भी नहीं, निमित्त भी नहीं और एक गुण जितना नहीं। आहाहा! जेठाभाई! गजब बात!

'ममता उछेदि सुद्धभाव परिनयौ है' पुण्य-पापरूपी परिणमन होता था, वह तो मिथ्यात्व में होता था। आहाहा! शान्तिभाई! गजब यह बात! कहते हैं, **'ममता उछेदि'** यह एक और **'सुद्धभाव परिनयौ'** दो में बहुत डाल दिया। आत्मा अनन्त गुण—शक्ति की एकरूप अभेद वस्तु है, ऐसी दृष्टि होने से ममता... 'यह निमित्त में मैं हूँ और राग में मैं हूँ और एक अंश में मैं हूँ और मैं सारा एक गुण में हूँ'—ऐसी बुद्धि का नाश हो जाता है। पोपटभाई! सब सुना ही नहीं यह सब। आहाहा! **'ममता उछेदि' परद्रव्य से ममता हटाकर शुद्धभावरूप परिणाम करे...** पुण्य-पाप विकल्प, वह तो अशुद्धभाव है। परन्तु भगवान आत्मा शुद्ध अखण्डानन्द प्रभु, ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि द्रव्यस्वभाव की होने से आत्मा में शुद्धभाव की दशा होती है। यह शुद्धभाव की दशा धर्म है। पहले तो अभी बात सुनने को (नहीं) मिलती और सुने तो ऐसी कैसी होगी (ऐसा मस्तिष्क में) यह बात बैठना... आहाहा! बापू! तेरे घर में अलौकिक बात है।

वह हिन्दी में आता नहीं ? हिन्दी में आता है न वह भजन। **'अब हम कबहू न निजघर आये, अब हम कबहू न निजघर आये, अब हम कबहू न निजघर आये। परघत भ्रमत-फिरत अनेक नाम धहायें'** यह आया न। **'अहंबुद्धि लिए नानाभांति भयौ'** मैं दया का पालनेवाला और भक्ति का करनेवाला और अहिंसा का करनेवाला और स्त्री-परिवार का पालन करनेवाला और देश का पालन करनेवाला और कुटुम्ब की रक्षा करनेवाला और कमाऊँ और कमाऊँ—ऐसे अनेक भाव का मिथ्यात्वभाव सेवन किया है। आहाहा! कहो, समझ में आया ? **'नानाभांति भयौ'** आहाहा! भगवान तो एकरूप

स्वरूप चिदानन्द है। उसकी दृष्टि होने से तो अपने शुद्धभाव की परिणति वीतरागी दशा हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। समझ में आया?

'**तिनही विवेक धारि बंधकौ विलास डारि**' राग और विकल्प से भिन्न अपने आत्मा को (जान) करके, अल्पज्ञपने से भी भिन्न अपने स्वरूप को दृष्टि में लेकर, विवेक अर्थात् भेदज्ञान किया। भेदविज्ञान धारण करके, '**बंधकौ विलास डारि**' मिथ्यात्व परिणाम, अव्रत का भाव या व्रत का विकल्प—यह कषायभाव, प्रमादभाव है, यह सब बन्धविलास भाव मेरा नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तुम्हारे देवचन्दजी कहते हैं, 'आस्रव, बंध विभाव करूं रुचि आपणी, भूल्यो मिथ्यावास दोष दूपभणी।' पुण्य-पाप के विकल्प, वह आस्रव है और वह भावबन्ध है—भावबन्ध है। 'आस्रव बंध विभाव करूं रुचि आपणी, भूल्यो मिथ्यावास...' स्वभाव को भूलकर भूला मिथ्यात्व और अन्ध श्रद्धा में। 'दोष दूप...' परन्तु क्या करूँ भाई! मुझे कर्म ऐसे कठोर आते हैं न! कर्म के कारण ऐसा मिथ्याभाव होता है। ऐसा मूढ़ अपना दोष पर के ऊपर डालता है। वीतराग की घर की बात है न, बापू! भगवान! यह तो तेरे घर की बात है। आहाहा!

भाई! सम्यग्दर्शन अर्थात् तो मुक्त हो गया। (श्रद्धा से) मुक्त हुआ, चारित्र से मुक्ति बाकी। परन्तु वस्तु मुक्त है, ऐसा सम्यग्दर्शन में भान हो जाता है। आहाहा! यह बन्ध का विलास कहा न, देखो न! '**बंधकौ विलास डारि**' आहाहा! बन्ध और मैं तो अबन्धस्वरूपी भगवान आत्मा। अबन्धस्वभावी आत्मा का अनुभव और दृष्टि हुई, बन्ध का विलास डार दिया, वह मुझमें नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शन हुआ तो अबन्धभाव का भान हुआ तो इतनी मुक्ति हुई सम्यग्दर्शन में तो। आहाहा! बराबर है पण्डितजी? क्या कहा?

क्या कहा, देखो! '**तिनही विवेक धारि बंधकौ विलास डारि, आतम सकतिसौं जगत जीत लयौ है।**' भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु का आश्रय लेकर, शक्ति का सहारा लेकर जगत जीत लिया है। सारे विकल्प से लेकर पूरी दुनिया जीत ली है। वह मुझमें है नहीं। मैं तो ज्ञान और आनन्दकन्द हूँ। आहाहा! समझ में आया? देखो, यह 'जीत लियो' यह जैन, ऐसा। उसे जैन कहते हैं। '**तिनही विवेक धारि बंधकौ विलास डारि, आतम सकतिसौं जगत जीत लयौ है।**' भगवान आत्मा... अनन्त शक्ति आनन्द-

ज्ञान आदि की, ऐसा शक्ति का पिण्ड शक्तिवान भगवान (ऐसा) अन्तर दृष्टि का जोर द्रव्य के ऊपर देने से द्रव्य में से आनन्द की धारा बहती है, उसने दु:ख को जीत लिया। आहाहा! समझ में आया? यह चौथे गुणस्थान की बात है। देखो, और पाँचवाँ (गुणस्थान) श्रावक तो किसे कहा जाये? बापू! वह तो अभी (दूर बात है)। साधु किसे कहना? 'माणस होना मुश्किल है तो साधु कहाँ से हो, साधु हुआ तो सिद्ध हुआ।' मोक्षतत्त्व में प्रवेश किया, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

सम्यग्दर्शन में तो अपना अबन्धस्वभावी प्रभु पूर्ण अखण्ड अभेद भगवान पूर्ण ऐसा अनुभव में प्रतीति में आने लगता है, तो बन्ध का विलास दूर हो जाता है। आहाहा! इसका अर्थ हुआ कि अबन्धस्वरूपी मैं हूँ अर्थात् बन्ध से मैं बँधा नहीं हूँ। मैं तो अबन्धस्वभावी, ऐसी मुक्ति सम्यग्दर्शन में हो गयी। बराबर है? भैया! ऐसी बात है भाई! आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव का यह कथन है। दुनिया को मिलता नहीं, इसलिए कहीं चीज़ दूसरी हो जाये? क्या कहा? यहाँ '**तिनही विवेक धारि बंधकौ विलास डारि, आतम सकतिसौं जगत जीत लयौ है**।' इतने में कितना डाल दिया, देखो!

भगवान आत्मा... एक शक्ति नहीं, एक शक्ति (ऐसी तो) ज्ञान, दर्शन ऐसी अनन्त शक्ति। आत्मशक्ति करके अनन्त शक्तिवन्त पूरा आत्मा, ऐसा। एक शक्ति नहीं। '**आतम सकतिसौं**' आत्मा की जो अनन्त शक्ति—स्वभाव है, उसकी अन्तर में दृष्टि करने से जीत लिया, राग आदि मुझमें नहीं, ऐसा जीत लिया। मिथ्यात्व का नाश हुआ और समकित की प्राप्ति हुई। विवेक हो गया। जितना बन्ध का विकल्प, पुण्य-पाप का आस्रव मुझमें नहीं। मैं तो उसका जाननेवाला हूँ। आहाहा! जीत लियो है... मुक्त हो जाता है, लो। बहुत सरस कलश आया। लो, यह धुलेटी में धूल उड़ गयी सब। आहाहा!

बनारसीदास का आया था हुताशन का। ऐसे पिचकारी मारते हैं अन्दर से धर्म की, हों! अन्दर ऐसे। ऐसा आता है बनारसीदास का। बनारसी विलास में आता है। बहुत समय पहले पढ़ा हुआ है। हुताशन की होली-होली रखी है उसमें। अन्दर में पिचकारी मारे अन्दर में एकदम अन्दर जाये।'मैं आनन्दकन्द शुद्ध चिदानन्द मैं हूँ।' राग

का भुक्का उड़ा देते हैं। 'राग-बाग बन्धभाव मुझमें है नहीं। मैं तो अनादि-अनन्त अबन्धस्वभावी आत्मा हूँ।' समझ में आया? बन्ध-फन्द मुझमें है ही नहीं। बन्ध अपने में मानना, वह मिथ्यात्वभाव है, ऐसा कहते हैं। ऐई! आहाहा! कठिन बात, भाई!

प्रभु! तू कितना बड़ा—कितना बड़ा, इसकी खबर इसे नहीं होती। हम आत्मा मानते हैं और हमारे धर्म होता है। किसका अब धर्म करनेवाला...? धर्म तो पर्याय है। तो पर्याय का करनेवाला आत्मा कैसा है, इसकी तो खबर नहीं। तुझे धर्म कहाँ से होगा? समझ में आया? मिथ्या बड़प्पन। ऐसा हम करते हैं और ऐसा करते हैं, हम अणुव्रत पलवाते हैं और व्रत करते हैं। धूल भी नहीं, मिथ्यात्व पालते हैं। भैया! ऐसी बात है। देखो, यह आत्मा जो है, वह आत्मा तो ज्ञायकतत्त्व है और पुण्य-पाप के विकल्प तो आस्रवतत्त्व अथवा भावबन्धतत्त्व है। तो उससे जब हटकर आत्मतत्त्व का भान हुआ तो आत्मा तो आस्रव और बन्ध से रहित है। सहित माना था तो मिथ्यात्वभाव था। समझ में आया?

मुमुक्षु : बड़ी भूल निकल गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : निकल गयी।

'**बंधका विलास डारि, आतम सकति**' भगवान (में) एक शक्ति नहीं, अनन्त शक्ति का पिण्ड प्रभु आत्मा है। आहाहा! उसका सहारा लिया, बन्ध का विलास छूट गया। मुझमें बन्ध है नहीं। अस्थिरता का थोड़ा भाग है, वह ज्ञान का ज्ञेय है। मुझमें नहीं, मेरी पर्याय में बन्ध-फन्ध है ही नहीं। मैं तो अबन्धस्वभावी आत्मा हूँ। आहाहा! ऐसी दृष्टि होवे तो अबन्ध में आनन्द पड़ा है, (उस) आनन्द का वेदन आये बिना नहीं रहता, ऐसा कहते हैं। दुःख को दूत—दुःख को दूत हटकर आनन्द का दूत आवे। देखो, मैं इतना बड़ा आनन्द देनेवाला हूँ। पूर्ण हो तो पूर्णानन्द हो जायेगा। समझ में आया? यह दसवाँ कलश हो गया, लो! ११वाँ कलश नीचे है न।

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते।।११।।

★ ★ ★

काव्य - १२

जैसा कर्म वैसा कर्ता (सवैया इकतीसा)

सुद्धभाव चेतन अशुद्धभाव चेतन,
दुहूंकौ करतार जीव और नहि मानिये।
कर्मपिंडकौ विलास वर्न रस गंध फास,
करता दुहूंकौ पुदगल परवानिये।।
तातै वरनादि गुन ग्यानावरनादि कर्म,
नाना परकार पुदगलरूप जानिये।
समल विमल परिनाम जे जे चेतनके,
ते ते सब अलख पुरुष यौं बखानिये।।१२।।

शब्दार्थ:-सुद्धभाव=केवलदर्शन केवलज्ञान अनन्त सुख आदि। असुद्धभाव=राग द्वेष क्रोध मान आदि। और=दूसरा। फास=स्पर्श। समल=अशुद्ध। विमल=शुद्ध। अलख=अरूपी। पुरुष=परमेश्वर।

अर्थ:-शुद्ध चैतन्यभाव और अशुद्ध चैतन्यभाव दोनों भावों का कर्ता जीव है, दूसरा नहीं है। द्रव्यकर्म-परणति और वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श इन दोनों का कर्ता पुद्‌गल है; इससे वर्ण रसादि गुण सहित शरीर और ज्ञानावरणादि कर्म-स्कन्ध इन्हें अनेक प्रकार की पुद्‌गल पर्यायें जानना चाहिए। आत्मा के शुद्ध और अशुद्ध जो जो परिणाम हैं, वे सब अमूर्तिक आत्मा के हैं, ऐसा परमेश्वर ने कहा है।।१२।।

काव्य - १२ पर प्रवचन

जैसा कर्म वैसा कर्ता।

सुद्धभाव चेतन अशुद्धभाव चेतन,
दुहूंकौ करतार जीव और नहि मानिये।

नोट:-अशुद्ध परिणाम कर्म के प्रभाव से होते हैं और शुद्ध परिणाम कर्म के अभाव से होते हैं, इससे दोनों प्रकार के भाव कर्म-जनित कहे जा सकते हैं।

कर्मपिंडकौ विलास वर्न रस गंध फास,
करता दुहूंकौ पुदगल परवानिये॥
तातै वरनादि गुन ग्यानावरनादि कर्म,
नाना परकार पुदगलरूप जानिये।
समल विमल परिनाम जे जे चेतनके,
ते ते सब अलख पुरुष यौं बखानिये॥१२॥

आहाहा! **सुद्धभाव चेतन...** अपना केवलज्ञान आदि का भाव वह चेतन है, उसका आत्मा कर्ता है। सम्यग्दर्शन और भान भाव में अपना शुद्धभाव का कर्ता आत्मा है। और **असुद्धभाव चेतन...** अज्ञानभाव में भी अपना पुण्य-पाप अशुद्धभाव का चेतन कर्ता है। कर्म से विकार होता है, ऐसा है नहीं। समझ में आया? **सुद्धभाव चेतन...** 'मैं शुद्ध, पुण्य-पाप के विकल्प से, राग से रहित मेरी चीज़ आनन्द और शुद्ध है' ऐसे भाव में शुद्धपरिणाम का कर्ता आत्मा होता है और अज्ञानभाव में... अज्ञानभाव में पर का—कर्म का, शरीर का कर्ता होता ही नहीं। अज्ञानभाव में अपना अशुद्धभाव का कर्ता होता है। बस, इतनी मर्यादा है। समझ में आया?

कर्म का कर्ता और दुनिया का भला कर दिया और दुनिया का अच्छा कर दे और उपदेश मैं दे सकता हूँ और उससे मुझे लाभ है—यह तो सब मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? गजब, भाई! कहो, चेतनजी! क्या है, यह सब कुछ क्या है? उपदेश देकर दूसरे को सुधार सकूँ (ऐसी मान्यतावाला) मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। उपदेश जड़ की क्रिया है, आत्मा की क्रिया है नहीं। अज्ञान में यह क्रिया पुण्य-पाप का विकल्प होता है, इतनी क्रिया अज्ञानी को है। इसके अतिरिक्त बोलने की, चलने की, दुनिया की दया पालने की (क्रिया आत्मा करता नहीं)। समझ में आया? 'दुनिया को सुधार दूँ, धर्म प्राप्त करा दूँ, दूसरे की क्रिया का मैं कर्ता हूँ'—सब भाव मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया?

'सुद्धभाव चेतन असुद्धभाव चेतन, दुहूँकौ करतार जीव और नहि मानिये..' दोनों का कर्ता आत्मा है। कर्म का कर्ता आत्मा नहीं और कर्म से विकार हुआ ही नहीं। समझ में आया? नोट है नीचे। अक्षर समझा नहीं परन्तु... है कहीं? परन्तु ऐसा समझाया है यह तो। अशुद्धभाव चेतन है न! उसे कर्ता कहा है न, उसका स्पष्टीकरण किया है।

कि भाई, **अशुद्ध परिणाम कर्म के प्रभाव से होते हैं...** अर्थात् कर्म के संग के कारण अशुद्धभाव अपने में होते हैं। **और शुद्ध परिणाम कर्म के अभाव से होते हैं।** शुद्धभाव में भी कर्म का अभाव निमित्त पड़ता है। **इससे दोनों प्रकार के भाव कर्मजनित कहे जा सकते हैं।** इस अपेक्षा से बात है। ठीक डाला है।

'प्रभु' है न। पंचास्तिकाय में लिया है। आत्मा प्रभु है। इसमें विकार करने में और विकार टालने में अपना सामर्थ्य है। किसी दूसरे का सहारा नहीं है। समझ में आया? यह तो कर्ता-कर्म अधिकार है न! अज्ञानरूप से अज्ञानी करे तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि क्या करे? अपनी पर्याय की मर्यादा छोड़कर पर में तो कुछ कर सकता नहीं। क्योंकि अपनी पर्याय की सत्ता में रहता है, बाहर तो जाता नहीं। अपने द्रव्य-गुण में तो त्रिकाल है, परन्तु अपनी पर्याय में ही रहता है। पर्याय से आगे जाता नहीं तो पर का क्या करे? समझ में आया?

यह सब संघ करे, श्रावकसंघ बनावे, बड़ा टोला बनावे साधु के और साध्वी के... वह धूल भी नहीं। अभी साधु किसे कहा जाता है, इसकी खबर नहीं तुझे। समझ में आया? सूक्ष्म काम है। आहाहा! दुनिया से अलग जाति है, भाई! यह तो जगत को जीतना हो तो यह मार्ग है। ऐसे न जीते तो भी अज्ञानरूप से राग का और विकार का कर्ता है, ले। परन्तु पर का कर्ता तो है नहीं, ऐसा सिद्ध करना है न यहाँ तो। अज्ञानभाव से राग और पुण्य का कर्ता आत्मा है। परन्तु विकार का कर्ता कर्म है और विकार अज्ञानी ने किया तो कर्मबन्धन भी आत्मा ने किया, ऐसा है नहीं। कर्मबन्धन की क्रिया कर्मबन्धन जड़ से होती है। राग की क्रिया अज्ञानी अपने से करता है। समझ में आया?

सुद्धभाव चेतन असुद्धभाव चेतन... देखो, दया-दान-व्रत के भाव भी अशुद्धभाव हैं, यह विकल्प है, राग है। उसका कर्ता अज्ञानी स्वयं आत्मा निज है अज्ञानी, हों! ज्ञानी राग का कर्ता नहीं, वह तो शुद्धभाव का कर्ता है। अरे... अरे! अपनी पर्याय की मर्यादा छोड़कर पर में कोई कुछ कर सके, ऐसा किसी भी सत्ता का स्वभाव ऐसा है नहीं। कहो, समझ में आया? फिर सामनेवाले के विचार बदला दूँ, ऐसा करूँ, ऐसा कर दूँ... है न एक साधु है। (वह कहे), (कोई) करोड़पति हो, हमारे पास पैसा नहीं, परन्तु हम ऐसा उपदेश दें कि (उससे) दान करा दूँ। धूल में भी नहीं करा सकते तुम। यह तो तेरा अभिमान है। मिथ्यात्व का भाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : महा अहंकार।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा अहंकार।

यह पैसेवाले को हम कुछ उपदेश दें (कि) दान कर। कितना दान कराया, देखो! फिर पूजा, यात्रा निकाली दो लाख खर्च करके। यहाँ से पैदल चले। देखो, हमने सब कराया। मूढ़ है। बहुत अन्तर है।

मुमुक्षु : पूरा-पूरा अन्तर है। आत्मा की खबर न पड़ी इसलिए यह बाहर का पूँछड़ा....

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर में माना। कर तो कहाँ सकता है? हिलना-चलना तो जड़ की क्रिया है। पैदल... छरीवाला छह बोल स्वीकार है न तुम्हारे? क्या कहे? छरी... छह बोल लिखे थे तुमने एक कागज में।

मुमुक्षु : छरी पालता संघ।

पूज्य गुरुदेवश्री : छरी। अपने आत्मा के ऊपर रखता जाये छरी। एक बार खाना और क्या रोज बोलते थे न तुम?

मुमुक्षु : एक बार खाना....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह। प्रतिदिन पाले। अभी निकला था, नहीं? ...हाँ, वह। छरी। आहाहा! धूल भी नहीं, सुन न!

आत्मा तो आनन्दस्वरूप ज्ञातारूप से आत्मा तो जाननेवाला है। वह विकल्प की क्रिया करनेवाला अज्ञानरूप से माने, विकल्प की क्रिया, हों! पर की क्रिया मैं छोड़ सकूँ, आहार और गर्म पानी ले सकूँ, धन्धा छोड़ दिया और फलाना छोड़ दिया—सब जड़ का—मिथ्यात्व का अभिमान है। समझ में आया? भारी कठिन लगे! यह शास्त्र में है? और कोई कहे, यह सोनगढ़ का है। परन्तु यह शास्त्र में है या क्या है? सोनगढ़ का पंथ निराला निकला, और फिर ऐसी भाषा प्रयोग करे। कैलाशचन्दजी ऐसा कहे, वे सब कहे, 'भाई कानजीस्वामी का पंथ अलग प्रकार का है।' परन्तु अलग प्रकार का क्या है, सुन न! परन्तु वह निराला कहते हैं, वह कुछ अपने घर का है? यह तो वीतराग सर्वज्ञ के घर का है।

मुमुक्षु : दोष डालना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दोष डालना है। आहाहा!

(**मुमुक्षु :** निराला है और सम्यक् है, ऐसा नहीं कहते।)

'कर्मपिंडकौ विलास वर्न रस गंध फास, करता दुहूँकौ पुद्गल परवानिये', देखो! जड़कर्म की क्रिया भी जड़ करे और रंग-गन्ध-रस-स्पर्श की शरीर की क्रिया भी जड़ करे। **दुहूँकौ करता पुद्गल है...** यह शरीर ऐसा चले, हिले, बोले, इन सबकी क्रिया करनेवाला पुद्गल है, आत्मा नहीं। पुद्गल वर्ण-रस-गन्ध (स्पर्श रूप है)। आहार छोड़ दिया, आहार ऐसा लिया। कौन ले? वह तो जड़ की क्रिया है। समझ में आया? इन दोनों ही का कर्ता—वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श की क्रिया का और कर्मबन्धन की क्रिया का, पुद्गल दोनों का कर्ता है। आत्मा दो का—शुद्ध-अशुद्धभाव का कर्ता और पुद्गल रंग-रस आदि क्रिया होती है, उसका कर्ता और कर्मबन्ध की क्रिया हो जड़ की, उसका भी कर्ता .... दो बात दोनों में कर दिया। समझे?

'तातै वरनादि गुन ग्यानावरनादि कर्म' दो। वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श की क्रिया जड़ की इस शरीर की और ज्ञानावरणादि की। **'नाना परकार पुदगलरूप जानिये'**, लो। यह तो सब पुद्गल की क्रिया है, आत्मा की बिल्कुल नहीं। अज्ञानभाव से भी नहीं। **'समल विमल परिनाम जे जे चेतनके, ते ते सब अलख पुरुष यौं बखानिये'**, लो। मलिन परिणाम करे मिथ्यात्व और राग-द्वेष का, तो भी अज्ञानी अपने में करता है, पर का तो कर्ता है (ही नहीं)। और निर्मल परिणाम करे तो अपने में करता है। स्वभाव का आश्रय लेकर निर्मल करे तो भी आत्मा (कर्ता) और स्वभाव का आश्रय छोड़कर राग-द्वेष को करे, वह भी आत्मा अज्ञानी (कर्ता)। वह समल-विमल के अतिरिक्त दूसरे किसी का कर्ता है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४२, फाल्गुन कृष्ण २, शनिवार, दिनांक १३-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद १३-१४

अज्ञान-तस्तु सतृणाभ्यवहार-कारी,
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षु-मधुराम्ल-रसातिगृद्ध्या,
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम्।।१२।।

इसका पद। यह कलश है, इसका पद। **भेदज्ञान का मर्म मिथ्यादृष्टि नहीं जानता।** आत्मा... राग से भिन्न आत्मा है, उसको अज्ञानी जानता नहीं, उस पर दृष्टान्त है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है आत्मा, सच्चिदानन्द सत् शाश्वत् ज्ञान-आनन्द का समुद्र है। और पुण्य-पाप के विकल्प जो उठते हैं, वह तो दु:खरूप राग विकार है। उसका भेद अज्ञानी नहीं जानते, दो का भेद नहीं जानते अनादि से। उस पर दृष्टान्त दिया गया है।

★ ★ ★

काव्य - १३

भेदज्ञान का मर्म मिथ्यादृष्टि नहीं जानता इस पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं गजराज नाज घासके गरास करि,
भच्छत सुभाय नहि भिन्न रस लीयौ है।
जैसैं मतवारौ नहि जानै सिखरनि स्वाद,
जुंगमें मगन कहै गऊ दूध पीयौ है।
तैसैं मिथ्यादृष्टी जीव ग्यानरूपी है सदीव,
पग्यौ पाप पुन्नसौं सहज सुन्न हीयौ है।
चेतन अचेतन दुहूंकौ मिश्र पिंड लखि,
एकमेक मानै न विवेक कछु कीयौ है।।१३।।

शब्दार्थ:-गजराज=हाथी। गरास (ग्रास)=कौर, कवल। सिखरनि (श्रीखण्ड)=

अत्यन्त गाढ़ा दही और मिश्री का मिश्रण। जुंग=सनक। सुन्न (शून्य)=विवेक रहित।

अर्थ:-जैसे हाथी अनाज और घास का मिला हुआ ग्रास खाता है, पर खाने ही का स्वभाव होने से जुदा-जुदा स्वाद नहीं लेता; अथवा जिस प्रकार मद्य से मतवाले को श्रीखण्ड खिलाया जावे, तो वह नशे में उसका स्वाद न पहिचानकर कहता है कि इसका स्वाद गौदुग्ध के समान है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि सदा ज्ञानमूर्ति है तो भी पुण्य-पाप में लीन होने के कारण उसका हृदय आत्मज्ञान से शून्य रहता है, इससे चेतन-अचेतन दोनों के मिले हुए पिण्ड को देखकर एक ही मानता है और कुछ विचार नहीं करता।

भावार्थ:-मिथ्यादृष्टि जीव स्व-पर विवेक के अभाव में पुद्गल के मिलाप से जीव को कर्म का कर्त्ता मानता है।।१३।।

काव्य-१३ पर प्रवचन

जैसैं गजराज नाज घासके गरास करि,
भच्छत सुभाय नहि भिन्न रस लीयौ है।
जैसैं मतवारौ नहि जानै सिखरनि स्वाद,
जुंगमें मगन कहै गऊ दूध पीयौ है॥
तैसैं मिथ्यादृष्टी जीव ग्यानरूपी है सदीव,
पग्यौ पाप पुन्नसौं सहज सुन्न हीयौ है।
चेतन अचेतन दुहूंकौ मिश्र पिंड लखि,
एकमेक मानै न विवेक कछु कीयौ है॥१३॥

सूक्ष्म बात है। अनादि काल से भगवान आत्मा (का) अपना शुद्ध स्वरूप है, वह तो आनन्द(स्वरूप) है। **जैसैं गजराज**—जैसे हाथी, **नाज...** अनाज और घास दोनों को **गरास करि**—कवल करके, कवल (ग्रास)। अनाज और घास दोनों को इकट्ठा कर खाता है। कौन? हाथी। दोनों को साथ में खा जाता है। अनाज और घास की भिन्नता नहीं जानता। उसमें अनाज लिया है परन्तु चूरमा देते हैं न यह राजा। लड्डू, चूरमा—

चूरमा। चूरमा का लड्डू करके दे तो घास के पड़खे में लपेट कर खाता है। लड्डू भिन्न है और घास भिन्न है, उसका भान नहीं। गजराज—हाथी होने पर भी भान नहीं। '**गजराज नाज घासके**' नाज अर्थात् अनाज, चूरमा आदि मिठास। '**घासके गरास करि**' ग्रास करके '**भच्छत सुभाय**' खाने का भाव हो गया, परन्तु क्या चीज़ है, उसका भान नहीं है।

'**भच्छत सुभाय नहि भिन्न रस लीयौ है**' हाथी ने, उस चूरमा का स्वाद भिन्न है और घास का स्वाद भिन्न है—उसका उसने भान नहीं किया। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बात है धर्म की। '**जैसे मतवारौ नहि जानै सिखरनि स्वाद**' मतवाला (जिसे) नशे का मद चढ़ गया हो, मदिरा पी हो, जिसने मदिरा पी हो, वह श्रीखण्ड खाने पर भी '**सिखरनि स्वाद**' वह जानता नहीं। मदिरा के नशे में '**सिखरनि**'—श्रीखण्ड खाने पर भी, नशे के जोर में सिखरनी का स्वाद खट्टा-मीठा है, उसको नहीं जानता। '**जुंगमें मगन कहै**' वह तो नशे में... नशा, समझ में आया? मदिरा पी मदिरा। मदिरा पीने के नशे में श्रीखण्ड का स्वाद भिन्न भासित नहीं होता।

वह तो उसको कहे '**गऊ दूध पीयौ है**'। मैं तो गाय का दूध पीता हूँ। समझ में आया? यह तो दृष्टान्त है। मदिरा के नशे में नशा चढ़कर सिखरनि के स्वाद को भिन्न जानता नहीं परन्तु नशे के जोर में उसको ऐसा दिखता है (कि) मैं गाय का दूध पीता हूँ। दो दृष्टान्त हुए। एक हाथी का और एक नशे का। हाथी को भी अनाज और घास—दो का स्वाद भिन्न दिखता नहीं। वह तो दो का एक स्वाद करके खाता है। अज्ञानी—नशावाला प्राणी श्रीखण्ड खाते हुए भी उसको 'दूध पीता हूँ' ऐसा दिखता है। यह दो दृष्टान्त हुए। अब सिद्धान्त।

'**तैसें मिथ्यादृष्टि जीव**' जिसकी दृष्टि विपरीत है, 'मैं ज्ञान, मैं आनन्द हूँ'—ऐसा जिसको भान नहीं। मैं तो ज्ञानस्वरूपी चैतन्य हूँ और पुण्य-पाप का विकल्प है, वह तो घास समान दुःखरूप जहर है। मिथ्यादृष्टि जीव... अपना आनन्दस्वरूप सत्स्वरूप चिदानन्दस्वरूप वह अपना आत्मा का स्वभाव है और पुण्य-पाप का विकल्प का रागस्वभाव आकुलता दुःखभाव है। '**ग्यानरूपी है सदीव**' आत्मा तो त्रिकाल ज्ञानानन्द

ज्ञानज्योति चैतन्यमूर्ति है। उसमें दु:ख है नहीं, आकुलता है नहीं—ऐसी चीज़ आत्मा है। परन्तु उस आत्मा को अनादि से अज्ञानी ने जाना नहीं तो '**पग्यौ पाप पुन्नसौं सहज सुन्न हीयौ है**' पुण्य और पाप के भाव—हिंसा-झूठ-चोरी-विषयभोग वासना, ऐसा पाप का भाव और दया-दान-पूजा-भक्ति-व्रत आदि पुण्य का भाव, ये दोनों ही घास समान है। डॉक्टर! समझ में आया?

भगवान आत्मा तो अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द मूर्ति है। सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का घर है आत्मा तो। परन्तु अज्ञानी उसको न जानकर, अनादि से पुण्य और पाप शुभ-अशुभ जो भाव, वह अपने हैं, (ऐसा) मानकर मिथ्यात्व के नशे में... जैसे वह मदिरा के नशे में श्रीखण्ड खाते हुए भी, दूध पीता हूँ—ऐसा भासित होता है और अनाज और घास खाते हुए भी यह दोनों एक हैं, ऐसा हाथी मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी, आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा और पुण्य-पाप के विकल्प का राग (भिन्न है, तो भी) वह राग अपना है (इस प्रकार) राग में पग्यो है। है न इसमें? देखो, **मिथ्यादृष्टि यद्यपि सदा ज्ञानमूर्ति है, तो भी पुण्य-पाप में लीन होने के कारण...** आहाहा! शुं—क्या कहते हैं? जरा सूक्ष्म बात है। अनादि से मिथ्यादृष्टि जीव चाहे तो साधु हुआ हो, बाह्य से त्यागी हुआ हो, परन्तु अन्तर में वह दया-दान-व्रत-भक्ति के जो विकल्प उठते हैं, वह राग है, वह दु:ख है, वह जहर है, वह अपना आत्मा का स्वभाव (नहीं)। समझ में आया?

'**पग्यौ पाप पुन्नसौं**' उसकी दृष्टि, अपना (आत्मा) आनन्द, ज्ञानस्वरूप है, उसके ऊपर तो है नहीं। तो शुभ-अशुभ जो विकल्प उठते हैं, पुण्य-पाप के भाव, उसके ऊपर पग्यो अर्थात् लीन है। तो अजीव के ऊपर लीन है, जीव के ऊपर लीन है नहीं। समझ में आया? शरीर, वाणी यहाँ लिये ही नहीं। पर लिया ही नहीं, क्योंकि पर का अनुभव तो है नहीं। '**पग्यौ पाप पुन्नसौं**' शुभ-अशुभभाव जो विकार है—अव्रत का भाव पापविकार है, व्रत का भाव पुण्यविकार है। ये दोनों ही विकार हैं, उसमें अज्ञानी लीन है। मेरी चीज़ उससे भिन्न है, उसका उसको भान नहीं। आहाहा! यह तो समझ में आये ऐसी बात है। इसमें कहीं बहुत (कठिन नहीं)। आनन्दस्वरूप भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है। ज्ञान का आनन्द है उसमें, उसका नाम जीव कहते हैं। उस

जीव की तो खबर नहीं। पाप का परिणाम करके लीन होकर '**सहज सुन्न हीयौ**'— उसका हृदय शून्य हो गया है। अपना आत्मा आनन्द (स्वरूप) है, उसका भान नहीं। आहाहा! समझ में आया?

'**पग्यौ पाप पुन्नसौं सहज सुन्न हीयौ है**' भगवान आत्मा अखण्ड आनन्दमूर्ति अनादि-अनन्त सचेतन आत्मा जागृतस्वभाव और आनन्द का पिण्ड आत्मा है। उसमें तो उसका हृदय अनादि से शून्य है। पुण्य-पाप से मैं हूँ और पुण्य-पाप की क्रिया मेरी है और पुण्य-पाप का स्वाद ही मेरा स्वाद है। कहो, पण्डितजी! आहाहा! सोगनमलजी! देखो, यह तो सीधी बात है। आत्मा ज्ञानानन्द सहजानन्दमूर्ति अनादि-अनन्त है। उसका जिसको भान नहीं और दृष्टि विपरीत है, तो नशे के जोर में जैसे श्रीखण्ड का स्वाद उसको आता नहीं, दूध पीता है, ऐसा दिखता है। इसी तरह अनादि (का) अज्ञानी चाहे तो त्यागी हुआ हो या भोगी हो, परन्तु अपना आत्मा ज्ञान और आनन्द मूर्ति है, मैं अनादि शान्त शाश्वत् वस्तु मैं हूँ—ऐसा आनन्द का स्वाद न लेकर, पुण्य-पाप के विकल्प का मिथ्या दृष्टि में स्वाद लेता है, उसका हृदय शून्य है। अपने स्वभाव से उसका हृदय खाली हो गया है।

मुमुक्षु : मुर्दा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुर्दा है। आहाहा! कहो, पण्डितजी! आहाहा!

आत्मज्ञान से शून्य रहता है... देखो। **पुण्य-पाप में लीन होने के कारण उसका हृदय आत्मज्ञान...** आत्मज्ञान... आत्मा तो ज्ञान और आनन्द है। आहाहा! यह क्रिया का जा जो पुण्य-पाप का भाव है शुभ-अशुभ, वह तो विकार है, वृत्ति है, राग है। हाथी जैसे चूरमा और घास दोनों एक मानता है, वैसे अज्ञानी अपने आनन्द को यह आत्मा और यह राग भी आत्मा—ऐसा एकत्व मानता है, आनन्द की खबर नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आत्मज्ञान बिना सुन्न हिया (हृदय) है उसका। चाहे तो व्रत पालता हो, तपस्या करता हो, भक्ति-पूजा आदि करता हो, समझ में आया? परन्तु वह सब भाव तो राग है। कर्ता-कर्म (अधिकार) है न यहाँ। तो राग की क्रिया का कर्ता होता है, वह अपने आनन्दस्वरूप के हृदय से शून्य है। दृष्टि मिथ्यात्व अज्ञान है। आहाहा! लोगों को

खबर नहीं और माने कि लो, यह हम व्रत करते हैं और तपस्या करते हैं और अपवास किया, आठ-आठ अपवास, महीने-महीने के... परन्तु तेरे अपवास क्या है (वह) सुन तो सही!

भगवान आत्मा राग से और शरीर से भिन्न है (और) आनन्दस्वरूप है, उसकी तो तुझे खबर नहीं। तो उस स्वभाव का अनादर करके, दया-दान-व्रत-भक्ति-तप का विकल्प जो उठता है, उसका आदर करके उसका स्वाद लेता है। वह श्रीखण्ड का स्वाद पीते (-लेते) हुए मानो यह मैं दूध पीता हूँ, ऐसा लगता है। आहाहा! भारी दृष्टान्त भाई! समझ में आया? शरीर, वाणी, वह तो जड़ है, उसका स्वाद तो आत्मा को है ही नहीं। वह तो जड़ है। आत्मा तो वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श रहित है। तो लड्डू, दाल, भात, सब्जी, स्त्री का शरीर, मकान—उसका तो अनुभव आत्मा को है नहीं, (क्योंकि) वह तो जड़ है। अनुभव क्या है अज्ञानी को अनादि से? कि अपना आत्मा ज्ञान और आनन्द (स्वरूप है), उसका उसको भान नहीं। तो यह शुभ-अशुभभाव में अपनापन मानकर 'यह क्रिया मेरी है और मैं उसका करनेवाला हूँ'—ऐसा मिथ्यादृष्टि आत्मज्ञान से शून्य है। आहाहा! समझ में आया? गजब भाषा! धर्म भाई ऐसा कैसा धर्म!

देखो, यह व्रत और अपवास-बपवास करे, यह विकल्प राग है, ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा तो राग से भिन्न है, वह तो ज्ञानमूर्ति ज्ञाता-दृष्टा है। ज्ञाता-दृष्टा का भान न होने से पुण्य-पाप की वृत्ति में उसकी दृष्टि लग गयी है। आहाहा! पुण्य-पाप का फल बाहर में (मिलता) है, वह तो बाह्य दूर (की) चीज़ हो गयी। परन्तु शुभ और अशुभभाव जो होता है, उसमें लीन होता है वह। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसकी खबर नहीं। आहाहा! गजब बात, भाई! तो धर्म नहीं करते क्योंकि आत्मा का ज्ञानस्वरूप है, उसका तो भान नहीं। तो पुण्य-पाप का भाव करते हैं, वह तो अधर्म है। आहाहा! और अधर्म का स्वाद लेते हैं। आत्मा आनन्दमूर्ति भगवान, ऐसा आत्मा का ज्ञान और आत्मा के आनन्द का आश्रय तो है नहीं। आहाहा! गजब बात, भाई!

देखो, यह जीव-अजीव का विभाजन। जीव जड़ का और राग का कर्ता नहीं, परन्तु (उसका) तो ज्ञाता-दृष्टा का स्वभाव है। वह तो चैतन्य आँख है, ऐसा भान होते ही जगत दृश्य है (और) मैं दृष्टा हूँ, जगत ज्ञेय है (और) मैं ज्ञाता हूँ। ऐसा न मानकर

जगत अर्थात् पुण्य और पाप के विकल्प से लेकर (सारी बाह्य चीज़) वह मेरी चीज़ है और मैं उसका करनेवाला हूँ, वह क्रिया मेरी है। कर्ता-कर्म-क्रिया (अधिकार) है न? ऊपर कर्ता-कर्म-क्रिया (लिखा है)। दया की क्रिया मैंने की, व्रत की क्रिया मैंने की, पुण्य की क्रिया मैंने की, शुभभाव किया, तपस्या की, महीने-महीने के अपवास किये। तो उसमें जो विकल्प उठ रहे हैं, वह राग की क्रिया है, वह आत्मा की क्रिया नहीं। समझ में आया? गजब धर्म ऐसा महँगा, कहते हैं, भाई! धर्म तो ऐसा ही है। दुनिया ने दूसरी रीति से माना, इसलिए कहीं चीज़ दूसरी हो जाये? (नहीं)। अनादि से अपनेपने में क्या चीज़ है और दूसरी चीज़ जो विभाव उत्पन्न होता है—उसका भेदज्ञान है नहीं। ऊपर लिखा है न, भेदज्ञान का मर्म। वह विकल्प की क्रिया से आत्मा भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान का मर्म अज्ञानी जानता नहीं। आहाहा! कहो, पोपटभाई! बहुत सूक्ष्म परन्तु भाई ऐसा!

जैसे वह गजराज और मतवाला—दोनों को भान नहीं; उसी प्रकार जिसकी दृष्टि पर्याय में है, पुण्य-पाप के परिणाम की क्रिया में है और वह क्रिया मेरी है, यह मानकर लीन होते हैं, तो पुण्य-पाप का कर्ता मैं और वह क्रिया मेरी—ऐसा मानकर आत्मा के स्वाद से मिथ्यादृष्टि शून्य हो गया है। आहाहा! गजब बात, भाई! महाव्रत पाले, पंच महाव्रत, वह विकल्प है—राग है। चेतनजी! यह राग है? यह महाव्रत पाले बेचारा (वह) रागभाव... कितने तो साधु महाव्रत पालते हैं, दया पालते हैं, और सच बोलते हैं और ब्रह्मचर्य पालते हैं। यह तो वृत्ति का उत्थान—राग है। यह राग विभाव है। विभाव के स्वाद में लीन होने से अपने आनन्द के स्वाद की उसको खबर नहीं, तो जीवतत्त्व की खबर नहीं, ऐसा कहते हैं। अपना आत्मा क्या चीज़ है, उसका ज्ञान नहीं। समझ में आया?

'सहज सुन्न चेतन अचेतन दुहूँकौ मिश्र पिंड लखि' देखो! जैसे वह हाथी घास और अनाज एक साथ (खाता है तो) एक मानता है, ऐसे अज्ञानी... चेतन तो ज्ञान और आनन्द (स्वरूप) है और पुण्य-पाप का विकल्प तो अचेतन है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। आहाहा! गजब बात, भाई! फिर यह कहे इसे एकान्त। परन्तु यह तो कहे... शुं—

क्या कहते हैं? देखो, इसमें क्या लिखा है? ऐई! एकान्त है, एकान्त है। परन्तु किसके घर में एकान्त, सुन न! आहाहा!

मुमुक्षु : जरा भी खबर नहीं, एकान्त किसे कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकान्त किसे कहे, भाई! वस्तु एकान्त—एक अन्त अर्थात् वह तो आनन्द के स्वभाववाली चीज़ है। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वभाववाला आत्मा है। तो ऐसी अन्तर में दृष्टि न करके, आत्मज्ञान के अभाव में पुण्य-पाप के विकल्प का ज्ञान करते हैं और 'यह क्रिया मेरी और मैं कर्ता हूँ' ऐसा मिथ्यादृष्टि मानता है। आहाहा! कहो, कान्तिभाई! बहुत कठिन यह तो!

महावीर भगवान ने, आचार्य कुन्दकुन्द ने महाव्रत पालन किये। ऐई पण्डितजी! २८ मूलगुण पालते हैं, वह मूलगुण है। वह तो असद्भूत व्यवहार का कथन है। अरे! कौन पाले, सुन न! आहाहा! ज्ञान का सागर भगवान, उसमें तो प्रज्ञा / ज्ञान भरी है। प्रज्ञाब्रह्म और अतीन्द्रिय आनन्द उसमें है, उसको आत्मा कहते हैं। तो ऐसे आत्मा के ज्ञान बिना... पुण्य-पापभाव में तो चैतन्य(पना) नहीं और पुण्य-पाप में आनन्द नहीं। पुण्य-पाप का भाव अचेतन है और दुःख है। आहाहा! यह अपवास करने का भाव दुःख है, ऐसा कहते हैं। क्या बराबर? यह उपधान कर-करके मर गये न अभी तक। ऐई भीखाभाई! उपधान करते थे डेढ़ महीने के। एक दिन खाना एक बार फिर दूसरे दिन नहीं और तीसरे दिन खाना एक बार और कचूमर निकल जाये क्रिया कर-करके भगवान के दर्शन, उठ-बैठ कर करके....

मुमुक्षु : सो खमासमणां।

पूज्य गुरुदेवश्री : सो खमासमणां। मजदूरी है। अरे! राग, राग। चिल्लाहट मचाये, हों! वह तो जड़ की क्रिया है उठ-बैठ की और अन्दर में कदाचित् राग की मन्दता हुई हो, वह तो पुण्य विभाव है और उसे अपना स्वभाव (मानकर) मैं धर्म करता हूँ, ऐसा मानता है। कठिन काम, भाई!

मुमुक्षु : भेदज्ञान की खबर नहीं पड़ती।

पूज्य गुरुदेवश्री : चेतनस्वरूप....

मुमुक्षु : इसमें आया न भेदज्ञान।

पूज्य गुरुदेवश्री : लिखा है न इसमें। भेदज्ञान का मर्म मिथ्यादृष्टि नहीं जानते। जैसे हाथी घास और अनाज (के भेद) को नहीं जानता; जैसे मदिरा पीनेवाला श्रीखण्ड के स्वाद को नहीं जानता; उसी प्रकार अज्ञानी (आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव को नहीं जानते)। आहा!

भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, वह जीव। उसका ज्ञान स्वसन्मुख होकर तो किया नहीं। फिर परसन्मुख में जो परलक्ष्य से दया-दान-व्रत-भक्ति-काम-क्रोध के विकल्प उठते हैं, वे अपने हैं, ऐसा मानते हैं और यह कार्य मेरा है, हमारा कर्तव्य है। पण्डितजी! भारी कठिन काम यह तो, कहते हैं। छह आवश्यक हैं न श्रावक के। श्रावक के छह आवश्यक हैं या नहीं?

मुमुक्षु : आवश्यक क्या....

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रावक को छह आवश्यक नहीं हैं?

मुमुक्षु : आवश्यक तो एक यह धर्म....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह श्रावक को... श्रावक को तो छह आवश्यक हैं, वह विकल्प और राग है, ऐसा कहना है यहाँ। यह आवश्यक नहीं। निश्चय आवश्यक में तो राग की क्रिया से भिन्न मेरी चीज़ है, ऐसी दृष्टि, ज्ञान और रमणता करना, वह आवश्यक है।

जैसे '**णियमेण च जं कज्जं**' नियमसार में आया था न? यह तो समयसार (नाटक) है। नियमसार में आया था तीसरी गाथा में। '**णियमेण च जं कज्जं**' नियम से करनेयोग्य है, वह तो पुण्य और पाप के विकार से भिन्न अपनी चीज़ शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन है, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणता निश्चय करना, वह ही नियम से कर्तव्य है। परन्तु ऐसा भान होने के पश्चात् भी छह आवश्यक की क्रिया का विकल्प आता है, उसका ज्ञान कराया है। समझ में आया? .... छह आवश्यक अपना कर्तव्य है और वही आवश्यक क्रिया है। यहाँ तो कहते हैं कि शुभभाव में वश हो गया है, वह अनावश्यक है। वह आवश्यक है ही नहीं। समझ में आया? यह किसके साथ मिलान होता है, कहा।

अगरचन्दजी ने खूब डाला है। देखा है। सबका पता लिया है। लालबहादुर और भाई कैलाशचन्दजी और....

मुमुक्षु : परन्तु उसे स्वयं का पता कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं तो होशियार है सबमें और दिगम्बर के लिये भी लिया कि दिगम्बर लोगों ने नग्नपने के आग्रह के कारण आगमों को मान्य नहीं रखा। अरे! परन्तु वह आगम ही नहीं। जिसमें वस्त्रसहित मुनिपना मानते हों या लिखा हो, वह आगम नहीं।

मुमुक्षु : एक समय में केवलज्ञान, दूसरे समय में केवलदर्शन, इस प्रकार से आगम हो कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्या ऐसे आगम होते हैं? समझ में आया?

मुमुक्षु : उल्टे-सीधे....

पूज्य गुरुदेवश्री : उस पण्डित को देखा तुमने? श्वेताम्बर का है। अगरचन्द नाहटा। बड़ा पण्डित है। वहाँ बनारस में आया था। फूंकता था कुछ का कुछ। कैलाशचन्दजी, फूलचन्दजी सब थे। कुछ खबर नहीं होती। अरे भगवान!

बापू! जो अन्तर में राग और पुण्य दया-दान के विकल्प को भी जो दु:ख मानते हैं। कौन मान सके? जिसे अपना आनन्दस्वरूप चैतन्य का भान हुआ, वह। उस आनन्द के साथ मिलाते हैं तो राग आत्मा का नहीं, (ऐसा ज्ञान होता है)। आत्मा शान्त अनाकुल आनन्दस्वरूप है, उसका भान हुआ, तो उसके साथ में जब मिलान करते हैं (तो) राग उत्पन्न होता है (वह) दु:ख है, ऐसा भासित होता है। अज्ञानी को तो भास है नहीं। आहाहा! समझ में आया? '**चेतन अचेतन दुहूँकौ मिश्र पिंड लखि**' दोनों को मिश्र (मानता है कि) एक हैं (दोनों)। राग की क्रिया और आत्मा दोनों एक हैं, ऐसा अज्ञानी मानते हैं। आहाहा! '**मिश्र पिंड लखि, एकमेक मानै न विवेक कछु कीयौ है**' दोनों को एक मानते हैं। आहाहा! देखो न, पाठ में है, ऐसा पद बनाया है। पाठ है वह भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के श्लोक में से टीका और उसमें से कलश बनाये हैं (उसके आधार से

बनाया है)। आहाहा! न्याय समझे नहीं और ऐसे अनेकान्त... अनेकान्त... अनेकान्त... अनेकान्त क्या अनेकान्त?

मुमुक्षु : कपड़ा रखे तो भी और न रखे तो भी।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस ऐसा।

'**स्वयं वरो वासे**' आता है न। गाथा है उसमें। श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो—सब समभाव रखे, मुक्ति प्राप्त करे। आता है न? है न। ... उसमें श्लोक है। सब झूठ बात है। यहाँ तो जहाँ आत्मा का भान हुआ, राग से भिन्न मेरी चीज़ है, ऐसा आत्मा का स्वाद आया और पश्चात् उग्र स्वाद अन्तर में आया चारित्र का, तो वस्त्र लेने का विकल्प उसको होता ही नहीं, ऐसी वस्तु की मर्यादा है। समझ में आया? गजब...! अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये सब अनेकान्त ठहराओ, अनेकान्त ठहराओ। माँ, वह पत्नी भी कहलाये और माँ, वह माता भी कहलाये, ऐसा होगा? ऐसा अनेकान्त होगा? आहाहा! मार्ग ऐसा है कि अभी साधारण प्राणी को बहुत कठिन (लगता है)।

'**एकमेक मानै न विवेक कछु कीयौ है**' देखो! भगवान आनन्दस्वरूप का राग से पृथक् होकर ज्ञान किया नहीं। लेश (भी) भिन्न भाव की खबर नहीं। और पुण्य-पाप के परिणाम को अपना मानकर, उसका स्वाद लेकर चैतन्य को भूल गया है। भगवान आत्मा का विस्मरण हो गया है। समझ में आया? उसको चेतन—अचेतन की भिन्नता की खबर नहीं। लो, यहाँ कहते हैं पण्डितजी! व्रत पालते होने पर भी, व्रत का विकल्प है, वह मेरा कर्तव्य है—ऐसा माननेवाला जड़ है, मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : दिगम्बर शास्त्र में ऐसा लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिगम्बर क्या, न्याय से सुनो। न्याय नहीं समझ में आता है? कि आत्मा जो है, वह रागरूप है? दिगम्बर शास्त्र और फलाना शास्त्र एक ओर रखो। जो राग निकल जाता है, वह आत्मा की चीज़ है?

मुमुक्षु : जी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प है सिद्ध में? (नहीं)। तो विकल्प राग है। राग ही निकल गया। वीतरागता निकल जाती है? समझ में आया?

विकल्प उठते हैं—वृत्ति उठती है, महाव्रत (के) चाहे जो हो। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा की भक्ति का बहुमान (या) चाहे जो वृत्ति उठती हो, वृत्ति है वह राग है, दु:ख है। परन्तु उस दु:ख का मिलान (-ज्ञान) किसको होता है? जिसके आत्मा आनन्दस्वरूप का भान हुआ तो आनन्द के साथ मिलान करके (जाना कि राग) दु:ख है। परन्तु अज्ञानी को तो आनन्द का भान नहीं, चेतन-अचेतन दो (को) एक मानते हैं। राग और आत्मा दोनों (एक माने)। राग अचेतन है और भगवान चेतन है। आहाहा!

मुमुक्षु : दोनों को एक माना।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों को एक माना। आहाहा! गजब बात, भाई! एक **पिण्ड को देखकर एक ही मानता है और कुछ विचार नहीं करता।** देखो, कोई विचार ही नहीं है। अन्ध-अन्धा अनादि से है। ऐ भीखाभाई!

भावार्थ :- मिथ्यादृष्टि जीव स्व-पर विवेक के अभाव में... भावार्थ है न? मिथ्या अर्थात् झूठी दृष्टिवाला, सत्यदृष्टि का खून करनेवाला... मिथ्यादृष्टि अर्थात् झूठी पाखण्ड दृष्टिवाला जीव स्व-पर के विवेक के अभाव में 'मैं ज्ञान हूँ, जाननेवाला प्रज्ञाब्रह्म हूँ और रागादि दु:खरूप विकल्प है' (ऐसा) दोनों का विवेक अर्थात् भिन्नता के अभाव में पुद्गल के मिलाप से जीव को... पुद्गल अर्थात् रागादि के मिलाप से जीव को कर्म का कर्ता मानता है। यह कर्म की क्रिया मेरी है और राग की क्रिया मेरी है, ऐसा अज्ञानी मानते हैं। आहाहा! समझ में आया?

अब दूसरा श्लोक। तेरहवाँ श्लोक, १३। **जीव को कर्म का कर्ता मानना मिथ्यात्व है।** नीचे श्लोक है १३।

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा,
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्प-चक्र-करणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्,
शुद्ध-ज्ञानमया अपि स्वय-ममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः।।१३।।

इसमें शब्द उसमें से लिये हुए हैं। उसमें ऐसा हो गया है? '**कर्त्रीभवन्ती**' में जरा.... ....शब्द।

मुमुक्षु : इसमें बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : '**कर्त्रीभवन्ती**' इसमें यह डाला है। '**आकुला**'—हठ करके कर्ता होता है, ऐसा कहते हैं। ज्ञानस्वरूप भगवानबिम्ब, (ऐसा) भान नहीं और बलात्कार से पुण्य-पाप के विकल्प का कर्ता होता है, वह मूढ़ है। आहाहा! उसमें नहीं और मानता है जोर से—उल्टे जोर से, (वह) मिथ्यात्व है, कहते हैं। उसका पद्य। (श्लोक) १३वाँ का १४वाँ पद।

★ ★ ★

काव्य - १४

जीव को कर्म का कर्ता मानना मिथ्यात्व है इस पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं महा धूपकी तपतिमैं तिसायौ मृग,
भरमसौं मिथ्याजल पीवनकौं धायौ है।
जैसैं अंधकार मांहि जेवरी निरखी नर,
भरमसौं डरपि सरप मानि आयौ है।।
अपनैं सुभाव जैसैं सागर सुथिर सदा,
पवन-संजोगसौं उछरि अकुलायौ है।
तैसैं जीव जड़सौं अव्यापक सहज रूप,
भरमसौं करमकौ करता कहायौ है।।१४।।

शब्दार्थ:-तपति=गर्मी। तिसायौ=प्यासा। मिथ्याजल=मृगजल[१]। जेवरी=रस्सी। सरप (सर्प)=सांप। सागर=समुद्र। थिर=स्थिर। अव्यापक=भिन्न। भरम=भूल।

---

१. निर्जल देश में रेत पर गिरि हुई सूर्य की किरणों में पानी का भ्रम।

अर्थ:-जिस प्रकार अत्यन्त तेज धूप में प्यास का सताया हुआ हिरण भूल से मृगजल पीने को दौड़ता है, अथवा जैसे कोई मनुष्य अन्धेरे में रस्सी को देख उसे सर्प जान भयभीत होकर भागता है, और जिस प्रकार समुद्र अपने स्वभाव से सदैव स्थिर है तथापि हवा के झकोरों से लहराता है; उसी प्रकार जीव स्वभावत: जड़ पदार्थों से भिन्न है, परन्तु मिथ्यात्वी जीव भूल से अपने को कर्म का कर्ता मानता है।।१४।।

काव्य-१४ पर प्रवचन

जैसैं महा धूपकी तपतिमैं तिसायौ मृग,
भरमसौं मिथ्याजल पीवनकौं धायौ है।
जैसैं अंधकार मांहि जेवरी निरखी नर,
भरमसौं डरपि सरप मानि आयौ है॥
अपनैं सुभाव जैसैं सागर सुथिर सदा,
पवन-संजोगसौं उछरि अकुलायौ है।
तैसैं जीव जड़सौं अव्यापक सहज रूप,
भरमसौं करमकौ करता कहायौ है॥१४॥

भगवान आत्मा! '**महा धूपकी तपतिमैं तिसायौ मृग**' दृष्टान्त देते हैं। मृगजल (वह) जल है नहीं। रेतीली जमीन में सूर्य की किरण का निमित्त पाकर वहाँ जल के जैसी झाँईं दिखती है, जल है नहीं। रेतीली जमीन हो और सूर्य की किरण पड़े, मृग देखे (और माने कि) जल है, जल है, '**धूपकी तपतिमैं तिसायौ मृग**' तृषा लगती हो तो वह मानो कि जल वहाँ है। तो '**भरमसौं मिथ्याजल पीवनकौं धायौ**' अज्ञानरूप से जहाँ जल नहीं, वहाँ जल पीने को दौड़ा। आया न, भाई में आया है न!

मुमुक्षु : रमेशभाई में।

पूज्य गुरुदेवश्री : रमेशभाई में। रमेशभाई का। 'दोडी हांफी झांझवाना जलने काज, अरेरे! अेने साचा वारि ते केम मळे?' यह पन्ना दिया है न। यहाँ है न अपने उसमें। कहीं होगा उसमें। यह दृष्टान्त दिया था न, उसमें से उतारा, देखो।

'सरोवर कांठे रे मृगलां तरस्यां रे लोल
दोडे हांफी झांझवा जलनी काज
अरेरे! साचा वारि अेने ना मळे रे लोल।' (वारि अर्थात् पानी)
'सरोवर कांठे रे मृगलां तरस्यां रे लोल।'

चैतन्य सरोवर में अन्दर में आनन्द जल भरा है, परन्तु मृग सरावेर के निकट न जाकर, मृग, मृगजल के लिये हाँफकर दौड़ता है। 'दोडे हांफी झांझवा जलनी काज, अरेरे! साचा वारि अेने ना मळे, अेम मनना मृगलांने पाछां वाळजो रे लोल, जोडी ध्यो आतमसरोवर आज।' आत्मा में आनन्द और ज्ञान भरा है, (उस) सरोवर में तेरी दृष्टि दे। आहाहा! वहाँ तुझे आनन्द का स्वाद आकर तेरी पिपासा—तृषा बुझेगी। समझ में आया? अधिकता का है यह? डॉक्टर को दो। गढडा के हैं गढडा के। बहुत रसवाले हैं। देखो! समझ में आया? क्या कहते हैं?

'जैसैं महा धूपकी तपतिमैं' धूप लगी और प्यासा हुआ यह मृग। **'तिसायौ मृग'** तृषा हुई उस मृग को.... **'भरमसौं' 'मिथ्याजल पीवनकौं धायौ'** रेतीली जमीन में शीत नहीं, जल नहीं—पानी नहीं, वहाँ दौड़ा। **'जैसैं अंधकार मांहि जेवरी निरखि नर'** अन्धकार में डोरी—डोरी—जेवरी उसको सर्प देखकर भागा, (वहाँ) सर्प है नहीं। दौडत आया, देखो! **'जैसैं अंधकार मांहि जेवरी निरखि नर, भरमसौं डरपि सरप मानि आयौ है'** दो दृष्टान्त है। तीसरा (दृष्टान्त)। **'अपने सुभाव जैसैं सागर सुथिर सदा'** सागर—समुद्र तो अपने स्वभाव से स्थिर है। **'पवन संजोगसौं उछरि अकुलायौ है'** पवन के निमित्त में आकर डाँवाडोल—डोलमडोल... समुद्र स्थिर होने पर भी डोलमडोल होता है।

'तैसैं जीव जड़सौ अव्यापक सहज रूप' वैसे भगवान चैतन्यमूर्ति अतीन्द्रिय आनन्द का धाम, वह जड़ अर्थात् राग से भिन्न है। अव्यापक अर्थात् राग और पुण्य की क्रिया से भिन्न है। आहाहा! कितनी धीरज चाहिए आत्मा में प्रवेश करने की! समझ में आया? **'तैसैं जीव जड़सौ अव्यापक सहज रूप'** पुण्य और पाप के राग अर्थात् विकल्प से भगवान आत्मा तो भिन्न है। तो भी राग को देखकर 'यह अपना है और (मैं) राग का कर्ता और यह क्रिया मेरी है—ऐसा मानकर मिथ्यादृष्टि अपने आत्मा के आनन्द का

पीना छोड़ देता है और राग का पीना करता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? जिसे पापपरिणाम है—हिंसा-झूठ-चोरी-विषयभोग वासना—उसमें जिसको मिठास लगती है, वह मूढ़ जीव है—ऐसा कहते हैं। उसको जीव की श्रद्धा नहीं। समझ में आया?

पुण्य-पाप दोनों लिये हैं न ऊपर—ऊपर में! तो पाप का परिणाम जो है हिंसा का-झूठ का-चोरी का-भोग का-विषय का-वासना का—उसमें जिसको रुचि लगी है, वह दुःख की रुचि है। आहाहा! आत्मा आनन्दमूर्ति की रुचि उसको नहीं है। कठिन बात! सुनने को मिले नहीं उसे, फिर यह लगे लोगों को ऐसा, हों! यह .... सोनगढ़वाले तो ऐसा उलझाते हैं। भगवान की भक्ति का राग, कहते हैं, दुःख है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! परन्तु उसमें लीन होने के कारण अपने आत्मा को जानते (नहीं)। आहाहा! आता है, वह दूसरी बात है और उसमें लीन होना, यह दूसरी बात है।

कहते हैं कि जैसे तृषा बुझाने के लिये मृग दौड़ता है हाँफते-हाँफते हाँफकर, वैसे अज्ञानी जोर-शोर से पुण्य और पाप के परिणाम में कर्ता होकर उसमें चिपट गया है। अरे! गजब बात, भाई! राग... अनेकान्त करो भाई, लो, कहते हैं। राग से भी धर्म होता है और शुभ से भी होता है और आत्मा से (भी होता है)। अरे भगवान! अनेकान्त किसे कहते हैं, भाई! राग से भिन्न होकर अपने आनन्द से धर्म होता है और राग से नहीं होता है, इसका नाम अनेकान्त है। शुभ से न हो (और) अपने से हो तो निश्चय एकान्त हो जाता है। भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

भगवान! तेरी चीज़ की तुझे खबर नहीं। भाई! तुझमें तो आनन्द का स्वाद आता है, ऐसी चीज़ तेरी है। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद, वह तेरी चीज़ है। ऐसी चीज़ का पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न होकर अपना स्वाद तो लिया नहीं, अपना भान किया नहीं और पुण्य-पाप की रेतीली जमीन में, जैसे प्यासे बुझाने को मृग दौड़ता है, वैसे दौड़ता है प्रभु। तुझे वहाँ तृप्ति नहीं होगी। आहाहा! गजब बात, भाई! देखो न, कितना (ऊँचा) पद लिखा है। आहाहा! शान्ति की बात है, भाई! ऐसे कुदमकुदा और वादविवाद करे और यह..., यह वस्तु ऐसी नहीं है, भाई! इस मिथ्यादृष्टिवन्त को तो....

इसी प्रकार आत्मा आनन्दस्वरूप चैतन्य ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा को न जानकर

यह दया-दान विकल्प में तृषा तोड़ने को—धर्म करने को जाता है, वह मृगजल पीता है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : पालीताणा जाये, वर्षीतप करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्षीतप करे, वह सब अज्ञान है। ऐई चेतनजी! चेतनजी का तो गाँव है पालीताणा। वैशाख शुक्ल तीज को बहुत लोग आते हैं आठ सौ-आठ सौ, हजार-हजार। और वे सब अपवास करे और बाँटे। क्या कहलाता है वह सब?

मुमुक्षु : प्रभावना, भेंट।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभावना—भेंट एक-एक को पाँच सौ-पाँच सौ की। बेचारे गरीब व्यक्ति हो, उसे तो बारह महीने का भोजन आ जाये।

मुमुक्षु : कितना अधिक लाभ हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी लाभ नहीं, भगवान! आहाहा!

उसमें राग की मन्दता की हो तो भी पुण्य है, (संयोग) मिलने की आशा से किया हो तो पाप है।

मुमुक्षु : धर्म कैसे हो पहले?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य के विकल्प से भिन्न भगवान आनन्दस्वरूप है, ऐसी दृष्टि करके अनुभव करना, यह धर्म है। इस धर्म की तो खबर नहीं। कठिन लगे, हों! वैशाख शुक्ल तीज को वहाँ चलता हो और यह जो कहा हो ऐसा। मारो, मारो, कहे। यह कहाँ ऐसा धर्म? भगवान! धर्म तो ऐसा है, प्रभु! ठगा जाते हो, भाई! उस राग की क्रिया के बहाने आत्मा खो बैठे हो तुम। आहाहा! आया था न अभी। ७२ गाथा का रखा है न, भाई ने! जैसे पीपर में लाख है। पीपर-पीपर के वृक्ष (पर) लाख है, वह पीपर को खो है। उसमें पीपर का नाश होता है। वैसे आत्मा में पुण्य-पाप का भाव है, वह आत्मा की शान्ति का नाश करनेवाला है। आहाहा! कठिन बात कही है। ऐई जेठाभाई! पीपर, पीपर का वृक्ष। लाख होती है न लाख। आहाहा!

कहा था न एकबार? बहुत वर्ष (पहले) की बात है (संवत्) १९६६-६७ की।

यहाँ पीपर थी। यह भावनगर। नहीं गुजरी के सामने? पूरा पीपर का वृक्ष था। ६६-६७ की बात है, संवत् १९६६। एकबार मैं पालीताणा से यहाँ आया हुआ था। मैंने कहा, भाई! इतने सब वृक्ष कहाँ गये? कहा। पीपर (के वृक्ष) सब थे न उस गुजरी के ऐसे बीच में। कहे, वह तो लाख आयी थी, समाप्त हो गये। पीपर के वृक्ष सब सूख गये लाख के कारण। यह दृष्टान्त भगवान कुन्दकुन्द आचार्य ने दिया है। जैसे वह लाख आयी और, पीपर का खो हो गया। उसे नहीं पूछना कि खो क्या? पीपर का खो। वह 'लाख के कारण' शब्द नहीं पकड़ा। बराबर पकड़ में नहीं आया। समझ में आया?

इसी प्रकार भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान की मूर्ति अनादि-अनन्त ध्रुव चैतन्यवृक्ष पड़ा है। उसमें बहिर्वृत्ति हो, बहिर्लक्ष्य से वृत्ति जो दया-दान-व्रत आदि उत्पन्न होते हैं, वह लाख है। आत्मा की शान्ति का ह्रास करनेवाला है। कहो, समझ में आया? ऐसी बात है, भाई! तेरी चीज़ की महत्ता—माहात्म्य न आवे और बाहर का माहात्म्य ग्रहण किया, गया अपना आत्मा शून्य हो गया। भरे बर्तन में खाना आया नहीं उसे, कहते हैं। काठियावाड़ में कहे न! जूठन चाटने जाये। घर में पद्मिनी जैसी स्त्री हो, उसे छोड़कर कोई बावण या कोई वाघरण के घर में जाये तो उसके पिताजी कहे, 'अरे! खानदान की पुत्री घर में और तू भरे बर्तन (छोड़कर) जूठन चाटने जाता है, भाई! यह तुझे शोभा नहीं देता, हों!' ऐसा कहे। समझ में आया?

इसी प्रकार भगवान (धर्म) पिताजी ऐसा कहते हैं, लो! 'कि तुझमें अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है, प्रभु! यह आनन्द का स्वाद छोड़कर पुण्य-पाप का स्वाद लेने जाता है, भरा बर्तन भगवान आनन्द से भरा, उसका अनादर करता है।' बराबर है? ऐसा धर्म कठोर कहलाये यह तो। कठोर कहो या हल्का कहो, जो है यह है। तेरी चीज़ अतीन्द्रिय आनन्द से भरी है, यह चैतन्य। इस चैतन्य की दृष्टि न करके, आत्मा में—मुझमें आनन्द है, ऐसा न मानकर पुण्य के परिणाम में आनन्द मानता है, व्यभिचारी जीव है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! कहो, यह सब महाव्रत पालनेवाले के सब क्या है—क्या है?

मुमुक्षु : भटकने में पहला नम्बर।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यादृष्टि में—पाप में पहला नम्बर रखना उसे, पाठ में ऐसा कहा है। अरे भगवान!

अरे बापू! उसे दु:ख होता है अभी वह हों और पश्चात् भी दु:ख में वह जायेगा। भाई! तेरी दया तुझे नहीं आती। तेरी दया—तेरी दया तुझे नहीं, भाई! तुझे कठिन लगे। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञानस्वरूप... अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द, उस स्वरूप से भगवान आत्मा तो है। उसको छोड़कर पुण्य-पाप के परिणाम में, जैसे धूप में मृग प्यासा दौड़कर हाँफता है, वैसे राग की क्रिया में 'दौडत दौडत दौड्यो, जैसी मान की दौड़, प्रेम प्रतीत विचारो, ढूंकडी गुरु गम लेजो जोड।' आनन्दघनजी का पद है आनन्दघनजी। उसे भूत जैसा कहे यह लोग सब...। वे अधिक लोग और परिवारवाले और ऐसा सब ठाठबाठ दिखाई दे न! अरे! धूल में बाहर के ठाठ में कहाँ आत्मा था? पचास-पचास, सौ-सौ साधु हो, ऐसे बराबर ऐसा बोल जाने, संस्कृत और व्याकरण जाने। अब उसमें कहाँ ऐसी धूल में? उसमें आत्मा कहाँ था?

मुमुक्षु : परिवार, वह परिवार का; आत्मा का घर नहीं दिखा।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

यह ठाणंगजी में छठवें ठाणे में ऐसा पाठ है। ठाणंगजी संस्कृत में। पश्चात् गायन बनाया यशोविजय ने। ऐसा पाठ है संस्कृत में। ज्यम ज्यम बहु सुहो... ऐसा पाठ है। 'जैसे-जैसे बहुत सुत बहुजन संमत बहु शिष्ये तरवरीयो। त्यों-त्यों जैनशासन का रे वेरी, त्यों-त्यों जिनशासन का रे वैरी, जो नौ निश्चय दरियो रे जिनजी...' जिसे राग और पुण्य के विकल्प से आत्मा भिन्न है, ऐसा भान नहीं, वह जैनशासन का वैरी है। अधिक शिष्य और अधिक परिवार और बहुत पठन और बहुतों को समझाने में खड़ा रहे, जैनशासन का वैरी है, कहते हैं। क्योंकि जैनशासन तो वीतरागभाव है। वीतरागभाव तो आत्मा के आश्रय से प्रगट होता है। ऐसी खबर नहीं और राग की क्रिया से उत्पन्न हो, (ऐसा माने) और उसकी बात में ऐसी प्ररूपणा करे, ऐसा शिष्य लाखों इकट्ठे करे, त्यों-त्यों जैनशासन का वैरी। आहाहा! वीतरागभाव का वैरी—दुश्मन है, कहते हैं। समझ में आया? गले उतारना भारी कठिन! राग की क्रिया से पार भगवान निष्क्रिय है राग की अपेक्षा से। अपनी शुद्ध परिणति करनेवाला है और अशुद्ध जो राग है, उस क्रिया से तो भिन्न है। आहाहा! क्योंकि राग, वह तो आस्रवतत्त्व है; कर्म, शरीर अजीवतत्त्व है। उस तत्त्व का कर्ता होता है लीन होकर, तो मूढ़ है।

'**अंधकार मांहि जेवरी**' लो! डोरी-डोरी पड़ी हो अन्धेरे में, भान नहीं होता। डोरी के ऊपर अन्धकार छाया है। ऐसे बल खाया हुआ दिखाई दे बल (मोड़े)। **जेवरी**—रस्सी। '**जेवरी**' लिखा है न! '**जेवरी निरखि नर**' देखो, जेवरी का अर्थ है रस्सी। सर्प देखकर (-समझकर) भागे। इसी प्रकार भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति को डर लगता है, उसको अन्दर में (कि) पुण्य-पाप मेरी चीज़ है, मेरी चीज़ है। जैसे डोरी में—रस्सी में सर्प मानते हैं। आहाहा! और सागर—समुद्र स्थिर... स्थिर... स्थिर है। पवन के निमित्त से डोलमडोल-डोलमडोल होता है। और उस पर्याय का कर्ता होता है। आहाहा! वैसे भगवान आत्मा ज्ञानसरोवर—ज्ञानसागर ज्ञान से भरा चैतन्यमूर्ति अतीन्द्रिय ज्ञानमय है। उसको छोड़कर पुण्य और पाप के संयोग में डाँवाडोल हो गया है। आहाहा! अपूर्व बात है, भाई! अनन्त काल में नहीं की, वह बात है।

'**पवन संजोगसौं उछरि अकुलायौ है, तैसैं जीव जडसौं अव्यापक सहज रूप**' भगवान चैतन्यस्वरूप पुण्य-पाप के विकल्प और कर्म से तो अव्यापक अर्थात् भिन्न है। '**भरमसौं करमकौ करता कहायौ है**' भ्रमणा—अज्ञान की भ्रमणा के कारण जड़कर्म मैंने किया, राग मैंने किया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! गजब बात, भाई! अव्यापक का अर्थ किया है अन्दर 'भिन्न'। भूल—अपनी भूल से, देखो! कर्म को करता है। जड़ कर्म का जोर है तो भ्रम होता है, ऐसा नहीं लिखा। तुम्हारे तो ऐसा कहते थे कि कर्म निमित्त है तो उससे विकार होता है, उससे आत्मा रुलता है।

मुमुक्षु : कर्म....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। भाई ने कल कहा था .... न। कहीं उसका परिचय हो (और) ऐसा कहे कि नहीं, (जड़) कर्म से विकार नहीं, भाव(कर्म) अपने से होता है। ओ... (यह तो) सोनगढ़ से है। अरे भगवान! यह तो सोनगढ़ से था।

अरे भाई! तेरी भूल तूने की है। वह भूल कोई कर्म कराता है? वह कर्म तो जड़ है। 'कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई, अग्नि सहै घनघात लोह की संगति पाई।' अग्नि अकेली भिन्न हो (तो) उसको घन नहीं पड़ते। लोहे (के संग) में जाये तो घन पड़ते हैं। उसी प्रकार आत्मा कर्म के निमित्त के संग में जाकर पुण्य-पाप करे तो अपराध

करे। यह अपराध तो जीव अपने से करता है। अज्ञानभाव में अपराध का कर्ता भ्रमणा से होता है।

भान हुआ कि मैं तो राग भी नहीं, शरीर भी नहीं, कर्म भी नहीं। मेरी सत्ता में—मेरे अस्तित्व में—मेरी मौजूदगी में तो ज्ञान और आनन्द मेरी अस्ति है। यह मेरी मौजूदगी है। राग और पुण्य का विकल्प, वह मेरी मौजूदगी में है नहीं। ऐसा भान (जिसे) नहीं तो कर्म का कर्ता मानते हैं। आहाहा! भ्रमणा से मानते हैं। समझ में आया? दो गाथा में तो बहुत... बहुत... दृष्टान्त भी अच्छे, सादा। परन्तु यह बात इसे कैसे बैठे? प्रत्यक्ष दिखता है न, और ऐसा कहे कितने ही। यह प्रत्यक्ष दिखता है न, अच्छा करता है न। परन्तु अच्छा किसको कहना? यह सुकृत करते हैं। दुकान का धन्धा छोड़कर ऐसे व्रत पालते हैं, तपस्या करते हैं, अपवास करते हैं (यह) सुकृत नहीं? धूल भी नहीं, सुन तो सही!

मुमुक्षु : अहिंसा....

पूज्य गुरुदेवश्री : अहिंसा पालते हैं। पर की दया अहिंसा, वह तो विकल्प है, राग है, वह अहिंसा ही कहाँ है? वास्तव में तो, पर की दया(रूप) अहिंसा मैं पाल सकता हूँ, वह राग है और राग, वह तो अपने (आत्मा) की हिंसा है। राग में अपने स्वरूप की हिंसा होती है। भारी अन्तर! राग का कर्ता होकर अपने को—चैतन्य को भूल जाता है। 'ज्ञानानन्द मैं हूँ, यह स्वभाव मेरा है। मैं तो चैतन्य हूँ। उस अस्तित्व में तो पुण्य-पाप का भाव है नहीं।' ऐसे भिन्न (के) भान बिना, अपनी चीज़ में नहीं, ऐसे भाव का कर्ता अज्ञानी होता है। तो जीव को खो बैठा। भेद पाड़कर अपने आत्मा का ज्ञान करना और अपने में आनन्द का स्वाद लेना, उसका नाम धर्म और आत्मा है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४३, फाल्गुन कृष्ण ३, रविवार, दिनांक १४-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद १५-१६

नाटक समयसार। कर्ता-कर्म-क्रिया (द्वार) अधिकार चलता है। १४वाँ कलश है। १४, पृष्ठ ७८।

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो,
जानाति हन्स इव वा:पयसोर्विशेषम्।
चैतन्य-धातु-मचलं स सदाधिरूढो,
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि।।१४।।

इसका १५वाँ पद। **भेदविज्ञानी जीव कर्म का कर्ता नहीं है।**

★ ★ ★

काव्य - १५

भेदविज्ञानी जीव कर्म का कर्ता नहीं है, मात्र दर्शक है। (सवैया इकतीसा)

जैसैं राजहंसके बदनके सपरसत,
देखिये प्रगट न्यारौ छीर न्यारौ नीर है।
तैसैं समकितीकी सुदृष्टिमैं सहज रूप,
न्यारौ जीव न्यारौ कर्म न्यारौ ही सरीर है।।
जब सुद्ध चेतनकौ अनुभौ अभ्यासै तब,
भासै आपु अचल न दूजौ और सीर है।
पूरव करम उदै आइके दिखाई देइ,
करता न होय तिन्हकौ तमासगीर है।।१५।।

शब्दार्थ:-बदन=मुख। सपरसत (स्पर्शत)=छूने से। छीर (क्षीर)=दूध। नीर=पानी। भासै=दिखता है। सीर=साथी। तमासगीर=दर्शक।

अर्थ:-जिस प्रकार हंस के मुख का स्पर्श होने से दूध और पानी पृथक् पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवों को सुदृष्टि में स्वभावत: जीव, कर्म और शरीर भिन्न-भिन्न भासते हैं। जब शुद्ध चैतन्य के अनुभव का अभ्यास होता है तब अपना अचल आत्मद्रव्य प्रतिभासित होता है, उसका किसी दूसरे से मिलाप नहीं दिखता। हाँ, पूर्वबद्ध कर्म उदय में आये हुये दिखते हैं पर अहंबुद्धि के अभाव में उनका कर्ता नहीं होता, मात्र दर्शक रहता है।।१५।।

काव्य - १५ पर प्रवचन

जैसैं राजहंसके बदनके सपरसत,
देखिये प्रगट न्यारौ छीर न्यारौ नीर है।
तैसैं समकितीकी सुदृष्टिमैं सहज रूप,
न्यारौ जीव न्यारौ कर्म न्यारौ ही सरीर है॥
जब सुद्ध चेतनकौ अनुभौ अभ्यासै तब,
भासै आपु अचल न दूजौ और सीर है।
पूरव करम उदै आइके दिखाई देइ,
करता न होय तिन्हकौ तमासगीर है॥१५॥

क्या कहते हैं ? सूक्ष्म बात है, भैया ! '**जैसैं राजहंसके बदनके सपरसत**' राजहंस की चोंच में खटास होती है। राजहंस, दूध और जल इकट्ठा होने पर भी चोंच से दूध और जल—दोनों को भिन्न कर देता है। दूध का पिण्ड हो जाता है और जल निकल जाता है। यह दृष्टान्त। '**जैसैं राजहंसके बदनके सपरसत**' यहाँ मुख की बात की है। परन्तु वह है न उसकी चोंच... '**देखिये प्रगट न्यारौ छीर**'—दूध '**न्यारौ नीर**' दूध और नीर—जल दोनों भिन्न हैं। राजहंस के मुख का स्पर्श पानी को लगने से... वैसे समकिती जीव—सम्यग्दृष्टि जीव—धर्मी जीव उसको कहते हैं कि '**सुदृष्टिमैं सहजरूप**' धर्मी की दृष्टि में... सहज आनन्दरूप आत्मा, ज्ञानरूप आत्मा, (ऐसा) सम्यग्दृष्टि अपने को जानते हैं।

'**न्यारौ जीव न्यारौ कर्म न्यारौ ही सरीर**' राग-द्वेष का परिणाम है, वह भी भिन्न है और कर्म भी भिन्न और शरीर भी भिन्न, उसका नाम सम्यग्दर्शन भेदज्ञानी का कहा। अपना निजस्वरूप तो ज्ञान और आनन्द है। ऐसा सहज स्वरूप मेरी चीज़, उस पर दृष्टि देने से सम्यग्दृष्टि को अपना शुद्ध स्वभाव और विकार, कर्म और शरीर भिन्न भासित होते हैं। समझ में आया? अज्ञानी को अपना स्वरूप ज्ञान और आनन्द है, उसकी खबर नहीं। तो अपने स्वरूप से विरुद्ध भाव जो शुभ-अशुभ विकल्प राग, शरीर और कर्म 'यह मेरा काम है और मैं उसका करनेवाला हूँ'—ऐसा अनादि से मानता है। समझ में आया?

राग, विकल्प अशुद्धभाव है पुण्य-पाप का, वह मुझसे भिन्न है—ऐसा भास नहीं—भान नहीं। उस कारण से दोनों को एक मानकर पुण्य-पाप के विकल्प का अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कर्ता होता है और विकारी परिणाम मेरा कार्य है, ऐसा मानता है। अन्दर की बात... आहाहा! क्या करना परन्तु अब? यह पुण्य-पाप के भाव भी विकारी है तो करना क्या उसे? समझ में आया? कर्ता-कर्म-क्रिया अधिकार है न! अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप का जिसको अन्तर में अनुभव—सम्यग्दर्शन—धर्म की दशा नहीं, वह तो अपना चैतन्य आनन्द और ज्ञान स्वभाव में राग और पुण्य को मिलाकर अपना मानता है। दया, दान, व्रत, भक्ति की जो क्रिया है राग की, वह राग की क्रिया है। वह क्रिया अपनी मानकर, मेरा कर्तव्य वह है और वह कर्म मेरा कार्य है। आहाहा! भारी सूक्ष्म! समझ में आया?

धर्मी इसको कहते हैं, पहली श्रेणी का समकिती धर्मी कि अपना शुद्ध चैतन्य ज्ञान-आनन्दस्वरूप मैं हूँ और शरीर, कर्म और पुण्य-पाप का राग अशुद्ध है, वह मुझसे भिन्न है। ओघडचन्दजी! यह बड़ी बात, देखो! अहिंसा... पर की हिंसा करते... ऐसी बात है नहीं। पर का शरीर और पर का आत्मा तो मुझसे भिन्न है ही, परन्तु यह शरीर भी मुझसे भिन्न है। वह तो (भिन्न) है ही, परन्तु अन्दर पुण्य-पाप का राग भी अपने से भिन्न है। ओहोहो! वह तो है ही, परन्तु अन्तर में सहज स्वरूप... शब्द लिया है न! '**सुदृष्टिमैं सहजरूप**' ज्ञायकभाव ध्रुवरूप, ऐसी समकिती की दृष्टि होने से वर्तमान का परिणाम भी ध्रुव से भिन्न है। समझ में आया?

'न्यारौ जीव'—ज्ञायकभाव, **'न्यारौ कर्म'**—विकल्प आदि परिणाम सब। **'न्यारौ ही सरीर है'** यहाँ तो स्थूल विकार और शरीर की—दो की बात है। परन्तु उसका अर्थ यह हुआ कि ध्रुव चैतन्य भगवान आत्मा नित्यानन्दस्वरूप है, वह 'मैं हूँ'—ऐसी दृष्टि जब हुई, तब उसमें रागादि का परिणाम मेरा नहीं तो मेरा कर्तव्य भी वह नहीं। समझ में आया? क्या करना है और क्या नहीं करना, (उसकी) खबर नहीं। करो ऐसा, बस दूसरे का भला कर दो, दूसरे को मदद करो, सहायता करो। अरे भगवान! 'दूसरा' शब्द पड़ा है तो तुझसे तो चीज़ भिन्न हो गयी। तो भिन्न का कार्य करूँ, ऐसा (माना) तो दोनों एक हो गये। ऐसा कहना कि वह मुझसे भिन्न है, उसका काम मैं करूँ। तो उसका अर्थ है कि दोनों एक हो गये, भिन्न रहे नहीं। समझ में आया?

शरीर और अपना चैतन्य भिन्न है, ऐसा भान (जिसे) नहीं, वह शरीर का कार्य और हलन-चलन की क्रिया का मैं कर्ता, ऐसा मानते हैं और पुण्य-पाप के विकल्प भी मुझसे भिन्न हैं, ऐसा भान नहीं, वह पुण्य-पाप का एकत्व मानकर पुण्य-पाप का कर्ता होता है। गजब धर्म भाई ऐसा! यह तो वीतराग का धर्म है। समझ में आया? जिसमें से वीतरागभाव उत्पन्न हो, वह धर्म है। रागभाव उत्पन्न हो, वह धर्म नहीं। समझ में आया?

'जैसैं राजहंसके बदनके सपरसत, देखिये प्रगट न्यारौ छीर' दूध और पानी—जल। उसी प्रकार समकिती धर्मी उसको कहते हैं सम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थानवाला... श्रावक और मुनि तो कहीं आगे रह गये बहुत दूर। परन्तु सम्यग्दृष्टि हुआ तो कहते हैं कि जीव न्यारौ। **'न्यारौ जीव'** मैं जानन-देखन स्वभाव (ऐसा) मैं भिन्न हूँ और **'न्यारौ कर्म'** जड़कर्म और शरीर आदि मुझसे तो भिन्न हैं। समझ में आया? मैं तो कर्म बाँधता ही नहीं और कर्म मैं छोड़ता ही नहीं, क्योंकि शरीर, कर्म तो भिन्न चीज़ है, अपने से न्यारी—भिन्न है। तो उसको मैं बाँधू और छोड़ूँ, यह मेरी चीज में है नहीं। गजब धर्म भाई! और पुण्य और पाप का विकल्प तो आस्रवतत्त्व है। वह भी न्यारा, मेरे जीवस्वभाव से न्यारा है। आहाहा! समझ में आया? **'न्यारौ जीव न्यारौ कर्म... समकितीकी सुदृष्टिमैं सहजरूप, न्यारौ जीव न्यारौ कर्म'** राग की क्रिया और जड़कर्म की क्रिया और शरीर की क्रिया और शरीर, **'न्यारौ ही सरीर है।'** मुझसे तो भिन्न है।

'**जब सुद्ध चेतनकौ अनुभौ अभ्यासै तब**' देखो। पहले कर्म और शरीर लिया, परन्तु अनुभव लिया उसमें राग आता नहीं। जब शुद्ध चैतन्य भगवान आनन्दस्वरूप ज्ञायक मैं हूँ—ऐसा अपना अनुभव अभ्यास से अन्तर्मुख होकर अपना अनुभव करे। '**तब भासै आपु अचल न दूजौ और सीर है**' परन्तु मैं तो आनन्द और ज्ञायकमूर्ति हूँ। मेरे सिर पर कोई स्वामी—मालिक दूसरा नहीं है। समझ में आया? '**न दूजौ और सीर है**' अर्थात् मेरे चैतन्यस्वभाव के साथ, दया-दान विकल्प का भी हमारे साथ मिलाप नहीं। आहाहा! है न? '**अनुभौ अभ्यासै तब**' 'मैं तो शुद्ध चैतन्यधातु परमानन्दस्वरूप मैं हूँ' ऐसा विकल्प नहीं, राग नहीं। परन्तु अपनी चीज़ शुद्ध आनन्दघन आत्मा है, उसके सन्मुख होकर अनुभव करते हैं, तब '**अनुभौ अभ्यासै**' देखो, यह अभ्यास। आहाहा!

शास्त्र का अभ्यास और क्रिया का अभ्यास करो पहले, कषाय की मन्दता की क्रिया का अभ्यास करो। यह तो अनादि का अभ्यास है ही मिथ्यात्वभाव में। आहाहा! समझ में आया? '**जब सुद्ध चेतनकौ अनुभौ अभ्यासै**' अपना निजस्वरूप शुद्ध चैतन्य आनन्द है, ऐसा स्व का ज्ञान होने से, ऐसा अनुभव होने से, '**भासै आपु अचल**' अपना स्वरूप अचल ध्रुव अखण्ड ज्ञायकभाव है, ऐसा भासित हो। समझ में आया? कठिन धर्म ऐसा, भाई! प्रथम धर्म की शुरुआत यहाँ से होती है। समझ में आया? यह तो बनारसीदास ने पाठ में से पद बनाया है। अमृतचन्द्र आचार्य दिगम्बर मुनि जंगलवासी थे ९०० वर्ष पहले। उनके कलश में से पद बनाया है। समझ में आया?

'**भासै आपु अचल न दूजौ और सीर है**' मैं तो ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यस्वभाव हूँ, ऐसे अनुभव के अभ्यास में मेरा और पुण्य-पाप का—विकल्प का कोई मेल नहीं—मिलान नहीं। वह भिन्न चीज़ है। आहाहा! समझ में आया? तब उसको धर्म कहने में आता है। '**न दूजौ और सीर है**' दूसरे (के साथ) मेरा मिलाप—मेरा मिलाप कभी नहीं होता। कभी मिलाप हुआ ही नहीं। आहाहा! अज्ञानी ने मान रखा है कि मैं पुण्य का कर्ता हूँ, दयाभाव का कर्ता हूँ। माने अज्ञानी, परन्तु कभी एक हुआ नहीं। राग और आत्मा तो एक हुआ नहीं। समझ में आया? कठिन मार्ग ऐसा, भाई! जिसको धर्म करना हो तो यह बात है। समझ में आया? वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर यह कहते हैं। बाहर की बातें करें और लोगों को ऐसा रंजन हो जाये, प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। ऐसा करना, ऐसा

सुधार देना, लोगों को मदद करना और दान करना, ऐसे। अरे भगवान! कौन करे? भाई! अँगुली हिले, वह भी जड़ की पर्याय है। मेरा और उसकी क्रिया में कोई मिलाप है ही नहीं। समझ में आया?

'**पूरव करम उदै आइकै दिखाई देइ**' परन्तु बँधा (हुआ) कर्म का उदय आवे और राग-द्वेष आदि देखने में आवे, परन्तु '**करता न होय तिन्हकौ**' सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य का विकल्प आता है, उसका कर्ता नहीं होता है। आहाहा! समझ में आया? '**पूरव करम उदै आइकै दिखाई देइ**' '**दिखाई देइ**' ऐसा कहा है, हों! भाई! 'देखे' ऐसा नहीं कहा। '**दिखाई देइ।**' आहाहा! रागादि विकल्प होता है। हो, मेरा उसके साथ कोई मिलाप नहीं, एकत्वबुद्धि नहीं। समझ में आया? '**पूरव करम उदै आइकै दिखाई देइ**' आये हुए दिखते हैं। ऐसा आता है। अर्थ में ऐसा कहा है। **करता न होय...** परन्तु अपना निजस्वरूप शुद्ध चैतन्य की दृष्टि धर्मी को हुई है, उस कारण से शुद्ध चैतन्य के साथ राग का मिलाप नहीं तो राग की क्रिया का वह कर्ता होता नहीं। गजब बातें ऐसी भाई सूक्ष्म!

सब समाज को यह समझ में आती है? समाज के लिये दूसरा धर्म होगा? धर्म तो यह एक ही है। एक के लिये भी यह और समाज के लिये भी यह। आहाहा! जिस भाव से एक को हित होता है, उस भाव से सर्व का हित होता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : अलग-अलग दवा से लाभ होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : दवा अलग-अलग... तो दवा क्या है? दवा अलग-अलग का अर्थ? दवा वस्तु है न नित्य। अलग का अर्थ क्या है? राग हो, पुण्य हो, विकल्प हो, भिन्न-भिन्न हो, परन्तु वह चीज़ अपनी नहीं। उस सम्बन्धी अपना ज्ञान अपने में जानने में आता है, परन्तु मेरी चीज़—सत्ता में वह राग नहीं। मेरी सत्ता—मेरी चीज़ में वह राग की सत्ता नहीं। राग की सत्ता में मेरी सत्ता नहीं।

मुमुक्षु : पूर्व कर्म के....

पूज्य गुरुदेवश्री : दिखाई देता है। राग आता है न! जड़कर्म आया तो उसमें जुड़ान हो गया, थोड़ा राग हुआ। राग-द्वेष होता है न समकिती को, (उसको) जानते हैं (कि) मेरा कार्य नहीं।

मुमुक्षु : खाली जानना न?

पूज्य गुरुदेवश्री : खाली (का) अर्थ आनन्द में—ज्ञान में रहकर जानना। आत्मा ज्ञान से भरा हुआ है उसे जानना। आहाहा! राग से आत्मा खाली है और ज्ञान-आनन्द से भरा है—ऐसे अपना भरपूर भाव में रहकर उसको जानना। समझ में आया?

भक्ति का भाव आता है, पूजा का भाव आता है, दया-दान का विकल्प आता है। आओ, परन्तु मेरा कर्तव्य नहीं। क्योंकि मेरी चीज़ से उसकी (चीज़) भिन्न है। समझ में आया? भीखाभाई! कठिन बातें यह! मैं तो '**तिन्हकौ तमासगीर**' हूँ... है? देखो! '**करता न होय तिन्हकौ तमासगीर है**' देखनेवाला हूँ। है, ऐसा दिखता है। मैं तो जानने-देखने में रहनेवाला हूँ। मैं राग में आकर राग का कर्तव्य मेरा है, ऐसा माननेवाला नहीं। व्यवहार रत्नत्रय शुभ विकल्प आता है, कहते हैं। श्रावक को भी सम्यग्दर्शन में और आगे बढ़कर शान्ति-स्थिरता हुई यथार्थ, तो उसमें छह आवश्यक का विकल्प आता है। पूजा, भक्ति, दान, दया आते हैं न छह बोल। छह बोल (आवश्यक)। उन छह बोल (सम्बन्धी) विकल्प हो, परन्तु मैं उसका कर्ता नहीं। मैं तो जाननेवाला हूँ। कठिन मार्ग भाई! अभी तो समझाना कठिन पड़े।

'करता न होय तिन्हकौ तमासगीर है' अहंबुद्धि के अभाव में उनका कर्ता नहीं होता। है न अर्थ में? **पर अहंबुद्धि के अभाव में उनका कर्ता नहीं होता।** मेरी चीज़ नहीं, मैं तो ज्ञान और आनन्द, ऐसा स्वभाववाला हूँ। यह विभाव के विकल्प की वृत्तियाँ हों, परन्तु मेरी चीज़ में है नहीं। आहाहा! क्योंकि विकल्प से दृष्टि उठाकर अपने शुद्ध ध्रुव चैतन्य में दृष्टि जोड़ दी है, तो राग से तो भिन्न रह गया। अपने साथ राग आया नहीं। आहाहा! मैं तो तमाशगीर हूँ, मात्र दर्शक हूँ—देखनेवाला हूँ। उसका नाम सम्यग्दर्शन और धर्म की शुरुआत की दशा उसको कहते हैं। समझ में आया? अनन्त काल से धर्म की एक समय की दशा प्रगट नहीं की। अनन्त-अनन्त काल व्रत, नियम, तप कर-करके क्लेश करके सूख गया। शरीर सूख गया, परन्तु उसने अज्ञान सुखाया नहीं। कल्याणजीभाई! आहाहा! यह १५वाँ (पद) हुआ।

इस ओर १५ कलश। १५ कलश है न ७९ पृष्ठ पर।

ज्ञाना-देव ज्वलन-पयसोरौष्ण्य-शैत्य-व्यवस्था,
ज्ञाना-देवोल्लसति लवण-स्वाद-भेद-व्युदासः।
ज्ञाना-देव स्व-रस-विकसन्नित्य-चैतन्यधातोः,
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम्।।१५।।

ओहोहो! लो, यहाँ आ गया। क्रोध, मान (आदि) विकारीभाव सब। समझ में आया? उसका पद। **मिले हुए जीव और पुद्गल की पृथक् पृथक् परख।** परीक्षा भिन्न-भिन्न की।

★ ★ ★

काव्य - १६

मिले हुए जीव और पुद्गल की पृथक् पृथक् परख। (सवैया इकतीसा)

जैसैं उसनोदकमैं उदक-सुभाव सीरौ,
आगकी उसनता फरस ग्यान लखियै।
जैसैं स्वाद व्यंजनमैं दीसत विविधरूप,
लौनकौ सुवाद खारौ जीभ-ग्यान चखियै।।
तैसैं घट पिंडमैं विभावता अग्यानरूप,
ग्यानरूप जीव भेद-ग्यानसौं परखियै।
भरमसौं करमकौ करता है चिदानंद,
दरब विचार करतार भाव नखियै।।१६।।

शब्दार्थः-उसनोदक (उष्णोदक)=गरम जल। उदक=जल। सीरौ=ठंडा। उसनता (उष्णता)=गर्मी। फरस=स्पर्श। व्यंजन=तरकारी। नखियै[1]=छोड़ देना चाहिए।

अर्थः-जिस प्रकार स्पर्शज्ञान से शीत स्वभाववाले गरम जल की अग्निजनित उष्णता पहिचानी जाती है, अथवा जिस प्रकार जिह्वा इन्द्रिय से अनेक स्वादवाली

१. यह शब्द गुजराती भाषा में प्रचलित है।

तरकारी में का नमक जुदा चख लिया जाता है, उसी प्रकार भेदविज्ञान से घटपिण्ड में का अज्ञानरूप विकार और ज्ञानमूर्ति जीव परख लिया जाता है, आत्मा को कर्म का कर्ता मानना मिथ्यात्व है, द्रव्यदृष्टि से, 'आत्मा कर्म का कर्ता है' ऐसे भाव ही नहीं होना चाहिए।।१६।।

काव्य - १६ पर प्रवचन

जैसें उसनोदकमैं उदक-सुभाव सीरौ,
आगकी उसनता फरस ग्यान लखियै।
जैसें स्वाद व्यंजनमैं दीसत विविधरूप,
लौनकौ सुवाद खारौ जीभ-ग्यान चखियै॥
तैसें घट पिंडमैं विभावता अग्यानरूप,
ग्यानरूप जीव भेद-ग्यानसौं परखियै।
भरमसौं करमकौ करता है चिदानंद,
दरब विचार करतार भाव नखियै॥१६॥

क्या कहते हैं, देखो। '**जैसें उसनोदकमैं उदक-सुभाव सीरौ**' पानी के स्वभाव में... जल का स्वभाव तो सीरौ—ठण्डा है। जल का स्वभाव ठण्डा है। '**उसनोदकमैं**' जल की उष्णता की पर्याय में जल का स्वभाव तो ठण्डा है। और '**आगकी उसनता फरस ग्यान लखियै**' और अग्नि के निमित्त से जो उष्णता हुई, वह उष्णता वास्तव में उसके स्वभाव की नहीं है। वह अग्नि के निमित्त से उत्पन्न हुई अग्नि की है, ऐसा यहाँ कहना है। समझ में आया? '**आगकी उसनता फरस ग्यान लखियै**' यह फरस (—स्पर्श) ठण्डे में से उष्ण हुआ, ऐसी उष्णता, वह (तो) अग्नि का स्वभाव है (और) जल का ठण्डा स्वभाव है। समझ में आया?

ऐसा ज्ञान... भाई! यह ज्ञान... परन्तु उसमें ऐसा लिखा है। क्या? 'स्वग्राही ज्ञान से वह भान होता है' ऐसा कहा है। उसका भी। ऐई! किसका? जल का ठण्डा स्वभाव है और अग्नि के (निमित्त से हुई) उष्णता (जल से) भिन्न है—ऐसा भान स्वग्राही ज्ञान हुआ, उसको ऐसा भान होता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : सम्यग्ज्ञानी की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, लिखा है न, उसमें लिखा है। स्व-परग्राहक ज्ञान में अपना जो स्वज्ञान हुआ, 'मैं शान्त, आनन्द हूँ'—ऐसा भान हुआ, उस ज्ञान से जल की उष्ण दशा, वह अग्नि की है और ठण्डा स्वभाव उदक का (—जल का) है (ऐसा ज्ञान हुआ)। अपने स्वभाव का भान हुआ तो पर के स्वभाव का ज्ञान ऐसे (स्वभावदृष्टि से) वह जानता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

कलश टीकाकार ने ऐसा लिया है। बहुत सरस है। पानी—जल ठण्डा है और उष्णता तो अग्नि के निमित्त से (हुई) उपाधि (वह) भिन्न चीज़ है। ऐसा बोध किसको सच्चा होता है? कि जिसको अपना आत्मा राग और शरीर से भिन्न (है, ऐसा) अपना—निज का ज्ञान हुआ, उस निजज्ञान में ऐसा पर का ज्ञान यथार्थ होता है। जिसको निजज्ञान है नहीं, उसको पर का ज्ञान यथार्थ होता नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम! समझ में आया? उसमें लिखा है—लिखा है उसमें। है न यह। कितना है यह? कर्ता-कर्म।

मुमुक्षु : ६०वाँ (कलश)।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञान, अज्ञानरूप कर्म होता है, लो।

यह '**ज्ञानादेव ज्वलनपय**' है न। बस यह। १५वाँ है। ऐसे (सलंग) ६०वाँ। भेद निजस्वरूपग्राही ज्ञान से प्रगट होता है। '**ज्ञानात्**' शब्द पड़ा है न '**ज्ञानात्**'। '**ज्ञानादेवोल्लसति.. ज्ञानादेव ज्वलनपयसो... ज्ञानादेव ज्वलनपयसो औष्ण्यशैत्य व्यवस्था...** '**ज्ञानादेव**' का अर्थ किया है। समझ में आया? अपना आत्मा आनन्द और ज्ञान स्वरूप है और राग और पुण्य के विकल्प से भिन्न है—ऐसा स्व का ज्ञान हुआ। उसे जल का ठण्डा स्वभाव है और उष्णता अग्नि की है—ऐसा (जिसे) अपने भेदज्ञान हुआ, वह दूसरे को ऐसे भेदज्ञान से जानता है। भैया! ऐसी चीज़ है। आहाहा! लोगों को सत्य (मिला नहीं और) बाहर में ऐसा करो और वैसा करो और फैसा करो, बेचारे को मार डाला। जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! शरीर छूटने पर कोई शरण नहीं। आहाहा! एक टुकड़ा भी साथ में आनेवाला नहीं है। उस समय शरण कौन है? आहाहा! भाई! शरण तो तेरी चीज़ अन्दर है। आहाहा! समझ में आया? आगे लेंगे न यह।

'दरब विचार करता भाव नखियै' पाठ में है न! द्रव्य का विचार... अन्तिम लाईन। द्रव्य अर्थात् आत्मा। समझ में आया? **द्रव्यदृष्टि से आत्मा कर्म का कर्ता है, ऐसा भाव नहीं होना चाहिए।** आहाहा! सोगानीजी ने एक पाठ लिया है, अभी वाँचने में आया है। किसी ने उनसे ऐसा प्रश्न किया। सोगानीजी कौन? निहालभाई। उनसे प्रश्न किया। कलकत्ता। सोगानी थे न। गुजर गये। लक्ष्मी बहुत थी। उनको ऐसा आत्मज्ञान हुआ, ऐसी चीज़ हुई अन्तर में... किसी ने ऐसा प्रश्न किया कि भैया! परिणाम और परिणामी ऐसे कहे तो ऐसा (कहने में दिक्कत) क्या है?

(उत्तर:) भगवान! परिणाम और परिणामी कहने से तेरी दृष्टि परिणाम—पर्याय पर जाती है। पश्चात् (—बाद में) परिणामी में लक्ष्य जाता है। इसकी अपेक्षा ऐसे कहो, परिणामी परिणाम अथवा अपरिणामी परिणाम। द्रव्य अपरिणामी ध्रुव है, उस अपरिणामी के लक्ष्य से परिणाम हुआ, उसका ज्ञान होता है। थोड़ा सूक्ष्म है। समझ में आया? २७वाँ बोल है। भाई! वे पीछे (द्रव्यदृष्टिप्रकाश भाग ३) है न ६४५। उसमें २७वाँ बोल है। सात और दो=नौ। ऐसे याद रहे इसलिए ऐसा रचा हो, नहीं तो याद न रहे। यह अंक कौन याद करने जाये? परन्तु उसकी अंक की पद्धति मस्तिष्क में आ जाये, इसलिए याद रह जाये, ऐसा यह हेतु है। समझ में आया? आहाहा! लो, इतना फेरफार है, भाई!

वह कहे, परिणाम और परिणामी कहें तो...? (उत्तर:) भैया! परिणाम और परिणामी में परिणाम पर जोर—लक्ष्य जाता है पहले। इसलिए पहले लक्ष्य परिणाम के ऊपर जाता है, पश्चात् परिणामी के ऊपर जाता है। शशीभाई! भाई! इसकी अपेक्षा ऐसे जानो, परिणाम अर्थात् आत्मा अपरिणामी—नहीं बदलनेवाला ध्रुव है। शब्द पहले ऐसा पड़ा है, परिणाम और परिणामी। ऐसा न कहकर ऐसे कहो, परिणामी परिणाम अर्थात् अपरिणामी परिणाम, ऐसा। जो ध्रुव चीज़ है, वह पलटती नहीं, उसका जोर लक्ष्य में आया तो बाद में परिणाम का लक्ष्य—ज्ञान यथार्थ होता है। ऐसा कहो, भैया! कहो, मणिकांत! समझ में आया? शुकनलालजी! नाम सुना है या नहीं? सोगानी निहालचन्दभाई।

सूक्ष्म बात करते-करते ऐसा ले लिया। परिणाम जो वर्तमान एक समय की दशा

वह परिणाम और वह अपरिणामी, तो वहाँ (परिणाम पर) पहले लक्ष्य गया। ऐसा कहते हैं। अपरिणामी वस्तु भगवान आत्मा... अपरिणामी का लक्ष्य हुआ तो परिणाम जो हुआ तो अपरिणामी का परिणाम, ऐसे कहो। ऐई! यहाँ कहते हैं, द्रव्य का विचार करने से भगवान द्रव्य ज्ञायकभाव है, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई तो राग का कर्ता नहीं, राग का भोक्ता नहीं, राग को ज्ञेय करना पड़ता है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! समझ में आया? मार्ग कठिन भाई ऐसा महँगा! भाई! मार्ग तो ऐसा है भैया! क्या करें!

वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा इन्द्रों की उपस्थिति में परमात्मा तो ऐसा फरमाते हैं। इन्द्र—स्वर्ग के अर्धलोक के स्वामी शकेन्द्र, अर्धलोक के स्वामी ईशान इन्द्र और गणधरों—सन्तों के बीच में भगवान की दिव्यध्वनि ऐसे आती है। समझ में आया? कहते हैं, भगवान! तेरा द्रव्यस्वभाव देखने से तो तेरा ज्ञान यथार्थ हो, तो तुझे जल का ठण्डा स्वभाव '**सीरौ**'—सीरा अर्थात् ठण्डा (ज्ञात होता है) और उष्णता उसका स्वभाव नहीं—ऐसा बोध तुझे राग से भिन्न स्व का ज्ञान हुआ तो ऐसे ज्ञान से उसका ज्ञान होता है। पोपटभाई! आहाहा! लौकिक बात... वह '**ज्ञानात्**' कहना है न सम्यक् ज्ञानात्। समझ में आया?

क्योंकि ऐसा का ऐसा... '**ज्ञानात् एव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः क्रोधात्**'। भाई! छेदात् है न! अन्तिम बोल यह आया है। कि ज्ञानात्, ज्ञानात् में क्यों डाला? क्योंकि स्वरस चैतन्य भगवान आत्मा चैतन्यरस... चैतन्य और क्रोध, यह भी अपने ज्ञान से दोनों का भिन्न भान होता है। समझ में आया? सबमें है न **ज्ञानात्... ज्ञानात्... ज्ञानात्...** तीनों में ज्ञानात् है। तो '**ज्ञानात् एव ज्वलनपयसो**' '**आगकी उसनता फरस ग्यान लखियै।**' जैसे... ऐसे। दो लाईन का अर्थ है। अपना स्वरूप राग, शरीर, कर्म से भिन्न है। है, ऐसा भान हुआ, अपना निजस्वरूप का सम्यग्ज्ञान हुआ तो वह ज्ञान जैसा मेरा स्वभाव ज्ञान है, राग—विकल्प नहीं, क्रोध नहीं। अग्नि के सामने क्रोध लिया न! विकल्प उठता है कि यह ठीक नहीं—ऐसा विकल्प है क्रोध। क्रोध है, वह अपना स्वभाव नहीं।

जैसे ठण्डे जल का स्वभाव उष्णता नहीं, वैसे मेरा निजरस चैतन्यरस के स्वभाव

के समक्ष इस क्रोध के विकल्प का अभाव है, यह मेरा नहीं। ऐसा किसको भान होता है कि जिसको अपना स्व का ज्ञान हुआ, उसको भान होता है। स्वरूपग्राही ज्ञान। अरे यह गजब! राजमलजी ने भी टीका की है न! गृहस्थ थे राजमल। ये (बनारसीदास) भी गृहस्थ हैं। परन्तु ... आचार्य, तीर्थंकर आदि जो कहते हैं, वह भाव लेकर—पकड़कर बात करते हैं। समझ में आया? सम्यग्दर्शन में कोई अन्तर नहीं। सिद्ध का सम्यग्दर्शन और केवली का हो या चौथे गुणस्थान (वाले) पशु का हो। समझ में आया? सम्यग्दर्शन में—सम्यग्ज्ञान में अन्तर (नहीं है)। भले थोड़ा ज्ञान हो, परन्तु प्रतीति की अपेक्षा से बराबर सब समान हैं। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, '**आगकी उसनता फरस ग्यान लखियै**' '**ज्ञानात्**' है न अन्तिम शब्द यह। यह उष्ण स्पर्श है और यह ठण्डा स्पर्श है, यह ज्ञान से जानने में आता है। अन्तिम दो लाईन का अर्थ होता है। ज्ञान, परन्तु कौन सा ज्ञान? अपना स्वरूप का ज्ञान हुआ है कि मैं रागरहित (हूँ)। क्योंकि जैसे राग अग्नि समान है और मैं चैतन्य शीत—आनन्दस्वरूप हूँ। आहाहा! ऐसा अपना स्वरूप का भान (हुआ कि) मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द 'सीरा' 'सीरा'—ठण्डा शान्त स्वभाव मेरा है और राग का स्वभाव अग्नि समान भिन्न है। तो जिसको अपने ज्ञायकभाव का भान हुआ, वह ठण्डा और उष्णता का विवेक कर सकता है व्यवहार से। समझ में आया? कठिन बातें ऐसी, भाई!

वह कहे कि दया पालो, व्रत पालो, तपस्या करो। जाओ धर्म होगा। धूल में भी धर्म नहीं, सुन तो सही! तेरी तपस्या क्या? अपवास किया और आहार नहीं किया। वह तो मिथ्यात्वभाव में मान लिया कि मैंने आहार छोड़ दिया। आहार छोड़ा... आहार मैं ग्रहता था तो आज नहीं लेता हूँ, वह तो अजीव का स्वामी होकर मिथ्यात्वभाव पोषता है। गजब बातें, भाई! कल्याणजीभाई! ऐसा मार्ग, भाई! आहाहा! यह मार्ग और इस जाति की रुचि जहाँ हो जाये, वहाँ पूरी लाईन बदल जाये उसकी। समझ में आया? आहाहा! दिशा बदले दिशा!

'**जैसैं स्वाद व्यंजनमैं दीसत विविधरूप**' दूसरा दृष्टान्त दूसरा। '**जैसैं स्वाद व्यंजन**' व्यंजन अर्थात् सब्जी। शाक कहते हैं न। लौकी, करेले की सब्जी होती है। '**जैसैं स्वाद**

व्यंजनमैं दीसत विविधरूप, लौनकौ सुवाद खारौ जीभ-ग्यान चखियै' शब्द डाला है जीभ का। 'ज्ञानात्' शब्द है न। है तो सबमें समान। स्वाद का है न, इसलिए ख्याल देते हैं। सब्जी में जो खारे का स्वाद आता है, वह नमक का स्वाद है—लवण का स्वाद है। और सब्जी का स्वाद भिन्न है। लौकी खारी है? (गुजराती में) दूधी कहते हैं न? दूधी—लौकी, करेला, गीसोडा, टिण्डोला। क्या कहलाये दूसरा? मोटावाला कहलाये वह? परवल। परवल और दूसरा क्या? परवल और दूसरा अच्छा कहते हैं न? कंटोला। परवल और कंटोला बहुत ऊँचा कहलाता है। वह परवल आता है न, और कंटोला। वह (सब्जी) कहीं खारी नहीं है। उसको बाफे तो भी कहीं खारी होती है? उसमें खारापन जो दिखता है नमक का, वह तो लवण का है—नमक का है, वह कहीं सब्जी का नहीं। आहाहा! समझ में आया?

'**जैसैं स्वाद व्यंजनमैं दीसत विविधरूप**' परन्तु किसका? लवण का स्वाद खारा। '**जीभ-ग्यान चखियै**' जीभ से ख्याल आ जाये उसमें कि यह खारापन बहुत है। वह लवण का—नमक का है। वह सब्जी—तरकारी और खारा भिन्न-भिन्न है, ऐसा वास्तविक बोध किसको होता है? कि जिसको... विकल्प राग आदि से आत्मा भिन्न है, रागपने का खारा स्वभाव राग का है, मेरा स्वभाव तो आनन्द और शान्त है—ऐसा जिसको स्वज्ञान का ज्ञान हुआ, उसको खारापन नमक का है और सब्जी का खारापन नहीं, (ऐसा) उसका यथार्थ ज्ञान होता है। समझ में आया? गृद्धि हो, उसे ख्याल नहीं आता। सब्जी खारी ढूँढ़ने जैसा हो गया, ऐसी हमारी काठियावाड़ी भाषा है। हिन्दी में होगा कुछ। खारा ढूँढ़ने जैसा नहीं कहते? खारा ढूँढ़ने जैसा। सब्जी खारी ढूँढ़ने जैसा। खारी ढूँढ़ने जैसी सब्जी होगी? परन्तु भान नहीं और ऐसा का ऐसा (कहे रखे)।

कहा था न एक बार श्रीमद् राजचन्द्र। ...हडपताळ श्रीमद् राजचन्द्र आये थे। पाँच-पच्चीस लोग इकट्ठे हुए थे। सब्जी-बब्जी बनायी, सब्जी लौकी की। सब्जी पहले लाये तो उस समय देखकर कहा, 'ओहो! सब्जी में खारापना विशेष है।' क्योंकि यह लौकी की सब्जी... दूधी कहते हैं न, लौकी। पानी में बाफने से जो उसके सब्जी की दशा देखने में आती है, उसमें नमक विशेष पड़ने से लौकी का ताना-बाना वह पृथक्

हो जाता है, टूट जाता है। (इसलिए) नमक—लवण विशेष है। देखो, सब्जी खाये बिना (कहा)। दूसरे तो ऐसे खाने में गृद्धि थी न। लड्डू-बड्डू अभी आयेंगे। उसमें सब्जी आयी। लड्डू में लक्ष्य था। सब्जी में नमक अधिक था, यह ख्याल नहीं आया। देखो, लौकी को जल से बाफने से उसके टुकड़े खिल नहीं जाते, टूट नहीं जाते। इसमें विशेष नमक पड़ा है तो टूट गये। लौकी का टुकड़ा अन्दर टूट गया। समझ में आया?

ऐसा चखे वहाँ हाँ... खारा। किसी एक ने डाला, दूसरे ने आकर दूसरा डाला होगा। यह खिचड़ी पकाते हैं और घर में बहुएँ तीन-चार हों। एक खिचड़ी रखकर खिचड़ी में नमक डाल गयी हो। दूसरे को खबर न हो कि नमक डाला है या नहीं? दूसरा डाले धोबा उसमें। ऐसे डबल पड़े और खारा ढूँढ़वा हो जाये। परन्तु खारी सब्जी नहीं, खिचड़ी नहीं, खारा तो नमक है। यह खारा नमक और सब्जी भिन्न का भान ज्ञान से होता है। समझ में आया? देखो, यह ज्ञान की क्रिया। किस ज्ञान से? ऐसा लिया टीकाकार ने तो। स्वज्ञान का भान हुआ है, उसको पर की भिन्नता का भान होता है। जिसकी राग में गृद्धि है, (ऐसे) गृद्धिवाले को—उसको खारापन और सब्जी की भिन्नता भासित नहीं होती। समझ में आया?

'लौनकौ सुवाद खारौ जीभ-ग्यान चखियै। तैसैं घट पिंडमैं विभावता अग्यानरूप' आहाहा! देखो अब। वैसे इस शरीररूपी पिण्ड में अन्दर भगवान आत्मा भिन्न विराजता है, उसमें विभावता... पुण्य-पाप का विकल्प, वह विभाव है। विभाव है, स्वभाव नहीं। वह विभावता अज्ञानरूप है। आहाहा! क्या कहते हैं? यहाँ तो 'ज्ञानात्' ऐसा लेना है न! **'ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यधातोः'** **'ग्यानरूप जीव भेदग्यानसौं परखियै'** आहाहा! घटपिण्ड में विभावता अज्ञानरूप... अज्ञान... आत्मा का स्वभाव तो ज्ञानानन्दस्वरूप है और पुण्य-पाप के विकल्प का, दया-दान-व्रत-भक्ति के विकल्प का स्वभाव तो विभावता अज्ञानरूप है, क्योंकि उसमें ज्ञान है नहीं। आहाहा! देखो! समझ में आया?

'घटपिंडमैं विभावता अग्यानरूप, ग्यानरूप जीव' चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य...जानन... जानन स्वभाव ऐसा भगवान आत्मा, **'स्वरस विकसन्नित्य-**

चैतन्यधातोः' कहो, समझ में आया? '**ग्यानरूप जीव भेदग्यानसौं परखियै**' अपना निजरस आत्मा आनन्द का, ज्ञान का रस अन्तर में... '**स्वरस विकसन्नित्यचैतन्यधातोः**' चैतन्यधातु भगवान तो नित्य है, परन्तु उसकी दृष्टि हुई तो अपने में चैतन्य का विकास क्षण-क्षण में होता है।

'**स्वरस विकसन्नित्यचैतन्यधातोः**' जो चैतन्यधातु (के) अपने लक्ष्य से जो राग से भिन्न का भान हुआ, तो चैतन्य नित्य धातु में से पर्याय में विकसित विकासरूपी ज्ञान प्रगट होता है। यह ज्ञान राग और अपने स्वभाव को भिन्न जानता है। आहाहा! देखो, व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी अज्ञान है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, लोग कहे कि समकित। यहाँ कहते हैं, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, (वह) परद्रव्य अनुसारी विकल्प विभावता अज्ञान। पंच महाव्रत का परिणाम, लोग कहे, धर्म। भगवान कहे, विभाव—अज्ञान।

मुमुक्षु : भगवान और लोगों को झगड़ा हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया ने झगड़ा किया है भगवान के साथ। आहाहा! अन्दर में झगड़ा कर डाला। भगवान आत्मा चैतन्य वस्तु ज्ञानानन्दस्वभाव का जिसको भान नहीं, तो उसका विरोधी पुण्य-पाप का विभाव जिसमें ज्ञान का अंश नहीं, उसको अपना कर्ता मानते हैं। ऐसा कहना है न यहाँ तो? विभाव अज्ञान का कर्ता अज्ञानी मानते हैं। आहाहा! राग की क्रिया है, वह विभाव की क्रिया है। ज्ञानस्वभाव चैतन्य की जागृतदशा का राग में अन्धेरा (—अभाव) है। समझ में आया?

'अन्धकूप' आया था। कल आया था न कल? 'अन्धकूप' आया था। आया है। ११वाँ, ग्यारहवाँ पद। '**महा धीठ दुखकौ वसीठ परदर्वरूप, अंधकूप काहूपै निवार्‌यौ नहि गयौ है**' ग्यारहवाँ है। वैसे तो समयसार नाटक स्पष्ट पृष्ठ, अक्षर स्पष्ट, बड़े अक्षर, सबको ख्याल में आ जाये, ऐसी चीज़ है। सिद्धान्त का दिखाव भी ऐसा है। यह तो साधारण था न समयसार नाटक और छोटा ग्रन्थ देखे तो कहे कि साधारण ग्रन्थ है। यह तो अब पूरा सिद्धान्त है। कागज भी अच्छा, अक्षर भी बड़ा, भाव भी बड़ा अलौकिक! समझ में आया?

तो कहते हैं, घटपिण्ड में भगवान आत्मा में जो राग पुण्य-पाप का विकल्प

दिखता है, वह तो विभाव है। जैसे जल में उष्णता है, वह उसकी—जल की नहीं, जल का तो ठण्डा स्वभाव है। वैसे भगवान आत्मा में जो पुण्य-पाप के विकल्प दिखते हैं, वह विभावता अज्ञानरूप है; आत्मा का ज्ञानरूप है नहीं। आहाहा! कठिन लोगों को... इसलिए कहते हैं कि ... एकान्त निश्चय है। सुन न भाई! ... क्या करे, भाई! आहाहा! एकान्त है, एकान्त है। परन्तु कह एकान्त भगवान के पास जाकर कि क्या कहते हो तुम ऐसा? सुनने में आया नहीं, बाहर में प्रथा अज्ञानियों ने विपरीत चलाई और मानते हैं कि हम व्रत पालते हैं, तप करते हैं, उसमें कुछ होता है या नहीं? है, अज्ञान है उसमें।

परमात्मा का वीतरागमार्ग जगत से न्यारा है। सर्वज्ञ परमेश्वर, जिनको एक समय में तीन काल का ज्ञान है, ऐसा तीन काल का ज्ञान उपजाने की विधि भगवान बताते हैं। वह विधि भगवान में ही है, दूसरे में होती नहीं। समझ में आया? ऐसी बात अन्यमत में कहीं है नहीं। वेदान्त आदि में और वैशेषिक और फलाना, ईश्वर कर्ता माने। कहीं यह चीज़ ही है नहीं। समझ में आया? यह तो सम्प्रदाय में जैन के नाम धरावे, उस सम्प्रदाय में है नहीं। समझ में आया? क्या कहा?

'**विभावता अग्यानरूप**' है न? '**भेदज्ञान से घटपिण्ड में अज्ञानरूप विकार और ज्ञानमूर्ति जीव परख लिया जाता है**। लो। आहाहा! जल में ठण्डापना और उष्णता जैसे भिन्न-भिन्न परख में आता है। वैसे भगवान ज्ञानमूर्ति और रागादि विकल्प अज्ञानभाव, यह सम्यग्ज्ञान से भिन्न-भिन्न देखने में आते हैं। और जैसे सब्जी—तरकारी में नमक का स्वाद भिन्न है, सब्जी का स्वाद भिन्न है। वैसे भगवान आत्मा निजरस का स्वाद आनन्द है और विभाव का स्वाद दु:खरूप और आकुलता है। गजब बात! व्रत का परिणाम भी आकुलता। गजब बात! भगवान सिद्ध को है व्रत? मैं ऐसा करूँ, ऐसा करूँ, यह तो विकल्प—वृत्ति है, राग का उत्थान है, विकार है। सिद्ध का आदर्श लक्ष्य में लो। सिद्ध में जो नहीं, वह तुझमें नहीं। सिद्ध में है, वह तुझमें है। समझ में आया?

'**ग्यानरूप जीव भेद-ग्यानसौ परखियै**' विभावता अज्ञानरूप और ज्ञानरूप जीव, ऐसा। '**भेद-ग्यानसौ परखियै**' राग के विकल्प से भिन्न पड़कर आत्मा का भान हुआ, वहाँ उसकी परीक्षा होती है। '**भरमसौं करमकौ करता है चिदानंद**' लो! भ्रमणा—अज्ञान से कर्म का कर्ता। चिदानन्द—भगवान आनन्दकन्द—चिदानन्द—ज्ञानानन्द ऐसा

अपना निजस्वरूप चिदानन्द का भान नहीं, तो पुण्य-पाप के विकल्प का कर्ता होता है। ओहोहो! लिखा है अन्दर, देखो! **आत्मा को कर्म का कर्ता मानना मिथ्यात्व है।** नीचे लिखा है। समझ में आया? मिथ्यात्व किसको कहना, यह खबर नहीं।

'राग, दया, दान का, व्रत का विकल्प मेरा कर्तव्य है'—ऐसा मानना, वह मिथ्यात्व है। क्योंकि विभाव अज्ञानरूप है। चिदानन्द भगवान को वह कर्ता मानता है। अज्ञान—भ्रम से मानता है मिथ्यात्व। ऐसा कहते हैं, महाराज बातें सब ऐसी करे। वापस उसमें लिखा है। वापस मन्दिर, भक्ति सब करे। प्ररूपणा में कहे कि वह पुण्य हेय है। परन्तु होता है, शुभ आये बिना नहीं रहता। करे कौन? वह जाननेयोग्य चीज़ है, अन्दर आदरनेयोग्य नहीं। आहाहा! जब तक वीतरागता न हो, तब तक शुभभाव होता है, परन्तु वह अपना स्वरूप नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

'**भरमसौं करमकौ करता है चिदानंद, दरब विचार करतार**' देखो। द्रव्य का विचार करो, द्रव्यदृष्टि से द्रव्यस्वभाव देखो तो द्रव्यस्वभाव में विभाव का कर्तापना कभी होता नहीं है। आहाहा! '**करतार भाव नखियै**', **करतार भाव नखियै**'—छोड़ दो। '**नखियै**' है न। यह शब्द गुजराती भाषा में प्रचलित है। ऐसा नीचे लिखा है। नाखी—छोड़ दो, छोड़ दो। आहाहा! नाखी दो, गुजराती भाषा है न! पहले भी आया है एक शब्द। निर्जन देश में... पहले बहुत आगे आया था। ....गुजराती भाषा है, ऐसा कहना है। यह है लो, यह ६९वें पृष्ठ पर है।

यह शब्द गुजराती भाषा में प्रचलित है। वहाँ भी '**नाखी**' है न। '**परजाइ बुद्धि नाखी है।**' वहाँ भी है चौथे पद में। यहाँ कर्ताबुद्धि नाखी (छोड़) दी। आहाहा! जयन्तीभाई! ऐसा मार्ग! यहाँ तो धमाधम करावे, व्रत करो, अपवास करो, इतने करो, दया पालो,... लेने जाओ और निर्दोष आहार ले आओ। जाओ, यह दया पालन की पचास व्यक्तियों की सेठिया ने। धूल भी नहीं, दया की खबर भी नहीं तुझे (कि) क्या दया है। **द्रव्यदृष्टि से आत्मा कर्म का कर्ता है, ऐसा भाव ही नहीं होना चाहिए।** ऐसा आत्मा का भान होकर राग का कर्ता आत्मा होता नहीं। ऐसी दृष्टि को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४४, फाल्गुन कृष्ण ४, सोमवार, दिनांक १५-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद १७ से २१

१६वाँ कलश है। कर्ता-कर्म अधिकार।

अज्ञानं ज्ञान-मप्येवं कुर्वन्नात्मान-मञ्जसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित्॥१६॥

पदार्थ अपने स्वभाव का कर्ता है। यह उपोद्घात है।

★ ★ ★

काव्य - १७

पदार्थ अपने स्वभाव का कर्ता है (दोहा)

ग्यान-भाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान।
दर्वकर्म पुदगल करै, यह निहचै परवान॥१७॥

शब्दार्थः-द्रव्यकर्म=ज्ञानावरणादि कर्मदल। परवान (प्रमाण)=सच्चा ज्ञान।

अर्थः-ज्ञानभाव का कर्त्ता ज्ञानी है, अज्ञान का कर्त्ता अज्ञानी है और द्रव्यकर्म का कर्त्ता पुद्‌गल है ऐसा निश्चयनय से जानो॥१७॥

काव्य-१७ पर प्रवचन

ग्यान-भाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान।
दर्वकर्म पुदगल करै, यह निहचै परवान॥१७॥

ज्ञानभाव का कर्ता ज्ञानी है। देखो, अभी तक तो ऐसा चलता है कि कर्म का कर्ता जीव नहीं। कर्म की पर्याय जड़ है तो जड़ का परिणमन जड़ से होता है। आत्मा उसका कर्ता नहीं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि जो है... ज्ञान की असातना आदि

के छह बोल हैं, वह जीव अज्ञानभाव से करे, परन्तु यहाँ तो वह भी नहीं लिया। क्या कहा, समझ में आया?

मुमुक्षु : ज्ञान की असातना....

पूज्य गुरुदेवश्री : असातना (आदि) छह बोल आते हैं न? छह बोल से ज्ञानावरणीय कर्म बँधता है। परन्तु वे छह बोल—ज्ञान की असातना—विराधना इत्यादि भाव अज्ञानी करे, यह बराबर है। परन्तु कर्म बँधता है, वह आत्मा करे, ऐसा है नहीं। वह जड़ की पर्याय जड़ से होती है।

यहाँ तो उससे उपरान्त दूसरी बात कही पाधरी—सीधी। **ज्ञानभाव का कर्ता ज्ञानी है।** आत्मा ज्ञानस्वरूप है, चैतन्यस्वभाव से भरपूर आत्मा है, ऐसे स्वभाव को ज्ञानी करे। धर्मी जीव तो ज्ञानस्वरूप है, वह कहीं कर्मस्वरूप और रागस्वरूप नहीं। इसलिए धर्मी जीव अथवा ज्ञानी, वह तो अपने निर्मल ज्ञानस्वभाव को करे। विकार को करे और बन्धन में निमित्त हो, ऐसा भी ज्ञानी को है (नहीं)। समझ में आया?

ज्ञानभाव का कर्ता ज्ञानी है, अज्ञान का कर्ता अज्ञानी है। पुण्य-पाप के विकल्प राग... उसकी दृष्टि जहाँ राग के ऊपर है, स्थिरबिम्ब ध्रुव के ऊपर जहाँ दृष्टि नहीं। इसलिए अज्ञानी विकार के भाव को करे। समझ में आया? और द्रव्यकर्म का कर्ता पुद्गल है। तीन बोल लिये। धर्मी जीव ज्ञान और आनन्द आदि निर्मल पर्याय को करे, क्योंकि उसकी दृष्टि में निर्मल ध्रुव चैतन्य है। समकिती की दृष्टि में ध्रुव चैतन्य ज्ञानभाव से भरपूर चैतन्य है, इसलिए धर्मी ज्ञानभाव को करे। जो दृष्टि में आया है, ऐसे भाव को वह करे। गजब बात! समझ में आया? धर्मी जीव तो राग को और व्यवहाररत्नत्रय को भी नहीं करता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह सब काम तो करते हैं सब लोग, नहीं? क्यों पोपटभाई? यह टाईल्स के काम सब... यह हरिभाई अहमदाबाद में कितने काम करते हैं, देखो सब कितने! करते हैं या नहीं?

करे तो उसकी पर्याय में स्वभाव की दृष्टि को भूलकर शुभ-अशुभ विकल्पों के विकार को करे अज्ञानी। उसकी मर्यादा वहाँ तक है। इससे आगे जाकर करे, ऐसा अज्ञानी को भी है नहीं। समझ में आया? तीन बोल लिये एक लाईन में। धर्मी, आत्मा

जिसे दृष्टि में आया है, आत्मा अखण्ड आनन्दमय मूर्ति प्रभु है, ऐसी जिसे दृष्टि हुई और वह आत्मा, वह आत्मा हुआ। समझ में आया? वह आत्मा हुआ, उस आत्मा की ज्ञान आदि की दशा—पर्याय को करे। आहाहा! समझ में आया? अज्ञानी अज्ञान के भाव को करे। शुभ और अशुभ विकल्प, दया-दान-व्रत-भक्ति-काम-क्रोध के भाव, वे सब विकार हैं और उसकी दृष्टि विकार के ऊपर है, स्वभाव के ऊपर नहीं। इसलिए वह अज्ञानी अज्ञानभाव (कि) जिसमें ज्ञान का अंश नहीं, जिसमें चैतन्यस्वभाव का अंश नहीं—ऐसे पुण्य-पाप के भाव को करे। कहो, पण्डितजी! लड़के को पढ़ा नहीं सकते, ऐसा कहते हैं। अरे!

मुमुक्षु : बम्बई से पढ़ाया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : वकील दलील नहीं कर सकता सामने, ऐसा कहते हैं। दलील की क्रिया जड़ की है। भगवानजीभाई! ...यह कैसा ऐसा!

मुमुक्षु : परन्तु जगत को भ्रमणा बहुत....

पूज्य गुरुदेवश्री : भ्रमणा है तो उस भ्रमणा को करे। वह धर्म को नहीं करता, वह पर को नहीं करता, अज्ञानी भ्रमणा को करे। कहो, समझ में आया? यह लड़के-बड़के का कुछ नहीं कर सकता।

मुमुक्षु : यह तो लड़कों का ही दोष है। लड़के तो बापू की सेवा करे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी करता नहीं। वहाँ ऐसे सुमनभाई कहीं अन्यत्र पड़ा है। आता है सेवा (करने)? तुम रोटियाँ खाओ किसी की बनायी। विवाह कर दिया, हो गया, वह वहाँ और तुम यहाँ। भिन्न वह भिन्न किसका करे वह? यह इनका पुत्र वहाँ पड़ा है और यह यहाँ रोटियाँ खाते हैं, लो! (आत्मा तो) रोटियाँ भी खाता नहीं, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। यह ऐसा कहते हैं। रोटियाँ खाने की क्रिया अज्ञानी कर नहीं सकता।

मुमुक्षु : करे तो राग को करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह राग-द्वेष को करे, परन्तु रोटियाँ खाने की क्रिया आत्मा करे, यह तीन काल में होता नहीं। अरे, गजब बात भाई यह!

मुमुक्षु : बहुत सरस बात है, ऐसी ही समझने जैसी बात है।

मुमुक्षु २ : अब कारखाना हो, उसका क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कारखाना कारखाने में रह गया। कारखाना, वह भी पदार्थ है या नहीं? सत्तावाला—अस्तिवाला पदार्थ है न! अस्तिवाला धारावाही प्रमाण पर्याय परिणमती है। जिस समय जो पर्याय जो होनेवाली है, वह पर्याय उसमें होती है। धारावाही आयेगा इसमें कहीं। समझ में आया? अठारहवें में आयेगा। जवाब आयेगा २०वें (पद) में, अर्थात् १९ श्लोक में। समझ में आाय?

ज्ञानभाव का कर्ता ज्ञानी... अर्थात्? वस्तु जो द्रव्यस्वभाव चैतन्य अखण्ड आनन्द स्थिरबिम्ब, ऐसा आत्मा का जिसे ज्ञान हुआ, उसने आत्मा जाना और वह आत्मा हुआ। वह आत्मा, आत्मा के स्वभाव की जो शक्ति है, उसकी पर्याय को करे। समझ में आया? अरे, गजब बातें भाई यह! यह सब बहियाँ-वहियाँ जाँचे और सब किया था न। ओडिटर। आहाहा! भ्रमणा होगी वह सब? हरिभाई!

मुमुक्षु : चलती है भ्रमणा।

पूज्य गुरुदेवश्री : हरिभाई तो होशियार कहलाते हैं वहाँ। वे सब कुछ व्यापार और धन्धा और फलाना-ढींकणा और कुछ उथल-पुथल...

मुमुक्षु : आप इनकार करते हो तो नहीं बैठता, आप हाँ करते हो तो बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह निर्णय करे नहीं? पर का करना, (ऐसा माने, परन्तु) वह कर सकता नहीं। क्योंकि परवस्तु अपनी क्रिया किये बिना रहती नहीं। इसलिए (दूसरी वस्तु) उसकी (अवस्था) करे तो हो, ऐसा है नहीं। बाबूभाई कैसे होगा?

मुमुक्षु : बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन बोल रखे एक कलश में। जिसे आत्मा, आत्मारूप से शुद्ध चैतन्य ज्ञायकभाव ज्ञात हुआ है, ऐसा जो धर्मी, भले चक्रवर्ती के राज में पड़ा दिखाई दे, ९६ हजार स्त्रियों के वृन्द में दिखाई दे, तथापि वह पर की क्रिया बिल्कुल करता नहीं। आहाहा! और वास्तव में तो यह परस्त्री या यह अपनी स्त्रियाँ आदि हैं,

उनके ऊपर लक्ष्य जाये, तो वह विकल्प उठता है, उस विकल्प का कर्ता भी नहीं नहीं और भोक्ता भी नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह स्त्री, शरीर, मकान, साहेबी, बाग-बगीचा आदि, उन्हें तो जीव करता नहीं, उन्हें तो जीव भोगता नहीं। अज्ञानी भी करता नहीं और भोगता नहीं। पण्डितजी!

मुमुक्षु : मानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : माने तो चाहे जो माने पागल होकर।

दृष्टान्त नहीं दिया, मोक्षमार्गप्रकाशक में? एक पागल था पागल। नदी के किनारे आकर बैठा। बड़ा पत्थर होगा ऐसा। नौ-साढ़े नौ का समय, दस बजे का। आकर बैठा पागल ऐसे। बहुत पागल होते हैं। प्रत्येक गाँव में एक-दो, एक-दो ऐसे पागल होते हैं। बैठा, उसमें वहाँ राजा निकला राजा। तब तो कहाँ थी ऐसी मोटर-बोटर। हाथी से निकलते थे। इसलिए दो-ढाई घण्टे चले। बराबर आहार का समय हुआ नदी में पानी, इसलिए उतरे। हाथी से उतरे, रानी उतरी।

वह पागल कहे कि यह आया मेरा लाल, यह मेरी रानी आयी, यह मेरा हाथी, यह मेरे लोग। वे खा-पीकर पूरा हुआ। ऐसे दो ठण्डे पहर निकाले और चलने लगे। (पागल कहता है) 'ऐ! कहाँ चले जाते हो पूछे बिना?' वे कहे, 'पहले हम हमारे कारण से आये। तू पागल और यहाँ कहाँ से आया यह?' ऐई! हमको पूछे बिना कहाँ जाते हो? अनजाने हो तुम? किसके लिये आये हैं? हम तो हमारे कारण से आये हैं यहाँ।

दस बजे का समय हुआ। नदी में पानी जाता है। यह रोटियाँ, साथ में पानी यहाँ मिले, (इसलिए) हम रुके हैं। तेरे कहाँ थे? इसी प्रकार यह पागल जहाँ जन्मे, वहाँ स्त्री आवे, पुत्र आवे, पैसा आवे, मकान हो। और आने के पश्चात् चलने लगे। क्यों चले जाते हो? ध्यान रखो। डॉक्टर ने ध्यान रखने का (कहा है)। नम्बर आया। धूल भी ध्यान रखने से मिले ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : बात बहुत भूला।

पूज्य गुरुदेवश्री : वापस भूला, वह कैसा? दीवार में से निकलना चाहता है,

दरवाजे से नहीं। लोग नहीं कहते? 'भूला वह दीवार से भूला।' वहाँ सिर पछाड़कर निकलना चाहता है। वहाँ से निकला जाता होगा?

इसी प्रकार यहाँ तो आचार्य महाराज... बहुत संक्षिप्त भाषा। '**ग्यान-भाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान**' बस आत्मा... अरे! यह तो जगत के साथ मिलान खाये, ऐसा बहुत मुश्किल। हो-हा और धमाल चलती है यह सब शहरों में और उसमें... आहाहा! व्यवहार से तो कर सकते हैं या नहीं? व्यवहार तो कर सकते नहीं? यह आवे अग्र बात।

मुमुक्षु : मुख्य पॉईन्ट यह है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आयेगा इसमें। व्यवहारमूढ़ जीव मानता है।

मुमुक्षु : यह तो अब फिर मानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह मानता है। समझ में आया? कर सकता नहीं। '**आत्मा ज्ञानं**' है न, आता है यह आगे।

मुमुक्षु : है न अठारहवाँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हं... हाँ, वह।

मुमुक्षु : '**दरव करम चेतन करै, यह विवहारी दौर**'

पूज्य गुरुदेवश्री : '**विवहारी दौर**' है यह। पुद्गल कर्ता... यह अठारह है। यह तो अभी शंका है। अठारहवीं शंका। देखो, वह बस '**ज्ञान सरूपी आत्मा, करै ग्यान नहि और यह विवहारी दौर**', लो। व्यवहारी दौर का अर्थ मूढ़ जीव के वचन हैं, ऐसा कहते हैं यह। अठारह है न? '**आत्मा ज्ञानं**' यह १७वाँ (श्लोक) है। '**आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानात् अन्यत् करोति किम्**'। आहाहा!

कहते हैं, तीन बोल लिये महासिद्धान्त। जो आत्मा होकर आत्मा जाना और आत्मा हुआ, वह तो पुण्य और पाप के रागरहित आत्मा है, ऐसा जाना और हुआ। वह आत्मा अपनी निर्मल ज्ञान, श्रद्धा, आनन्द की दशा को करे। वह करे—ऐसा कहना, वह अभी उपचार है। आत्मा में भेद किया न? अपने निर्मल परिणाम का कार्य करे, वह

कर्ता और यह उसका कर्म, यह भी उपचार है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु यहाँ तो पर का कर्ता नहीं, यह सिद्ध करना है न! इसलिए ज्ञानी ज्ञान का कर्ता है, ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया?

अज्ञानी अज्ञान को करे। अज्ञान अर्थात् जड़ अज्ञान (-ज्ञानावरणीय कर्म) है, वह नहीं। परन्तु अन्दर में पुण्य और पाप के विकल्प और राग उठता है, वह अज्ञान है, उसमें ज्ञान का अंश है नहीं। आहाहा! वह अज्ञानी उसे अपना मानता है और अपने स्वभाव को भूल गया है। वह अज्ञानी अज्ञानभाव को करता है। पुण्य के-पाप के व्यवहार भाव जो (है, उन्हें) मूढ़ जीव '**मेरे हैं**' ऐसा मानकर करता है। परन्तु वह कर्म का करे या स्त्री-पुत्र का कर दे, कर्म बाँधने की क्रिया करे, यह है (नहीं)। आहाहा! यह मुफ्त का सब अभिमान उड़ जाये। मर गया है अभिमान कर-करके।

द्रव्यकर्म का कर्ता पुद्गल है। लो, यह तीसरा बोल। कर्म के परमाणु ज्ञानावरणीयरूप से परिणमते हैं, कर्म के रजकण दर्शनमोहरूप से होते हैं, उनका कर्ता यह परमाणु है। आत्मा अज्ञानीरूप से उनका—कर्मबन्ध का कर्ता नहीं। सत्रह। वह आया न, '**आत्मा ज्ञानं... परभावस्य कर्तात्मा मोहाऽयं व्यवहारिणाम्...**' यह। '**आतमा ज्ञानं स्वयं**' यह लड़कों को सिखाया है अपने पाठशाला में। यहाँ अपने चलती थी न तब।

मुमुक्षु : कक्षा में।

पूज्य गुरुदेवश्री : कक्षा। वह यह श्लोक है।

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥१७॥

यह तो मिथ्यादृष्टि का अज्ञान है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, यह लड़के को व्यवस्थित विवाह करना, लड़की को व्यवस्थित में डालना (विवाह करना)—यह सब काम करता है या नहीं होशियार व्यक्ति, होशियार हो तो? ऐई मोहनभाई! ऐसे सब जहाँ-तहाँ डाल देते होंगे?

मुमुक्षु : कौन डाले और कौन रखे?

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा घर खोजते हैं, वर खोजते हैं ऐसा सब, कहीं इज्जत हो, पैसा कुछ ठीक हो, निरोगी शरीर हो, ऐसा खोजते होंगे? या क्षयवाला खोजते होंगे सीधे? कहो, इतना तो यह सावधानी से कर सकता है या नहीं? कुछ नहीं कर सकता, कहते हैं। लोग नहीं कहते? कि भाई! हमारे (धर्म) करना है परन्तु अब लड़कियाँ चार-पाँच-छह लड़कियाँ। लंगर पड़ा है बड़ा। अब एक सत्रह की और एक पन्द्रह की और एक उन्नीस की और इक्कीस की। सब ठिकाने लगायें तो निवृत्ति मिले।

ऐई त्रंबकभाई! इन्हें तो कुछ नहीं है। इन्होंने तो किसी की ली है। भाई की ली है इन्होंने। परन्तु यह ठिकाने लगाये फिर, कहे, अपने को निवृत्ति मिले या नहीं? यह कर सकता होगा?

मुमुक्षु : भ्रमणा में रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : भ्रमणा करे। मैं इसे अच्छे स्थान में विदा कर दूँ, फलाना कर दूँ, लड़के को भी अच्छी जगह विवाह किया। और कुछ उससे मदद मिले। पैसा आवे, ऐसे समधी खोजे हैं और उसे इकलौती पुत्री है। पच्चीस लाख है। अन्त में मर जायेगा तो आयेंगे तो यहाँ। ऐसा घर खोजा है। ... बड़ा मूर्ख है, कहते हैं। बड़ा मूर्ख है, कहते हैं। वह क्रिया मैंने रच दी और मैंने की—यह तेरी मान्यता मूर्खता से भरपूर है।

इसका अर्थ वहाँ उसमें (ऐसा) किया। मिथ्यादृष्टि का अज्ञान है, ऐसा कहा। यह व्यवहारी मोह का (अर्थ)। है न '**मोहोऽयं व्यवहारिणाम्**'। कलशटीका में। यह मिथ्यादृष्टि का माना हुआ अज्ञान है। आहाहा! यह बहियाँ-बहियाँ के नामा लिख नहीं सकता? तो कैसे होगा यह मलूकचन्दभाई? रुपये देने हों तो दे सकता है और न देने हो तो नहीं दे सकता, ऐसा है या नहीं?

मुमुक्षु : नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्यों नहीं? यह अभी आठ हजार तुम्हारे पास से माँगते हैं, क्या है अभी तक लो। ऐसा सुना है।

मुमुक्षु : कोई एक दिन कहे भाई पाँच हजार तो दे दिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कौन जाने, परन्तु अपने सुना हुआ है। वहाँ तुम्हारे बैठे हों न....

मुमुक्षु : मैंने ऐसा कहा कि....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा लो, ठीक।...मुख का व्यक्ति स्वयं दे नहीं और बातें करे किसी की। वे फलाने देते नहीं और फलाने देते नहीं। परन्तु तुमने क्या किया पहले? परन्तु वह दे सकता है या नहीं? दे सकता नहीं, इसलिए नहीं दिये, ऐसा हुआ या नहीं? ऐई हरिभाई!

कहो, दे सकता नहीं, इसलिए नहीं दिये, ऐसा बराबर नहीं? भगवानजीभाई! अब अपने तो न्याय से विचारना है न!

मुमुक्षु : फिर दिये, न दिये का प्रश्न ही उत्पन्न कहाँ होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐई बाबूभाई! भाई! यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है। कोई व्यक्तिगत के लिये नहीं। यह तो एक दृष्टान्त दिया।

मुमुक्षु : बड़े लोग यह दृष्टान्त दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कारण बड़े ने हिलाया है। दूसरे नहीं देते, ऐसा सुना है। सुना है। इसने हिलाया, फिर दूसरे साधारणवाले नहीं देते, कहे ऐसा। परन्तु यह सब खोटी बात है। इसके भाव का यह कर्ता। वह लेने-देने की क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं। आहाहा! गजब बातें, भाई! ऐई शान्तिभाई! देखो, अठारह है न, अठारहवाँ पद।

★ ★ ★

काव्य - १८

ज्ञान का कर्ता जीव ही है, अन्य नहीं है (दोहा)

ग्यान सरूपी आतमा, करै ग्यान नहि और।
दरब करम चेतन करै, यह विवहारी दौर।।१८।।

अर्थः-ज्ञानरूप आत्मा ही ज्ञान का कर्त्ता है और दूसरा नहीं है। द्रव्यकर्म को जीव करता है, यह व्यवहार-वचन है।।१८।।

काव्य - १८ पर प्रवचन

ग्यान सरूपी आतमा, करै ग्यान नहि और।
दरब करम चेतन करै, यह विवहारी दौर॥१८॥

आहाहा! भगवान ऐसा ज्ञानस्वरूपी चैतन्य, वह तो ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम और पर्याय को करे। कहो, पण्डितजी! यह श्रावक के छह आवश्यक के काम तो करे या नहीं? तब शास्त्र में किसलिए लिखा है? गुरु उपासना (आदि) छह बोल आते हैं या नहीं?

मुमुक्षु : बोले थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बोले थे कल। पण्डितजी!

मुमुक्षु : देव पूजा गुरु, उपासना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दया करनी। यह तो उस क्षण में—उस समय में वह परिणाम उसे आते हैं, ऐसा ज्ञान कराया है। आहाहा! गजब बात है यह! शास्त्र के भाव को समझना भारी कठिन! श्रावक के छह आवश्यक निरन्तर करना। अब यह करना नहीं, परन्तु उसे आते हैं, उन्हें जानना—ऐसा कथन है। निश्चय से '**णियमेण य जं कज्जं**' वह यह। ज्ञानभाव से स्वयं अपनी श्रद्धा... शुद्ध चैतन्य द्रव्य हूँ—ऐसी श्रद्धा, ऐसा ज्ञान, उसमें स्थिरता। समझ में आया?

एक व्यक्ति ने प्रश्न किया (होगा) निहालभाई से। उस पुस्तक में है कि मुझे स्थिरता क्यों नहीं होती? स्थिरता होती नहीं। तो उसे उत्तर दिया है कि स्थिर ऐसी चीज़ को पकड़ी नहीं, इसलिए स्थिरता नहीं होती। समझ में आया? जो अस्थिर है, उसे पकड़ा है, और अस्थिर तो अस्थिर ही रहनेवाला है। आहाहा! राग के परिणाम अस्थिर हैं, एक समय की पर्याय भी अस्थिर है, दूसरे समय रहेगी नहीं। आहाहा! समझ में आया? परिणाम को पकड़नेवाला स्थिर नहीं हो सकेगा।

यह कहे न, ज्ञानस्वरूपी आत्मा ज्ञान का कर्ता। ध्रुव भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु को पकड़ने से, वह स्थिर है तो परिणाम वहाँ स्थिर हो जाते हैं। उस परिणाम का कर्ता आत्मा है, ऐसा भेद से कथन होता है। आहाहा! कठिन बातें, भाई! समझ में आया? **और दूसरा नहीं... 'करे ग्यान नहि और'** और दूसरा नहीं (अर्थात्) दूसरा करता नहीं, ऐसा। **'ग्यान नहि और, करै ग्यान नहि और,'** ऐसा। **'नहि और'** अर्थात् दूसरा करता नहीं, ऐसा।

द्रव्यकर्म को जीव करता है, यह व्यवहार-वचन... मूढ़ जीवों का है। आहाहा! **'अप्पा कत्ता विकत्ता'....** आता है न? अनाथी मुनि का अधिकार। वहाँ यही लेते हैं सब। आत्मा कर्म को करे और कर्म को बाँधे और कर्म को भोगे। अनाथी मुनि। उत्तराध्ययन का २०वाँ अध्याय है न! अनाथी मुनि आते हैं। मैं रे अनाथी निर्ग्रन्थ, श्रेणिक राय... स्तवन आता है, हों! यह सब दुकान पर पढ़ा हुआ है। 'मैं रे अनाथी निर्ग्रन्थ, उसने छोड़ा रे सकल यह संग रे... श्रेणिकराय मैं रे अनाथी निर्ग्रन्थ।' मुनि ध्यान में बैठे थे। सुन्दर रूप, शरीर, पुण्यप्रकृति बहुत। श्रेणिक राजा निकले हाथी के हौदे। ऐसा जहाँ देखा, उस बबूल के नीचे बैठे हुए। बबूल-बबूल।

मुमुक्षु : बबूल।

पूज्य गुरुदेवश्री : बबूल। यह क्या? राजमहल में शोभे, वे बबूल के नीचे क्यों? यह कौन है यह?

नीचे उतरकर चरण छूकर, 'महाराज! मेरे राज में ऐसा? यहाँ यह शोभता नहीं आपको।' 'हे राजा! तू अनाथ है' ऐसा कहा। श्रेणिया! अनाथ है। साहेब! मुझे पहिचाना नहीं, मैं राजा हूँ। कहा न नाम तेरा श्रेणिक राजा। शब्द तो कहा। तुझे खबर नहीं? राजा तो दिखता है न तेरे शरीर में, तेरी खोपड़ी में सर्वत्र। अनाथ हो। महाराज! भूल जाते हो। मुझे तो कितनी ही स्त्रियाँ और कितनी ही लक्ष्मी और कितना शरण है। तू अनाथ है, कहते हैं। आहाहा! महाराज! अनाथ की व्याख्या मैं समझा नहीं (कि) क्या अनाथ कहते हो? बापू! शरणभूत चैतन्य भगवान है, उसकी शरण में गया नहीं और राग की शरण में अनाथ है, तेरी कोई रक्षा करनेवाला नहीं।

वह सज्झाय आती है, हों! श्वेताम्बर में आती है। चार सज्झायमाला नहीं? वहाँ अपने एक उन बालाभाई की दुकान चलती है वहाँ? बालाभाई छगन। चलती है वहाँ? अब नहीं होगी।

मुमुक्षु : पहले थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले थी, वह उनकी दुकान में सब मिलता था।

मुमुक्षु : अब दुकान चलती है उसे....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कुछ यहाँ सज्झायमाण नहीं एक। इसके लिये कहता हूँ। तीन सज्झायमाला है और एक चौथी नहीं। कौनसा तीसरा भाग? तीसरा भाग नहीं यहाँ।

मुमुक्षु : सज्झायमाला का?

पूज्य गुरुदेवश्री : सज्झायमाला का।

मुमुक्षु : खोज करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : खोज करना कहीं, हों! मिले तो।

यह सब चारों सज्झायमाला दुकान पर पढ़ी हुई है। एक उसमें तीन हाथ आयी। चौथी हाथ नहीं आती। तीन है यहाँ। वच्छराजभाई की वह अलमारी है न सामने, उसमें तीन है। वहाँ पड़ी है, देखो अन्दर होगी। नीचे डाली है।

मुमुक्षु : आड़े बैठे हुए हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आड़े बैठे। नीचे रखी। नीचे पड़ी है। उस भाग में जो खाना में नीचे। नीचे उस कौने में चार। नीचे के कौने के खाने में नीचे... वहाँ नीचे है। वे चार हैं बाँधी हुई, एक साथ बाँधी हुई है।

मुमुक्षु : लाओ, लाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह लाना नीचे है। यह चारों बस यह, यह चार... उसमें चार में एक तीसरा भाग नहीं है। पहला भाग दो (प्रतियाँ) है?

मुमुक्षु : हाँ, पहला भाग दो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चार है न (उसमें) एक तीसरा भाग नहीं। है चार (पुस्तकें), परन्तु एक पहला भाग दो (प्रतियाँ) हैं और दूसरा भाग और चौथा भाग, ऐसा है।

मुमुक्षु : तीसरा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीसरा नहीं। कहा था कौन भाई को यह ? कैसे वे रतनभाई खारा। खारा नहीं ?

मुमुक्षु : पत्र लिखा था परन्तु जवाब नहीं आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, जवाब नहीं आया। परन्तु अब अहमदाबादवाले कहीं तीसरा भाग मिले न, ध्यान रखना। उसकी सज्झाय भले ना.....

वहाँ ऐसा है उसमें। 'हे श्रेणिकराय! मैं रे अनाथी।' पहले ऐसा कहा, 'मैं अनाथ था। इसलिए मैंने यह (संन्यास) लिया।' अनाथ हो तो चलो न मेरे उसमें (महल में)। अरे राजन! तू स्वयं अनाथ है, सुन न! अब यह आत्मा क्या चीज़ है, उसकी तो तुझे शरण मिली नहीं। धूल के राज और पुण्य-पाप के विकल्प, वह तेरी शरण है ? भिखारी है, कहे, ऐई! हाथी के हौदे से उतरा और ऐसे देखे। आहाहा! यह वह कौन है महाराज ? पहिचानते नहीं मुझे ? पहिचानते नहीं, तुझे किसने कहा ? मुझे पहिचाना नहीं और अनाथ कह देते हो ? पहिचाना तुझे अब। यह तेरे पास धूल और यह राज है। अनाथ... अनाथ... भिखारी। कोई तुझे शरण नहीं। शरण भगवान आत्मा का लिये बिना अशरणी भिखारी हो तुम।

यहाँ कहते हैं, ऐसा होने पर भी अज्ञान के कारण से अज्ञान करे, तथापि जड़कर्म को तो करता नहीं। राग की क्रिया—क्रिया कोई कर सकता नहीं। आहाहा! यह सब होशियार मनुष्य तो सब संसार में डोर हाथ में रखते हैं सब। ऐई हरिभाई! डोर हाथ में नहीं रखते ? पतंग उड़े, हो (गया)। डोर हाथ में रखे और लड़के काम करे, सब करे परन्तु उसमें दिमाग में हाथ में डोर रखे। ऐई पोपटभाई! वे छह लड़के वहाँ काम करे, परन्तु पत्र मँगावे, हों! बराबर टाईमसर। टाईम से देना। किसने क्या किया ? यह उसके बिना डोर चलती होगी या नहीं ?

मुमुक्षु : क्या चले ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ...यह तो... कहते हैं, अज्ञानी बहुत तो राग और द्वेष के संकल्प-विकल्प जो अज्ञानभाव है, उसे वह (स्वयं को) भूले तो करे, परन्तु पर का एक अंशमात्र आँख की पलक भी फिरा सके, यह उसकी सामर्थ्य नहीं। आहाहा! अभी के तो बड़े-बड़े धमाल करते होंगे नहीं? ऐसा करते हैं, ऐसा कर डालना, कौन गया और फलाना गया, है न? यह कहते हैं, भाव को करे, दूसरा करे (नहीं)। द्रव्यकर्म चेतन करे, यह मूढ़ की मान्यता है, ऐसा कहते हैं। देखो, जैसे कषायभाव (हों), वैसा ही कर्म बँधता है। कषायी कर्मबन्धन का कर्ता (ऐसा) मूढ़ मिथ्यात्वी मानता है, ऐसा कहते हैं। यह तो अभी मकान-बकान के (बनाने के) भाव हों, ऐसा मकान हो, न हो, वह तो उसके (जड़ के) भाव प्रमाण (होता है)। यह तो जैसे भाव मलिन किये हों, उसी प्रमाण कर्म बँधता है, तथापि उस कर्म के बाँधने की क्रिया का कर्ता अज्ञानी आत्मा नहीं। समझ में आया? आहाहा! **द्रव्यकर्म को जीव करते हैं यह व्यवहार-वचन...** मूढ़ का वचन है, ऐसा कहते हैं। श्लोक अठारह। नीचे अठारह पद है न।

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव,
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव।
एतर्हि तीव्र-रय-मोह-निवर्हणाय,
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गल-कर्म-कर्तृ ॥१८॥

इस विषय में शिष्य की शंका। 'महाराज! अपने आप कर्म के रजकण बाँधे और जाये और यह हो। क्या कहते हो आप यह? जीव भाव करे तो रजकण बँधते हैं। ऐसा तो दिखता है और आप कहते हो, अपने आप बँधते हैं। क्या कहते हो आप यह? हमको कुछ समझ में नहीं आता।'

★ ★ ★

काव्य - १९

इस विषय में शिष्य की शंका (सवैया तेईसा)

पुग्गलकर्म करै नहि जीव,
कही तुम मैं समुझी नहि तैसी।
कौन करै यह रूप कहौ अब,
को करता करनी कहु कैसी।।
आपुही आपु मिलै बिछुरै जड़,
क्यौं करि मो मन संसय ऐसी?
सिष्य संदेह निवारन कारन,
बात कहैं गुरु है कछु जैसी।।१९।।

शब्दार्थः-बिछुरै=पृथक् होवे। संसय (संशय)=सन्देह, शक।

अर्थः-पुद्गल कर्म को जीव नहीं करता है, ऐसा आपने कहा सो मेरी समझ में नहीं आता। कर्म का कर्ता कौन है और उसकी कैसी क्रिया है? ये अचेतन कर्म अपने आप जीव से कैसे बँधते-छूटते हैं? मुझे यह सन्देह है। शिष्य की इस शंका का निर्णय करने के लिये श्रीगुरु यथार्थ बात कहते हैं।।१९।।

काव्य - १९ पर प्रवचन

पुग्गलकर्म करै नहि जीव,
कही तुम मैं समुझी नहि तैसी।
कौन करै यह रूप कहौ अब,
को करता करनी कहु कैसी॥
आपुही आपु मिलै बिछुरै जड़,
क्यौं करि मो मन संसय ऐसी?

देखो... देखो! क्या कहते हैं? कि आत्मा ने विकारीभाव किये बिना अपने आप

कर्म बँधे और ... हो ? यह बात तो हमको कुछ बैठती नहीं, भाई ! समझ में आया ? यह प्रश्न चलता है न अभी। (संवत्) २००६ के वर्ष में चला था वहाँ राजकोट। देखो, जीव राग करे तो वहाँ कर्म बँधे, इतना तो कर्म बँधने में पराधीनपना है या नहीं ? कैसे ? परन्तु राग करे तो वहाँ बँधे या राग न करे तो बँधे उसे ? कहो।

मुमुक्षु : दोनों स्वतन्त्र है....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भाषा तुमने 'स्वतन्त्र' की, लो। यह तो एक सीखे, रट रखा। परन्तु यहाँ मिथ्यात्व करे तो वहाँ दर्शनमोहनीय के परमाणु बँधते हैं। दर्शनमोह (का) भाव न करे और दर्शन (मोहनीय के) परमाणु बँधते हैं ? ऐई मालिकलालजी !

मुमुक्षु : हाँ बँधने को योग्य न हो, इसलिए नहीं बँधते या ऐसा न करे इसलिए नहीं बँधते ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रश्न हुआ वापस (संवत्) २००६ के वर्ष में वहाँ राजकोट। वह कहे, वहाँ भी राग हम करें तो कर्म बँधते हैं। यह देखो, इतना तो पराधीनपना कर्मबन्धन में आया या नहीं ? क्या कहा, समझ में आया ?

मुमुक्षु : हम विकार करें तो बँधे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह विकार करे तो बँधे, यह (तो) बँधने के कारण से बँधते हैं। राग विकार किया, इसलिए बँधते हैं—ऐसा नहीं है। आहाहा ! उन परमाणुओं में उस प्रकार की उस समय में कर्म की अवस्था होने की योग्यता से हुए हैं। जीव ने विकार किया, इसलिए वह कर्म बँधे, (ऐसा है नहीं)। आहाहा ! कठिन बात।

देखो न ! परन्तु तुमने अपने आप कर्म बँधते हैं.... यह कहा न, देखो। '**आपुही आपु मिलै बिछुरै जड, क्यौं करि मो मन संसय ऐसी ? सिष्य संदेह निवारन कारन, बात कहैं गुरु है कछु जैसी।**' पुद्गलकर्म नहीं जीव करे तो '**कही तुम मैं समुझी नहीं तैसी'...** मैं तो कुछ समझा नहीं, लो। ज्ञानावरणीय... शास्त्रपाठ स्वयं बोलता है शास्त्र... तत्त्वार्थसूत्र। छह कारण से ज्ञानावरणीय (बँधता है, ऐसा) आता है न ? बन्ध के अधिकार में छह कारण।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह। यह छह (भाव) कारण यदि करे तो ज्ञानावरणीय बँधता है। ऐसा पाठ उमास्वामी बोलते हैं। अपने आप, यह भाव न करे और अपने आप कर्म आ जायें? ऐसा कहते हैं, देखो!

'**पुग्गलकर्म करै नहि जीव, कही तुम मैं समुझी नहि तैसी**' क्या कहते हैं? हम समझते नहीं। '**कौन करै यह रूप कहौ अब**' तो वे परमाणु अपने आप बँध जाये ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि के? '**ये अचेतन कर्म अपने आप जीव से कैसे बँधते-छूटते हैं?** देखो! कैसे बँधे और कैसे छूटे? यह क्या कहते हो तुम यह? समझ में आया?

'**आपुही आपु मिलै बिछुरै जड़, क्यौं करि मो मन संसय ऐसी?**' अपने आप यह कर्म बँधते हैं? जीव विकार करे नहीं और बँधते हैं? हाँ, कहे। भाई! अपने आप वे बँधते हैं, सुन न! उन रजकणों की पर्याय में कर्म होने की योग्यतावाले परमाणु वहाँ परिणमते हैं। परमाणु तो अनन्तगुणे पड़े हैं वहाँ।

मुमुक्षु : वे ही क्यों परिणमे?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे ही क्यों परिणमे? उनकी अपनी पर्याय होने की योग्यतावाले वहाँ परिणमे हैं। आत्मा ने विकार किया, इसलिए परिणमे हैं—ऐसा नहीं है। समझ में आया? '**आपुही आपु... क्यौं करि मो मन संसय ऐसी? सिष्य संदेह निवारन कारन, बात कहैं गुरु है कछु जैसी।**' लो, १९ (पद) हो गया न यह।

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता॥१९॥

★ ★ ★

काव्य - २०

ऊपर की हुई शंका का समाधान (दोहा)

पुदगल परिनामी दरब, सदा परिनवै सोइ।
यातैं पुदगल करमकौ, पुदगल करता होइ।।२०।।

शब्दार्थः-परिनामी (परिणामी)=अपना स्वभाव न छोड़कर पर्याय से पर्यायान्तर होनेवाला। सोइ=वह। यातैं=इससे। होइ=होता है।

अर्थः-पुद्‌गल द्रव्य परिणामी है, वह सदैव परिणमन किया करता है, इससे पुद्‌गल कर्म का पुद्‌गल ही कर्ता है।।२०।।

काव्य - २० पर प्रवचन

ऊपर की शंका का समाधान। यहाँ (श्लोक) १९ है। ऊपर (पद) २० है। '**पुद्‌गल परिनामी दरव**' देखो, यह सिद्धान्त है। '**सदा परिनवै सोइ**' देखो, निरन्तर। '**यातैं पुदगल करमकौ, पुदगल करता होइ।**' आहाहा! गजब यह तो। यह तो नियत हो जाये, ऐसी बातें लोग करते हैं। आहाहा! पुद्‌गल परिणामी है। पुद्‌गल परमाणु कूटस्थ—एकरूप रहे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं। बदलने का उसका स्वभाव है। समझ में आया? गाथा, टीका में तो बहुत लिया है।

मुमुक्षु : वह और दूसरे प्रकार का लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। कि जब कर्म परिणमते हैं, तो वे अपने आप परिणमते हैं या दूसरा परिणमावे तो परिणमते हैं? अपने आप वे परिणमते हैं, ऐसा कैसे होगा? अपने आप परिणमते हैं, उस परिणमने की शक्ति को पर की अपेक्षा नहीं होती। कर्म के परमाणु अपने आप परिणमते हैं। जो परिणमने का उसका स्वभाव न हो तो दूसरा परिणमा नहीं सकता और परिणमते हैं अपने आप तो पर की अपेक्षा की परिणमने में आवश्यकता नहीं। आहाहा! गजब बात भाई जैनदर्शन! यह निमित्त विकार करे तो परिणमे, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। अरे! आहा!

'पुदगल परिनामी दरब' अपना स्वभाव न छोड़कर पर्याय से पर्यायान्तर होनेवाला... लो। आहाहा! पर्याय से पर्यायान्तर होते हैं। कर्मवर्गणायोग्य परमाणु हैं, वे कर्मरूप होते हैं। कर्मवर्गणायोग्य जो पर्याय है कर्म की, वह कर्मरूप होती है। उसके परिणाम के स्वभाव के कारण। जीव ने विकार किया, इसलिए ऐसा होता है—ऐसा नहीं है। समझ में आया? यह जैन में कर्म और आत्मा का बड़ा झगड़ा। यह कर्म के कारण ही अपने होता है।

मुमुक्षु : यह जैन में ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे (कहें) ईश्वर के कारण होता है। यह उसका जीव—चेतन कर्ता। इसका कर्म कर्ता। या मैं कर्म को बाँधूं और कर्म मुझे बाँधे—दोनों खोटी बात है। ऐसा है पण्डितजी! यह कर्म के परमाणु अपने आप बँध जाते हैं? देखो, यह कहे, मुझे तो संशय होता है भैया!

देखो, **'मिलै-आपुही आपु मिलै बिछुरै'** अपने आप वे परमाणु बँधते हैं और फिर परमाणु अपने आप छूटते हैं? हाँ, ऐसा कहो कि विकार करे तो कर्म बँधते हैं और धर्म करे तो कर्म छूट जाते हैं। तब तो बात मुझे बैठे।

मुमुक्षु : वह भी स्वतन्त्र और यह भी स्वतन्त्र....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वतन्त्र भले, परन्तु आत्मा स्वयं आत्मा का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन और ज्ञान प्रगट हुआ, वहाँ दर्शनमोह के परमाणु पलटकर जड़ अकर्म हो जाते हैं। अकर्म होते हैं। नहीं, यह तो उस समय अकर्म पर्याय होने की योग्यता से अकर्म (रूप) होते हैं।

'बिछुरै' है न। कहा **'बिछुरै'**। वह कर्मरूपी पर्याय होने के काल में भी उसके परमाणु में वह योग्यता थी और छूटने के काल में भी वह **'बिछुरै'** उसकी पर्याय में वह योग्यता उसके कारण से (हुई)। इसने धर्म किया, इसलिए कर्म को छूटना हुआ, ऐसा नहीं है। पण्डितजी! भारी कठिन बात! मूल बात की खबर नहीं होती, फिर झगड़ा... झगड़ा। शास्त्र में ऐसे आवे व्यवहार के कथन, इसलिए यह व्यवहार लिखा है। भाई! सब है, सुन न अब! वह कहे, इस समयसार में से निकाल दूँ तुम्हारे में से, कहे। ऐसा

कहे, व्यवहार की क्रिया से धर्म होता है और पर का किया जा सकता है, ऐसा।

कहा, भाई! हम किसी के साथ चर्चा नहीं करते। क्या करें परन्तु? कहा। तो तुम्हारे लिये लोग क्या विचारेंगे? तुम ऐसा विचारते (हो) कि ऐसे बड़े कहलाते हो और कानजीस्वामी अर्थात् ऐसे फलाना... तो ऐसा तुम कहोगे तो तुम्हारे लिये क्या विचारेंगे? चाहे जैसा विचारे। भान बिना के हमको (चाहे जो) विचार तो वे स्वतन्त्र हैं, हमारे क्या है? उन्हें उत्तर देना नहीं आया, इसलिए यह चर्चा नहीं करते। स्वतन्त्र है। तुम्हारे लिये क्या विचारेंगे लोग? जब तुम ऐसे जवाब दे दोगे। चाहे जैसा माने। इससे हमको क्या? तुम्हारे साथ चर्चा करके समझाने की शक्ति कुछ हमारी नहीं है। उसे ऐसा ही बैठा है कि आत्मा स्वयं विकार करे तो कर्म बँधते हैं और धर्म करे तो कर्म छूटते हैं। चश्मा हो तो ज्ञान होता है, चश्मा न हो तो ज्ञान नहीं होता। अब ऐसा तो शल्य पड़ा, अब उसे समझाना कैसे?

मुमुक्षु : समझने की उसकी योग्यता नहीं, फिर क्या बात करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चलता है न। यह देखो चश्मा। है न अपने ४७ (निमित्त)-उपादान के (दोहे)। बिना आँखवाले को तेरा चश्मा दे, ले। इसलिए आँख का कारण है नहीं। जानता है वह स्वयं के कारण से जानता है, आँख के कारण से नहीं। यह आँख होने पर भी वह जाननेवाला न हो तो कौन जाने? आँख के कारण नहीं। वह तो जड़-मिट्टी है। आहा! सवेरे आया था, वह तो उपयोग का सवेरे (आया था)। बारह प्रकार का उपयोग है न—पाँच ज्ञान, चार दर्शन = नौ और तीन अज्ञान। यह बारह प्रकार की जिस समय में जो पर्याय होती है, वह स्वयं से होती है। वह अपने द्रव्य को अनुसरकर (होती है)।

यहाँ कहे, देखो, उतार डालो चश्मा। परन्तु अब उतारे कौन और रखे कौन? सुन न! वह तो जड़ की क्रिया है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसे खबर ही नहीं जड़ की क्रिया क्या और चेतन की क्रिया क्या? जड़-चेतन का तो खिचड़ा करे न....

पूज्य गुरुदेवश्री : और बड़ा पण्डित नाम धरावे और ऐसा भाषण करे। लोग जड़

जैसे बैठे हों, उसे ... लगे। बराबर है। देखो, अपने आँखें-चश्मा बिना (जानते) होंगे? चश्मा बिना ज्ञात हो तो जाना। सुन न, यह नहीं जानने का होता है, वह भी स्वयं की योग्यता के कारण से है और जानने का होता है, वह भी स्वयं की योग्यता के कारण से है। चश्मा के कारण से बिल्कुल नहीं। परद्रव्य के कारण से आत्मा में कुछ फेरफार होता नहीं। अज्ञानियों की ऐसी भ्रमणा है। आहा!

मुमुक्षु : साधु भगवान....

पूज्य गुरुदेवश्री : साधु किसे कहना अभी भान नहीं होता। तत्त्व की दृष्टि की अभी खबर नहीं होती और साधु कहाँ से लाना? आहाहा! क्या हो? वे पैसेवाले आवे और (इसने) छोड़ा हो और उसे ऐसा हो कि आहाहा... हमने तो बहुत छोड़ा।

मुमुक्षु : दूसरे से अलग।

पूज्य गुरुदेवश्री : अलग कुछ धूल भी नहीं। यहाँ तो कहते हैं, '**पुदगल परिनामी दरव सदा परिनवै**' यहाँ वजन है। सदा परिणमे तो कर्म होने के समय स्वयं परिणमे, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? सदा धारावाही परिणमता है। उसमें आत्मा एक है। **सदैव परिणमन किया करता है।** निरन्तर धारावाही। अनादि से परमाणु परिणमन की क्रिया अनादि से धारावाही करते हैं। उस समय कर्म की पर्याय होने के काल में स्वयं धारावाही में कर्म की पर्यायरूप से परिणमते हैं। वह कहीं आत्मा के कारण से या आत्मा परिणमावे तो परिणमे, ऐसा है नहीं। आहाहा!

'**यातैं पुदगल करमकौ, पुदगल करता होइ**' किसलिए? कि पुद्गल एक तो परिणमन स्वभाववाले हैं, बदलने के स्वभाववाले हैं। ऐसा कि कर्मरूप क्यों हुए? कि उनका बदलने का स्वभाव था। यहाँ आत्मा का धर्म किया और कर्म क्यों छूट गये? कि उनका बदलने का स्वभाव था। यह इसने किया, इसलिए वहाँ छूटे—ऐसा नहीं है। आहाहा! कहो, पोपटभाई!

मुमुक्षु : बहुत न्यायसभर बाल।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन बात, भाई! ऐसी ... यह भान बिना के फिर करे

सामायिक, प्रौषध और प्रतिक्रमण और भगवान की भक्ति। रण में शोर मचाने जैसी है सब। आहाहा!

'**पुदगल परिनामी दरव सदा परिनवै सोइ**' सदा परिणमे सोई। परिणमन का अर्थ उस समय अपना परिणाम है, इसलिए परिणमते हैं, ऐसा कहते हैं। '**यातैं पुदगल करमकौ, पुदगल करता होइ**' लो! कर्म का पुद्गल कर्ता है। परन्तु कर्मरूप परिणित पर्याय ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय की हुई, वह उसका कर्ता उसके परमाणु हैं। आत्मा ने विकार किया, इसलिए यहाँ करता है और परमाणु को परिणमना पड़ता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? दो पलड़े हों न पलड़े। तो यहाँ सेर (वजन) रखे तो यहाँ सेर माल हो तो काँटा समान आवे। परन्तु यहाँ सेर हो और यहाँ पच्चीस भार हो (तो) काँटा समान न आवे। उसके कारण से आता है, ऐसा है? ऐसा कहते हैं। कहे, नहीं। कठिन अरे!

यहाँ सेर और यहाँ पैंतीस भार। काँटा ऐसा रहेगा। उसके कारण से रहा या नहीं? कहे, नहीं। काँटा समझते हो? देखो, जड़ में कितनी सामर्थ्य है। ऐसा कहते थे तुम्हारे। कितनी सामर्थ्य है कि ऐसे तौल-माप दे काँटा। यह ३५ भार है और यह ४० भार है, माप दे। किसका माप दे? कहा। जाने कौन? परमाणु काँटा का स्वभाव है ऐसा। वह ऐसे झुका, इसलिए इसके कारण से ऐसा झुका है, ऐसा नहीं है। यहाँ ३५ भार है और ४० भार है, इसलिए ऐसा रह गया थोड़ा काँटा, ऐसा नहीं है। उस समय काँटा के परमाणु की पर्याय उस प्रकार से परिणमने की थी और परिणमी है। गजब! समझ में आया?

यह सब्जी दे न सब्जीवाले। खबर है? देखा है तौल? तौलने में आया है? वह जरा सा ऐसा तौलने के समय वह सब्जी डाले ऐसे। तराजू में बढ़ाने में ऐसे ठोके, डाले इसलिए वह झुक जाये एकदम।

मुमुक्षु : जोर से डाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : जोर से डाले। हो कम परन्तु जोर से डाले वह तौल। वे शाकभाजी बेचनेवाले होते हैं न। एक ओर—इस ओर पाँच सौ रखा हो, उस ओर मूला डाले। ऐसे डाले तो ऐसे एकदम वह झुक जाये। उसके कारण से झुका है या नहीं नीचे?

मुमुक्षु : उसकी क्रियावतीशक्ति।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके स्वयं के कारण से। ऐसा जगत में, बापू! तेरी पर्याय की भी वही सामर्थ्य तेरे कारण से है। यह बाद में आयेगा। वह तो पुद्गल की बतायी। समझ में आया? ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, इस प्रकार यथार्थ ज्ञान न करे और विपरीत करे तो उसे मिथ्यात्व शल्य लगती है। आहाहा!

२० वाँ कलश।

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता।।२०।।

★ ★ ★

काव्य - २१

जीव चेतना संजुगत, सदा पूरण सब ठौर।
तातैं चेतन भावकौ, करता जीव न और।।२१।।

शब्दार्थ:-संजुगत=संयुक्त, सहित। वैर=जगह, स्थान।

अर्थ:-जीव चेतना संयुक्त है, सब जगह सदा पूर्ण है, इस कारण चेतनभावों का कर्ता जीव ही है और कोई नहीं है।।२१।।

काव्य - २१ पर प्रवचन

जीव चेतना संजुगत, सदा पूरण सब ठौर।
तातैं चेतन भावकौ, करता जीव न और॥२१॥

विकारी को यहाँ सिद्ध करना है, हों! '**जीव चेतना संजुगत**' जीव तो चेतनासहित है। वह चेतना राग (भाव) कर्मरूप परिणमे—कर्मचेतनारूप से। कर्मचेतना समझ में आती है? पुण्य-पाप के राग को कर्म कहा जाता है। उस कर्मचेतनारूप से परिणमे तो

उसकी स्वयं के कारण से है। कर्म का उदय आया, इसलिए कर्मचेतनारूप से परिणमता है—ऐसा नहीं है। समझ में आया ? अरे! गजब ऐसी बात! सम्प्रदाय में तो यह सब गड़बड़ ही चलती है। सब गड़बड़ ही चलती है। क्या हो ?

मुमुक्षु : वहाँ स्वतन्त्रता की बात ही नहीं। परतन्त्रता की ही बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : 'संजुगत सदा पूरण' ऐसा शब्द लिया है न! ऐसे तो **'स्वभावभूता'** है न, उसमें से निकाला वह। वह स्वभाव है उसका, उस समय में आत्मा रागरूप—द्वेषरूप—विषयवासनारूप जिस समय होता है, उस रूप उसके 'स्वस्य भवनम् स्वभावं' अपनी पर्याय का स्वभाव है, इसलिए होता है। कर्म का उदय आया, इसलिए यहाँ विकाररूप होता है, ऐसा नहीं है।

विकाररूप से परिणमने का अपना स्वभाव, वह दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता और न परिणमे और दूसरा परिणमा दे, ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया ? आहाहा! यह बड़ा विवाद। जीव में राग-द्वेष होते हैं, ज्ञान की हीन दशा होती है, वह कर्म का जितना भाग हो, उतना उदय आवे तो होती है। कर्म का क्षयोपशम हो, वहाँ उघाड़ का क्षयोपशम होता है। बड़ा विवाद है। क्या कहलाता है वह ? उत्तराध्ययन में ऐसा आया। रिकॉर्डिंग। उसमें यह आया है। ज्ञानावरणीय का जितना उघाड़ हो, उतना यहाँ क्षयोपशम होता है। ज्ञानावरणीय का उदय हो, उतना यहाँ वेदन होता है। कहो, यहाँ इनकार करते हैं। पण्डितजी!

'जीव चेतना संजुगत' संयुक्त—सहित है जीव। यह चेतना **सब जगह सदा पूर्ण है।** पूर्ण अर्थात् स्वतन्त्र है, ऐसा। रागरूप से परिणमो, क्रोधरूप से परिणमो, विषयवासनारूप से होओ, उस-उस समय की उस-उस पर्याय की योग्यता से वह होता है। कर्म के कारण से नहीं, पूर्व की पर्याय के कारण से नहीं। समझ में आया ? और यह प्रश्न आया था (संवत्) १९९५ में। उपादान से होता है, ऐसा कहो तो कर्म का उपादान ऐसा ही हो कि वहाँ आगे कठोररूप से परिणमने का (हो) तो जीव को राग-द्वेष करना ही पड़े। ऐसा प्रश्न आया था। (संवत्) १९९५। राजकोट। क्यों, कर्म भी स्वतन्त्र है न ? स्वतन्त्र है (इसलिए) उसके उपादान की तीव्र परिणमने की योग्यता है जब दर्शनमोह, चारित्रमोह

आदि (पने) और वह परिणमेगा ही। और उसके कारण आत्मा में भी ऐसा विकार करना पड़ेगा।

मुमुक्षु : निमित्त-नैमित्तिक।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त-नैमित्तिक। परन्तु वह दोनों बात खोटी है। वहाँ उसकी परिणमने की योग्यता हो तो यहाँ परिणमे, ऐसा भी नहीं और यहाँ परिणमता है, इसलिए वह कर्म की पर्याय होती है कर्म में, ऐसा भी नहीं। भारी गड़बड़ है।

'तातैं चेतन भावकौ, करता जीव न और' देखो, **और** अर्थात् कर्म का उदय आत्मा के विकार का कर्ता नहीं, ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया? जैसा उदय का जोर हो कर्म का... नदी के पानी का जोर हो, मनुष्य बहते जायें उसमें, लो।

मुमुक्षु : शास्त्र में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहा था। पानी का पूर—जोर हो... लठ्ठ जैसा मनुष्य हो। हमारे उमराला में हुआ था। तब वहाँ छोटी उम्र की बात है, हों! सत्तर वर्ष पहले। एक ब्राह्मण पड़ा हुआ ढोल के स्थान में। उस ढोल में जाना था। सीधे-सीधा जाये तो पहुँचे नहीं। क्योंकि पानी में जोर था न, इसलिए ऐसे... ढोल में पानी था, इसलिए ऊपर ऐसे आंबावाड़ी है वहाँ पड़ा। अर्थात् क्या इतना आड़ा होकर जाया जाये, ऐसा। परन्तु इतने से भी नहीं जाया गया। मुश्किल-मुश्किल से निकला।

मुमुक्षु : बह जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : बह जाये, बहुत बहे। पानी का जोर इतना। अब उस पानी के कारण बहा है या नहीं?

मुमुक्षु : अपने आप।

पूज्य गुरुदेवश्री : ब्राह्मण था ब्राह्मण एक। हमेशा ऐसे ढोल डाले न सामने, वहाँ पूजा करने जाये। वह ऐसे सीधा पड़े तो जाया जाये नहीं। वहाँ पानी का बहुत दल जोर है न, इसलिए बहुत दूर से... जाना है ऐसा। दो-चार खेत, पाँच खेत आगे ऊपर से पड़ा, इसलिए यहाँ निकलेगा। नहीं निकला। देखो, पानी के जोर के कारण हुआ या नहीं?

यहाँ इनकार करते हैं। उसका उस समय का परमाणु की पर्याय और जीव की पर्याय उस प्रकार से होनेवाली (थी)। आहाहा! गजब बात, भाई!

मुमुक्षु : डूब गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, डूबा नहीं। जीवित रहा। निकला आगे। दूर निकला। बहुत दूर निकल गया। फिर तो उसे ऐसा जाना था वहाँ ढोळ में। बहुत दूर निकलकर वहाँ से फिर गया। नदी के किनारे उतर गया उस ओर, फिर वहाँ से ऐसे दूर से निकला। बहुत वर्ष की बात है। पानी बहुत आया हुआ। कहो, अब उसमें लोग तो क्या कहे?

इसी प्रकार कर्म के उदय का जोर हो तो जीव को विकार करना पड़े। 'उदय महा बलवान है, नहीं पुरुष बलवान।' नहीं कहा?

मुमुक्षु : बन्ध अधिकार में आता है, इसमें ही आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहो, आता है या नहीं? यह उदय बलवान का अर्थ कि विकारी परिणाम तेरे हो, तब तेरा उदय बलवान तुझे कहलाये। उसके—उदय के कारण यहाँ है, ऐसा कौन कहता है, ...! आहाहा! नौ तत्त्व की जैसी स्थिति है, उसकी अभी अवस्था की स्वतन्त्रता की खबर नहीं होती। उसे आत्मा अकेला ज्ञायकमूर्ति ध्रुव का आश्रय करने से धर्म होता है, इस बात की उसे गन्ध भी नहीं आती।

'करता जीव न और' अपनी विकारी पर्याय जितने प्रमाण में करे, उसका कर्ता जीव है। उसे कर्म का उदय है, इसलिए यहाँ विकाररूप परिणमता है, ऐसा नहीं है। परिणमन की शक्ति अपनी है, इसलिए परिणमता है, ऐसा वस्तु का स्वतन्त्र स्वरूप है। ऐसा जानने से उसकी पराधीन दृष्टि निकल (जाती है)। मेरे कारण से होता है और मैं द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करूँ, विकार भी हो नहीं, यह आत्मा के अधिकार की बात है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४५, फाल्गुन कृष्ण ५, मंगलवार, दिनांक १६-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद २२, २३, २४

समयसार नाटक, कर्ता-कर्म-क्रिया (अधिकार)। २२ (पद)। नीचे २१वाँ कलश है। २१ कलश।

ज्ञानमय एव भाव: कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्य:।
अज्ञान-मय: सर्व: कुतोऽय-मज्ञानिनो नान्य:।।२१।।

शिष्य का प्रश्न है कि '**ग्यानवंतकौ भोग निरजरा हेतु है।**' आपने तो कहा कि ज्ञानी को कर्मबन्धन है नहीं। अज्ञानी को कर्मबन्धन है, ऐसा कहा था न! आत्मा का भान हुआ (कि) आत्मा ज्ञानस्वरूप आनन्द, उस जीव को कर्मबन्धन नहीं अर्थात् कि बन्धन में उसे निमित्तपना नहीं। नये कर्म जो बँधते हैं, उसमें ज्ञानी का निमित्तपना नहीं, अर्थात् कि इसे बन्धन ही नहीं। समझ में आया? और अज्ञानी को नये कर्म बँधें, उसमें वे (रागादि) निमित्त है। इसलिए ज्ञानी को ज्ञानभाव होता है, उसे पूर्व के कर्म का उदय सब खिर जाता है। अज्ञानी को पूर्व के कर्म के उदय में अहंकार और ममता है, इसलिए उसे कर्मबन्धन में उसका निमित्तपना होता है। तो शिष्य का प्रश्न है। पुस्तक नहीं मिली? कहाँ गयी? (पद) २२।

★ ★ ★

काव्य - २२

शिष्य का पुन: प्रश्न (अडिल्ल छंद)

ग्यानवंतकौ भोग निरजरा-हेतु है।
अज्ञानीकौ भोग बंध फल देतु है।।
यह अचरजकी बात हिये नहि आवही।
पूछै कोऊ सिष्य गुरू समझावही।।२२।।

शब्दार्थ:-भोग=शुभ अशुभ कर्मों का विपाक। निर्जरा-हेतु=कर्म झड़ने के लिये। हिये=मन में।

अर्थ:-कोई शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरुजी! ज्ञानी के भोग निर्जरा के लिये हैं और अज्ञानी के भोगों का फल बंध है, यह अचरज भरी हुई बात मेरे चित्त पर नहीं जमती? इसको श्रीगुरु समझाते हैं।।२२।।

काव्य - २२ पर प्रवचन

ग्यानवंतकौ भोग निरजरा-हेतु है।
अज्ञानीकौ भोग बंध फल देतु है॥
यह अचरजकी बात हिये नहि आवही।
पूछै कोऊ सिष्य गुरू समझावही॥२२॥

'**ग्यानवंतकौ भोग**' प्रभु! आपने तो ऐसा कहा कि जिसे आत्मा का ज्ञान और आत्मा का भान हुआ, उसे पूर्व के शुभ-अशुभकर्म का विपाक खिर जाता है। समझ में आया? भोग अर्थात् पूर्वकर्म जो है, वह शुभ-अशुभरूप से उदय आवे, उसकी ज्ञानी को निर्जरा हो जाती है। ऐसा आपने ज्ञानी के भोग को निर्जरा का हेतु (कहा) इस प्रकार से। '**अज्ञानीकौ भोग बंध फल देतु है**' अज्ञानी को पूर्व के शुभ-अशुभकर्म के फल अथवा उदय आवे, उसका उसे भाव प्रगट हो कि मैं यह राग आदि हूँ। इससे बन्ध अपने आप होता है। '**यह अचरजकी बात हिये नहि आवही**' महाराज! यह अचरज की बात है, हों! यह हमको हृदय में बैठती नहीं।

कहो, शिष्य प्रश्न करता है। '**यह अचरजकी बात हिये नहि आवही**' '**पूछे कोऊ सिष्य गुरू समझावही**।' जिसे ऐसी शंका अथवा आशंका है, उसे प्रश्न उठा है, उसे गुरु समझाते हैं। २२वाँ कलश।

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते।।२२।।

इसका पद २३वाँ। **ऊपर की हुई शंका समाधान।**

★ ★ ★

काव्य - २३

ऊपर की हुई शंका का समाधान (सवैया इकतीसा)

दया–दान–पूजादिक विषय–कषायादिक,
दोऊ कर्मबंध पै दुहूकौ एक खेतु है।
ग्यानी मूढ़ करम करत दीसैं एकसे पै,
परिनामभेद न्यारौ न्यारौ फल देतु है।।
ग्यानवंत करनी करै पै उदासीन रूप,
ममता न धरै तातैं निर्जराकौ हेतु है।
वहै करतूति मूढ़ करै पै मगनरूप,
अंध भयौ ममतासौं बंध–फल लेतु है।।२३।।

शब्दार्थ:–खेतु (क्षेत्र)=स्थान। परिनाम (परिणाम)=भाव। उदासीन=रागादि रहित। मगनरूप=तल्लीन। अंध=विवेकशून्य।

अर्थ:–दया, दान, पूजादि पुण्य वा विषय–कषाय आदि पाप दोनों कर्मबंध हैं और दोनों का उत्पत्तिस्थान एक ही है। इन दोनों प्रकार के कर्मों के करने में सम्यग्ज्ञानी और मिथ्यात्वी एक से दिखते हैं, परन्तु उनके भावों में अन्तर होने से फल भी भिन्न–भिन्न होता है। ज्ञानी की क्रिया विरक्तभावसहित और अहंबुद्धि रहित होती है, इसलिए निर्जरा का कारण है, और वही क्रिया मिथ्यात्वी जीव विवेकरहित तल्लीन होकर अहंबुद्धिसहित करता है, इसलिए बन्ध और उसके फल को प्राप्त होता है।।२३।।

काव्य - २३ पर प्रवचन

दया-दान-पूजादिक विषय-कषायादिक,
दोऊ कर्मबंध पै दुहूकौ एक खेतु है।
ग्यानी मूढ़ करम करत दीसैं एकसे पै,
परिनामभेद न्यारौ न्यारौ फल देतु है॥

ग्यानवंत करनी करै पै उदासीन रूप,
ममता न धरै तातैं निर्जराकौ हेतु है।
वहै करतूति मूढ़ करै पै मगनरूप,
अंध भयौ ममतासौं बंध-फल लेतु है॥२३॥

कहते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी... दया-दान-पूजा के भाव हैं, वे किंचित् शुभभाव हैं। दया का भाव, दान का भाव, पूजा, भक्ति इत्यादि, वह शुभभाव है। विषयकषाय का भाव, वह अशुभ है। '**दोऊ कर्मबंधन**' दोनों कर्म के बन्धन का कारण है। क्योंकि '**दुहूकौ एक स्थान।**' दोनों विभाव परिणति—विकार परिणति हैं। समझ में आया? दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत, तप—यह विकल्प जो है, वह सब शुभभाव है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोगवासना, वह अशुभ है। दोनों का एक स्थान ही है। दोनों का विभावस्थान है, स्वभावस्थान नहीं।

'**ग्यानी मूढ़ करम करत दीसैं एकसे**' धर्मी और अज्ञानी दोनों के कार्य समान दिखाई दे। समझ में आया? ज्ञानी और मूढ़ अर्थात् अज्ञानी। '**करम करत दीसैं**' यह दोनों एक से काम करते दिखाई दे। '**पै परिनामभेद**' है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है। धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे शुभाशुभभाव आवे, उसका वह स्वामी नहीं होता। वह अपने स्वभाव में अहंपने उसे खतौनी नहीं करता। समझ में आया? यह स्वच्छन्दी होने की बात नहीं है, हों! कि हम तो चाहे जैसे भोग भोगते हैं तो हमारे निर्जरा है (क्योंकि) हम ज्ञानी हैं, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : वह तो अज्ञानी की बात।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानी की व्याख्या—आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप का जहाँ अनुभव हुआ है। ऐसे अनुभव में उसे पुण्य और पाप के पाक, विकल्प आवे—हो, तथापि उस ओर की दृष्टि नहीं, उसमें अहंपना नहीं, उससे दृष्टि और ज्ञान विरक्त है। समझ में आया? परिणामभेद है। '**न्यारौ-न्यारौ फल देतु है।**' आहाहा!

ज्ञानी को राग आवे—हो, परन्तु वह उसे जहर जैसा लगता है। उन राग के परिणाम के ऊपर अहंपना नहीं है। आहाहा! समझ में आया? राग और शरीर और कर्म

से भिन्न भगवान आत्मा—आनन्द और ज्ञान से भरपूर भगवान भण्डार आत्मा—ऐसा जिसे अन्तर में भान हो, उसे अपने स्वभावपने में अहंपना रहे। परन्तु विभाव के परिणाम में अहंपना और उसमें एकपना उसे नहीं रहता। यह बात गजब! कहो, समझ में आया? दया-दान-पूजा हो या विषय-कषायभाव हो—दोनों बन्ध के कारण हैं। धर्मी ने अपना स्वभाव राग और कर्म के बन्ध से रहित और आनन्द के, ज्ञान के भाव से सहित अनुभव किया है। समझ में आया? ज्ञान में अपना स्वभाव ज्ञेयरूप से जाना है। श्रद्धा में—मान्यता में उसे भी श्रद्धा की है कि मैं तो पुण्य-पाप रहित हूँ। मेरे आनन्द और मेरे ज्ञानस्वभाव में मैं हूँ। ऐसे अस्तित्व के अहंपने के अनुभव के कारण से पुण्य और पाप के भाव—पाप में दिखता है तो भी उससे धर्मी विरक्त है, अहंपना नहीं। कहो, सेठी! गजब भाई यह! दोनों समान दिखाई दे ऐसा करके।

देखो, '**परिनाम भेद न्यारौ-न्यारौ फल देतु है।**' परिणाम की भिन्नता के कारण दोनों के फल भी भिन्न-भिन्न हैं। यही अज्ञानी पूजा-दया-दान के भाव करे और विषयकषाय के भाव हो, उसमें अज्ञानी के परिणाम में एकपना है। स्वभाव और वे दोनों एकपने है, विरक्त नहीं। इसलिए उसमें अहंपना मानकर मिथ्यात्वपने के भाव से नये बन्धन का कारण अज्ञानी को वे परिणाम होते हैं। आहाहा! कहो, जेठाभाई! ज्ञानी को भोग निर्जरा का हेतु अर्थात् कि भोग का भाव निर्जरा का हेतु नहीं। यहाँ तो चैतन्यस्वरूप अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का सागर भगवान, ऐसा जहाँ अनुभव हुआ है, उस अनुभव के कारण उसे पुण्य-पाप के विकल्प में मिठास उड़ गयी है।

मुमुक्षु : संसार बढ़े ऐसा भाव होता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु है ही नहीं। वह भाव ही नहीं। वह भाव उसका नहीं, ऐसा कहा। यहाँ तो उसका भाव नहीं, इसलिए खिर जाता है, ऐसा सिद्ध करना है न। ऐई! आहाहा! जहाँ चैतन्य भगवान अनन्त आनन्द अतीन्द्रियरस से भरा है। ऐसे भरे भण्डार के ऊपर जिसकी—धर्मी की दृष्टि है, ऐसे अनुभव के कारण उसे पुण्य-पाप के विकल्प की एकता नहीं होती। इसलिए उसमें अहंपना नहीं होता। इसलिए वे परिणाम उसके निर्मल होने से, वह भाव उसे खिर जाता है। आहाहा! समझ में आया?

क्यों परिणाम न्यारा और क्यों फल भेद—न्यारा, ऐसा स्पष्टीकरण करते हैं। **'ग्यानवंत करनी करै पै उदासीन रूप'** देखो! राग आदि हो उसमें, करे तो एक समझाना है। शुभ-अशुभभाव धर्मी को होते हैं, ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। समझ में आया? उसकी भूमिका में निर्बलता के कारण शुभ दया-दान-पूजा; (अशुभ) विषयकषाय आदि की वासना का भाव हो, परन्तु उदासीनरूप है। धर्मी जीव को शुभ-अशुभभाव जहर जैसा लगता है। इससे आत्मा के अमृतस्वभाव में उनका एकपना नहीं करता। ऐसी बात है।

मुमुक्षु : उदासीनता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उदासीनता का अर्थ यह है कि उसमें एकता नहीं। उससे हट गये हैं दृष्टि—ज्ञान। समझ में आया? आहाहा! अभी तो पात्रता भी न हो ठिकाने की, फिर ऐसा माने कि हम ज्ञानी हो गये और हमारे अब यह भोग निर्जरा का हेतु है। मर जायेगा वह तो। समझ में आया?

मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखा है न कि अभी तो पर की ममता के भाव भी श्रद्धा में विपरीतरूप से पड़े हैं और वह निर्विकल्प होना चाहे निर्विकल्प, तो कहाँ से होगा परन्तु वह? समझ में आया? भाई! आता है मोक्षमार्गप्रकाशक में। सविकल्प और निर्विकल्प की व्याख्या करते हुए। कितने ही अभी तो राग की तीव्रता, उसकी अनीति के भाव तीव्र पड़े हैं और वह निर्विकल्प होना चाहता है। कभी नहीं होगा तीन काल में। ऐई! मोक्षमार्गप्रकाशक में लिया है। आठवें (अध्याय) में लिया है। समझ में आया?

यहाँ तो, आत्मा अन्तर से राग और निमित्त से हटकर स्वभाव का अनुभव हुआ है, ऐसा कहते हैं। इसलिए इस स्वभाव के अनुभव के परिणाम में उसे राग के परिणाम की एकता नहीं रहती और विरक्तता रहती है। इतना पुरुषार्थ स्वभाव-सन्मुख हो गया है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? और ज्ञानी को **'ममता न धरै ज्ञानी तातैं निर्जराकौ हेतु है'** राग आदि भाव (हों), परन्तु स्वभाव का भान है, उसमें राग के भाव में एकपने नहीं होता। वह आकर छूट जाता है, ऐसा कहते हैं। दिखाई दे राग आदि का, परन्तु स्वभाव की ध्रुवता के ऊपर दृष्टि के जोर से....

(समयसार) ११वीं गाथा में आता है न भाई! शुद्धनय अनुसार बोध होनेमात्र से... ११वीं गाथा। निश्चयनय है, वह ज्ञान है और उसका विषय ध्रुव है।

मुमुक्षु : ज्ञान होनेमात्र।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान हुआ। ज्ञान हुआ। शुद्धनय अनुसार बोध होनेमात्र से... ऐसा है ११वीं मूल गाथा। उसकी टीका (में) उसका सिद्धान्त उसमें सिद्ध किया। समझ में आया? '**भूयत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो**' अर्थात् क्या? कि स्वयं निश्चयनय अर्थात् शुद्धनय जो है, उसका विषय ध्रुव है, परन्तु वह विषय (अलग) न लेकर, उस शुद्धनयस्वरूप ही ध्रुव है, (ऐसा कहा)। समझ में आया? ऐसे ध्रुव का ज्ञान होने से, 'ज्ञानमात्र' होने से उसे यह आत्मा हूँ और रागादि नहीं, ऐसा भेदज्ञान हो जाता है। बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! वीतराग का मार्ग! बाहर के साथ तो विवाद और वाद-विवाद... वाद-विवाद....

यहाँ तो कहते हैं, ज्ञानी के परिणाम में ज्ञानपरिणाम है उसे, अर्थात् कि जानने के परिणाम उसे उठते हैं। ज्ञानी स्वभाव के भानवाला, उसे तो ज्ञान और आनन्द के परिणाम उठते हैं। इससे उसके परिणाम के भेद के कारण से उसे विकल्प के परिणाम की एकता—अहंता होती नहीं, इसलिए वे टूट जाते—छूट जाते हैं। समझ में आया?

'**ग्यानवंत करनी करै पै उदासीन रूप**' आहाहा! नोआखली में हुआ न, भाई! वह गाँधी नहीं गये थे। नोआखली न?

मुमुक्षु : नोआखली।

पूज्य गुरुदेवश्री : नोआखली (में) मुसलमानों ने... बहिन और भाई, माँ और पुत्र उन्हें नग्न करे। नग्न करके एक-दूसरे को भिड़ावे, ऐसे से ऐसे भिड़ावे और ऐसा करे। आहाहा! आकाश टूट पड़े, ऐसा लगे अन्दर से। अररर! अरर! यह मेरी माँ—जननी। यह मेरी सहोदरी—एक गर्भ में रहे हुए। अरे! यह क्या करते हैं यह? नोआखली में बना है पण्डितजी। नोआखली नहीं?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वे गाँधीजी... आया था कहाँ?

मुमुक्षु : वहाँ सम्मेदशिखर।

पूज्य गुरुदेवश्री : नोआखली आया था अपने ?

मुमुक्षु : नहीं, नहीं। नहीं हो। वहाँ आया बंगाल में, पूर्व बंगाल में। कलकत्ता से आगे पूर्व बंगाल में।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वहाँ नहीं गये हों।

मुमुक्षु : यह जो कहा वह उस ओर।

पूज्य गुरुदेवश्री : अलग। यहाँ तो दृष्टान्त बतलाना है कि उस समय... आहाहा! पच्चीस वर्ष का जवान लट्ठ जैसा। भाई और बहिन स्वयं... आहाहा! उसे कहे, यह। अररर! जमीन टूटे और अन्दर समा जायें, परन्तु यह मुझे न हो। समझ में आया ?

इसी प्रकार धर्मी को राग के—पुण्य-पाप के परिणाम के साथ एकत्व करना चाहे तो एकत्व कभी नहीं होता। आहाहा! समझ में आया ? यह पुण्य और पाप के भाव दया-दान-पूजा, परन्तु यह भी मेरा स्वभाव नहीं। भाई! यह नहीं। उनकी एकता जहाँ टूट गयी, वहाँ अहंपना उनमें आता नहीं। अहंपना तो ज्ञानानन्दस्वभाव में है। आहाहा! यह बात की बात नहीं, हों! यह भाव की बात है। भाव जहाँ पूरे बदल गये। समझ में आया ? उसे धर्मी कहते हैं और उसे ज्ञानी कहते हैं कि जिसके भाव में स्वभाव के भान के कारण, अरे! मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द का सागर हूँ। उस आनन्द के निकट ही मैं रहा हुआ हूँ। विकार के निकट मैं रहा नहीं। आहाहा! मेरा पहलू ही बदल गया है पूरा। जो राग के समीप था, वह धर्मी आनन्द के समीप आ गया है। आहाहा! इससे धर्मी को... बापू! धर्म उसे कहते हैं। आहाहा! यह कहीं बात की चीज़ नहीं, यह कहीं बोलने की चीज़ नहीं, यह तो अन्तर में उतरने की चीज़ है। समझ में आया ? आहाहा!

कहते हैं, इन्द्राणी आयी हो, समकिती को अन्दर विकल्प उठा जरा (कि) यह कौन है ? परन्तु जहर जैसा लगे अन्दर। अज्ञानी को उसी परिणाम में मिठास आती है। बस इतना अन्तर है।

मुमुक्षु : बस, दूसरा कोई अन्तर नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! जहाँ मैं हूँ, वहाँ राग नहीं और जहाँ राग है, वहाँ मैं

नहीं। ऐसे भेदज्ञान के परिणाम के कारण ज्ञानी को वह कर्म भिन्नरूप से उदय आये, वह भिन्नरूप से खिर जाते हैं। आहाहा!

'**ममता न धरै तातैं निर्जराकौ हेतु**' कारण दिया। यह मैं हूँ, ऐसा एकत्वपना नहीं। इसलिए वे परमाणु अथवा विकल्प आदि आये, वे खिर जाते हैं। समझ में आया? यह राग, वह मैं हूँ, ऐसा नहीं होने से और आनन्द और ज्ञान वह मैं हूँ, उसमें रहने से पूर्व के उदय के परिणाम आकर खिर जाते हैं। समझ में आया? आहाहा!

'**वहै करतूति मूढ करै**' देखो। यही क्रिया अज्ञानी करता हो। भगवान की पूजा-दान-दया-व्रत-तप और हिंसा-झूठ-चोरी-विषय आदि के परिणाम। यह '**करतूति मूढ करै पै मगनरूप**' देखो! उसको उदासीनरूप है, इसे मगनरूप है। एकाकार हो जाता है उसमें। राग के विकल्प में अज्ञानी तल्लीन हो जाता है। समझ में आया? आहाहा! '**वहै करतूति मूढ करै पै मगनरूप, अंध भयौ ममतासौं बंध-फल लेतु है**' देखो! अन्ध होता हुआ। यह राग उसकी चीज़ नहीं, तथापि ममता से अपनी मानकर अन्ध होता हुआ '**ममतासौं**' यह राग वह मैं हूँ। वही मेरी चीज़ है—ऐसी मिठास में राग को वेदता हुआ '**बंध फल लेतु है**' उसे नया बन्ध हो जाता है। अज्ञान का, मिथ्यात्व का बन्ध होता है। आहाहा! समझ में आया?

देखो, इन्होंने इस प्रकार से स्पष्टीकरण (किया)। बाकी मोक्षमार्गप्रकाशक में तो स्पष्टीकरण किया था। भाई! ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है, (ऐसा) वहाँ कहा है न? क्या कहा है? सुन न! उसके भाव हैं अशुभ, वह कहीं निर्जरा का हेतु है? वह तो बन्ध का कारण है। शुभभाव, वह बन्ध का कारण है, ऐसा कहा न उसे। परन्तु अबन्धस्वभाव की दृष्टि होने के कारण, वस्तु ही अन्धस्वरूपी है, ऐसे अन्तर के भान के कारण शुद्धता बढ़ती है, अशुद्धता घटती है। ऐसी दृष्टि के और आत्मा के ज्ञान के जोर के कारण उसे निर्जरा कहा गया है। समझ में आया? परन्तु ज्ञानी को राग आया, इसलिए वह राग निर्जरा हुई, यह नहीं। यहाँ तो रागपने की एकता नहीं, ममत्व नहीं, अहंपना नहीं; इसलिए वह टल जाता है, ऐसा कहना है। समझ में आया?

'**अंध भयौ ममतासौं बंध फल लेतु है**' उसे बन्ध का फल मिले, ऐसा कहते हैं। अर्थ में कैसा... देखो यह सब। **दया, दान, पूजादि पुण्य व विषय-कषाय आदि पाप**

दोनों कर्मबन्ध हैं... अर्थ है न, अर्थ। दोनों कर्मबन्धन है। दया-दान-पूजा-भक्ति, वह पुण्यबन्ध है। आहाहा! विषय-कषाय पाप, दोनों कर्मबन्धन। दोनों का उत्पत्ति स्थान एक ही विकार है। एक और शुभ अविकार है और अशुभ विकार है, ऐसा (नहीं)। आहाहा! भगवान आत्मा में से शुभभाव उत्पन्न होता है—होता है, ऐसा नहीं। शुभभाव तो निमित्त के लक्ष्य से—पर को अनुसरकर होता है। इसलिए दया-दान-पूजा-भक्ति-यात्रा के भाव और हिंसा-झूठ-चोरी-व्यापार के (भाव)—दोनों बन्ध के कारण हैं। आहाहा! पण्डितजी! ऐसा है।

इन दोनों प्रकार के कर्मों के करने में सम्यग्ज्ञानी और मिथ्यात्वी एक से दिखते हैं। देखो! दिखे एक। (ज्ञानी) भी वह पूजा भक्ति में बैठा हो, वह अज्ञानी भी पूजा-भक्ति में बैठा दिखाई दे, परन्तु **उनके भाव में अन्तर होने से फल भी भिन्न-भिन्न (होता है)**। भाव में अन्तर होने से फल में अन्तर है। **ज्ञानी की क्रिया विरक्तभाव सहित...** देखो! व्यवहार से मुक्त है न धर्मी। दया-दान-व्रत के विकल्प से धर्मी मुक्त है, सहित है नहीं। अरे! कठिन काम, भाई! समझ में आया? **ज्ञानी की क्रिया विरक्तभाव सहित और अहंबुद्धि रहित (होती है)**। व्यवहार से रहित और व्यवहार है, (वह) मैं, ऐसी अहंबुद्धि से भी रहित है। **इसलिए निर्जरा का कारण है**। आहाहा!

वही क्रिया मिथ्यात्वी जीव विवेकरहित तल्लीन होकर... लो। यह राग की क्रिया भले शुभ हो परन्तु उसमें तल्लीन अज्ञानी होता है। क्योंकि राग की क्रिया वह, मेरा स्वरूप है, वह मुझे लाभदायक है, वह मुझे हितकर है—ऐसी उसकी दृष्टि राग के ऊपर होने से **विवेकरहित**—राग से भिन्न करने की सामर्थ्य है नहीं। उसमें क्या है उसमें भीखाभाई? उलझन खड़ी हो, ऐसा है यह तो। कल आये थे। कि उलझन होती है अब, कहे। क्या ऐसे कुछ सूझ पड़ती नहीं। आहाहा! यह तो अन्तर ज्ञानस्वभाव है, आनन्दस्वभाव है, ध्रुव नित्य स्थिरबिम्ब स्वभाव है। उसमें दृष्टि स्थापित करना, ज्ञान को वहाँ रोकना, वह इसे करना है।

मुमुक्षु : तो उलझन मिट जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : उलझन है ही नहीं कहीं। यह तो उलझन मिटाने का उपाय है।

उन सिद्ध में आता है न! भाई! एक प्रश्न आया था, यह हिम्मतभाई लाये थे। वह नहीं? सिद्ध में ऐसा कहे, श्रद्धा के बल से आस्रव और संसार... श्रद्धा का बल उसमें आवे। यह लड़के हुए हैं न अभी घाटकोपर थोड़े।

मुमुक्षु : बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह 'बात सच्ची है' यह किसने इनकार किया। परन्तु श्रद्धा को जाननेवाला कौन है? श्रद्धा को खबर नहीं कि सामने विषय यह है और मैं श्रद्धा हूँ। उसकी खबर उसे नहीं। अब श्रद्धा का जोर देना हो, वहाँ श्रद्धा का जोर दे। ज्ञान का जोर देना हो तो ज्ञान का दे, दोनों एक साथ है।

मुमुक्षु : ज्ञान का जोर और श्रद्धा का जोर दोनों एक साथ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक साथ है।

अब यह जरा खेंचतान हो गयी थोड़ी। यह ... स्पष्टीकरण बहुत आया न बाहर, उसमें विवाद उठा किसी को। वह दिल्ली में, वह यहाँ में, वह यहाँ में... वे। ऐई माणिकलालभाई! तुम तो अब यहाँ रहे, अब तुम्हारे कहाँ वहाँ उसमें वहाँ... वे ... वहाँ देखने के लिये, भाई! सब खबर नहीं हमको। श्रद्धा के जोर के समय श्रद्धा की व्याख्या और ज्ञान के जोर के समय ज्ञान की व्याख्या।

मुमुक्षु : दोनों एक साथ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक साथ है दोनों।

यहाँ तो वहाँ ११वीं गाथा में यहाँ तक कहा है कि जो मूल गाथा है—जैनशासन का प्राण। वहाँ तो कहे, 'शुद्ध (नय) अनुसार बोध होनेमात्र से श्रद्धा होती है।'

मुमुक्षु : मात्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मात्र।

मुमुक्षु : वहाँ तो प्रश्न इस प्रकार का है विकल्पात्मक ज्ञान है....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह की वह बात रखी। यह बात रात्रि में (रात्रिचर्चा में) करने की है। यह तुम्हारी बात... कहो, समझ में आया? विकल्पात्मक ज्ञान की यहाँ कहाँ बात करते हो?

मुमुक्षु : वह ज्ञान ही कहाँ है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ज्ञान ही कब है ? यह बात तो हो गयी तब। तब बात हो गयी। वापस नया प्रश्न क्यों उठा ? यह बात हो गयी। विकल्पात्मक ज्ञान, वह ज्ञान ही नहीं, वह तो अज्ञान है।

'यहाँ तो शुद्धनय अनुसार बोध होनेमात्र से...' ११वीं गाथा जो जैनदर्शन के प्राण। जैनदर्शन अर्थात् वस्तुदर्शन। यह अन्तर... निश्चयनय है, वह निश्चयनय क्या है ? ज्ञान है, श्रुतज्ञान का भाग है और निश्चयनय का विषय क्या है ? कि त्रिकाल ध्रुव है। उसका ज्ञान होने से, अवलोकन होने से जो प्रतीति हो, उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। पण्डितजी ! सब फेरफार। इसके लिये फेरफार करना है, दुरुह हो जाता है लोगों को। लोग कहे, देखो अब यह विचारवाले हैं। यह कहे कि यह विचारवाले हैं, ऐसा नहीं होना चाहिए, वह तो स्वच्छन्द हो जाता है। स्वच्छन्द होने से एकान्त हो जाता है। समझ में आया ? यहाँ तो यह कहा। हम तो बहुत बार कहते (हैं), भाई ! संसार की उत्पत्ति सिद्ध को नहीं, वह श्रद्धान के बल के कारण हैं। परन्तु बात क्या कहना है वहाँ ? वह दूसरी बात है वहाँ कि राग क्यों नहीं होता ?

मुमुक्षु : क्यों श्रद्धा होती है.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह और अलग वस्तु है। आहाहा ! क्या हो ? थोड़े-थोड़े में बड़ा अन्तर पड़ जाता है, ऐसी इसे खबर नहीं है।

मुमुक्षु : श्रद्धा ही कारण है....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वहाँ कहा तो भी यह पहले कहा ११ में कि ज्ञान का बोध होनेमात्र से प्रतीति होती है। ऐसा कहा है। 'निश्चयनयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की।' देखो, इसका अर्थ क्या ? नय आश्रित। नय अर्थात् ज्ञान है और ज्ञान का विषय जो अभेद त्रिकाल है, उसके आश्रय से मुक्ति होती है। सम्यक्त्व भी उसके आश्रय से, ज्ञान भी उसके आश्रय से और चारित्र भी उसके आश्रय से, लो। समझ में आया ?

मुमुक्षु : इसीलिए तो अनन्त गुण एक साथ हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु एक साथ है न। ऐसे झुका तो ज्ञान फिर अलग रह गया? श्रद्धा की पर्याय, ज्ञान की पर्याय ऐसे झुकी तो सब पर्यायें ऐसे झुक गयीं।

मुमुक्षु : पूरे द्रव्य की पर्याय—पूरा द्रव्य झुका है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त पर्यायें ऐसे ढल गयी हैं। यह तो व्याख्या करनी हो, तब कोई श्रद्धा के जोर से करे, कोई ज्ञान के जोर से, कोई कथंचित् ऐसे... यह विषय किस अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिए।

मुमुक्षु : वहाँ राग-द्वेष की बात करनी है, तो ऐसा जोर दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो राग-द्वेष का कहना है। राग-द्वेष उत्पन्न होते ही नहीं। क्योंकि दृष्टि का विषय अभेद है। परन्तु निश्चयनय का विषय है। वह दृष्टि का विषय निश्चयनय का विषय है।

शुद्ध निश्चयनय उसे ही निश्चय कहा है। भूतार्थ जो द्रव्यस्वभाव, उसे शुद्धनय कहा है।

मुमुक्षु : यह बात तो आगे गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आगे गयी है। अभी नहीं। उन्हें आया है न उन्हें सब खबर आवे वहाँ। अभी तो यह थोड़ी भाई ने हिम्मतभाई ने की। यह तो स्वच्छन्द बढ़ता जाये आगे बढ़कर। भाग पड़ते जाये कि हमारे ऐसा मान लेना, इसका क्या अर्थ? ऐई कान्तिभाई!

मुमुक्षु : इसके लिये कान्तिभाई....

पूज्य गुरुदेवश्री : कान्तिभाई को समय कहाँ है इन्हें।

मुमुक्षु : इसके लिए तो कहता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो जहाँ जिस जगह श्रद्धा का जोर देना हो, वहाँ श्रद्धा (की मुख्यता से कहे)। परन्तु श्रद्धा है, वह स्वयं कौन है, उसकी उसे खबर नहीं। और श्रद्धा का विषय अभेद है, ऐसी श्रद्धा को खबर नहीं।

मुमुक्षु : वह तो ज्ञान जानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो ज्ञान जानता है। समझ में आया? ऐई हिम्मतभाई! श्रद्धा अन्धी है, श्रद्धा को खबर नहीं। एक ज्ञानगुण के अतिरिक्त कोई गुण अस्तित्व धराता है। सब गुण को निर्विकल्प कहा है क्योंकि स्वयं अपने को नहीं जानते, पर को नहीं जानते। एक ज्ञान सविकल्प है कि जो स्वयं (सब जानता है।) आहाहा!

मुमुक्षु : वह ज्ञान पर्याय है, गुण भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। वह गुण तो ध्रुव है। उसे कहाँ.... ध्रुव में जानने की शक्ति है, ऐसा कहा आज। नहीं कहा था?

कारणपरमात्मा कारणज्ञान है, वह अपने श्रद्धा आदि अनन्त गुण को जानता है, ऐसा स्वभाव है। परन्तु कार्य तो अभी पर्याय में होता है। समझ में आया? आहाहा! परन्तु वह पर्याय में कार्य ध्रुव के आश्रय से होता है, पर्याय के आश्रय से नहीं। आहाहा! अरे! क्या हो? लोगों को वापस जानपने में उसमें भी अभिमान हो जाये। हम ऐसा जानते हैं, हम ऐसा जानते हैं... अभी जिससे मिला है, सुना है, उसे क्या कहना है, वह नहीं और अपने गाड़ी हाँक रखे। यह जगत को अटकने के स्थान अनादि से ऐसे हैं। यहाँ तो कहते हैं, ज्ञानी को ज्ञान के भान में... ऐसा कहना है। श्रद्धा कहाँ जानती है कि यह राग है और यह आत्मा है? ऐसा जानती है?

मुमुक्षु : भेदज्ञान, क्रमबद्ध के कारण में भेदज्ञान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भेदज्ञान ही क्रमबद्ध में कारण है।

मुमुक्षु : पूरे विकल्प में भेदविज्ञान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भी कहा न? '**भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन,**' लो। जितने मुक्ति को प्राप्त हुए, वे भेदविज्ञान से प्राप्त हुए हैं। वहाँ समकित से प्राप्त हुए है, ऐसा नहीं लिया।

मुमुक्षु : अन्य जगह समकित से पाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह तो उसमें साथ में है न! उसमें क्या? समकित सरदार है। उसे क्या कहा जाता है? कर्णधार है। कर्णधार है न। उसके साथ ज्ञान है, वह जानता है।

मुमुक्षु : मूल मिथ्यात्व की अपेक्षा से....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु तो भी वह तो ज्ञान है, वह उसे जानता है, ऐसा कहना है यहाँ तो। वहाँ अकेली श्रद्धा है। अकेली श्रद्धा, वह कौन जाने? यह उसे सुलटी श्रद्धा (हुई), वह कौन जाने? पंचाध्यायी में तो ऐसा लिया है, 'किसी भी गुण की व्याख्या करते हुए ज्ञान हुए बिना व्याख्या हो सकेगी नहीं।' पंचाध्यायी में (दूसरा भाग, गाथा ३९५-३९६) कहा है।

मुमुक्षु : हाँ, बराबर जाने कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर में ख्याल में आये बिना... ख्याल में जिसे आया कि यह श्रद्धा। इस प्रकार ऐसे ख्याल बिना किसका कथन करेगा? ऐई! पंचाध्यायी में है।

मुमुक्षु : है, है, मूल गाथा दूसरे भाग में।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए ज्ञान प्रधान है, ऐसा वहाँ कहा। समझ में आया?

लोगों को अभिमान हो जाता है। नहीं, हम बराबर (हैं)। हम श्रद्धा के जोरवाले हैं। ज्ञान के जोरवाले शिथिल हैं। यह शिथिल कहा था न? हीराभाई की बहिन ने यहाँ प्रश्न किया था। वह दूसरे अर्थ से किया था। क्या वह आता है न? पुरुषार्थसिद्धिउपाय। वह दूसरी बात है, यह दूसरी बात है। यह सिद्धान्त तो मात्र द्रव्य-गुण-पर्याय का जानना, उसकी बात है। यह तो अभेदज्ञान है आत्मा का। 'शुद्धनयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की।' देखो, शुद्धनय तो ज्ञान है। ज्ञान का विषय तो द्रव्य है। उसका विषय—ज्ञान का विषय ज्ञान जानता है। समझ में आया? उसमें फिर प्रतीति हुई साथ में, वह तो साथ ही है इकट्ठी। ऐई!

मुमुक्षु : नहीं, परन्तु अध्यात्म थोड़ा लेना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ १७-१८ (गाथा, समयसार) में तो जाने हुए की श्रद्धा होती है। जानने में 'यह आत्मा' (ऐसा) ज्ञान नहीं, तो जाने हुए की श्रद्धा किसकी? किसकी श्रद्धा? खरगोश के सींग की?

मुमुक्षु : उस गाथा में तो बहुत स्पष्ट है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है, है न वह तो ऐसा तो सब बहुत जगह। और श्रीमद् तो यही कहते हैं।'दर्शनमोह को नष्ट कौन करे? ज्ञान। चारित्रमोह को नष्ट कौन करे? वीतरागता।' ऐई! जिस अपेक्षा से जहाँ जिसका जहाँ-जहाँ जोर है, वहाँ वैसा लेना चाहिए। दर्शन की जगह दर्शन का जोर है, ज्ञान की जगह (ज्ञान का)। उससे चारित्र का तो अनन्त जोर है। .... उससे अनन्त जोर। पुरुषार्थ जो दर्शन-ज्ञान का है, उसकी अपेक्षा चारित्र का पुरुषार्थ तो अनन्त गुणा है।

मुमुक्षु : करे ही न सम्यग्दर्शन की कीमत क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : तथापि वह पर्याय है, उसके ऊपर जोर न देकर, द्रव्य के ऊपर लक्ष्य देने से चारित्र प्रगट होता है। कहीं चारित्र का जोर पर्याय के ऊपर करने से कहीं चारित्र प्रगट नहीं होता। भारी कठिन काम, भारी!

मुमुक्षु : ऐसा ही प्रकार होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही है।

चारित्र का अनन्त पुरुषार्थ है, चारित्र का पुरुषार्थ, वह तो पर्याय का है। परन्तु पर्याय में पुरुषार्थ आवे कब? त्रिकाल द्रव्य के ज्ञान का जहाँ अभेदपना भासित हुआ (कि) अखण्डानन्द यह हूँ। उसमें स्थिर हुआ तो चारित्र है।

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यग्दर्शन, ज्ञान दोनों कारण कहा। बन्ध अधिकार में, नहीं? अभव्य को चारित्र क्यों नहीं? कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान दोनों नहीं हैं। दोनों नहीं, (ऐसा) कहा बन्ध अधिकार में। (गाथा २७३)।

मुमुक्षु : एक है तो दूसरा आ जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आ ही जाये न, इकट्ठे हैं न! अब आगे-पीछे कब थे? सब अनन्त पर्यायें इकट्ठी हैं।

यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी को राग में एकता है। दूसरी गाथा में नहीं आता वहाँ? '**पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं य तं जाण परसमयं।**' आता है न वहाँ।

मुमुक्षु : दूसरी ही गाथा।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरी गाथा। '**जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो तं हि ससमयं जाण।**' लो, दूसरी गाथा में ही आया। भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का एकरस ध्रुव, उसे एकाग्र होने से '**जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो**' वहाँ भाषा ऐसी ली है। जीव ध्रुव में न ठहरते, जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित, ऐसा लिया है। क्या अपेक्षा है, वह समझना चाहिए न।

मुमुक्षु : इसका अर्थ कि आत्मा में स्थित है, ऐसा अर्थ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसका अर्थ यह है।

मुमुक्षु : १६वीं गाथा में स्पष्ट....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह तो इसका अर्थ यह भाषा... राग में स्थित है, ऐसा न करके, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है। इसका अर्थ ही कि स्व का आश्रय करे, तब उसमें स्थित है, ऐसा कहा जाता है। वह दूसरी गाथा है ऐसी। '**जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो तं हि ससमयं जाण।**' उसे आत्मा जान। '**पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं।**' जो राग में एकाकार है, वह पुद्गल में एकाकार है, उसे परसमय जान। कहो, समझ में आया?

'**अंध भयौ**' ज्ञान नहीं होता, कहते हैं यहाँ। चैतन्यस्वरूप राग से भिन्न है, ऐसा जहाँ भान नहीं, ऐसा अज्ञानी राग की क्रिया में अन्ध हो गया है। वह राग की क्रिया, वह मेरी, ओहोहो! दया-दान-व्रत-तप के विकल्प मेरे और उनकी क्रिया से मेरा कल्याण (ऐसा मानता है, वह) अन्ध हो गया है, कहते हैं। यह कठिन पड़ता है, हों!

मुमुक्षु : सही बात।

पूज्य गुरुदेवश्री : सही बात है। जयपुर में कैसी लगेगी? '**ममतासौं बंध-फल लेतु है**' लो।

मुमुक्षु : तो यह निश्चित करने का, अनुभव करने का हो न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बाकी रहा है। और यह सब आये थे तो कहा, बाकी अब

बाहर ऐसा सब जाना-आना सब मुश्किल पड़ता है। यह बात जो कुछ कहनी हो, अन्दर से आती हो, उसे जरा देखना पड़े जरा।

मुमुक्षु : ऐसा देखना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा देखना पड़े। क्योंकि.... यह झेलना....

मुमुक्षु : कठिन....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो जिसे आना होगा, वह आयेंगे, वरना....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो है न, उसे कहाँ पड़ी है यह। **इसलिए बन्ध और उसके फल को प्राप्त होता है,...** लो!

अब, **मिथ्यात्वी के कर्तापने की सिद्धि पर कुम्हार का दृष्टान्त**। है न २३ कलश। उसका २४वाँ पद। स्वयं देते हैं, हों!

मुमुक्षु : हाँ, वे स्वयं इसका स्पष्टीकरण देते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पष्टीकरण स्वयं.... वह दया-दान को स्वयं ने रखा है इसमें। उसमें '**ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता:**'।

मुमुक्षु : यह कलश (टीका) में स्पष्टीकरण किया। कलश का स्पष्टीकरण।

पूज्य गुरुदेवश्री : '**ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता:**' धर्मी के ज्ञानस्वभाव से ज्ञानी को ज्ञान से सब उपजे हुए भाव हैं। कहो, राग-द्वेष उपजे, उसका ज्ञान होता है, इसलिए ज्ञान उपजता है ज्ञानी को, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : उसका—राग का ज्ञान होता है। राग होता है? ज्ञानी को राग होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : '**ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता:**' अर्थ में तो यह लिया। देखो, उसमें थोड़ा होगा सर्वत्र।

मुमुक्षु : मूल बात यह है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न कहाँ गया?

मुमुक्षु : अज्ञानी को अज्ञान।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्होंने और अर्थ कैसा लिया है, देखो! कितना कर्ता-कर्म है न?

मुमुक्षु : ६७ श्लोक।

पूज्य गुरुदेवश्री : 'ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता:' है, देखो। इन्होंने भाषा कैसी की है, जरा कठिन की है। 'सम्यग्दृष्टि का द्रव्य शुद्धत्व परिणमा है, इसलिए जो कोई परिणाम बुद्धिपूर्वक अनुभवरूप है अथवा विचाररूप है अथवा व्रतक्रियारूप है अथवा भोगाभिलाषरूप है अथवा चारित्रमोह के उदय क्रोध-मान-माया-लोभरूप है, वे समस्त ही परिणाम ज्ञानजाति में घटित होते हैं।' भाषा देखो। 'ज्ञानजाति में घटित होते हैं', इसका अर्थ कि उनका ज्ञान होता है, वह उसके परिणाम जीव के हैं। देखो, वह परिणाम ज्ञानजाति में घटित होते हैं, यह भाषा है, देखो!

जो कुछ... यह सब परिणाम हों—बुद्धिपूर्वक अनुभव अथवा विचाररूप, व्रतक्रियारूप, भोगाभिलाषरूप, चारित्रमोह के उदय क्रोध-मान-माया-लोभरूप समस्त ही परिणाम ज्ञानजाति में घटित होते हैं। भाषा देखो। चिल्लाहट मचाये, वह कहे, ले, विकार परिणाम ज्ञानजाति में घटित होते हैं? सुन न अब! उस समय ज्ञान होता है, उस विकार का ज्ञान हो, वह अपना ज्ञान है। समझ में आया? कलश की भाषा ऐसी है, देखो!

मुमुक्षु : बहुत गम्भीर।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, 'ज्ञानजाति में घटित होते हैं क्योंकि जो कोई परिणाम है, वह संवर-निर्जरा का कारण है' देखो, परिणाम, वह संवर-निर्जरा का कारण है। क्योंकि वह राग और पुण्य के विकल्प आये, उसका उस काल में स्वयं से वह है, इसलिए ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं। स्वयं से उसका ज्ञान—स्व का होने से पर सम्बन्धी का अपनी जाति में अपने कारण से ज्ञान होता है, वे ज्ञानजाति के परिणाम हैं। समझ में आया? गजब मार्ग, भाई! ऐसा मार्ग दुनिया में (मिलना दुर्लभ)।

यह तो पर की दया पाल दें और पर की सेवा करें और उससे धर्म होगा। धूल भी धर्म नहीं। पर की सेवा कर कौन सकता है? तेरा भाव हो, वह राग है। परन्तु राग

में एकताबुद्धि और लाभबुद्धि है, वह मिथ्यात्वभाव है। अज्ञानजाति के सब भाव हैं, ऐसा कहते हैं। उसके सामने लेना है, हों! समझ में आया? देखो, इन्होंने ऐसा लिखा है, हों! देखो, पीछे लिखा है।....अनुभवरूप तो होता ही नहीं। सूत्र सिद्धान्त के पाठरूप... भाव अज्ञानी का सूत्र सिद्धान्त का विकल्प पाठरूप भाव, व्रत-तपस्या का भाव, दान-पूजा-दया-शीलरूप, भोगाभिलाषरूप अथवा क्रोध-मान-मायारूप, ऐसे समस्त ही परिणाम अज्ञानजाति के हैं। ज्ञानी को ज्ञानजाति के परिणाम, अज्ञानी को अज्ञानजाति के परिणाम—इतना अर्थ रखा। आहा! पण्डितजी!

मुमुक्षु : क्या कहना है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चलता है कलश। बहुत रखा। बाईस चलता है न, बाईसवाँ, उसका अर्थ है। आहाहा! समझ में आया? ज्ञानजाति के और अज्ञानजाति के अर्थात् क्या? आत्मा का स्वसन्मुख के ज्ञान के भान में जितने विकल्प आवें, उन सम्बन्धी का ज्ञान उस क्षण में स्वयं से उपजता हुआ वह ज्ञानजाति का परिणाम है उसमें। वह उसमें उपजे ही नहीं। दया-दान-विकल्प ज्ञानी को हुए ही नहीं, ऐसा कहते हैं। उसे हुए हैं, ऐसा कहना वह भी नहीं। यह बात खोटी है। ज्ञान की जाति के हुए हैं उसे, ऐसा कहते हैं मूल तो। क्या कहा और फिर से। आहाहा!

आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वभावी है, ऐसा जहाँ अन्तर में राग के विकल्प से हटकर निर्विकल्प चैतन्य की ध्रुवता का भान—ज्ञान हुआ। कहते हैं कि उस ज्ञान के काल में वहाँ पुण्य और पाप दया-दान-विषय राग आदि की वासना हो, परन्तु उस काल में वह अपने को जानता है और उसे जानने की (क्रिया), उसकी अस्ति है, इसलिए जानने की नहीं, परन्तु ज्ञान की जाति के ही परिणाम उसमें होते हैं उस सम्बन्धी के, इसलिए उसे उस परिणाम से निर्जरा है। ज्ञानजाति के परिणाम हैं, अज्ञानजाति के नहीं। आहाहा!

यह राग आदि ज्ञानजाति के नहीं, हों! राग आदि का अपने में अपने आश्रय से स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय हुई, जिस प्रकार से राग, उस प्रकार से ज्ञान, जैसा द्वेष, उस प्रकार से ज्ञान, (जैसी) विषयवासना, उस प्रकार से ज्ञान, परन्तु उस प्रकार से ज्ञानजाति का वह ज्ञान है। उसके कारण ज्ञान है और उसका ज्ञान है, ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : जीव तो ज्ञाता-दृष्टा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञाता-दृष्टा, परन्तु उसका है यह कारण ऐसा। स्पष्ट कराते हैं। समझ में आया? गजब! और अज्ञानी को अज्ञानजाति के हैं अर्थात् कि उसकी दृष्टि ही पुण्य और पाप के विकल्प वासनाभोग आदि या शुभ आदि—उसमें जो पड़ी है, वह सब अज्ञानजाति है, वह सब। वह आत्मा के ज्ञान की जाति है नहीं। आहाहा! समझ में आया? इसमें तो बहुत पुरुषार्थ अपेक्षित है। आहाहा! ऐसा का ऐसा हो जाये, ऐसा नहीं है।

अब २३वाँ कलश।

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम्।।२३।।

आहा! दृष्टान्त देकर फिर वहाँ दृष्टान्त कहा।

★ ★ ★

काव्य - २४

मिथ्यात्वी के कर्तापने की सिद्धि पर कुंभकार का दृष्टान्त (छप्पय)

ज्यौं माटीमैं कलस होनकी, सकति रहे ध्रुव।
दंड चक्र चीवर कुलाल, बाहजि निमित्त हुव।।
त्यौं पुदगल परवांनु, पुंज वरगना भेस धरि।
ग्यानावरनादिक स्वरूप, विचरंत विविध परि।।
बाहजि निमित्त बहिरातमा,
गहि संसै अग्यानमति।
जगमांहि अहंकृत भावसौं,
करमरूप ह्वै परिनमति।।२४।।

शब्दार्थ:-कलस=घड़ा। सकति=शक्ति। चक्र=चाक। चीवर=धागा। कुलाल=कुंभकार। बाहजि=बाह्य। पुंज=समुदाय। परवांनु=परमाणु। वरगना=वर्गणा। भेस=रूप। विचरंत=भ्रमण करते हैं। विविध=भाँति भाँति। गहि=धारण करके। बहिरातमा=मिथ्यादृष्टि। अहंकृत=ममत्व।

अर्थ:-जिस प्रकार मिट्टी में घटरूप होने की शक्ति सदा मौजूद रहती है और दंड, चाक, धागा, कुंभकार आदि बाह्य निमित्त हैं, उसी प्रकार लोक में पुद्गल परमाणुओं के दल कर्मवर्गणारूप होकर ज्ञानावरणीय आदि भाँति-भाँति की अवस्थाओं में भ्रमण करते हैं, उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव बाह्य निमित्त है। जो संशय आदि[1] से अज्ञानी होता है, सो शरीर आदि में अहंकार होने से वे पुद्गलपिण्ड कर्मरूप हो जाते हैं।।२४।।

काव्य - २४ पर प्रवचन

ज्यौं माटीमैं कलस होनकी, सकति रहे ध्रुव।
दंड चक्र चीवर कुलाल, बाहजि निमित्त हुव॥
त्यौं पुदगल परवांनु, पुंज वरगना भेस धरि।
ग्यानावरनादिक स्वरूप, विचरंत विविध परि॥
बाहजि निमित्त बहिरातमा,
गहि संसै अग्यानमति।
जगमांहि अहंकृत भावसौं,
करमरूप ह्वै परिनमति॥२४॥

ओहोहो! देखो! मिट्टी में कलश होने की शक्ति ध्रुव रहती है। ध्रुव अर्थात् कायम नहीं, परन्तु उस प्रमाण उस पर्याय में घट होने की उस समय की योग्यता—शक्ति है उसमें इसलिए (ध्रुव कहा)। उस समय में घट होने की ही ध्रुवता—नित्यता, ऐसा कहते हैं, निश्चितता। समझ में आया? मिट्टी में उस समय में घट होने की ही निश्चितता है। वह मिट्टी के कारण से घट होता है, कुम्हार के कारण से नहीं। अरे गजब! '**माटीमैं**

१. संशय, विमोह और विभ्रम थे ज्ञान के दोष हैं।

कलश होनेकी सकति रहे ध्रुव' सदा मौजूद रहती है, ऐसा है। परन्तु इसका अर्थ (कि) उस समय में पर्याय होने का उसका काल है। निश्चय से उसका वह काल है। मिट्टी में घट की पर्याय होने का उसका निश्चय काल है। ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव है वह।

उसमें ध्रुव नहीं लिया कर्ता-कर्म में? प्राप्य, विकार्य और निर्वत्य। वहाँ अपने लगाया था ध्रुव। उत्पाद व्यय और ध्रुव। प्राप्य अर्थात् उसी समय में वह परिणाम है, वह ध्रुव है। ७६, ७७ और ७८ (गाथा, समयसार में)। यहाँ भी इस मिट्टी का उस समय का ही प्राप्य है, ध्रुव है।

मुमुक्षु : पर्याय में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पर्याय में है। पर्याय अर्थात् उस समय में वही है, ऐसा। आहाहा! समझ में आया? यह सब कलश करना और भरना, कहते हैं, उस समय की पर्याय होने की तब होगी, ऐसा कहते हैं। '**दंड चक्र चीवर**' चक्र, डोरा, '**कुलाल बाहजि निमित्त हुव**' लो। वे तो बाह्य निमित्त हैं। कुलाल अर्थात् कुम्हार। बाह्य निमित्त है, परन्तु निमित्त है, इसलिए यहाँ यह पर्याय होती है, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

'**त्यौं पुदगल परवांनु, पुंज वरगना भेस धरि**' उस-उस काल में वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय की पर्याय के वेश होने का उसका काल है, तब उसमें वेश होता है। रूप-रूप, वेश अर्थात् (रूप)। लिखा है उसमें। ज्ञानावरणीयरूप से, दर्शनावरणीयरूप से वह पर्याय उस काल में उन परमाणुओं में वह ध्रुव होनेवाली—प्राप्य होने की शक्ति है। '**ग्यानावरनादिक स्वरूप, विचरंत विविध परि**' वह ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म हों। '**विचरंत विविध परि**' विविध प्रकार की पर्याय में उस प्रमाण परिणमन है। '**बाहजि निमित्त बहिरातमा**' देखो, यहाँ विशिष्टता। वे कर्मबन्धन के परमाणु की पर्याय उपादान और उससे होती है, परन्तु बाह्य निमित्त अज्ञानी है। ज्ञानी कर्म की पर्याय में बाह्य निमित्त है नहीं। उसे कर्मबन्धन ही नहीं, ऐसा सिद्ध करना है यह। समझ में आया?

'**बाहजि निमित्त बहिरातमा, गहि संसै अग्यानमति**' उसे संशय होता है कि यह राग मैं हूँ, यह पुण्य मैं हूँ, यह मैं हूँ। ऐसे स्वभाव को भूलकर और संशय... तीन बोल हैं न इसमें। संशय आदि होते हैं। समझ में आया? संशय, विमोह, विभ्रम। उसमें अर्थ

में डाले हैं। अर्थ के सामने डाले टीका में। अब अर्थ करेंगे उसमें। क्या कहा? परमाणुओं में उस समय में कर्म होने की जो पर्याय—योग्यता है, वह निश्चय है, उसके कारण से होती है। उसमें बाह्य निमित्त कौन? अज्ञानी। यह तो कर्म की बात है न मुख्य। अज्ञानी के परिणाम, वे बाह्य निमित्त हैं। ज्ञानी के परिणाम... कर्मबन्धन उसे है नहीं, इसलिए बाह्य निमित्त भी ज्ञानी है नहीं। इसकी विशेष बात आयेगी।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४६, फाल्गुन कृष्ण ५, बुधवार, दिनांक १७-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद २५-२६

.....कर्म बाह्य निमित्त है और कर्म की पर्याय होती है, उसमें बहिरात्मा बाह्य निमित्त है, मिथ्यादृष्टि का देखकर। 'बाह्य निमित्त' शब्द पड़ा है। कल आया न... दो जगह है, दो है। कुम्भ—घड़ा में... घड़ा आदि में और कर्म में निमित्त। इसलिए बाह्य निमित्त शब्द है। अब, **जीव को अकर्ता मानकर आत्मध्यान करने की महिमा।**

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं
स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त
एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।२४।।

यह श्लोक है। इसका पद्य है २५।

★ ★ ★

काव्य - २५

जीव को अकर्ता मानकर आत्म-ध्यान करने की महिमा (सवैया तेईसा)

जे न करैं नयपच्छ विवाद,
धरैं न विखाद अलीक न भाखैं।
जे उदवेग तजैं घट अंतर,
सीतल भाव निरंतर राखैं।।
जे न गुनी-गुन-भेद विचारत,
आकुलता मनकी सब नाखैं।
ते जगमैं धरि आतम ध्यान,
अखंडित ग्यान-सुधारस चाखैं।।२५।।

शब्दार्थः-विवाद=झगड़ा। विखाद (विवाद)=खेद। अलीक=झूठ। उद्वेग=चिंता। सीतल (शीतल)=शान्त। नाखैं=छोड़ें। अखंडित=पूर्ण।

अर्थः-जो नयवाद के झगड़े से रहित हैं, असत्य, खेद, चिंता, आकुलता आदि को हृदय से हटा देते हैं और हमेशा शान्तिभाव रखते हैं, गुण-गुणी के भेद विकल्प भी नहीं करते, वे संसार में आत्मध्यान धारण करके पूर्ण ज्ञानामृत का स्वाद लेते हैं।।२५।।

काव्य - २५ पर प्रवचन

क्या कहते हैं ? '**जे न करैं नयपच्छ**' आत्मा शुद्ध आनन्दसागर आत्मा अबन्धस्वरूप, उसे... निश्चय से वह आत्मा अपने स्वभाव की अपेक्षा से अबद्ध है और कर्म के सम्बन्ध के निमित्त की अपेक्षा से वह बन्ध कहा (जाता है), वह व्यवहारनय का विषय है। पहले समझने के लिये इस प्रमाण समझे। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय अमृत का भण्डार आत्मा है। ऐसा अतीन्द्रिय अमृतस्वरूप हूँ, कर्म और राग के सम्बन्ध बिना का हूँ। यह भी एक वस्तुरूप से ज्ञान में निश्चय स्वाश्रय के पक्ष अपेक्षा से बराबर है, परन्तु यह एक विकल्प है। आहाहा! दूसरे विकल्प तो कहीं रहे। परन्तु 'मैं एक अबद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ' ऐसा जो निश्चयनय अर्थात् स्वाश्रय पक्ष का विकल्प और 'बद्धसहित हूँ' कर्म का सम्बन्ध निमित्तरूप से बाह्य है, ऐसे सम्बन्धसहित है, ऐसा भी एक व्यवहारनय का पराश्रित लक्ष्यवाला एक विकल्प—राग है।

'**जे न करैं नयपच्छ विवाद**' वह नयपक्ष न करे (कि) 'मैं अबद्ध हूँ या बद्ध हूँ', देखो! विवाद न करे, झगड़ा। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर सर्वज्ञ परमेश्वर ने प्रगट किया, ऐसा ही यह आत्मा है। '**धरैं न विखाद**' विषाद—खेद न करे। अरे! यह ऐसा हुआ और वैसा हुआ और चार गति में भटकता हूँ। खेद क्या ? समझ में आया ? '**धरैं न विखाद अलीक न भाखैं**' झूठ न बोले। वस्तुरूप से तो अबद्ध है, निमित्तरूप से व्यवहार से बद्ध है—ऐसा इसे जानना चाहिए। समझ में आया ? नयवाद के झगड़े से रहित है और '**विखाद अलीक न भाखैं**' झूठ न बोले। जैसा सत्य स्वरूप भगवान ने कहा है, वैसा स्वयं जाने और कहे। समझ में आया ?

'जे उदवेग तजैं घट अंतर' यह अनादि की जो आकुलता है... 'आत्मा शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ' ऐसा जो विकल्प, वह भी आकुलता है। समझ में आया? आकुलता है, वह राग है। दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति, वह भाव भी आकुलता है, दु:ख है। उकताकर (कहे कि) यह नरक और निगोद के दु:ख हैं, ऐसा नहीं। अन्दर के विकल्प की वृत्तियाँ उठती हैं, वे स्वयं दु:ख हैं। आहाहा! समझ में आया? व्रत पालना, भक्ति, पूजा आदि या हिंसा, झूठ आदि विकल्प, वे तो दु:ख हैं ही। परन्तु यहाँ आत्मा 'मैं एक शुद्ध हूँ', ऐसे पक्ष में मन के संग से विकल्प उठे, कहते हैं, वह भी खेद, दु:ख है।

मुमुक्षु : सन्देह न उठे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : सन्देह किसने कहा? विकल्प उठता है, ऐसा कहा। 'मैं एक शुद्ध हूँ, चैतन्य स्वभाव से परमेश्वर कहा, ऐसा मैं पवित्र आनन्द हूँ' ऐसा भी (विकल्प है), वह भी एक राग की वृत्ति उठती है, वह भी खेद और आकुलता है।

'जे उदवेग तजैं घट अंतर' असत्य, खेद, चिन्ता, आकुलता आदि हृदय से हटा देते हैं... बहुत धीरज का काम है। जिसे हित करना हो, जिसे धर्म करना हो, उसकी बात है। वह धर्म कहीं बाह्य से नहीं होता। अनन्त काल के आकुलता के दु:ख, चार गति के, उस आकुलता को छोड़े। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि वस्तु की ओर के दो पक्ष जो है, उस विकल्प को भी छोड़े।

मुमुक्षु : वे दो पक्ष क्या-क्या हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चय-व्यवहार कहा न! 'अबद्ध मैं हूँ और बद्ध हूँ' यह दो पक्ष। अबद्ध है, परन्तु उसका विकल्प है, उस विकल्प में आकुलता है।

मुमुक्षु : ....विचारे भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मैं शुद्ध हूँ, अभेद हूँ, ज्ञायक हूँ—यह भी मन के संग से उठता विकल्प है, राग है। और राग का जब तक कर्ता होता है और उस राग का कर्तव्य मेरा है, (ऐसा मानता है) तब तक शान्ति नहीं, आकुलता है और दु:खी है। आहाहा! सूक्ष्म बात है! कठिन काम है! लोगों को... अन्तर धर्म परमेश्वर ने तीर्थंकर ने कहा वह, हों! अन्यत्र तो यह बात है ही नहीं। अहो! चौरासी की चार गति, चाहे तो स्वर्ग हो या नरक हो, मनुष्य हो या पशु हो, सेठाई हो या रंकाई हो—सब दु:ख की दशा है।

मुमुक्षु : सेठाई को तो कम करना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठाई तो आ गयी, इससे पहले की बात। ऐई मलूकचन्दभाई! कोई कहता था, न्यालभाई को कुछ... उसे पूरे दिन वहाँ आहाहा... आकुलता, आकुलता होती है। पैसा बहुत हो गया, इसलिए आकुलता हो जाती है। कौन कोई कहता था? कहता था नहीं यहाँ?

मुमुक्षु : ....क्या खबर न पड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : खबर न पड़े (कि) यह सब आकुलता बढ़ गयी? ऐई! देखो न, इनके पिता को ऐसा हुआ तो भी आने के लिये निवृत्त नहीं होता। वहाँ दुःखी होगा, कितनी अधिक आकुलता। ... ऐ मलूकचन्दभाई! यह कोई कहता था... परन्तु उसे आकुलता बहुत वहाँ। यहाँ जाना... यहाँ जाना... यहाँ जाना... यहाँ जाना... भटकाभटक, बड़े-बड़े लोगों में जाना, बड़े लोग यहाँ आवे। अपने लोग जायें काठियावाड़ से तो घर में रखे मेहमानरूप से। स्विट्जरलैण्ड। दो करोड़ रुपये। लड़का एक भी नहीं। एक ही लड़की है। उसके लिये ऐसे से ऐसे गोतागोत करता है। यह आकुलता है या नहीं? लो न। कहाँ सुख है अन्दर में? आहाहा!

यह निर्धन हो या सधन हो, स्वर्ग हो या नरक हो, बाहर की अनन्त अनुकूलता हो या प्रतिकूलता हो, परन्तु सब चीज़ों पर लक्ष्य जाने से वह आकुलता ही है। यहाँ तो अन्तर में उतरने की बात करते हुए बात करते हैं। भाई! तुझे भगवान ने कहा (जो) आत्मा (वह) वस्तुरूप से आनन्द का कन्द प्रभु अतीन्द्रिय अमृत के रस का सागर प्रभु आत्मा है। परन्तु ऐसा भी मन के साथ विकल्प वह... भाषा तो ऐसी लेंगे वहाँ। आगे लेंगे बाद में। यह अनादि प्रमाण किया करता है दोनों पक्ष। आहाहा! समझ में आया? वहाँ भी अटका है, ऐसा कहते हैं।

'सीतल भाव निरंतर राखैं' देखो! आहाहा! दोनों पक्ष का विकल्प छोड़कर चैतन्य आनन्द का धाम अमृतस्वरूप प्रभु का अनुभव करे, उसके सन्मुख की अनुभव दशा करे, तो शान्तभाव निरन्तर रहे। आहाहा! **'जे उदवेग तजैं घट अंतर, सीतल भाव निरंतर राखैं'** यह तो ठीक, परन्तु अब कहते हैं, **'जे न गुनी-गुन भेद विचारत'**

आहाहा! देखो! आत्मा वस्तु हूँ मैं और उसके गुण हैं अनन्त ज्ञान और आनन्द आदि।— ऐसे गुणी और गुण का विचार भी विकल्प है, भेद करके विकल्प है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई! इसे समझण में पहले लेना चाहिए। बहुत कठिन बात है। अनादि जन्म-मरण के दुःख आकुलता के (उसका) इसे भान नहीं। अग्नि में सुलगता है, इसका भान नहीं इसे। समझ में आया?

दृष्टान्त दिया था न एक हलवाई का, नहीं? हमारे चुडा, चुडा में हलवाई था। उनके भाई के लड़के आये थे। मोहनभाई के लड़के आये थे। मिले थे तुमको? ...पालीताणा गये थे न... कुँवरजीभाई के भाई के पुत्र हैं। हाँ, मोहनभाई, मोहनभाई को पहिचानते हैं। आये थे... आवे तो बहुत, परन्तु यह बात सुनते हुए कुछ अता-पता हाथ नहीं आता (कि) क्या करना इसमें।

मुमुक्षु : सम्प्रदाय में....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु सम्प्रदाय है कहाँ आत्मा में? स्थानकवासी हूँ या मन्दिरमार्गी हूँ या दिगम्बर हूँ—यह वस्तु में कहाँ है?

यहाँ तो वहाँ तक भगवान तो कहते हैं कि भाई! जैसा है, वैसा तू आनन्द और शुद्ध चैतन्य पदार्थ परन्तु वह वस्तु और वस्तु में रहे हुए वे गुण हैं। ऐसा विचार करेगा तो भी गुणी में से गुण हैं और गुण गुणी के आधार से है—यह भी एक विकल्प है, राग है, आकुलता है। ऐई! विकल्प में रहकर... तू शास्त्र पढ़ा दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा अनन्त बार किये। आहाहा! भाई! परन्तु तेरा स्वरूप अन्दर शान्त... शान्त... शान्त... जिसमें राग की वृत्ति उठे वह भट्टी अग्नि है। भट्टी का तो ख्याल था, परन्तु वह ख्याल नहीं था... निहालचन्दभाई। शुभ वृत्ति को भयंकर दुःख कहते हैं। यह पढ़ा हुआ सही परन्तु ख्याल नहीं। फिर देखा, ३१२। प्रश्न है। ३१२ (द्रव्यदृष्टिप्रकाश)। शुभवृत्ति भयंकर दुःख है। ...दुःख है अर्थात् भयंकर है और भय को करनेवाला वह दुःख। आये थे न सेठिया की ओर से दो व्यक्ति।

भाई! बापू! शान्त... शान्त... अकषायस्वभाव का पिण्ड प्रभु है, उसमें से शुभ विकल्प उठे, वह दुःख है, आकुलता है, अशान्ति है, जहर है। समझ में आया? मोक्ष

अधिकार में कहा नहीं? विषकुम्भ है, शुभभाव सब जहर का घड़ा है। गजब बात है! आहाहा! समझ में आया? जिसे आत्मा की शान्ति—धर्म चाहिए हो, उसे तो यह पुण्य के विकल्प तो दु:खरूप (लगते) हैं। उनकी रुचि इसे छोड़नी पड़ेगी। परन्तु यहाँ तो (कहते हैं कि) गुण-गुणी के भेद का विचार भी छोड़ना पड़ेगा। आहाहा! गजब भाई! नहीं सुना (हो), उसे तो ऐसा लगे न यह! यह कैसे धर्म की बात करते हैं? ऐसा कैसा धर्म वीतराग का? बापू! मार्ग वीतराग का नहीं, तेरा ऐसा है। तू वीतरागस्वरूप ही है। आहाहा! वीतरागता प्रगट हुई, वह कहाँ से आयी? कहीं बाहर से आती है?

अन्तर में वीतरागस्वरूप है भगवान! तेरा स्वरूप शान्त... शान्त... अनाकुल आनन्द का धाम शीतल... शीतल... जैसे बर्फ की शिला रखी होती है न। मुम्बई में देखो न, बड़ी-बड़ी शिला १०-१०, २०-२० मण की। ऐसे देखे न तो... वह ऐसे (ट्रक) निकले तो दिखाई दे बड़ी शिलायें। परन्तु वह तो रूपी जड़ शीतल है। यह भगवान आत्मा शरीरप्रमाण अरूपी शान्तरस की शीतलशिला है। समझ में आया? अभी इसे विश्वास नहीं (कि) मेरी चीज़ क्या है। और साक्षात् मौजूद तत्त्व पड़ा है। राग और सम्बन्ध बिना का तत्त्व पड़ा है। समझ में आया? जिससे सिद्धपद प्राप्त हो और वह सिद्धपद उत्पन्न हुआ, वह हुआ, वह अनन्त काल रहेगा और अनन्त काल के दु:ख का नाश होगा।—यह मार्ग तो कोई अलौकिक होगा न, भाई! समझ में आया? सुनने को मिलता नहीं वह विचारे कब और बैठे कब और रुचि करे कब? भड़के पहले। आहाहा!

बापू! तेरे घर की बात है, भाई! परमेश्वर त्रिलोकनाथ तेरी शान्ति को याद करने का कहते हैं और अशान्ति को भूलने का कहते हैं। पण्डितजी! धमाल होती हो बाहर में, ५-१० लाख खर्च करे, बड़े गजरथ निकाले। दस-दस हजार, बीस-बीस हजार लोग इकट्ठे हुए हों और झण्डा बड़ा... क्या कहलाता है? बड़ी ध्वजायें? 'झण्डा हमारा रहे ऊँचा, झण्डा हमारा रहे ऊँचा।' आहाहा! यह धर्म है! यह झण्डा नहीं। मेरा आत्मा आनन्दस्वरूप है, वह विकल्प से झण्डा हमारा ऊँचा रहे आत्मा... आत्मा... ऐसा। आहाहा! समझ में आया? 'ऐसी बात पल्ले ही पड़ती नहीं', भाई कहते थे न कल। बात तो ऐसी है। सूक्ष्म है न, भाई! आहाहा!

अरे भगवान! तेरे घर का सहारा तू ही है और घर में (क्या है) और बाहर की निकल जाये, वह क्या चीज़ है—यह तुझे खबर नहीं। अरे! धूल-बूल तो कहीं रह गयी। ऐई पोपटभाई! साधारण लोगों को तो पोपटभाई जैसे को देखकर तो ऐसा हो जाये... एक कहे कि पाँच करोड़ रुपये इनके पास हैं। एक व्यक्ति और कहे, दस करोड़ रुपये हैं। भाई! अब जो हो वह सही। अंक ऐसा बड़ा बोलकर क्या काम है तुझे? ऐ हिम्मतभाई! परन्तु हिम्मतभाई को पहले था, उससे बढ़े हैं। बात सच्ची है, ऐसा भाई बोले तुम्हारे मित्र। यह ठीक है। यह तो ५०-६० लाख हो तो भी लोग तो पाँच करोड़ कहते हैं। उन बेचारों को साधारण लोगों को लगे, आहाहा! ५०-६० लाख किसे कहा जाये? दुनिया को क्या बेचारे को!

अरे! वह हो तो भी वह चीज़ तो जड़ है। वह जड़ तुझमें नहीं, तू जड़ में नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि जो विकल्प उठे, उसमें भी तू नहीं। आहाहा! बापू! तेरी अस्ति—सत्ता की तुझे खबर नहीं। समझ में आया? आहाहा! कहीं दया, व्रत और तप करे तो ऐसा माने कि हमने कुछ धर्म किया। अरे! धूल भी नहीं, सुन न! वह तो सब राग के तिनके उड़ते हैं अन्दर। आहाहा!

मुमुक्षु : गुण-गुणी का विकल्प....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भी दुःख है, ऐसा कहते हैं। ऐसा वीतरागमार्ग परमेश्वर समवसरण के मध्य में इन्द्रों के समक्ष में परमात्मा ऐसा कहते थे, वे भगवान सीमन्धरस्वामी अभी कहते हैं। सीमन्धर भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं। इन्द्र बड़े अर्धलोक के स्वामी उनके समक्ष (वाणी सुनने बैठते हैं)। बत्तीस-बत्तीस हजार जिनके घर विमान, असंख्य देवों के स्वामी। भाई! वह चीज़ तो तेरी नहीं, उसमें तू नहीं; तू है वहाँ, वह नहीं। आहाहा! भगवान! यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! सुन न, भाई! भगवानरूप से ही बुलाया है आत्मा को। समझ में आया?

'सीतल भाव निरंतर राखैं' **'निरंतर राखैं'** देखो! किसी समय भी विकल्प मेरा है, ऐसा वह अनुभव में ले नहीं। आहाहा! समझ में आया? **'जे न गुनी-गुन-भेद विचारत, आकुलता मनकी सब नाखैं'** देखो, यह मन का संग है, कहते हैं। यह मैं

गुणी आत्मा हूँ। गुणी अर्थात्? वह गुणी (बोरी) कहलाती है दाने की, वह नहीं, हों! गुणी (बोरी) नहीं कहते? वह दाने भरे हुए हों न गुणी-गुणी में। कितनी गुणी लाये? पाँच-छह हजार गुणी (बोरी) होती है न, वह चावल की और मूँग की। क्या कहलाता है? केसर के डिब्बे लाखो मण के केसर के डिब्बे। बड़े केसर के व्यापारी मुम्बई में होते हैं न, लाखों रुपये की केसर। दस-दस लाख की केसर पड़ी हो गोदाम में। वह पूरी गुणी है, वह गुणी होगी? यह भगवान आत्मा अनन्त गुण का धारक गुणी है, ऐसा कहते हैं। उस गुणी में गुण भरे हैं। उस गुणी में चावल और दाल भरे होते हैं, जो अनाज या क्या। समझ में आया? आहाहा! गुणी आत्मा अर्थात् द्रव्य—वस्तु मैं और जिसमें अनन्त गुण अर्थात् शक्ति पड़ी है—ऐसा भेद भी लक्ष्य में लेने से राग होता है। भाई! उस राग का तिनका उड़ता है उसमें। आहाहा! प्रकाशदासजी! देखो, यह मार्ग ऐसा। आहाहा!

अब झगड़ा और वाद-विवाद करे। अरे प्रभु! भगवान के साथ वाद-विवाद होता है? तू भगवान है, भाई! शीतलता से भरा हुआ विकल्प को तोड़कर पूर्ण शान्ति प्राप्त करे, ऐसा तेरा स्वरूप है। आहाहा! उसे यहाँ बाहर के विवाद। चश्मे से दिखता है और फलाने से यह होता है। अपने बाह्य निमित्त का बहुत आया न भाई! अभी इसमें ही आया दोनों (पत्रों) में। रोटी-बोटी होती है, उसमें स्त्री बाह्य निमित्त; घड़ा हो, उसमें कुम्हार बाह्य निमित्त; बुनकर कपड़ा बुने, उसमें वह बुनकर बाह्य निमित्त। आहाहा! पण्डितजी! यह तो उसके काल में हो, उसमें दूसरी बाह्य चीज़ की उपस्थितिवाले को बाह्य निमित्त कहा जाता है। आहाहा!

यहाँ तो वह तो कहीं दूर रहा अब, कहते हैं। भाई! तेरा स्वभाव अन्दर ऐसा है। अनन्त-अनन्त अपरिमित बेहद आनन्द और शान्ति। परन्तु वह बेहद आनन्द और मैं आनन्द का धारक—ऐसे भेद में रुकना, वह राग का तिनका है। दिवाली में नहीं आती, क्या कहलाती है? फुलझड़ी... फुलझड़ी बारुद की बनायी हुई होती है न! फूलझर। जो राग है, वह अग्निझर है, कहते हैं। आहाहा! गुणी भगवान आत्मा और उसका गुण—यह विकल्प, वह अग्नि का तिनका झरता है। साधारण लोगों को तो (कठिन लगे)। श्रीमद् ने कहा न 'वचनामृत वीतराग के, परम शान्तरस मूल; औषध जो भवरोग के, कायर को प्रतिकूल।' हीजड़ा पावैया जैसे को तो ऐसा लगे, अररर! यह क्या?

पोपटभाई! 'वचनामृत वीतराग के, परम शान्तरस मूल।' वह तो विकल्प को तुड़ाकर शान्तरस में डाले, ऐसी वीतराग की वाणी है। 'औषध जो भवरोग के।' वह भव का रोग। आहाहा! जरा छिद्र पड़े, वहाँ यहाँ लाओ, कहते हैं। क्या कहलाता है वह? जीथरी। १०० में से ९९ बुखार (होता) नहीं। क्या होगा? ऐसी मन में शंका पड़ जाये। क्षयरोग लागू पड़ा होगा? चलो भाई फोटो (एक्सरा) लेने जीथरी। ९९। ९९ समझ में नहीं?

मुमुक्षु : सौ में एक कम।

पूज्य गुरुदेवश्री : बुखार... बुखार... थोड़ा-थोड़ा रहता है ... दूसरे प्रकार का। चार बजे तक थोड़ा-थोड़ा रहे। और दिन में भी... ऐसी गड़बड़ करे।

यहाँ कहते हैं कि अनादि से तुझे भ्रमणा का रोग लगा है। आहाहा! मेरा आनन्द का नाथ मैं कौन हूँ, इसकी तुझे खबर नहीं और पुण्य और पाप के विकल्प में मेरा माना, वह भ्रान्ति है। श्रीमद् ने कहा न, 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान, गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान।' आत्मभ्रान्ति सम रोग... वह रोग ही उसके जैसा कोई नहीं। आहाहा! यह एक शरीर में कितने रोग, यह कहा था। भगवान ने कहा है। एक शरीर है यह। अच्छा रूपवान लगे। इसमें रोग इतने हैं, ५ करोड़ ६८ लाख ९० हजार ५८४ रोग है, इस शरीर में।

मुमुक्षु : वह शक्तिरूप से है न, उसमें क्या दिक्कत है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अन्दर कितने ही तो व्यक्तरूप से होते हैं, परन्तु इसे दिखाई नहीं देते। ऐ पोपटभाई! एक-एक अंगुल में ९६ रोग हैं, ऐसा भगवान कहते हैं। सोने का पिण्ड लगे उसे मानो। धूल भी नहीं, यहाँ तो सड़े हुए परमाणु हैं सब। आहाहा! उसमें जैसे रोग है, वैसे आत्मा में अनन्त गुणों की निरोगता है। समझ में आया?

'आरोग्गबोहिलाभं' नहीं आता? लोगस्स में आता है। सामायिक पाठ आता है न उसमें। लोगस्स। 'आरोग्गबोहिलाभं।' यहाँ तो अर्थ किसे आता है यह? पहाड़े बोल जाते हैं। 'लोगस्स उज्जोयगरे धम्मतित्थयरे... एवं मए अभिथुआ।' आहाहा!

आरोग्गबोहिलाभं... हे परमात्मा! यह पुण्य और पाप का विकल्प, वह रोग है और वह मेरा, यह भ्रान्ति का रोग है। उससे रहित मेरा स्वरूप शुद्ध निरोगी आरोग्य है। उसकी दर्शन की, ज्ञान की, चारित्र की प्राप्ति होना, इसका नाम मोक्ष है, इसका नाम बोधि है। कहो, समझ में आया?

'जे न गुनी-गन-भेद विचारत, आकुलता मनकी सब नाखैं' भगवान आत्मा अन्तर स्वरूप में जाने पर उसे अनन्त-अनन्त अमृत का स्वाद आता है। ऐसे स्वाद में आकुलता मन की सब टल जाती है। आहाहा! वह **'जगमैं धरि आतमध्यान'** लो। ऐसे आत्मायें आकुलता छोड़ दी, गुण-गुणी के भेद के विकल्प को भी छोड़ कर.... उपदेश तो ऐसा आवे न! यहाँ स्थिर हो, वहाँ वे (कर्म) छूट जाते हैं। आहाहा! **'जे जगमैं धरि आतमध्यान'** 'आत्मा... आत्मा... आत्मा...' (ऐसा) एक व्यक्ति कहता था। परन्तु बापू! आत्मा अर्थात् क्या? आहाहा! तीन लोक का नाथ। तीन काल-तीन लोक तो जिसकी ज्ञान की एक पर्याय में समा जाते हैं। आहाहा! ऐसे भगवान को तू अल्परूप से, रंकरूप से स्वीकारे, (यह) बड़ा मिथ्यात्व भ्रम है। आहाहा! समझ में आया? **'जे जगमैं धरि आतमध्यान'** आत्मध्यान। कहो, इसमें कोई देव-गुरु का ध्यान, सम्मेदशिखर का ध्यान, शत्रुंजय का ध्यान नहीं कहा। पंच परमेष्ठी का ध्यान भी नहीं। पंच परमेष्ठी का ध्यान करने जाये तो अन्दर में विकल्प उठे। अपने गुण-गुणी के भेद का भी ध्यान नहीं। आहाहा! समझ में आया?

'जे जगमैं धरि आतमध्यान' देखो, यह करने का यह, कहते हैं कि 'मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ'—ऐसा विकल्प भी राग है। उसका कर्ता हो और वह मेरा कर्म है... कर्ता-कर्म अधिकार है न! वह विकल्प की क्रिया मेरी क्रिया है और उसका मैं कर्ता हूँ, (ऐसा मानता है), तब तक आकुलता के मिथ्यात्वभाव को सेवन करता है। आहाहा! कठिन काम, भाई!

मुमुक्षु : उसमें कुछ स्थिरता नहीं होती।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं होती। अन्दर में स्थिरता—शान्ति बिना आकुलता नहीं टलती। **'अखंडित ग्यान सुधारस चाखैं'** देखो, गुण-गुणी का भेद पड़ा, वह तो खण्ड

हो गया। अभेद अखण्ड ज्ञायक चैतन्य प्रभु को दृष्टि में लेकर अखण्डित ज्ञान... अखण्ड ज्ञान वस्तु ध्रुव, उसमें सुधारस चाखे—वह अमृत का स्वाद ले—वह सुधारस का प्याला पीवे। जहर का प्याला अनादि का पिया, (अब) छोड़, कहते हैं। आहाहा! भारी कठिन काम परन्तु यह!

सोनगढ़वाले ऐसा कहते हैं। निश्चय से कहते हैं, व्यवहारनय कुछ कहते नहीं, ऐसा वाद-विवाद करते हैं। परन्तु यहाँ तो कहते हैं, गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी दुःखरूप है। अब तुझे कहाँ ले जाना है व्यवहार को? आहाहा! बापू! मार्ग ऐसा है, भाई! तेरा मार्ग तो वीरता का है। यह वीरों का मार्ग है, यह कोई कायर का (मार्ग नहीं)। समझ में आया? '**अखंडित ग्यान सुधारस चाखैं**' श्रीखण्ड को चखे, आम हाफुस बड़ा चखे। वह जड़ कौन चखता था? वह तो जड़ है। जड़ को जाने और जानते हुए उसे ऐसा हो जाये कि यह मुझे अच्छा लगता है, वह राग करता है। वह राग को खाता है, बाकी तो श्रीखण्ड—बीखण्ड को कोई खा नहीं सकता। समझ में आया?

'**अखंडित ग्यान**' देखो न, भाषा कैसी की है! '**अखंडित ग्यान सुधारस चाखैं**' तो उसे अमृत का अनुभव हो, वह आत्मा का अनुभव कहलाता है, तब उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और धर्म कहा जाता है। आहाहा! यह तो थोड़ी सी पर की सेवा करे, पैसा-बैसा उगाहकर, क्या कहलाता है तुम्हारे? चन्दा—खरडा करे, दस-बीस हजार इकट्ठे करके एक मन्दिर बनावे, उपाश्रय बनावे। भारी किया! धूल भी नहीं। भारी किया है राग।... सामने करे, व्यक्ति बहुत होशियार हो न। चलो मैं खड़ा रहूँगा और तुम्हारे चन्दा हो जायेगा, लो। पैसेवाले को जानता हो और उसकी पहिचान हो। उसे ले जाये और देखो, यह आया है और उपाश्रय बनाना है और मन्दिर बनाना है। लो, लिखो ५०१। देखो, सामने आये। पोपटभाई!

पोपटभाई जैसे सामने आवें तो कितना हो। दूसरे को शर्माकर देना पड़े, लो। स्वयं निकाले। सामने (हो), इसलिए स्वयं निकाले न पहले। मनसुखभाई थे न अपने, मनुसखलाल ताराचन्द। आँख के नहीं बड़े... करोड़पति। अपने यहाँ बड़ी है न मुम्बई में। यहाँ आते थे न हमेशा आँख के लिये। उन्होंने किया था न यह सब।... बाद में उसे

मकान बनाना था। बनाया न जोरावर... कांप (बढवाण) में बनाया है। बहुत लाखों रुपये। पचास हजार स्वयं ने निकाले। पचास हजार स्वयं ने दिये और फिर चन्दा किया। मनसुखभाई जैसा व्यक्ति। बड़ा चन्दा हो गया १८ लाख का—२० लाख का। बनाया है न वहाँ कांप में। उसे कहा था, अब निवृत्ति लो। अब यह स्कूल में कहाँ पड़े वापस? यह घर का धन्धा छोड़कर फिर वापस इसमें पड़े। अब यह तो होली है सब। ऐई सेठ! मनसुखभाई गुजर गये नैरोबी—अफ्रीका में। आँख का उन्होंने किया न। उनके गुरु आये थे। मुम्बई में है न बड़ा डॉक्टर चिटनीस, उसे लाये थे। स्वयं खड़े थे। बड़ा डॉक्टर शान्त व्यक्ति। ऐसे देखो तो कुछ न लगे, पूँजी दस हजार की होगी, (परन्तु) एक करोड़ है। परन्तु वह तो पुण्य के प्रसंग के कारण धूल दिखती है, उसमें तुझे क्या? तू वहाँ कहाँ है? और तुझमें वह कहाँ है?

यहाँ तो कहते हैं, खण्डज्ञान का विचार करना, वह भी विकल्प के तिनके उड़ते हैं। आहाहा! गजब बात है! शान्ति... शान्ति... शान्ति... अखण्ड ज्ञान भगवान आत्मा शान्त। जिसमें विकल्प उठे, वह भी दु:ख लगे। आहाहा! गजब मार्ग ऐसा! **'सुधारस चाखै'**, लो। पूर्ण ज्ञानामृत का स्वाद ले। आहाहा! जीव निश्चयनय से अकर्ता, व्यवहार से कर्ता। दोनों विकल्प है, उसकी बात करते हैं। ज्ञानामृत ही सुधारस है। दूसरे धूल में भी कहाँ रस था आम में? बहुत हाफुस आम बढ़िया आवे ऐसे रुपये-रुपये के, डेढ़ रुपये के ऐसे बड़े। फाँक करे और आहाहा... अमृत है मानो अमृत।

हमारे वहाँ पपीता को अमृत कहते यहाँ महाजन में। यह महाजन है न... वह पपीता को अमृत कहे, अमृतफल। धूल भी नहीं अब। पपीता होता है न। अरे! वह तो जड़ मिट्टी धूल, उसका स्वाद तुझे आता नहीं। वह तो जड़ है। जड़ का स्वाद तुझे आवे? तू तो अरूपी है और वह तो जड़ है। उसे देखकर तुझे राग हो, उस राग का स्वाद अज्ञानी को आता है और मानता है कि मुझे यह पपीता का स्वाद आया, यह स्त्री के भोग का स्वाद आया, यह लड़के अच्छे हुए, उन्हें सुनकर हृदय स्थिर होता है। लड़के अच्छे पके और आज्ञाकारी हो। ऐई सेठी! महेन्द्रभाई जैसे हों बहुत लड़के। परन्तु लड़का कैसा किसका था?

यहाँ तो कहते हैं, अखण्ड ज्ञान में खण्ड का विचार करना, वह विकल्प तेरी

चीज़ नहीं। वह तो होली सुलगती है, अग्नि के तिनके उड़ते हैं, ऐसा कहते हैं। पण्डितजी! गजब बात, भाई! परमेश्वर ऐसा कहते हैं, यह निर्णय तो कर कि यह अखण्ड ज्ञायकभाव आत्मा का अनुभव, वह धर्म है। वहाँ शान्ति, बाकी अन्यत्र अशान्ति है। समझ में आया? २५वाँ कलश। २४ हो गया न, अब यह २५।

एकस्य बद्धो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति
नित्यं खलु चिच्चिदेव।।२५।।

इसका पद २६वाँ।

★ ★ ★

काव्य - २६

जीव निश्चयनय से अकर्ता और व्यवहार से कर्ता है (सवैया इकतीसा)

विवहार–दृष्टिसौं विलोकत बंध्यौसौ दीसै,
निहचै निहारत न बांध्यौ यह किनिहीं।
एक पच्छ बंध्यौ एक पच्छसौं अबंध सदा,
दोऊ पच्छ अपनैं अनादि धरे इनिहीं।।
कोऊ कहै समल विमलरूप कोऊ कहै,
चिदानंद तैसौई बखान्यौ जैसौ जिनिहीं।
बंध्यौ मानै खुल्यौ मानै दोऊ नैको भेद जानै,
सोई ग्यानवंत जीव तत्त्व पायौ तिनिहीं।।२६।।

शब्दार्थः–विलोकत=देखने से। निहारत=देखने से। अबंध=मुक्त। बंध्यौ=बन्ध सहित। तैसौई=वैसा ही। खुल्यौ=बन्ध रहित।

अर्थ:-व्यवहारनय से देखो तो आत्मा बँधा हुआ दिखता है, निश्चयदृष्टि से देखो तो यह किसी से बँधा हुआ नहीं है। एक नय से बँधा हुआ और एक नय से सदा अबन्ध-खुला हुआ है, ऐसे ये अपने दोनों पक्ष अनादि काल से धारण किये हुए हैं। एक नय कर्मसहित और एक नय कर्मरहित कहता है, सो जिस नय से जैसा कहा है, वैसा है। जो बँधा हुआ तथा खुला हुआ दोनों ही बातों को मानता है, और दोनों का अभिप्राय समझता है, वही सम्यग्ज्ञानी जीव का स्वरूप जानता है।।२६।।

काव्य - २६ पर प्रवचन

विवहार-दृष्टिसौं विलोकत बंध्यौसौ दीसै,
निहचै निहारत न बांध्यौ यह किनिहीं।
एक पच्छ बंध्यौ एक पच्छसौं अबंध सदा,
दोऊ पच्छ अपनैं अनादि धरे इनिहीं॥

भाषा कैसी डाली है, देखो! कहते हैं, यहाँ तक गया था अनन्त बार (जब) नौवें ग्रैवेयक में गया तब। आहाहा! ऐसा कहते हैं।

कोऊ कहै सकल विमलरूप कोऊ कहै,
चिदानंद तैसौई बखान्यौ जैसौ जिनिहीं।

जिनभगवान वीतरागदेव ने महिमा की, ऐसा यह आत्मा है।

बंध्यौ मानै खुल्यौ मानै दोऊ नैको भेद जानै,
सोई ग्यानवंत जीव तत्त्व पायौ तिनिहीं॥२६॥

'**विवहार-दृष्टिसौं विलोकत बंध्यौसौ दीसै**' वर्तमान ज्ञान के लक्ष्य से व्यवहार के कर्म के सम्बन्ध से देखो तो मानो आत्मा को बन्धन है, ऐसा दिखता है। समझ में आया? जल में कमल पड़ा हो, उसका स्वभाव तो रूखा होता है, उसकी रोम रूखे होते हैं। पानी के सम्बन्ध से ऐसे देखो तो मानो पानी उसे छूआ हो, ऐसा दिखता है। परन्तु उसके स्वभाव से देखो तो पानी उसे छूआ नहीं है।

इसी प्रकार '**निहचै निहारत न बांध्यौ यह किनिहीं**' किसी से बँधा नहीं है।

अबन्धस्वरूप किससे बँधे? समझ में आया? पेटी हो एक, उसमें ट्रंक हो और उसमें एक छोटी डिब्बी हो और उस डिब्बी में वापस एक छोटी डिब्बी और पाँच लाख और दस लाख का रत्न रखा हो, लो। ऐसे देखो तो वह सब बन्ध में है। ज्ञान में बन्ध में है? यह है, यह रहा रत्न। ज्ञान बँधा हुआ नहीं। और वह चीज़ बँधी है, ऐसा नहीं। आहाहा! सन्दूक और उसमें ट्रंक, उसमें छोटी डिब्बी और उसमें छोटी डिब्बी। ऊँचा रत्न—स्टोन होता है। ऊँचा रत्न हो, उसे ढाँका है? दब गया है? ज्ञान तो बराबर जानता है कि यह रत्न रहा। डिब्बी, ट्रंक और सब स्पष्ट। जाने, उसका अर्थ कि उसके ख्याल में वह तैरता होता है, सब आड़े हो तो भी, कि यह रत्न है... यह रत्न है... यह रत्न है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा व्यवहार से निमित्त से, मानो उस पेटी में पड़ा है रत्न, ऐसे मानो राग के सम्बन्ध में हो ऐसा कहा जाता है। निश्चयपक्ष देखो तो 'न बंध्यौ है।' ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा अबद्धस्पृष्ट। वह तो अबद्धस्पृष्ट के अनुभव की बात है। यहाँ अबद्धस्पृष्ट विकल्पसहित कहते हैं। राग से विचार उठे कि 'मैं अबद्ध हूँ' अन्दर के घोलन के काल में। 'यह वस्तु अत्यन्त निराली है, अबद्ध है'—यह भी एक निश्चयनय के राग का एक पक्ष है। आहाहा! उसमें लिखा है न, भाई! 'उससे क्या?' इतने तक आया, उससे क्या? ऐसा कहते हैं। आहाहा! आता है (समयसार, गाथा) १४२ में आता है 'उससे क्या?' आहाहा! आत्मा मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, निर्मल हूँ, मलिनता व्यवहारनय से है, वस्तु से निर्मल है—ऐसे विचार की भूमिका में, राग में आया, उससे क्या? इससे उसे वस्तु की श्रद्धा और वस्तु की प्राप्ति कहाँ आयी, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

लोगों ने सुना न हो और यह कहीं मार्ग तो वीतराग का ऐसा होगा? कि कोई अन्यमति का ऐसा मार्ग होगा? उसे वीतरागमार्ग की खबर नहीं, इसलिए कहे कि भाई! अपने मार्ग में तो ऐसा होता है (कि) व्रत पालना, ब्रह्मचर्य लेना, छह परवी ब्रह्मचर्य पालना, कन्दमूल नहीं खाना, हरितकाय में भी मर्यादा करना, पाँच वस्तु लेना, अधिक नहीं। ऐसा सब करना, वह तो कहाँ गया इसमें? कहते हैं। कब करता था? सुन न अब! वह पर का त्याग करता हूँ और ग्रहण करूँ—यह दृष्टि ही मिथ्यात्व है। आत्मा अबद्धस्वरूप है, उसमें पर का ग्रहण-त्याग है ही कहाँ? आहाहा! समझ में आया? अरे! गजब बात है, भाई! वाड़ा में तो चिल्लाहट मचा जाते हैं।

कहा न (संवत्) १९८५ में। हजारों लोग बोटाद में (आते थे)। नाम प्रसिद्ध था न तब। ८५ की बात है। कितने वर्ष हुए? ४२। बोटाद में व्याख्यान चलता था। मुँहपत्ती और सब था न तब। हजारों लोग सभा में व्याख्यान... एक प्रश्न उठा। 'जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव धर्म नहीं और पंच महाव्रत के भाव, वह विकल्प है और वह धर्म नहीं।' वहाँ एक व्यक्ति बैठा था। 'वोसरे... वोसरे' कहे। ऐसा धर्म गजब! कहाँ है परन्तु, सुन न अब! जेठालालभाई! वोसरे.. वोसरे, कहे।

वोसरे... वोसरे समझे? (अर्थात्) छोड़ दो। यह हमको नहीं चाहिए, यह हमें नहीं सुनना। सुन तो सही भगवान!

मुमुक्षु : चमके।

पूज्य गुरुदेवश्री : चमके क्या? खड़े हो गये। वोसरे... वोसरे करके बाहर निकल गये। फिर कहा उसे, परन्तु बैठे रहना था न। तुम्हारे कहाँ लगता था? ऐसे वीर्यहीन थे। बैठे रहना था न तुम्हारे, तुम्हारा माना किसी ने सभा में? तुमने क्या कहा, वह (सभा को) खबर है। सभा को खबर है कुछ? मुझे खबर है, तुमने क्या कहा यह। सभा तो सुनने में लीन थी। रायचन्द गाँधी जैसे बड़े गृहस्थ।

सब बैठे थे, सब सेठिया। सब सुनते थे। शिवलालभाई गुजर गये न, उस समय उनकी पुकार जोरदार थी। मस्तिक... मस्तिक... शिवलालभाई होंकारे के लिये वे बैठते सामने। ...यह बात आयी तो किसी को ऐसा न हो कि यह महाराज क्या मार्ग कहते हैं? ...छाप थी न बाहर में। 'भाई! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव धर्म नहीं। धर्म से बन्धन नहीं होता और जिस भाव से बन्धन, वह धर्म नहीं।' दो बोल कहे वहाँ खलबलाहट! ... बातें कीं... लो, ऐसा कहते थे। सभा सब भ्रष्ट हुई है, ऐसा है और वैसा है। अरे भाई! क्या करे? आहाहा! एक पैसावाला अरबोंपति हो, उसे कहे कि तू निर्धन है, इससे उसे दुःख लगे? वह जाने कि मुझे खबर है न कि मेरे पास क्या है? क्यों पोपटभाई?

यह भाई नहीं सेठिया दीपचन्द सेठिया, नहीं? उनके मामा थे। ४० वर्ष पहले की बात है। ४५ वर्ष। साठ लाख रुपये नगद, हों! तब तो नगद थे न। साठ लाख रुपये।

अपने दीपचन्द सेठिया सरदारशहरवाले। स्थानकवासी थे। फिर कोई उन्हें लिख गया बाहर। उनका मकान। बड़े गृहस्थ। पुत्र नहीं था, पुत्री एक ही थी। फिर इनको ६० लाख देने लगे थे न दीपचन्दजी को... नहीं लिये ६० लाख। क्या करूँ ६० लाख को? मेरे पास दो-तीन लाख है, उनकी भी अन्दर रुचि नहीं। तो तुम्हारे ६० लाख को क्या करूँ मामा? अपने कहावत है न भाई, जीवते पालना और मरते... ऐसा कुछ है न! वह कहे कि मुझे जीते जी पाल और ६० लाख ले।

पश्चात् पूँजी (के लिये) बाहर में किसी ने लिखा मकान के ऊपर। मोहनलाल नाम था, नहीं? मोहनलालजी ने दीवाला निकाला, ऐसा लिखा मकान के ऊपर। किसी ने कहा कि ऐसे मकान के ऊपर (लिखा है)। परन्तु मेरे पास (आकर) लिखे न यहाँ सीढ़ी के ऊपर। मेरे पास क्या है, मुझे खबर नहीं? रोकड़ नगद पड़े हुए पैसे। दूसरे एक हैं न उनके मामा। दस-बीस करोड़ हैं। दस करोड़ तो तब थे। मात्र हीरा-माणेक घर में भरे थे। सरदारशहर। दस करोड़ वे तब के, हों! अभी तो भाव बढ़ गया। गिनने का न, अंक गिनना है न यहाँ कहाँ...? आकर लिख न मेरी सीढ़ियों पर, कहे। मेरे पास क्या है, उसकी मुझे खबर नहीं?

इसी प्रकार यह भगवान अनाकुल आनन्द का नाथ, उसे गरीब कहकर रागवाला कहे, आहाहा! इससे वह निर्धन नहीं हो जाता। सेठी! उसे भ्रमणा है, भ्रमणा घुस गयी है उसे। आहाहा! अरे! ऐसा मैं? ऐसा मैं? साक्षात् भगवान? साक्षात् भगवान मैं? वह भगवान की पर्याय ऐसी अनन्त लेकर पड़ा है। 'अबद्ध हूँ' ऐसा भी एक विकल्प, वह राग है। आहाहा! भीखाभाई! अब इसमें कहाँ रहा इसमें? बात सच्ची है तुम्हारी, परन्तु अभी हमको समझ में नहीं आती।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प है।

मुमुक्षु : बँधा हुआ है....

पूज्य गुरुदेवश्री : बँधा हुआ है ही नहीं, वह तो अबन्ध है। यह बन्ध का विकल्प नहीं, परन्तु अबद्ध का विकल्प है, ऐसा। उसके पक्ष में खड़ा है न वह, आहाहा! गजब

बात है, भाई! चौरासी के अवतार छूटना और मुक्ति होना, वह मार्ग कोई रंक का नहीं। समझ में आया?

'**कोऊ कहै समल विमलरूप कोऊ कहै**' कोई कहे, भाई! यह तो समल है भाई! मैल भरा है पर्याय में। भले वह व्यवहार से है, निश्चय से विमलरूप भगवान है। '**चिदानंद तैसोई बखान्यौ जैसौ जिनिहीं**' त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव परमेश्वर ने जैसा आत्मा वस्तु से कहा, पर्याय में कहा, वैसा है। भगवान ने आत्मा को अन्तर आनन्दकन्द चिदानन्दस्वरूप ऐसा देखा और ऐसा कहा, वह तो ऐसा ही है और रागवाला पर्याय में है, व्यवहार से ऐसा भी है। '**बंध्यौ माने खुल्यौ मानै दोऊ नैकौ भेद जानै**' इस त्रिकाल शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा से अबद्ध हूँ और निमित्त की सापेक्षता से पर्याय में बन्ध रागादि है—ऐसा दोनों का भेद जाने।

'**सोई ग्यानवंत...**' पश्चात् विकल्प तोड़कर, ऐसा कहते हैं मूल तो, हों! पद है न इसलिए... भेद जाने, उसके प्रकार जाने। '**सोई ग्यानवंत जीव तत्त्व पायौ तिनिहीं।**' उस विकल्प को छोड़कर अखण्ड ज्ञान चैतन्यमूर्ति प्रभु का अनुभव करे, वह चैतन्यतत्त्व को प्राप्त हुआ, वह आत्मा को प्राप्त हुआ। कहो, समझ में आया? आता है न श्रीमद् में? 'आतम भावना भावता जीव लहे केवळज्ञान रे' ऐसा रटा करे, परन्तु आत्मा क्या? भावना कौन सी? रटा रटन्त करे। ....ऐसा आत्मा अखण्डानन्द प्रभु, जिसे अखण्ड हूँ ऐसे विकल्प का पक्ष भी वहाँ अन्दर खटकता है। आहाहा! ऐसा ज्ञानवन्त जीव, वह विकल्प का पक्ष छोड़कर स्वरूप की अनुभव दृष्टि करे, उसने आत्मा प्राप्त किया है। विकल्प में है, तब तक आत्मा प्राप्त नहीं किया। आहाहा! समझ में आया? विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४७, फाल्गुन कृष्ण ६, गुरुवार, दिनांक १८-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद २७-२८

यह समयसार नाटक चलता है। कर्ता-कर्म-क्रिया अधिकार। नीचे का ४५ श्लोक है। ४५ है न? ४५ किया है? ऐसा क्यों हुआ? ४५ नहीं चाहिए।

मुमुक्षु : १९ श्लोक छोड़ दिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, छोड़ दिये हैं तो ठीक। छोड़ दिये हैं। छोड़ दिये, इसलिए नीचे ४५ श्लोक।

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्ष-कक्षाम्।
अन्तर्बहिः सम-रसैक-रस-स्वभावं,
स्वं भाव-मेक-मुपयात्यनुभूति-मात्रम्।।४५।।

इसका पद २७वाँ। **नयज्ञान द्वारा वस्तुस्वरूप जानकर समरसभाव में रहनेवालों की प्रशंसा।**

★ ★ ★

काव्य - २७

नयज्ञान द्वारा वस्तुस्वरूप जानकर समरस भाव में रहनेवालों की प्रशंसा (सवैया इकतीसा)

प्रथम नियत नय दुजी विवहार नय,
दुहूकौं फलावत अनंत भेद फले हैं।
ज्यौं ज्यौं नय फलैं त्यौं त्यौं मनके कल्लोल फलैं,
चंचल सुभाव लोकालोककौं उछले हैं।।

श्लोक क्रमांक २६ से ४४ विविध नयों पक्षो से सम्बन्धित श्लोक होने से उन पर पण्डित बनारसीदासजी द्वारा कवित्त नहीं लिखा गया है।

ऐसी नयकक्ष ताकौ पक्ष तजि ग्यानी जीव,
समरसी भए एकतासौं नहि टले हैं।
महामोह नासि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि निज,
बल परगासि सुखरासि मांहि रले हैं।।२७।।

शब्दार्थ:-नियत=निश्चय। फलावत=विस्तार करो तो। फले=उपजै। कल्लोल= तरंग। उछले=बढ़े। कक्ष=कोटि। परगासि=प्रगट करके। रले[1]=मिले।

अर्थ:-पहला निश्चय और दूसरा व्यवहारनय है, इनका प्रत्येक द्रव्य के गुण-पर्यायों के साथ विस्तार किया जाय तो अनन्त भेद हो जाते हैं। जैसे जैसे नय के भेद बढ़ते हैं वैसे-वैसे चंचल स्वभावी चित्त में तरंगें भी उपजती हैं, जो लोक और अलोक के प्रदेशों के बराबर हैं। जो ज्ञानी जीव ऐसी नयकोटि का पक्ष छोड़कर समता-रस ग्रहण करके आत्मस्वरूप की एकता को नहीं छोड़ते, वे महामोह को नष्ट करके, अनुभव के अभ्यास से निजात्म बल प्रगट करके, पूर्ण आनन्द में लीन होते हैं।।२७।।

काव्य - २७ पर प्रवचन

प्रथम नियत नय दुजी विवहार नय,
दुहूकौं फलावत अनंत भेद फले हैं।
ज्यौं ज्यौं नय फलैं त्यौं त्यौं मनके कल्लोल फलैं,
चंचल सुभाव लोकालोककौं उछले हैं॥
ऐसी नयकक्ष ताकौ पक्ष तजि ग्यानी जीव,
समरसी भए एकतासौं नहि टले हैं।
महामोह नासि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि निज,
बल परगासि सुखरासि मांहि रले हैं॥२७॥

क्या कहते हैं ? यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि यह आत्मा जिसे प्राप्त हो, उसकी दशा कैसी होती है ? सम्यग्दर्शन प्राप्त हो—धर्म की प्रथम—पहली दशा, उस दशा में क्या

१. यह शब्द मारवाड़ी भाषा में प्रचलित है।

होता है, यह बात करते हैं। यहाँ तो कर्ता-कर्म अधिकार है, इसलिए यह आत्मा शरीर-वाणी-अन्य पदार्थ का तो कुछ कर नहीं सकता। स्वतन्त्र पदार्थ है, यह अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु। एक आत्मा दूसरे आत्मा का, दूसरे रजकण का कुछ कर नहीं सकता, क्योंकि स्वतन्त्र पदार्थ है। अब इससे आगे बढ़कर अन्दर में जड़कर्म के बन्धन होते हैं अन्दर। उसमें भी वास्तव में आत्मा कारण नहीं है। आत्मा जो है, वह उसे निमित्तरूप भी कारण नहीं। उसे कर्मबन्धन होता है, वह तो पुद्गल की स्वतन्त्र पर्याय है, परन्तु उसमें निमित्तरूप से अज्ञानी जीव का भाव होता है। जिसे आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने कहा, उस आत्मा का जिसे अन्दर भान—अनुभव नहीं, वह अन्तर में पुण्य-पाप के भावों को अपना मानता है, ऐसा वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव नये कर्मबन्धन को निमित्त होता है। सेठी! गजब बात, भाई!

अज्ञानी बहिरात्मा, जो आत्मा के स्वभाव में नहीं ऐसे पुण्य और पाप के शुभ और अशुभभाव को अपने मानकर और जिसकी दृष्टि पुण्य-पाप के राग के ऊपर है, वह मिथ्यादृष्टि (है, वह) जैन नहीं। उसे जैन के तत्त्व की खबर नहीं। भले जैन के सम्प्रदाय में जन्मा हो। समझ में आया? कठिन बात, भाई! यह आत्मा वस्तु से अन्दर शुद्ध आनन्दघन है। क्योंकि यह शरीर, कर्म तो अजीवतत्त्व है। वाणी आदि तो अजीवतत्त्व है, अजीव होकर रहे हुए हैं। अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव हो, वह पुण्यपने के आस्रवतत्त्व—मैलतत्त्व—बन्धतत्त्व है। समझ में आया? उस तत्त्व का जो कर्ता होता है, जो उसमें नहीं, उसका कर्ता होता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि नये (जड़) कर्म बाँध सकता नहीं, परन्तु नये कर्मबन्धन में उसके परिणाम निमित्त होते हैं। आहाहा!

अब यहाँ तो वह पर के पुण्य-पाप के विकल्प भी मेरे नहीं। यहाँ तो वहाँ अब ले जाना है अन्दर कि यह भगवान आत्मा वस्तु से अनादि-अनन्त नित्य ध्रुवतत्त्व है। उसका जो विकल्प उठना कि मैं द्रव्यार्थिक (नय से)—द्रव्य से नित्य हूँ। ऐसा एक नय का विकल्प ज्ञान में उठना (कि) उसका कर्तव्य मेरा है और उसका मैं कर्ता हूँ, वह भी मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु : फिर से एकबार।

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर से है न, फिर से कहते हैं।

यहाँ तो कहते हैं ने, देखो, '**प्रथम नियत नय दूजी विवहार नय**' पहली लाईन का अर्थ चलता है। पहला भगवान आत्मा अनादि-अनन्त आत्मा है। उसका स्वभाव—आत्मा का स्वभाव स्व-भाव, वह तो अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त प्रभुता और अनन्त स्वच्छता का अविनाशी स्वभाव उसमें है। उसे भूलकर 'मैं एक निश्चयनय से ऐसा हूँ, अनादि अनन्त नित्य ध्रुव' ऐसा जो मन के संग से विकल्प उठाता है, नय के पक्ष की कोटि का पक्ष करता है उसका, वह भी एक विकल्प है, राग है और उस राग का कर्तव्य मेरा और मैं उसका कर्ता, (ऐसा माने) वह भी मिथ्यादृष्टि जीव है। उसे धर्म की खबर नहीं। आहाहा! यह तो गजब बातें, सेठी!

मुमुक्षु : अब यह अलग आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह गड़बड़ कहाँ है? यहाँ तो इसके लिये तो कहते हैं कि दूसरी पंचायत के विकल्प तो छोड़, वह कहीं वस्तु में धर्म है नहीं। परन्तु आत्मा वस्तु है... एक मावा लेने जाना हो बर्फी या कुछ, तो उसका भाव पूछते हैं कि भाई! कितने रुपये सेर दोगे? बाट का तौल करावे, क्या कहलाता है वह? घड़ा। और बाट का माप कि इस बाट में सरकार की छाप है या नहीं वह ताँबे की। कहते हैं, उस समय (विकल्प) हो, परन्तु जब खावे, तब फिर वह विकल्प होता नहीं।

इसी प्रकार आत्मा को जानने में सर्वज्ञ परमेश्वर केवली ने कहा आत्मा, वह आत्मा और जगत के प्राणी कहते हैं, उनसे भिन्न तत्त्व है—ऐसा समझाने के लिये पहले निश्चय से विचार करे कि 'अहो! अनादि-अनन्त स्वतन्त्र मेरी चीज़ का कोई कर्ता नहीं और मैं स्वयंसिद्ध अनन्त आनन्द आदि गुण का धनी हूँ।' ऐसा वह निश्चयनय का विकल्प उठावे राग का, वह विकल्प भी बन्ध का कारण है। और वे निश्चय के भेद पड़ने पर बहुत (भेद) पड़े। पर्याय में अशुद्धता है, वह मेरी है कि अशुद्धता है, ऐसा निर्णय अशुद्धता का करे। परन्तु वे सब विकल्प हैं। और व्यवहारनय से मैं रागसहित हूँ, पर्यायवाला हूँ, एक समय की दशावाला हूँ।—ऐसा जो व्यवहारनय का विकल्प उठे तो उसके भेद करते-करते बहुत विकल्प उठ जाते हैं, कहते हैं। आहाहा! पण्डितजी!

मुमुक्षु : विकल्पात्मक विकल्प जाल में फँस गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : मकड़ी जैसे लार निकालकर फँस जाती है, उसी प्रकार आत्मा वस्तु ऐसे अनन्त गुण का धनी प्रभु है, ऐसा भी विकल्प अर्थात् रागमिश्रित विचार करता है, वह भी बन्ध का कारण है। और मेरी दशा अंश है वर्तमान अवस्था, उसे जाननेवाला ज्ञान व्यवहारनय, वह भी एक विकल्प है, राग है। आहाहा!

'**प्रथम नियत नय दूजी विवहार नय, दुहूकौं फलावत अनंत भेद फले हैं**' उसके अनन्त प्रकार पड़ते हैं। जितने गुण उतने नय पड़ते हैं। आहाहा! भारी सूक्ष्म बात, भाई! उसने अनन्त काल में चौरासी के अवतार में भटकते हुए उसने जैन का साधुपना पंच महाव्रत का पालन अनन्त बार किया, परन्तु वह सब विकल्प और राग था, वह कहीं धर्म नहीं था। समझ में आया? आहाहा! धर्म क्या चीज़ है.... यह अन्तर में राग के विकल्प से पार अखण्ड आनन्दमूर्ति के विकल्प के विचारकाल में उसका तौल करे कि निश्चय से यह है, व्यवहार से यह है। उसके दो के भेद करने से द्रव्यार्थिकनय के भी बहुत प्रकार, पर्याय के भी (बहुत प्रकार)।

'**ज्यौं ज्यौं नय फलैं त्यौं त्यौं मनके कल्लोल फलैं**' बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! वीतरागमार्ग इसे समझण में कभी आया नहीं। समझ में आया? जैसे-जैसे नय फले... नयों का विचार, ज्ञान के अंश—भेदों का विचार करते-करते जैसे-जैसे नय, वैसे मन के कल्लोल फले। मन के संग से राग के कल्लोल उठे। आहाहा! समझ में आया? '**चंचल सुभाव लोकालोकलौं उछले हैं**' आहाहा! यह तो कल्पना के विकल्पों की जाल लोकालोक जितनी कक्षा उठे, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? लोक और अलोक के प्रदेश बराबर (-जितने) विकल्प की बहुत जाल, ऐसा कहते हैं। आहाहा! परन्तु '**चंचल सुभाव लोकालोकलौं उछले हैं, ऐसी नयकक्ष ताकौ पक्ष तजि ग्यानी जीव।**'

अब धर्मी जीव जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, जिसे सर्वज्ञ ने कहा हुआ आत्मा का अनुभव करना है, धर्म की पहली दशा जिसे प्रगट करनी है, आहाहा! वह '**नयकक्ष ताकौ पक्ष तजि**' नय कक्ष। यह नय के विचारों के कक्ष अर्थात् कोटि के समूह में उसका जो पक्ष था, समझ में आया? (उसे) छोड़ दे। क्या कहा यह? सूक्ष्म बात है भगवान! यह आत्मा अन्दर प्रभु चैतन्य अभेद निर्विकल्प चीज़ है। उसमें दूसरे

क्रियाकाण्ड के विकल्प दया, दान और व्रत, वे तो स्थूल हैं, बन्ध का कारण है; वह आत्मा की चीज़ नहीं और उससे आत्मा को धर्म होता नहीं। परन्तु यहाँ आत्मा जिस स्वरूप से है, उसे भेद पाड़कर... अभेद वस्तु अखण्ड है, उसे गुणभेद और पर्यायभेदों के भेद पाड़कर कल्लोल उठाना, वह विकल्प की जाल भी दुःखरूप और आकुलता है। समझ में आया? तो धर्मी जीव क्या करे? '**ऐसी नयकक्ष**' वह ज्ञान के अंश के विकल्पों के जो कोटिसमूह, उसका '**पक्ष तजि**'—वह लक्ष्य छोड़ दे। आहाहा!

'**ग्यानी जीव समरसी भए**' अन्तर आनन्दमूर्ति प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ आत्मा का अनुभव करके उसका स्वाद ले। आहाहा! समझ में आया? '**समरसी भए एकतासौं नहि टले**' वह विकल्पों का जाल है, वह अनेक है। उसका लक्ष्य छोड़कर... स्वरूप भगवान आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान-दर्शन प्रगट किये, वे सब अन्दर में हैं। है, उसमें से आये हैं; कहीं बाहर से आता नहीं। ऐसा भगवान आत्मा अन्दर में जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, धर्म की पहली दशा, आहाहा! उसे यह नय के विकल्पों के पक्ष का विचार छोड़कर अन्तर्मुख होकर समभाव (प्रगट करना)। क्योंकि विकल्प जो उठते हैं, वह सब विषमभाव है। आहाहा!

'मैं एक शुद्ध हूँ, अखण्ड हूँ, अभेद हूँ'—ऐसी भी एक राग की वृत्ति मन के संग से उठे, वह भी दुःखरूप है। समझ में आया? विषमभाव है। आहाहा! उस अन्तर्मुख स्वभाव के अनुभव में (लेने से), चैतन्य भगवान अतीन्द्रिय आनन्द के रस का स्थान—धाम, ऐसा अन्तर में जाकर अनुभव करने से समरसी अर्थात् समभाव प्रगट होता है, उसे ऐसे विकल्प के विषमभाव का नाश होता है, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! कहो सेठी! क्या है?

मुमुक्षु : विचार चलता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : विचार चलते हैं, वे विकल्प हैं। विकल्प, वह राग है। यहाँ तो वीतरागमार्ग है। वीतरागमार्ग तो उसको कहते हैं (कि) भगवान आत्मा अकेला चैतन्य आनन्द का धाम प्रभु, ऐसा पहले भले विकल्प से निर्णय करके, फिर उसे छोड़कर आत्मा का अनुभव करे, समभाव का अनुभव करे, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद ले, तब उसे उस विकल्प का जाल टूट जाता है। समझ में आया? अरे!

कुछ समझ में आया, ऐसा कहा जाता है न? सब समझ जाये तो निहाल हो जाये। आहाहा! अरे! इसने आत्मा का हित कैसे हो, उसके पहलू देखे नहीं। उल्टे रास्ते दौड़ा और मानो कुछ धर्म करता हूँ। आहाहा! धर्म का मुख बड़ा है, भाई! धर्म, वह कोई बाहर की क्रियाकाण्ड से नहीं होता। वह तो नहीं, परन्तु नय के विकल्प द्वारा धर्म नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अनन्त आनन्द का स्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनन्द... भगवान को जो अनन्त आनन्द प्रगट हुआ, अनन्त आनन्द, ऐसी तो अनन्त-अनन्त आनन्द की पर्याय का पिण्ड आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

कहो, भीखाभाई! इस नय के विकल्प को विषमभाव कहा। भाई! उससे छूटा उसे समभाव—समरस कहा, अर्थात् वीतरागभाव की दृष्टि हुई, उसे समरस कहा। आहाहा! वीतराग धर्म कहाँ से शुरु होता है? यह वस्तु का स्वरूप तो अखण्ड आनन्द ध्रुव चैतन्यमूर्ति पड़ा है ऐसा, उसमें ऐसे विकल्प के जाल को छोड़कर और ऐसा वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा अनादि वीतराग अकषायस्वरूप ही है, उसकी अन्तर्दृष्टि करने से, विकल्प से विमुख होने से, अनन्त स्वभाव चैतन्यभगवान के सन्मुख होने से उसे समरसभाव प्रगट होता है। आहाहा! उसे वीतरागी पर्याय समकित कहते हैं। समरस कहा है न!

'**समरसी भए एकतासौं नहि टले**' अन्तर्दृष्टि में भगवान आत्मा लिया है, ऐसी एकता के अनुभव से वह हटता नहीं। अनेक प्रकार के विकल्प के जाल को उत्पन्न करता नहीं। उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी को धर्मी कहा जाता है। बहुत सूक्ष्म परन्तु भाई! लोग तो भड़ककर भागे, ऐसा है। नहीं समझा, कभी इसने पक्ष लिया नहीं और यह बात सम्प्रदाय में चलती नहीं। देखो भाई ने ऐसा कहा, देखो! समझ में आया? गुलाबचन्दभाई! सूक्ष्म बातें, बापू!

मुमुक्षु : शान्ति यही होनी चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। समरस कहा न, उसमें पूरा न्याय दिया है। वीतरागभाव वीतरागी धर्म कब होता है कि वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा हुआ 'केवली पण्णत्तं धम्मं शरणं', बोले शाम-सवेरे बहुत, उसमें मांगलिक में बोलते हैं न। अरिहंता मंगलम्, सिद्धा मंगलम्... केवली पण्णत्तं धम्मं शरणं। परन्तु किसे कहना केवली पण्णत्तं धम्मं

(उसकी) खबर नहीं। आहा भगवान! तेरा पेट बड़ा है, हों! यह अन्दर में अनन्त आनन्द और अनन्त वीतरागता पड़ी है। उसका स्पर्श करके, आहाहा! समरस भाव जहाँ वीतरागता का अंश बाहर आवे, उस काल में उसे विकल्प की विषमता का जाल टूट जाता है। आहाहा! समझ में आया?

'**समरसी भए एकतासौं नहि टले हैं**' भगवान आत्मा अनन्त आनन्दस्वरूप है। परमेश्वर ने जिस स्वरूप से आत्मा को देखा, उस स्वरूप से स्वयं अन्दर देखे। आहाहा! समझ में आया? '**एकतासौं नहि टले**' वह अपने अनुभव की एकता में विकल्प का दोकलापन लाता नहीं। आहाहा! गजब बात, भाई!

मुमुक्षु : ऐसी एकता किसे कहते हैं जो....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वभाव में एकाग्र हो, उसमें विकल्प लाने देता नहीं। गजब बातें, भाई! ऐसा मार्ग होगा? वे तो कहे, भाई! यह व्रत पालो, दया पालो, अपवास करो, रात्रिभोजन छोड़ो, कन्दमूल न खाओ। ऐसा तो भाई मैंने सुना है। आहाहा! भगवान! वह तो सब विकल्प की, राग की, क्रिया की बातें हैं। बापू! वह धर्म नहीं। बापू! धर्म की कोई पद्धति ही, पहलू ही अलग है। आहाहा!

यहाँ तो वीतराग की बात की ध्वनि में आया, वह सन्त कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञदेव के मुख से वाणी निकली, वह वाणी सन्त आड़तियारूप से बीच में पड़कर जगत को कहते हैं कि भगवान ऐसा मार्ग कहते हैं। सेठी! अरे, गजब बात! आहाहा! अभी तो आत्मा भगवान ने कैसा कहा, ऐसा विकल्प अर्थात् रागमिश्रित विचार से निर्णय करना का भी जिसे ठिकाना नहीं होता, उसे अन्तर रागरहित अनुभव की दृष्टि तो कभी होगी नहीं। आहाहा! समझ में आया? गृहस्थाश्रम में रहे, यह भाव पहले होना चाहिए सम्यग्दर्शन, ऐसा कहते हैं। आहाहा! '**समरसी भए एकतासौं नहि टले हैं।**'

'**महामोह नासि।**' क्या कहते हैं, देखो अब! महामोह अर्थात् मिथ्यात्व। पुण्य के परिणाम को धर्म मानना, वह मिथ्यात्व। यह नयपक्ष का विकल्प उठे, उसमें लाभ मानना, वह मिथ्यात्व। अर्थात् आत्मा के पहलू के दो प्रकार—द्रव्य और पर्याय, उसके भेद से विचार करने से जो राग उठे, उस राग की क्रिया का कर्ता अपने को मानना, वह महामिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : राग क्यों कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न। 'मैं शुद्ध हूँ, अभेद हूँ'—ऐसा विकल्प, वह राग। सेठी! यह वहाँ जवाहरात का धन्धा नहीं करना कि वहाँ एकदम रास आ जाये। यह तो दूसरी अन्दर की बातें हैं।

मुमुक्षु : जवाहरात तो यही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है जवाहरात। बाकी तो कंकड़-धूल है। आहाहा!

भगवान चैतन्य रत्नाकर। जैसे स्वयंभूरमण समुद्र में अकेले असंख्य रत्न पड़े हैं। है न अन्तिम। अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र असंख्य योजन में है। अनन्त... अनन्त... उसमें असंख्य रत्न पड़े हैं। इसी प्रकार भगवान आत्मा... इस देह के जड़ परमाणुओं के पीछे अन्दर और दया-दान के विकल्प के राग के पीछे भगवान स्वयंभूरमण समुद्र आत्मा है। आहाहा! उसमें तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, ऐसे अनन्त रत्न पड़े हैं। आहाहा! खोजने जाये कहीं, हो कहीं। समझ में आया?

कहते हैं, '**महामोह नासि।**' जो ऐसे विकल्प की वृत्ति उठती है, उसका कर्ता होता हुआ, परलक्ष्य में रहकर कर्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! उस लक्ष्य को और उस कर्तापने के मिथ्यात्वभाव नाश करके '**अनुभौ सुद्ध अभ्यासी**' 'मैं तो शुद्ध आनन्द का अमृत का सागर हूँ। अतीन्द्रिय अमृत के स्वाद का स्वामी मैं हूँ।' ऐसा अतीन्द्रिय अमृत का स्वाद लेकर शुद्ध का अनुभव करे। वह किसलिए ऐसा कहा? कि जो 'शुद्ध हूँ और एक हूँ और अभेद हूँ और भेद हूँ'—ऐसे विकल्प हैं, वे सब अशुद्ध हैं। समझ में आया? आहाहा! '**सुद्ध अनुभौ अभ्यासी**' पहले इसकी पद्धति है, (उसे) तो सीखे। अभी इसकी पद्धति है, उसकी खबर नहीं होती और हो जाये उसे धर्म? आहाहा! समझ में आया?

'**महामोह नासि**' अशुद्धता के विकल्पों-वृत्तियों की ओर से लक्ष्य छोड़कर, इसका अर्थ उसका नाश करके, इसका अर्थ कि ऐसा अस्तित्व हूँ मैं, ऐसे अस्तित्व की बुद्धि नाश होकर, शुद्ध अनुभव—अकेला आनन्दमूर्ति प्रभु हूँ, अतीन्द्रिय शुद्ध हूँ, उसका जो अनुभव करना वह '**निज बल परगासि**' वह अपने अन्तर वीर्य का प्रकाश

करके स्वभाव-सन्मुख में जाकर अपने आत्मबल का प्रकाश करे, वह बल। यह राग में बल जाये, वह बल नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह तो तेरी नपुंसकता है, ऐसा कहते हैं। पोपटभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : चर्चा यह भी चलती है....

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प है, राग है। आहाहा! कठिन बात, भाई!

आत्मा में तो एक गुण नहीं, परन्तु अनन्त हैं और एक-एक गुण में अनन्त पर्याय प्रगट होने की सामर्थ्य है। पर्याय अर्थात् हालत। ऐसा जो यह भगवान आत्मा, उसका अनुभव करके अर्थात् शुद्ध वस्तु है, पवित्र है, उसका अनुभव करके... शुद्ध का अनुभव '**निज बल परगासि**' पुण्य-पाप में जो वीर्य था, वह कहीं निजबल नहीं था, वह अपना सच्चा पुरुषार्थ (नहीं था)। खोटा पुरुषार्थ राग में जाये, पुण्य के परिणाम करे, वह नपुंसकता है। आहाहा! पण्डितजी! कठिन काम, भाई! यह कमाने का विकल्प, भोग का विकल्प, पैसे रखने का विकल्प—यह तो नपुंसकता, दु:खरूप है। परन्तु यहाँ तो दया-दान-व्रत-भक्ति का विकल्प उठे, वह भी नपुंसकता है। आहाहा!

परन्तु ऐसे विकल्प को अपना मानना, वह महा नपुंसकता है। अरे! सत्य बात इसे कान में न पड़े। वह समझे कब, पहिचाने कब, कब धर्म करे? भाई! यह तो मार्ग कठिन लगे। क्योंकि वह तो सरल पड़े, यह रात्रिभोजन छोड़ा, कन्दमूल नहीं खाये, यह रात्रि में आहार नहीं करना। समझ में आया या नहीं? यह झट सरल पड़े। कारण क्या? क्रिया अन्दर देह की और शुभराग हो अन्दर, वह तो सरल लगे। परन्तु धूल भी नहीं उसमें कुछ, सुन न! भगवान अन्दर आनन्द का धाम, उसके अन्दर में गये बिना धर्म की दशा प्रगट किसी को नहीं होती। समझ में आया?

'**महामोह नासि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि, निज बल परगासि**' कवि है न कवि। सब भाषा कैसी, देखो न! '**महामोह नासि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि, निज बल परगासि सुखरासि मांहि रले हैं।**' आहाहा! भगवान अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का धाम बड़ा ढ़ेर है ढगला। आहाहा! कहते हैं कि तू सुख का सागर अन्दर है। आहाहा! इस मूढ़ ने बाहर में सुख माना, पैसे में और स्त्री में और होड में और इज्जत में और अन्तर पुण्य-पाप के

विकल्प में, वह मिथ्यात्व महामोह मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? '**निज बल परगासि सुखरासि**' देखो! '**मांहि रले हैं... रले... रले... रले... मिले हैं।' यह शब्द मारवाडी भाषा में प्रचलित है**। रले है। है? रले अर्थात् मिले हैं अन्दर जाकर। समझ में आया?

'**सुखरासि मांहि रले हैं।**' भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का तो कस है। उसमें एकाग्र होने से सुखसागर का अनुभव करे, तब उसे समरस में सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। समझ में आया? तब अभी उसे चौथा गुणस्थान प्रगट होता है। श्रावक और मुनि तो कहीं रह गये। लोग माने वह श्रावक-मुनि नहीं। यह तो भगवान माने और जैसा स्वरूप है, वैसा जाने तो उसे कहा जाये। थैली में डाला हो चिरायता और बाहर शक्कर नाम दे, इससे कहीं चिरायता मीठा हो जाता है? इसी प्रकार यह सब कहे कि हम श्रावक हैं और साधु हैं। अरे बापू! उसका मुख बड़ा है। यहाँ तो अभी सम्यग्दर्शन की दशा की बात चलती है यह तो। उसकी खबर नहीं होती और श्रावक और ऐसे मुनि हो गये। बिना एक के शून्य हैं, रण में शोर मचाने जैसा है। ऐई पोपटभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : अनुभव करे....

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुभव करे, उसका नाम समरस, उसका नाम पुरुषार्थ और उसका नाम मोह का नाश। आहाहा!

पूर्ण आनन्द में लीन होते हैं,... लो, स्पष्टीकरण किया है रले का। **निजात्म बल प्रगट करके पूर्ण आनन्द में लीन होते हैं।** पूर्ण आनन्दस्वरूप भगवान पुण्य-पाप के विकल्प के नय विकल्प से रहित है। ऐसे आत्मा के ऊपर जाने से पूर्ण आनन्द का नाथ स्वयं, उसमें लीन होता है, तब उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान और स्वरूप के आचरण की दशा प्रगट होती है। तब उसे धर्म की पहली दशा प्रगट हुई कहलाती है। अरे.. अरे! समझ में आया? आहाहा! इस श्लोक का अर्थ हुआ, लो। ४५ श्लोक का यह अर्थ हुआ। श्लोक भी २७ है इसमें। वे ४ और ५ = ९ हैं और यह ७ और २ = ९। आहाहा! यह समभावी श्लोक है। अब ४६वाँ श्लोक। ४६वाँ है न इस ओर।

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्   पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः।।४६।।

आहाहा! **सम्यग्ज्ञान से आत्मस्वरूप की पहिचान है।** सच्चे ज्ञान से आत्मा की पहिचान होती है।

★ ★ ★

काव्य - २८

सम्यग्ज्ञान से आत्मस्वरूप की पहिचान होती है (सवैया इकतीसा)

जैसैं काहू बाजीगर चौहटै बजाइ ढोल,
नानारूप धरिकैं भगल-विद्या ठानी है।
तैसैं मैं अनादिकौ मिथ्यातकी तरंगनिसौं,
भरममैं धाइ बहु काय निज मानी है।।
अब ग्यानकला जागी भरमकी दृष्टि भागी,
अपनी पराई सब सौंज पहिचानी है।
जाकै उदै होत परवानं ऐसी भांति भई,
निहचै हमारी जोति सोई हम जानी है।।२८।।

शब्दार्थ:-बाजीगर=खेल करनेवाला। चौहटे=चौराहे पर। भगल-विद्या= धोखेबाजी। धाइ=भटककर। काय=शरीर। सौंज=वस्तु।

अर्थ:-जैसे कोई तमासगीर चौराहे पर ढोल बजाये और अनेक स्वांग बनाके ठगविद्या से लोगों को भ्रम में डाल देवे, उसी प्रकार मैं अनादिकाल से मिथ्यात्व के झकोरों से भ्रम में भूला रहा और अनेक शरीरों को अपनाया। अब ज्ञानज्योति का उदय हुआ जिससे मिथ्यादृष्टि हट गई, सब स्व-पर वस्तु की पहिचान हुई और उस ज्ञानकला के प्रगट होते ही ऐसी अवस्था प्राप्त हुई कि हमने अपनी असली आत्मज्योति पहिचान ली।।२८।।

काव्य - २८ पर प्रवचन

जैसैं काहू बाजीगर चौहटै बजाइ ढोल,
नानारूप धरिकैं भगल-विद्या ठानी है।
तैसैं मैं अनादिकौ मिथ्यातकी तरंगनिसौं,
भरममैं धाइ बहु काय निज मानी है॥
अब ग्यानकला जागी भरमकी दृष्टि भागी,
अपनी पराई सब सौंज पहिचानी है।
जाकै उदै होत परवानं ऐसी भांति भई,
निहचै हमारी जोति सोई हम जानी है॥२८॥

सौंज अर्थात् वस्तु। आहाहा! इसका अर्थ। '**जैसैं काहू बाजीगर**' बाजीगर नहीं आते वे? पहले तो आम निकलते और आम बताते। पहले छोटी उम्र में देखे हैं। साठ वर्ष पहले की बात है। सत्तर वर्ष पहले। उमराला में हमारे यहाँ एक बार सबको आम बताया बराबर, हों! पीला और अन्दर कुछ पगदण्डी... पगदण्डी कुछ नहीं।

मुमुक्षु : यह तो वह आम।

पूज्य गुरुदेवश्री : आम ऐसे बतावे, आम बतावे। परन्तु कपड़ा आड़े रखा जरा। यहाँ हमारे कन्याशाला है न। उमराला में कन्यशाला का बड़ा चौगान है, वहाँ देखा था, हों! बहुत वर्ष की बात है। यह तो सत्तर वर्ष पहले की बात है। दस-ग्यारह वर्ष की उम्र होगी तब देखा होगा।

ऐसा आम और आम... आहाहा! ...सब ठगविद्या है, कहते हैं। आम ऐसा बताना आता है तो आम बनाकर बेच न सीधे यहाँ, आमदनी हो जाये तुझे। ऐसा क्या उगाहना पैसा उगाहना किसका बैठा यहाँ? आम बनाना आता हो तो एक बनावे, वहाँ लाखों-करोड़ों बना। बेचने लग गोदाम भरकर। ठग है...! ऐसे आम बनावे खोटा और ऐसे बनावे कुछ यह आम। पीला वापस, हों! ऐसा देखा हुआ बराबर पीला। पीला आम देखा हुआ हों! बराबर खबर है ऐसे। पीला इतना आम... बराबर देखा हुआ, हों, ऐसा।

परन्तु वस्त्र आड़े रखे इस ओर। एक ओर ऐसे नजर करावे इतना आम। किसे (खबर) क्या करते होंगे... !

कहते हैं कि '**काहू बाजीगर चौहटै बजाइ ढोल... चौहटै**'—चौक में, '**नानारूप धरिकैं भगल-विद्या ठानी है**' लो। भगलविद्या—धोखाबाजी। दुनिया को धोखाबाजी में डाला। आहाहा! '**तैसैं मैं अनादिकौ**' आत्मा विचार करे, अरेरे! मैंने अनादि की खोटी विद्या की है। '**मिथ्यातकी तरंगनिसौं**' विपरीत मान्यता। आहाहा! शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, दया-दान के भाव हो, वह मेरा धर्म है—ऐसे मिथ्यात्व की तरंग में मैंने भगलविद्या साधी—ठग विद्या साधी। मैं ठगा गया, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? '**तैसैं मैं अनादिकौ मिथ्यातकी तरंगनिसौं**' भगवान वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा! क्योंकि वीतराग को जो वीतरागता प्रगट होती है, वह कहाँ से आती है? कहीं बाहर से आती है? अन्दर में वीतरागस्वभाव से भगवान आत्मा अनादि-अनन्त पड़ा है। कैसे बैठे?

ऐसी मान्यता बिना बाहर से दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम में धर्म माना और विकल्प के जाल में फँसकर मुझे धर्म का साधन है, ऐसा मैंने (माना)। मिथ्यात्व की तरंग उठी सब। आहाहा! समझ में आया? '**भरममैं धाइ बहु काय निज मानी है**' भ्रमणा में, जो मेरा स्वरूप नहीं, उसे मैंने मेरा स्वरूप माना। शरीर दिखता है, वह तो मिट्टी है, वह तो जड़ है। स्त्री, पुत्र, परिवार, पैसा, वह तो अजीव और स्त्री का आत्मा जीव—वह तो पर है। परन्तु वे मेरे, मैं उनका—ऐसा करते हुए आगे जाकर विकल्प मेरा और मैं उसका—यह भी परकाय को अपना माना है। आहाहा! समझ में आया?

'**भरममैं धाइ**' धाया-दौड़ा है। भटक... भटक... भटक धाई। 'दौड़त दौड़त दौड़्यो जैसी मन की दौड़।' मानो कि शत्रुंजय की यात्रा करें तो धर्म हो, सम्मेदशिखर की यात्रा करके कल्याण हो। आहाहा! जहाँ कल्याण का नाथ पूरा पड़ा है, उसके सम्मुख तो देखता नहीं। उपधान तप करे, देखो न! डेढ़-डेढ़ महीने के। ऐसे यह उपधान पन्द्रह दिन ऐसे खाना, महीने-डेढ़ महीने। एक दिन खाना और एक दिन नहीं खाना—उपवास। भगवान के सामने सौ-सौ, सौ कितनी? उठ-बैठ करना। सौ-सौ खमासमणा

लेना। मजदूरी है सब। अरे, अरे गजब! भगवान! यह (शरीर) तो जड़-मिट्टी है, इसकी क्रिया होती है, वह तो जड़ की है। तुझमें कदाचित् राग की मन्दता हुई हो तो वह पुण्यभाव है, वह विकार है, वह परभाव है। उसे तूने तेरा माना है। मिथ्यात्व की तरंग में ऐसे भाव तूने सेवन किये हैं। आहाहा! समझ में आया?

उसमें कहा है, ऐसा नहीं आया जरा। '**जाकै उदै होत परवांन ऐसी भांति भई**' उसमें इतने में समाहित किया है। वह रणकार वह मारा है न '**विस्फुरणं**' जिसके विस्फुरणमात्र से... आहाहा! भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है, ऐसी अन्तर एकाग्रता के भणकार से जहाँ जगा अन्दर। 'मैं तो ज्ञान-आनन्द हूँ। विकल्प और शरीर और जगत से पार हूँ' ऐसा एक क्षण जहाँ विस्फुरणा हुई। कहते हैं, '**कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः**' यह तो सबका नाश हो गया। आहाहा! समझ में आया? श्रीकृष्ण का दृष्टान्त देते हैं। आता है न शास्त्र में? द्रौपदी को ले गया था न पद्मनाभ? उस खण्ड में ले गया लवणमूरी कोई। अर्जुन की स्त्री द्रौपदी। पाँच पति नहीं, हों! वह तो अर्जुन की पत्नी थी। वह तो लोगों ने ... भ्रमणा डाल दी है। वह तो महासती थीं। सति को कभी पाँच पति होते हैं? समझ में आया?

वह तो छोटी उम्र में सुना हुआ कि बहत्तर दिन रखे राजा धर्मराजा के पास, बहत्तर दिन भीम के पास। ऐसा सुना हुआ। वह माणेकभट्ट आवे न, उसके पास। फिर बहत्तर दिन वह अग्नि में निकले और शरीर दूसरा हो गया, इसलिए फिर दूसरे घर में जाये। खोटी बात है सब। उसमें भी ऐसा है कि पाँच पाण्डव ने उससे विवाह किया और एक-एक दिन सब विषय सेवन करे। अरे! यह वह कहीं कुत्ती है? द्रौपदी तो महासती। जिसे एक पति के अतिरिक्त दूसरा विकल्प होता नहीं और जेठ, वह तो पिता के समान, देवर वह तो पुत्र के समान। ऐसी सती थी। उसे पाँच पति ठहराये हैं। श्वेताम्बर के शास्त्र में आता है। बात एकदम खोटी है। समझ में आया? द्रौपदी को पाँच पति नहीं। यहाँ तो कहा है, द्रौपदी को ले गया कहीं वह पद्मनाभ।

यह भी कारण ऐसा हुआ था। नारद एक बार आये नारद। नारद है न। यह कहा न 'ब्रह्मासुत मैं नारद कहाऊँ, जहाँ हो संप वहाँ कुसंप कराऊँ।' नाटक आया था।

वडोदरा नाटक देखने गये थे न अनुसुईया का, पहले-पहले तब देखा हुआ। यह तो ६४-६५ के वर्ष की बात होगी। संवत १९६४-६५। वड़ोदरा है न हमारे पालेज के साथ। वहाँ गये थे। नाटक बड़ा नाटक, हों! उसमें पहले यह आया। बड़ा क्या कहलाती है वह ? चोटी। हाथ में वीणा, पगरखा। पगरखा नहीं, क्या कहलाती है वह ? चाखड़ी। ऐसे लंगोटी पहनी हुई और 'ब्रह्मासुत मैं नारद कहाऊँ, जहाँ हो संप वहाँ कुसंप कराऊँ' ऐसा पहले लगाया, लो।

वह द्रौपदी एक बार.... द्रौपदी धर्मात्मा थीं। नारद आये, खड़ी नहीं हुई। चरण नहीं छुए। ऐसा लेख है श्वेताम्बर में। नारद है न, नारद, आये और द्रौपदी बैठी थी। खड़ी नहीं हुई। सम्मान नहीं किया। नारद। कहे, इसे अर्जुन जैसा पति। वह तो उसमें पाँच पति ठहराये। इस प्रकार ऐसे पति, उसका इसे घमण्ड है। किसी दिन आपदा में डालूँगा, कहे। उसमें पद्मनाभ, वह तो विद्याधर थे। नारद के सामने उस खण्ड में गये। पद्मनाभ राजा, उसे सात सौ रूपवान रानियाँ थीं। सामने वह नाद किया। वह नाद वहाँ नहीं न। नारद अन्दर पूछने जाते हैं भगवान को, हों, पूछने। इस ओर पूछने जाते हैं ऐसा कुछ ... वह है... प्रद्युमन का पूछने।

वह नारद उस राजा के पास गये। सात सौ रानियों की महिमा की। रानियाँ थीं बहुत रूपवान। फिर नारद ने आहिस्ता रखा द्रौपदी का चित्रित चित्र। अब तेरी सात सौ रानियाँ इस बाई के नख के—पैर के नख के टुकड़े में न आवे, कहे। ऐसी चढ़ावे तब... तेरी रानियाँ सात सौ देखी अब। 'यह क्या कहते हो तुम नारदजी ?' तेरी सात सौ रानियाँ क्या अब ? 'ऐसी वह कहाँ है ?' भरतक्षेत्र में, कहे। वह क्या कहलाता है यह जम्बुद्वीप में। वहाँ देव उसके वश—आधीन था। उस राजा (पद्मनाभ) के देव वश था पूर्व का मित्र। देव को कहे, परन्तु यह रानी कहाँ की... द्रौपदी को ले आया वहाँ से उठाके। वहाँ तो ऐसी बात आती है उसमें तो। धर्मराजा को विवाहने... ऐसा आता है। सब खोटी बात है। ले आये वहाँ। वह ले आया।

अब यह तो महासती। खबर पड़ी कृष्ण को, पाण्डवों को कि कोई देव उठा ले गया है। खोज करो। कहाँ खोज ? खोजते-खोजते हाथ न आवे। और नारद एकबार

आये, कृष्ण के पास कि एक द्रौपदी जैसी दिखे ऐसी मैंने घातकीखण्ड में देखी थी। हं... इसका काम लगता है सब। उसने श्रीकृष्ण को कहा, एक द्रौपदी जैसी बाई को, मैंने वहाँ घातकीखण्ड में देखी थी। श्रीकृष्ण समझ गये कि यह सब तेरा काम है। भागा एकदम वहाँ से।

मुमुक्षु : नारद को कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, नारद को कहा। भागा। श्रीकृष्ण समझ गये। पता लगा। पता लगा। पाण्डवों को बुलाओ। पता लगा द्रौपदी का। उसे बहिनरूप से कहते थे न, छह व्यक्ति गये। पाँचों पाण्डव गये, परन्तु हार गये। समझ में आया?

यह पाँच इन्द्रियाँ काम न करे, ऐसा कहते हैं। श्रीकृष्ण चढ़े अन्दर में से जहाँ... बड़ा शंख बजाया। वहाँ भागा (सेना का) तीसरा भाग चला गया। करोड़ों लोग लेकर आया था राजा। शंख बजाया। फिर शंख रखकर फिर बड़ा बाण... क्या कहलाता है वह? धनुष टंकार मारी ऐसे। टंकार मारी वहाँ तीसरा भाग चला गया दूसरा। एक भाग रह गया। एक भाग फिर अपने आप चला गया। दर्शन-ज्ञान हुआ और फिर चारित्र हुए बिना रहता ही नहीं, अपने आप चारित्र होता है। यह सब वे घटित करते तब। पोरबन्दर में घटित किया था। तब तो शास्त्र सामने हो, उसके प्रमाण... समझ में आया?

श्रीकृष्ण चढ़े अन्दर से और मारा। क्या करना अब? राजा श्रीकृष्ण आये हैं, महापुरुष है। उन्हें कोई जीत नहीं सकता। इसलिए वह पद्मनाभ द्रौपदी के पास गया। क्या करूँ? स्त्री के वस्त्र पहन। साड़ी पहन और छोर खुला रखा। तुझे देखेगा तो स्त्री देखकर नहीं मारेंगे, जा। यह तेरा बचने का उपाय है। नहीं तो मार डालेंगे। वे श्रीकृष्ण हैं, तीन खण्ड के महास्वामी हैं।

फिर वह पद्मनाभ सामने थाली लेकर रत्न भरे अच्छे-अच्छे और द्रौपदी सामने। बचाती हूँ... बचाती हूँ... कृष्ण तुम... वह स्त्री के वस्त्र पहनकर आया। वीरों का हमारा बाण ऐसे नपुंसक के सामने नहीं पड़ता, स्त्रियों पर नहीं पड़ता। फिर तो जैसा श्रीकृष्ण का रणकार बजा, वहाँ सब भागे। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, कर्म कृशे सो कृष्ण कहिये। आत्मा अखण्ड आनन्द का धाम, उसे पुण्य-पाप के विकल्प से हटकर जहाँ

एकाकार ऊपर हुआ, अनुभव सम्यक् हुआ, वहाँ विकल्प की गड़बड़ी। उठ गये सब। समझ में आया? उस कथा में से ऐसा कहते थे। वहाँ भाई तब तो वहाँ सब सुने न बेचारे। बातें खोटी हैं। समझ में आया?

है न अन्दर देखो न। '**यस्य विस्फुरणमेय तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति।**' पूरे—सब विकल्पों का नाश हो जाये। पहला है न '**पुष्कल उच्चल विकल्प वीचिभिः**' विकल्प के टोले—समूह उठने पर, वे शमन हो... शमन हो... आहाहा! भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द का स्वरूप, उसे मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ—ऐसा जो विकल्प का जाल, वह सत्य स्वरूप का जहाँ अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन में—सम्यग्ज्ञान में, वह विकल्प की सेना नाश हो जाती है। समझ में आया? आहाहा! गजब बात है, भाई! इसका नाम धर्म और सम्यग्दर्शन कहा जाता है। ऐसी लोग बातें करके बैठे कि नौ तत्त्व की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन और देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन। ऐसा नहीं है। समझ में आया? आत्मा ऐसा अखण्डानन्द प्रभु शुद्ध चैतन्य अनुभव में आकर प्रतीति करे, उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। आहाहा! और उस सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान सच्चा होता नहीं। उसे व्रत और तप भी सब बिना एक के शून्य होते हैं। समझ में आया?

यह कहते हैं, देखो, '**भरममैं धाइ बहु काय निज मानी है, अब ग्यानकला जागी**'। ज्ञानकला जागी, वह राग का विकल्प का जाल है, वह मैल है, दुःख है, जहर है। सवेरे आया था न! घोर संसार का मूल है। लोग चिल्लाहट मचाये। संसार है, पुण्य और पाप का भाव संसार, दुःखरूप विकार है। चाहे तो व्रत का विकल्प हो या तपस्या का हो। समझे न? यह नय का विकल्प हो, सब जहर की जाति, सब जाति जहर की, आत्मा के अमृत की नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा कठिन मार्ग, भाई! ऐसा तो भाई हमने कभी सुना नहीं था। नये आये हुए को ऐसा लगे। नये लोग हों न। भाई! तेरे घर की बातें परमेश्वर ने कही हैं। वह तुझे सुनने को मिले नहीं तो समझे कब और श्रद्धा कब करे और अनुभव कब करे? समझ में आया? आहाहा! क्या हो?

जगत लुटता है प्रसन्न होकर, हों वापस, उत्साह से लुटता है। ऐसी बातें? यह तो बी.ए., एल.एल.बी. की बातें, एम.ए. की बातें, ऐसा कहकर उड़ा डाला वापस। अरे!

सुन न भाई! यह तो अभी पहले एकड़ा की बात है। एल.एल.बी. क्या? समझ में आया? '**ग्यानकला जागी भरमकी दृष्टि भागी**' भ्रमणा नाश हो गयी। '**अपनी पराई सब सौंज पहिचानी है।**' स्वयं कौन? आनन्दस्वरूप और '**पराई**'—विकल्प आदि राग आदि पर। दोनों वस्तुएँ ज्ञान में ज्ञात हो गयी। धर्म होने से दोनों का ज्ञान उसे सच्चा हो जाता है। कहो, समझ में आया?

'**अपनी पराई सब... सौंज**' अर्थात् वस्तु। मैं तो ज्ञान चैतन्यनूर चैतन्य के पूर का प्रकाश का सागर हूँ, और यह रागादि, वह विकार-विभाव दु:ख है। यह शरीर आदि मिट्टी जड़ है। ऐसे आत्मा का ज्ञान होने से स्व और पर की वस्तु का ज्ञान हुआ। '**जाकै उदै होत परवांन ऐसी भांति भई**' जिसे प्रगट होने से... आता है न उसमें। '**ग्यानकला उपजी अब मोहि, कहौ गुन नाटक आगमकेरौ**' यह बनारसीदास। पहले आ गयी है शुरुआत में। '**चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्ध समान सदा पद मेरौ।**' वे स्वयं कहते हैं वहाँ, हों! '**मोह महातम आतम अंग, कियौ परसंग महातम घेरौ, ग्यानकला उपजी अब मोहि, कहौं गुन नाटक आगमकेरौ। जासु प्रसाद सधै सिवमारग, वेगि मिटै भववास बसेरौ॥**'

यह माँस और हड्डियों में रहना... भगवान अमृत का सागर। अरे! मैसूर (पाक) को गधे के, हिरण के चमड़े में लपेटकर रखना। इसी प्रकार यह चमड़ी, हड्डियों, हड्डियाँ, माँस, खून में अमृत का सागर भगवान उसमें रहे, कलंक है, कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! गजब बातें भाई ऐसी! परन्तु मैं कौन, उसकी महिमा की खबर नहीं। वह तो मानो, मैं पामर रंक हूँ और ऐसा हूँ और ऐसा हूँ। समझ में आया? प्रकाशदासजी! यह तो 'रणे चढ्या रजपूत छुपे नहीं' ऐसी बात है यह। यह राजा रण में चढ़े, वहाँ फिर यह बनिया जैसा डरपोक होगा यह? ऐं... ऐं... हम नहीं पहुँच सकेंगे, हम तो बनिया कहलाते हैं। ऐसा कहता है। राजपूत का पुत्र तो कहे, ध्यान रखना, मैं हूँ साथ में बारात में।

वहाँ बना था लींबड़ी। लींबड़ी एक है न, क्या कहलाता है? जाम्बु। बनियों की बारात ले गये और साथ में रखा राजपूत। एक गरीब था। डाकू सामने आये लूटने दो-

तीन-चार। खबर पड़ी कि यह तो डाकू आये, अब बारात लूटेंगे। वरराजा के साथ में हो न सब वे गहने-बहने। खड़ा हो गया रथ में से, नीचे उतर गया। 'ध्यान रखना, मैं राजपूत हूँ। मेरे प्राण जाने के बाद यह लुटेगा, बाकी नहीं लुटेगा।' गिरधरभाई कहते थे। गिरधर वोरा थे न, वे कहते थे। वे भागे, हों! 'बापू! हम राजपूत के पुत्र हैं। ऐसे डरपोक नहीं तुम्हारे बनिया जैसे कि ऐं... ऐं... करके भागें। खड़े रहना। बारात के ऊपर हाथ डालने से पहले तेरे प्राण जायेंगे। ध्यान रख!' आवाज सुनकर वे भागे। ऐई पोपटभाई! बनिया तो ऐं... ऐं... भाईसाहब ले जाओ, ले जाओ। मारना नहीं, हों! भाईसाहब!

इसी प्रकार आत्मा जहाँ अपने चैतन्य के स्वराज में चढ़ता है, वह डरपोक नहीं। कहा न वहाँ, अभी कहा। उसमें आया था न। '**निज बल परगासि**' आया था न उसमें, उसमें आया था। '**निज बल परगासि**' हम राजा के राजा अनन्त वीर्य के धनी। हमारे बल को कोई खण्डित नहीं कर सकता, नाश नहीं कर सकता (ऐसी) जगत में कोई चीज़ नहीं। ऐसा रणकार मारता जहाँ आत्मा जगे, कहते हैं, शत्रु की सेना पूँछ लेकर भागे (दुम दबाकर भागे)। यह इसका नाम धर्म है। धर्म कहीं ऐं... ऐं... किया और यह पूँजणी पूजे और धर्म हो गया, ऐसा धर्म नहीं है। आहाहा!

'**जाकै उदै होत परवांन**' '**होत परवांन**' ऐसा कि तुरन्त वह। '**ऐसी भांति भई, निहचै हमारी जोति सोई हम जानी है**' हमारी चेतनज्योति भगवान आत्मा ऐसा है, ऐसा अनुभव में आने पर, धर्मी को हमारी ज्योति यह है, ऐसे जाग-जागकर। बाकी राग-फाग हमारा है नहीं, इसका नाम अनुभव और सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४८, फाल्गुन कृष्ण ७, शुक्रवार, दिनांक १९-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद २९-३०

कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार। ४७ है, ४७ कलश है। २९वाँ पद। नीचे।

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम्।
बन्धपद्धति-मपास्य समस्तां चेतये समयसार-मपारम्।।४७।।

ज्ञानी का अनुभव में विचार। जो धर्म करता है, उसे—धर्मी को कैसे विचार होते हैं?

★ ★ ★

काव्य - २९

ज्ञानी का आत्मानुभव में विचार (सवैया इकतीसा)

जैसैं महा रतनकी ज्योतिमैं लहरि उठै,
जलकी तरंग जैसैं लीन होय जलमैं।
तैसैं सुद्ध आतम दरब परजाय करि,
उपजै बिनसै थिर रहै निज थलमैं।।
ऐसै अविकल्पी अजलपी अनंत रूपी,
अनादि अनंत गहि लीजै एक पलमैं।
ताकौ अनुभव कीजै परम पीयूष पीजै,
बंधकौ विलास डारि दीजै पुदगलमैं।।२९।।

शब्दार्थ:-अविकलपी=विकल्प रहित। अजलपी=यहाँ स्थिरता का प्रयोजन है। गहि लीजै=ग्रहण कीजिये। पीयूष=अमृत। विलास=विस्तार।

अर्थ:-जिस प्रकार उत्तम रत्न की ज्योति में चमक उठती है, अथवा जल में तरंग उठती है और उसी में समा जाती है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा, पर्यायापेक्षा उपजता है

और नष्ट होता है, तथा द्रव्यापेक्षा अपने स्वरूप में स्थिर-अवस्थित रहता है। ऐसे निर्विकल्प, नित्य, आनंदरूप, अनादि अनंत, शुद्ध आत्मा को तत्काल ग्रहण कीजिये। उसी का अनुभव करके परम अमृत-रस पीजिये और कर्मबंध के विस्तार को पुद्‌गल में छोड़ दीजिये।।२९।।

काव्य - २९ पर प्रवचन

जैसैं महा रतनकी ज्योतिमैं लहरि उठै,
जलकी तरंग जैसैं लीन होय जलमैं।
तैसैं सुद्ध आतम दरब परजाय करि,
उपजै बिनसै थिर रहै निज थलमैं॥
ऐसै अविकल्पी अजलपी अनंत रूपी,
अनादि अनंत गहि लीजै एक पलमैं।
ताकौ अनुभव कीजै परम पीयूष पीजै,
बंधकौ विलास डारि दीजै पुदगलमैं॥२९॥

इसका अर्थ। ज्ञानी का अनुभव। धर्मी... धर्म कैसे होता है धर्मी को ? कि आत्मा अखण्ड आनन्द और ज्ञानस्वरूप ध्रुव चैतन्य है, उसके सन्मुख होकर रागादि विकल्प जो है, उनसे विमुख होकर, वस्तु के स्वभाव का अनुभव करे, तब उसे धर्म होता है और तब मुक्ति का उपाय होता है। '**जैसैं महा रतनकी ज्योतिमैं लहरि उठै**' जैसे रत्न हो न ऊँचा और उसमें चमक-चमक होती है, उसके चमत्कार की और लहर की, प्रकाश की। '**जैसैं महा रतन**' महा रत्न लिया है, साधारण नहीं। '**जैसैं महा रतनकी ज्योतिमैं लहरि उठै**' इसी प्रकार यह ज्योति में ऐसे तेज—प्रकाश का अन्दर चमकार उठे। '**जलकी तरंग जैसैं लीन होय जलमैं**' रत्न निर्मल शुद्ध का प्रकाश उठे, विलय पावे। उठे, विलय पावे। उसी और उसी में। रत्न महा... यह दृष्टान्त है। ऊँचा रत्न हो, उसकी चमक उठे और चमक अन्दर समाय, उठे और समाये, उठे और समाये और रत्न तो कायम रहे। ऐसा लिया न, '**ज्योतिमैं लहरि उठै**' एक दृष्टान्त यह कहा।

'जलकी तरंग जैसैं लीन होय जलमैं' जल की लहरें उठें, और समाय उसमें। नयी उठे और समाये उसमें (और) जलरूप से कायम रहे। यह दो दृष्टान्त—रत्न के और जल के। इसी प्रकार धर्मी जीव जिसे आत्मा का हित करना है, वह अन्तर में आत्मा को ऐसा विचारता है कि **'तैसैं सुद्ध आतम दरब'** जैसे रत्न निर्मल है और प्रकाश उत्पन्न और व्यय होता है। पानी कायम रहता है और उसमें तरंगें उठती और विलय (हो) जाती है। उसी और उसी में उसकी तरंग समाती है। इसी प्रकार भगवान आत्मा मैं शुद्ध आत्मा हूँ। है, परन्तु मैं शुद्ध हूँ। शरीर, वाणी, मन में नहीं, पुण्य-पाप के राग हैं, उनमें भी मैं नहीं। यहाँ तो (निश्चय)नय के विकल्प तक ले गये हैं न! उसमें भी मैं नहीं। शुद्ध कहा है न यहाँ तो सीधे। शुद्ध चैतन्य ज्ञायकभाव ज्ञान और आनन्दस्वभाव से भरपूर तत्त्व हूँ, ऐसा धर्मी धर्म करने के काल में ऐसा विचार करता है और फिर अनुभव करता है। कहो, पोपटभाई! भारी सूक्ष्म मार्ग!

'सुद्ध आतम दरब परजाय करि' शुद्ध आत्मा द्रव्यरूप से और वस्तुरूप से त्रिकाल ध्रुव है और उसकी निर्मल अवस्था उपजे और विलय हो, उपजे और विलय (हो)। पानी की तरंग जैसे उत्पन्न हो और उसमें समाये और पानीरूप से कायम रहे, उसकी लहर उठे और समाये। इसी प्रकार रत्न का (रत्न)पना कायम रहे और उसकी ज्योति की प्रकाश—लहर उत्पन्न हो और विलय हो, झबक... झबक... झबक हो। इसी प्रकार इस देह में रहा हुआ भगवान मैं अत्यन्त निर्मलानन्द शुद्ध चैतन्य रत्न हूँ। समझ में आया? ऐसा चैतन्य भगवान द्रव्यरूप से मैं त्रिकाल वस्तुरूप से हूँ और वर्तमान जो अनुभव की और वीतरागी निर्मलदशा उत्पन्न हो और व्यय हो, उत्पन्न हो और विलय हो—ऐसा मैं आत्मा हूँ। राग उत्पन्न हो और विलय हो, वह मेरी चीज़ में नहीं। अरे गजब व्याख्या! समझ में आया?

'तैसैं सुद्ध आतम दरब परजाय करि, उपजै बिनसै थिर रहै निज थलमैं।' स्वयं असंख्य प्रदेशी भगवान आत्मा, उसमें अनन्त-अनन्त आनन्द आदि ध्रुवस्वभाव से द्रव्यस्वभाव कायम है और उसकी वर्तमान (पर्याय में) उसका अनुभव होने से उसके सन्मुख होकर जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शान्ति की पर्याय उत्पन्न होती है। वह उत्पन्न हो और दूसरे क्षण में वह अन्दर समा जाये। वह उसी और उसी के स्वक्षेत्र में उपजना,

विनशना और स्थिर होना, ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं। पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा—यह सब विकल्प राग है, यह आत्मा नहीं। यह आत्मा नहीं और यह आत्मा का साधन भी नहीं। आहाहा! यह बात है।

मूल चीज़ क्या है, उसकी खबर भी नहीं होती।

मुमुक्षु : उसका क्या काम धर्म करना हो तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : खबर बिना धर्म किसका होता होगा? ऐई! भान नहीं होता। सब्जी लेने जाये तो कहते होंगे कि नहीं कि यह लौकी या करेला मुझे लेना है? या दो रुपये देकर (कहे) मुझे सब्जी देना। कौनसी? कि मुझे कुछ खबर नहीं। ऐसा मूर्ख कहलाता होगा? ऐसे जाता होगा? मेरे पिता ने सब्जी लेने भेजा है, दो रुपये देकर। अभी महँगे की बात है, हों! पहले तो चार पैसा और दो पैसे में बहुत सब्जी मिलती थी... घर में दस व्यक्ति है। परन्तु कौनसी सब्जी? कहे, मुझे खबर नहीं। यह रुपये, दो रुपये दिये हैं और सब्जी ले आओ, (ऐसा) कहा है। परन्तु कौनसी? यह लौकी या करेला? मुझे कुछ खबर नहीं। क्या कहे उसे? मूर्ख कहे?

कपड़े की दुकान में जाये, लो पचास रुपये लेकर। कपड़ा देना पचास रुपये का। कौन सा? यह मुझे कुछ खबर नहीं। स्त्री की साड़ी चाहिए है, घाघरा चाहिए है, पहनावा चाहिए है, धोती चाहिए है? तुमको ठीक पड़े (वह दो)। परन्तु क्या ठीक पड़े? उसकी उसे खबर होती है कि मुझे यह ज्येष्ठ महीने का समय है, आम का समय है, घर में मेहमान दस-बीस आये हैं। इसलिए आम के समय में करेले की सब्जी उसमें होती है, इसलिए मुझे करेला आधा मण दो, ऐसा कहे या नहीं? दूसरा सब छाँटकर कहे कि यह मुझे दो। ऐसा कहे या नहीं?

इसी प्रकार जिसे—आत्मा को धर्म करना है, वह सब छाँट डाले कि यह शरीर नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, पुण्य-पाप के विकल्प, वह मैं नहीं। मेरा तो आत्मा चैतन्यरस से भरपूर वह 'मैं' हूँ। ऐसे ज्ञान बिना उसमें स्थिर कहाँ से होगा? जैसे वह ज्ञान बिना कौन सी वस्तु लेगा? मूर्ख में गिना जायेगा।

मुमुक्षु : अधिक मेहनत करनी पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : खाने बैठे तब कहता होगा न कि मुझे शरीर में बराबर ठीक नहीं, भाई! इसलिए मुझे दो कुछ। परन्तु तुझे क्या दूँ? चावल, रोटी? कहे, मुझे कुछ खबर नहीं। बुखार का समय है। थोड़ा-थोड़ा अन्दर से बुखार दिखता है, साधारण ९९-९९ रहता है। इसलिए रोटी नहीं, चावल दो, दवा दो—ऐसा कहे या नहीं? कि रोटला-रोटी दे और खा जाता होगा बुखार होगा न? पण्डितजी!

प्रकाशदासजी! दुनिया में मूर्खाई नहीं चलती (और) यहाँ मूर्खाई? हम कौन हैं, यह कुछ खबर नहीं। अपने को धर्म करना है। परन्तु क्या धर्म करेगा? कहाँ से? कहे, लौकिक। लोकोत्तर धर्म विरुद्ध होता है। लौकिक में जानपना हो तो वहाँ माल लिया जाये और यहाँ अज्ञान हो तो माल लिया जाता होगा—ऐसा होगा? यहाँ तो पहले कहते हैं, जैसे रत्न की ज्योति में लहर उठे, वह उसकी पर्याय है। रत्नपना कायम रहकर उसमें तेज की लहर उठे, वह उसकी अवस्था है और उठे और उसमें समाये। उसी प्रकार '**जलकी तरंग जैसैं लीन होय जलमैं**' लो, यह पर्याय आयी। ऐई! यह द्रव्य का प्रश्न उठा न! द्रव्य की पर्याय आयी, फिर गयी कहाँ? ऐ जेठाभाई! जाये कहाँ? वहीं की वहीं समायी और उत्पन्न हो, समायी और उत्पन्न हो।

मुमुक्षु : एक समय की थी तो समा ही जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या? अन्दर शमे कहाँ? सामान्य में वह अभेद हो गयी।

(वस्तु) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्। 'मैं आत्मा हूँ, त्रिकाल द्रव्यस्वभाव से ध्रुव हूँ, नित्यानन्द हूँ' ऐसा जिसे ज्ञान हो, वह ऐसा अन्दर विचारे कि इस ज्ञानानन्दस्वभाव में स्थिर होने से नयी अवस्था आनन्द की उपजे और वह वापस दूसरे क्षण में अवस्था नाश हो। परन्तु वह सब उत्पाद-व्यय और ध्रुव, वह मैं आत्मा हूँ। ऐसे शब्द भी सुने न हों उत्पाद, व्यय और ध्रुव। बालचन्दभाई! सुना था वहाँ? उत्पाद अर्थात् क्या? यह क्लेश करे, वह उत्पात होगा?

मुमुक्षु : तूफान करे वह उत्पात।

पूज्य गुरुदेवश्री : तूफान करे वह उत्पात। ऐ पोपटभाई! आहाहा!

भाई! तू वस्तु है, पदार्थ है न। वस्तु है उसमें अनन्त गुणों की शक्ति बसी हुई है।

ऐसा आत्मा पहले ज्ञान में यथार्थ समझ को करके, फिर आत्मद्रव्य 'मैं यह वस्तु ध्रुव हूँ, चैतन्य हूँ, कायम हूँ।' अनादि-अनन्त वस्तु का स्वभाव ध्रुव एकरूप है, उसमें एकाकार होने से, उसमें दृष्टि देने से पर्याय की निर्मलता आनन्द की और ज्ञान की उत्पन्न हो और दूसरे क्षण वह अवस्था उसमें समा जाये, इतने को यहाँ आत्मा कहते हैं—ऐसा सिद्ध करना है। आहाहा!

कर्ता-कर्म-क्रिया (अधिकार) है न। इसलिए व्यवहार क्रिया, राग की क्रिया—करना, राग की उत्पत्ति हो और व्यय हो—यह वस्तु में नहीं। सेठी!

मुमुक्षु : सिद्धान्त बहुत ही बढ़िया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सिद्धान्त ही बहुत बढ़िया। यह ख्याल लेना, कहते हैं।

मुमुक्षु : ध्यान में रखना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अकेला ज्ञान का सूर्य प्रभु है ज्ञानसूर्य ध्रुव-ध्रुव नित्य। और उसमें अन्तर एकाकार होने से जो निर्मल वीतरागी निर्दोष आनन्द आदि की दशा हो, वह उसकी अवस्था है—पर्याय है। वह अवस्था दूसरे क्षण में अन्तर में जाये और नयी अवस्था हो। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्मल ही होती है। यहाँ वस्तु उसे कहना है। वह राग... कर्ता-कर्म-क्रिया छोड़ दी न पर की। रागादि का कर्ता नहीं, पर का कर्ता नहीं। कल एक व्यक्ति आया था न, वह तो कहे, लो आत्मा के अतिरिक्त इस जड़ का कुछ अपने आप होता होगा? ऐ वीरचन्दभाई! इनके कुटुम्बी आये थे। बेचारे ने सुना हुआ नहीं न, सुना हुआ। सम्प्रदाय में कहीं चर्चा नहीं। धन्धा करे और गप्प मारे। उसमें कहीं पाँच-पच्चीस हजार मिले, पचास हजार और लाख, दो लाख, ओहोहो! गजब होशियार पुरुष जगा कुटुम्ब में बड़ा कर्मी जगा। कर्म का करनेवाला दीपक लेकर वह गिरेगा कुँए में और हमको साथ में डालेगा।

यह वस्तु क्या है? वीतराग परमात्मा ने आत्मा (का) धर्म (कहा), परन्तु वह धर्म करनेवाला है कौन? धर्म, वह तो आत्मा की एक दशा है—अवस्था है। धर्म, वह

आत्मा की पवित्र निर्दोष आनन्द दशा है। वह दशा धरनेवाला पूरा त्रिकाली तत्त्व कौन है? और वह दशा उत्पन्न और विलय हो, वह क्या है यह? आहाहा! समझ में आया? भारी ऐसा कठिन मार्ग! वह तो सामायिक करे और प्रौषध करे, प्रतिक्रमण करे और स्त्री-पुत्र छोड़कर साधु हो, वस्त्र बदले। धूल भी नहीं साधु, सुन न अब!

मुमुक्षु : वह साधन तो है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह साधन है न अन्दर का। यह राग साधन है? धूल साधन है। यह साधुपना तो बाहर का अनन्त बार लिया, एकाग्र हुआ नहीं कभी। और वह तो सब राग की क्रियायें हैं जड़ की। क्योंकि राग स्वयं अचेतन है। आत्मा का स्वभाव कहाँ है? कर्ता-कर्म का निषेध करना है न? आहाहा! क्या हो?

'**तैसें**' है न वह '**जैसें**' था न। '**जैसें महा रतनकी ज्योतिमैं लहरि उठै, जलकी तरंग जैसें**' देखो, यहाँ भी आया वापस, देखा। '**लीन होय जलमैं**' उसमें अकेला 'उठे' था। फिर यहाँ 'लीन होय जलमैं' ऐसा किया। दोनों समाहित कर दिये। इन दो दृष्टान्तों में उत्पाद-व्यय समाहित कर दिये। उसमें रत्न की ज्योति में लहर उठे इतना रखा। '**जलकी तरंग जैसें लीन होय जलमैं**' इसमें दोनों डाले। पानी कायम रहकर तरंग उठे और वह तरंग उसमें वापस समाये, नयी तरंग समाये और हो। ऐसे रत्न ऊँचा रत्न, आहाहा! रत्न होता है न लाखों रुपये का होता है। इससे ऊँचा भी होता है। अस्सी हजार का हीरा देखा है एक बार वहाँ। बेचरभाई लाये थे वहाँ राजकोट।

मुमुक्षु : जल में तरंग उठे....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उठे, वह पर्याय।

मुमुक्षु : वर्तुळ... वर्तुळ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वह नहीं, वर्तुळ नहीं। लहरें-लहरें यों उठे। वर्तुळ तो कंकड़ पड़े तो उठे। वह ऐसे कंकड़ पड़े न, तो वर्तुळ उठे। कंकड़ बिना भी पानी ऐसे उठे, लहरें उठे। समझ में आया? अस्सी हजार का हीरा था। आठ रतिभार। आठ रति। एक रति के दस हजार रुपये। जसाणी, नहीं? राजकोटवाले नानालालभाई और बेचरभाई (जसाणी) है न। एक बार वहाँ चातुर्मास था, तब बताने लाये थे। एक कुछ छोटा था

दस हजार का और एक अस्सी हजार का। आठ रतिभार के अस्सी हजार। एक रति के दस हजार।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सस्ता हो गया न। दो रति के दस हजार तो सस्ता हो गया। यह तो एक रति के दस हजार।

एक आठ रतिभार था हीरा। अस्सी हजार का तब—(संवत्) १९९९ के वर्ष की बात है। समझे नहीं? दो रति के चार हजार, वह तो सस्ता हो गया। यह तो दस हजार की एक रति। मस्तिष्क काम करता नहीं। यहाँ तो आठ रतिभार था और कहा, कितनी कीमत? कि अस्सी हजार। एक रतिभार के दस हजार रुपये। ९९ के वर्ष की बात है। वे लोग तो बहुत रखे न!

मुमुक्षु : तीस-तीस चालीस हजार रुपये।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसकी डिब्बी अलग थी, हों! खड्डा अन्दर और उसमें समाये ऐसी डिब्बी ढंककर।

इसी प्रकार यह चैतन्यरत्न भगवान, इस शरीर के रजकण—इस डिब्बी के अन्दर अलग चीज़ है। समझ में आया? जिसमें तो अनन्त-अनन्त आनन्द आदि शक्तियाँ—गुण भरे हैं। आहाहा! कहते हैं, धर्मी ऐसा विचारता है कि मैं तो त्रिकाल आनन्द का धाम शुद्ध आनन्दघन हूँ और मेरी दृष्टि अन्तर में रहते अनुभव होने से मुझे जो आनन्द की दशा उत्पन्न होती है, वह अवस्था है—वह पर्याय है। वस्तु ध्रुव है। समझ में आया? यह सब ग्रीक-लैटिन (अटपटा) जैसा लगे नये लोगों को। कभी परिचय नहीं होता। कोयले के धन्धे में पूरी जिन्दगी। उसमें हीरा और माणेक बतावे (तो कहे), यह क्या है? यह क्या ऐसा?

कहते हैं, जैसे रत्न और जल का दृष्टान्त कहा, उसी प्रकार '**सुद्ध आतम दरब परजाय करि, उपजै बिनसै थिर रहै निज थलमैं।**' भाषा देखो! स्वयं भगवान असंख्य प्रदेशी वस्तु है। उसमें अनन्त गुण ध्रुवरूप से है। उस ध्रुव के ऊपर एकाग्रता होने से ध्रुव स्थल कायम रहे और उसमें एकाग्र होने से पुण्य-पाप के विकल्प भी धर्म नहीं और

धर्म का कारण भी नहीं। वह अन्तर की शुद्धता अन्तर के त्रिकाली द्रव्य के अवलम्बन से—आश्रय से उत्पन्न होती है, वह अवस्था उत्पन्न हो और दूसरे क्षण में उसमें समा जाये, उसका नाम उत्पाद-व्यय की दशा कहा जाता है और वस्तु कायम रहे, उसे ध्रुव कहा जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : निजस्थल....

पूज्य गुरुदेवश्री : अपना है, उसी और उसी में है। उत्पाद-व्यय निज स्थल में है, वह पर में नहीं।

मुमुक्षु : निजस्थल ज्ञान....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह स्थल वह ज्ञान नहीं। निजस्थल अर्थात् निज स्वभाव।

मुमुक्षु : निजस्वभाव ज्ञान ही तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ज्ञान नहीं, पूरा द्रव्य है। यह अकेला ज्ञान कहाँ है ? अनन्त गुण है न! अनन्त ज्ञान आदि अनन्त गुणों का एकरूप स्वरूप है द्रव्य तो। वह तो ज्ञानप्रधान से समझाना हो तो ज्ञान, वह आत्मा, ऐसा कहा जाता है। मिठास और शक्कर एक कही जाती है, परन्तु मिठास, सफेदाई, सुगन्धता वह सब होकर शक्कर है। इसी प्रकार आत्मा अन्दर वस्तु, जो निर्णय करता है, जानता है, जानने का काम निरन्तर स्वतन्त्र करता है, ऐसा जो आत्मा त्रिकाली ध्रुव है और उस ध्रुव की नजर करने से शरीर, वाणी, मन नहीं, पुण्य-पाप भी नहीं और धर्म की दशा उत्पन्न होती है, उसकी नजर नहीं। नजर तो ध्रुव में पड़ने से नित्यानन्द अनादि-अनन्त अविनाशी भगवान है। आहाहा! इस आत्मा को भगवान कहा जाता है, हों! भगवान हो गये, वे तो उनके रहे।

यहाँ तो '**तैसैं शुद्ध आतम दरब परजाय करि**' द्रव्य अर्थात् वस्तु और उसकी अवस्था। धर्मी की अवस्था उसे कहते हैं कि जो निर्मल उत्पन्न हो और निर्मल व्यय हो उसे। देखो, यहाँ तो व्यवहाररत्नत्रय डाल दिया। राग को वश में, आया था न अभी अपने ? राग के वश अर्थात् राग का प्रसंग हो, वह तो जाननेवाला जाने। धर्मी तो जानता है (कि) राग मुझमें है नहीं। आहाहा! भारी सूक्ष्म! भगवान चैतन्य का नाथ पूर्ण आनन्दस्वरूप त्रिकाल रहनेवाला—कायम रहनेवाला ऐसा जो ध्रुव अर्थात् स्थिर...

देखो, द्रव्य और पर्याय—अवस्था नयी शान्त... शान्त... शान्त... स्वभाव शुद्धतत्त्व के आश्रय से विकल्प रागरहित—निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति हो, उसका नाम धर्म और वह उत्पत्ति हुई, इसलिए पर्याय कही जाती है।

'उपजै बिनसै' नयी-नयी धर्म की अवस्थायें धर्मी—आत्मा के आश्रय से नयी-नयी उपजे और विनसे और अवस्था की स्थिति एक समय की है। एक समय रहे और दूसरे क्षण में उसका व्यय हो। परन्तु व्यय होकर जाये कहाँ? अन्दर में। समुद्र की लहर उठकर समुद्र में समाये। जल कल्लोलवत् आता है न? आलापद्धति में। जल कल्लोलवत्। वह यहाँ कहा, देखो! कहते हैं कि यह शरीर, मन, वाणी के साथ तुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। वह तो जड़ मिट्टी है। इसी प्रकार यहाँ तो पुण्य-पाप के राग के साथ तुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। धर्मी उसे अपना स्वरूप मानता नहीं। शुद्ध आत्मा द्रव्य हूँ और उसके आश्रय से निर्मल दशा शान्ति की, आनन्द की, स्वच्छता की, ज्ञान की, श्रद्धा की, वीतरागता की जो पर्याय हो, वह एक समय में होती है और दूसरे समय में समा जाती है। तीसरे समय में नयी होती है।

'उपजै बिनसै थिर रहै।' वस्तु ध्रुवरूप से स्थिर रहती है। **'निज थलमैं'**—अपने प्रदेश में और अपने भाव में। समझ में आया? अर्थ अन्दर है, देखो! **जिस प्रकार उत्तम रत्न की ज्योति में चमक उठती है अथवा जल में तरंग उठती है और उसी में समा जाती है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा पर्यायापेक्षा उपजता और नष्ट होता है तथा द्रव्य अपेक्षा अपने स्वरूप में स्थिर अवस्थित रहता है।** यह स्थल। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा सुनकर कोई सीधे विचार और ध्यान करने बैठे, (तो) उसे ध्यान नहीं होगा। क्योंकि पात्रता गुँथी नहीं। अभी आत्मा की लाईन क्या है, वह दृष्टि में आयी नहीं। उसका ध्यान होता नहीं। हंबक हो हंबक।

मुमुक्षु : हंबक मुम्बई में कहा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुम्बई (या) कहीं कहा था किसी ने। कोई आया था। सोनगढ़ में हंबक है, ऐसा कितने ही लोग कलकत्ता में कहते हैं। भाई! जीव स्वतन्त्र है। न जँचे इसलिए... वह तो दिखाई दे, अपवास करे और यह करे और त्याग करे, इसलिए

कुछ धर्म.... ऐसा का ऐसा करते होंगे सब ? अब सुन न ! मिथ्यादृष्टि ने ऐसे त्याग अनन्त बार किये मूढरूप से, परन्तु उसमें मिथ्यात्व का त्याग नहीं, वहाँ तक उसका एक भी त्याग सच्चा नहीं। समझ में आया ?

'ऐसै अविकलपी अजलपी अनंदरूपी' कैसा है भगवान ? अविकल्पी है। देखो। उसमें पुण्य, दया-दान, व्रत, भक्ति के विकल्प का राग भी आत्मा में नहीं। कि जिससे उसका कर्ता हो, वह आत्मा में नहीं, ऐसा कहते हैं। कर्ता-कर्म-क्रिया है न ? कैसा है भगवान आत्मा ? अन्दर अविकल्पी—रागरहित निर्विकल्पी चीज़ है। अरे.. अरे ! **अजलपी,** कहो।

मुमुक्षु : जल्प नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ स्थिरता का प्रयोजन है... ऐसा डाला। जल्प नहीं अर्थात् विकल्प नहीं। विकल्प नहीं वह तो उसमें डाला। अब यहाँ तो अजल्पी का अर्थ स्थिरता का प्रयोजन है। स्थिर... स्थिरबिम्ब प्रभु है। समझ में आया ?

अजलपी... वरना तो भाई, अजल्प अर्थात् बोले नहीं, विकल्प नहीं। अविकल्प में तो आ गया है, इसलिए फिर अजल्प में ऐसे डाला वहाँ स्थिरता... स्थिरता... स्थिरबिम्ब वस्तु है। मेरुपर्वत जैसे स्थिर है, वह किसी से हिलाया हिलता नहीं। यह पवन आवे, यह क्या कहलाता है ? वर्षा और पवन उससे भी मेरु हिलता नहीं। ऐसा भगवान आत्मा ध्रुव ! आहाहा ! शुभाशुभ परिणाम से भी उसे नुकसान नहीं पहुँचता और केवलज्ञान हो तो भी उसमें वृद्धि नहीं होती, ऐसा स्थिरबिम्ब आत्मा ध्रुव है। क्या कहा ? पर्याय में केवलज्ञान हो, तो ध्रुव में कुछ शुद्धि बढ़ती नहीं, पुष्टि होती नहीं और शुभाशुभ परिणाम तीव्र कठोर मलिन हो तो ध्रुव में बिगाड़ होता नहीं। वह तो ध्रुव स्थिरबिम्ब अनादि-अनन्त अचल अविचल भगवान है। किसने कहीं सुनने न मिले, ऐसा बड़ा आत्मा !

कहते हैं, **'ऐसैं अविल्पी अजलपी अनंदरूपी'** भगवान अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वरूप उसका है। पुण्य-पाप के विकल्प नहीं अर्थात् दु:ख है नहीं, आनन्द है अन्दर। आहाहा ! कहाँ खोजने जाये ? समझ में आया ? **'अनंदरूपी'** वह तो आनन्दरूपी

है। पण्डितजी! कहाँ आनन्द रहा? यहाँ? यहाँ तो नजर पहुँचती नहीं, वहाँ आनन्द कहाँ अन्दर जानना? आहाहा! अरे! इसके लिये तो पहले बहुत समझण, विचारना, स्वाध्याय, सत्समागम, पात्रता गूँथनी पड़े और फिर अन्दर में जाये तो यह समझ में आये ऐसा है। समझ में आया? कहते हैं कि आनन्दरूपी भगवान है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। जैसे सूरणकन्द होता है न, क्या कहलाता है? सूरण की गाँठ पूरी अधमण इतनी... इतनी।

इसी प्रकार यह आत्मा आनन्द की गाँठ है। अकेला आनन्द... आनन्द भरा है। सूरणकन्द में जहाँ छुरी मारो, वहाँ अकेला कस—माल है, सूरण का माल। इसी प्रकार चैतन्य अरूपी होने पर भी वस्तु है न! इससे उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का कस पड़ा है अन्दर, कहते हैं। समझ में आया? भीखाभाई! कहते हैं, **अनंदरूपी...** अनादि है वह तो। आहाहा! शब्द काम न आवे यहाँ। वहाँ तो वस्तु काम आवे। समझ में आया? आदि नहीं। वस्तु है, वस्तु है, सत् अनादि है वह तो। है, है और है। कहीं नयी हुई है चीज़? नयी होगी? आत्मा नया होता है? है अन्दर ध्रुव चीज़ अनादि की है, अनादि—आदि रहित है। आहाहा! अनन्त-अनन्त काल का अनादि का है। ऐसे अनन्त है। उसका कभी नाश (होता नहीं)। आत्मा का नाश होगा?

'अनादि अनंत गहि लीजै एक पलमैं' आहाहा! कहते हैं कि धर्मी का विचार ऐसा होता है, उसे वापस समझाते हैं। समझ में आया? अनादि—आदि नहीं। अन्त नहीं और उसमें वापस विवाद उठे बहुत। त्रिकाल कहो तो तीन काल का भेद पड़े। सुन न भाई! त्रिकाल अर्थात् 'है' ऐसा। त्रिकाल अर्थात् 'है'। ध्रुवस्वभाव, ध्रुवस्वभाव, नित्यस्वभाव, आदि-अन्त बिना की चीज़रूप स्वभाव। और यह भूत का और वर्तमान का, ऐसे तीन भेद भी कहाँ है? समझ में आया? ऐसे आत्मा को **'गहि लीजै एक पलमैं'** अन्तर्मुख होकर एक क्षण में आत्मा को अनुभव कर ले, ऐसा कहते हैं। करनेयोग्य यह है। बाकी सब चौरासी के भटकने के रास्ते हैं। कहो, पोपटभाई! धमाल... धमाल पैसा पैदा किये। बँगला और फँगला... अरे... अरे! भारी सुन न! भूत-पलीत जैसी चेष्टा कहाँ से निकाली होगी इसने? अनादि का भूत जैसा है। है तो त्रिकाल, भूत अर्थात् स्वभाव। परन्तु भान नहीं होता, वह भूत जैसा हो गया...। समझ में आया?

'**गहि लीजै एक पलमैं**' देखा ? तत्काल। अर्थ ऐसा किया तत्काल ग्रही लीजे, ऐसा। आहाहा! जब से यह ध्रुव है, ऐसा कान से सुना, कहते हैं, तब से अन्तर में उतर जा, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? परन्तु अभी थोड़ा यह करूँगा, थोड़ा यह करूँगा, थोड़ा यह करूँगा। यह क्या कर सकता है ? बहुत तो विकल्प करे। पर का एक रजकण बदल सकता नहीं, तीन काल में कर सकता नहीं।

मुमुक्षु : रजकण तो बारीक होता है न, यह तो बड़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : रजकण का कर नहीं सकता, परन्तु इसका कर सके, और यह अनेकान्त। धूल भी नहीं कर सकता किसी का। (संवत्) २००६ के वर्ष में वहाँ पालीताणा। पालीताणा सुमनभाई थे और वे कैसे ? कनुभाई जज वहाँ गये थे। तब.... गये थे। रामविजय और प्रेमविजय वहाँ थे। उनसे इन्होंने पूछा कि महाराज! आत्मा पुद्गल का कर सकता है ? (वे) कहें, रजकण का नहीं करता परन्तु शरीर का करे। अरे... अरे! ऐसे वे गुरु।

(संवत्) २००६ के वर्ष की बात है। छह की नहीं, पहले की बात है। ९८ की बात है। छह में तो वहाँ थे। (संवत्) १९९८ में यहाँ सब लड़के इकट्ठे हुए थे। एक हुआ था... मण्डल हुआ था। सुमनभाई थे, वे थे वह ध्रोळवाले अमृतलाल। अमृतलाल नहीं ध्रोळवाले ? वे सब लड़के थे। यहाँ से सुनकर गये वहाँ। पूछा। (जवाब आया), परमाणु एक रजकण है, उसका नहीं कर सकता, परन्तु स्थूल का सब कर सकता है। ऐ जेठाभाई!

मुमुक्षु : समझ में भले न आया हो, परन्तु जवाब तो देना पड़े न, जवाब न दे तो अज्ञानी कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो कहते हैं भगवान, अजीवतत्त्व है उसकी श्रद्धा कर। वह अजीवपदार्थ है। उसका हिलना-चलना, यह रूपान्तर वह जड़ के कारण से है, आत्मा के कारण से बिल्कुल नहीं। आत्मा तो निराली चीज़ है। यहाँ पूछते थे न, आत्मा यहाँ से निकल जाये और क्यों (शरीर में कुछ) होता नहीं ? ऐई! आत्मा अन्दर हो, तब खून होता है। आत्मा न हो (तो) क्यों खून होता नहीं ? ऐसा वापस प्रश्न किया। परन्तु

यहाँ आत्मा हो तो भी कीड़े पड़ते नहीं उसमें? खून क्या, यह कीड़े पड़े, सड़े। वह तो जड़ की दशा है। आहाहा!

परन्तु लोगों को, यह जड़तत्त्व है और जीव अलग है, यह बात बैठती नहीं। गहरे... भले भाषा करे और ऐसा कहे, परन्तु गहराई में उसे यही ध्यान में है कि इन सबका कर सकते हैं और यह सबका करते हैं और अपने ऊँचे कहलाते हैं। समझ में आया? यहाँ तो कहते हैं, जड़ का तो कुछ करता नहीं, परन्तु विकल्प हो दया-दान का, उसका भी आत्मा कर्ता नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। क्योंकि वस्तु में है नहीं, इसलिए धर्मी एक पल में पकड़े किसे? कि त्रिकाल द्रव्य को। आहाहा! राग-बाग पर है, विकल्प है। निर्विकल्प सच्चिदानन्द प्रभु स्वयं सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का ध्रुव है। '**गहि लीजै एक पलमैं**' है? भाईसाहब! इस प्रकार से कैसे होगा? यहाँ तो, तत्काल पकड़, ऐसा कहते हैं। धीरे-धीरे नहीं। कहो, समझ में आया?

श्रीमद् में आता है न! देखो न सामने रखा है न, यह तख्ती। सामने रखी है देखो। स्वद्रव्य की.... क्या है? स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्रता से होओ। देखो, श्रीमद् का वाक्य। स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्रता से होओ। सामने दर्पण है, दर्पण। है? स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्रता से होओ। ऐई! यह भक्ति-बक्ति के परिणाम से आत्मा प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं। है? पाँच बोल हैं न! रक्षक, व्यापक, धारक, रमक और ग्राहक—पाँच बोल हैं। स्वद्रव्य के व्यापक शीघ्रता से होओ। यह कहा न, ग्रही लीजे पल में। आहाहा! पहला रक्षक है और फिर व्यापक है। स्वद्रव्य भगवान चैतन्य में पसर जा क्षण में। शीघ्रता से पसर। पहले ऐसा करूँगा और फिर करूँगा, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। ऐई! कितने समय तक सुना और पढ़ा होगा पुस्तक में, परन्तु उसमें यह निकाला है कभी?

पश्चात् धारक। स्वद्रव्य के धारक शीघ्रता से होओ। भगवान पूर्ण स्वरूप हूँ, उसे श्रद्धा में धार, ज्ञान में धार। धारक—धरनेवाला, करनेवाला। धर्म का करनेवाला हो, रागादि का करनेवाला नहीं, ऐसा कहना है। समझ में आया? श्रीमद् ने सत्रह वर्ष (की उम्र में) कहा। सत्रह वर्ष की उम्र, सत्रह... सत्रह। यहाँ इकत्तर हो तो भी भान नहीं होता। सात और एक ऐसे डाले तो भी। देखो, पश्चात् रमक। स्वद्रव्य का रमक शीघ्रता से होओ। अखण्डानन्द ध्रुव है, उसे पकड़। रमणता है उसमें। पुण्य और पाप विकल्प

की रमणता तो अनादि से की है। उसमें नया क्या किया है ? पर का तो कुछ किया नहीं, हों! धन्धा-फन्धा का। संकल्प और विकल्प। देखो, फिर अन्त में है न, ग्राहक है। अन्तिम (बोल) ग्राहक है।

स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्रता से होओ। ग्राहक। उसे शीघ्र से पकड़ो, ऐसा कहते हैं। पुण्य-पाप के विकल्प और फलाना-ढींकणा ऐसा नहीं। आहाहा! छगनभाई! यह है पाँच बोल। आये हैं न? पुस्तक में आया है या नहीं? है पुस्तक वजुभाई ने दी थी वांकानेर में। पुस्तक आयी है न? मोरबी दी है एक रतिभाई के पास, रतिभाई। मोरबी गयी है। यहाँ वांकानेर एक गयी है। एक-एक। बहुत थोड़ी थी न इसलिए। यह उसके आठ बोल हैं ऐसे। सत्रहवें वर्ष पहले लिखे थे सत्रह, हों! परन्तु वाँचनेवाले वाँच जाते हैं। है, कुछ है। अपने तो यह करो अब। भक्ति करो और इनको मानो तो कल्याण हो जायेगा।

यहाँ कहते हैं, '**एक पलमैं, ताकौ अनुभव कीजै परम पीयूष पीजै।**' आहाहा! देखो, भगवान आनन्दसरोवर है न! वह शीर में से पानी निकाले तो पानी निकला ही करे अन्दर से। यह महिलायें पानी भरने जायें न कलश। वहाँ कलश पानी न हो अन्दर। होय तो इतना हो सेर-दो सेर। करते-करते निकले और पूरा कलश भर जाये। ऐसे सवेरे से शाम कितने ही कलश भर जायें। ऐसा आत्मा शीर है। अनन्त आनन्द पी निर्विकल्प रस को, ऐसा कहते हैं। यह पुण्य और पाप का वेदन, विकल्प का वेदन तो दु:ख है। आहाहा! समझ में आया?

कोई अग्नि पीता हो और उसे रोके, कहे, ऐई! तेरे आनन्द को विघ्न करता है। इसी प्रकार यह पुण्य-पाप के विकल्प अग्नि हैं। उसे तू अनुभव करता है, उसे रोकता है। ऐई! यह तो पुण्य परिणाम का निषेध कहाँ से हुआ? यह दृष्टान्त आता है कहीं, हों! ऐसा दृष्टान्त आता है। अग्नि की ज्वाला पीता हो और कोई रोके... ऐसा दृष्टान्त आता है, कहीं है।

मुमुक्षु : अनुभवप्रकाश.....

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुभवप्रकाश में है, लो! है ऐसा दृष्टान्त, हों! यह सब मस्तिष्क में है। अग्नि ज्वाला की, अग्नि ज्वाला की पीता हो और उसे रोके। नहीं, रहने

दे। ऐई! कौन है तू? इसी प्रकार पुण्य और पाप के विकल्प अग्नि है। उससे अनुभव हो और उससे मुझे लाभ हो (ऐसा मानने को) रोकते हैं। अरर! ....समझ में आया?

'ताकौ अनुभव कीजै परम पीयूष पीजै' पीयूष अर्थात् अमृत। यह अमृतरस भगवान अमृत का सागर, उसे पी न! यह जहर खा-खाकर मर गया अनन्त बार पुण्य-पाप करके। आहाहा! समझ में आया? **'बंधकौ विलास डारी दीजै पुदगलमैं'** यह पुण्य और पाप के भाव, वह बन्ध है। डाल पुद्‌गल में, वे तेरे नहीं। वे मेरे नहीं। आहाहा! कठिन काम है सूक्ष्म! जेठाभाई! यह ऐसा तुम करते हो, यह गलती है। बेचारे लोगों का कल्याण रुक जाता है। यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यह धर्म है। इसे पुण्य कहकर तुम झटका देते हो। लो, ठीक।

भाई! यह झटका दिया। देखो न, सुन न यह! धर्म करना हो उसे है। बाकी तो लहर करते हैं चार गति के विकल्प करके मर गया। किया ही करता है। अभी कहाँ नया छोड़ा है इसने? छोड़ेगा कहाँ से? मान्यता में ही रस पड़ा है न गहरे-गहरे, यह सब मिठास किसकी है? **'बंधकौ विलास डारी दीजै पुदगलमैं'** देखो। **'कर्मबन्ध के विस्तार को पुद्‌गल में छोड़ दीजिये।** पुण्य-पाप के विकल्प पुद्‌गल में छोड़ दे, वे तेरे स्वभाव में नहीं। आहाहा! गजब बात भाई! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उसे पुद्‌गल में डाल दे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह तेरा है नहीं। समझ में आया? २९वाँ बोल हुआ। लो, ४७वाँ श्लोक।

आत्मानुभव की प्रशंसा :

तीस (पद)। नीचे ४८ कलश है न।

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना,
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्,
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम्।।४८।।

इसका पद

★ ★ ★

काव्य - ३०

आत्मानुभव की प्रशंसा (सवैया इकतीसा)

दरबकी नय परजायनय दोऊ,
श्रुतग्यानरूप श्रुतग्यान तो परोख है।
सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ प्रगट तातैं,
अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है।।
अनुभौ प्रवानं भगवान पुरुष पुरान,
ग्यान औ विग्यानघन महा सुखपोख है।
परम पवित्र यौं अनंत नाम अनुभौके,
अनुभौ विना न कहू और ठौर मोख है।।३०।।

शब्दार्थ:-परोख (परोक्ष)=इन्द्रिय और मन आश्रित ज्ञान। विराजमान=सुशोभित। अदोख (अदोष)=निर्दोष। पोख (पोष)=पोषक। ठौर=स्थान। मोख (मोक्ष)=मुक्ति।

अर्थ:-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों नय श्रुतज्ञान[१] हैं और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण[२] है, पर शुद्ध परमात्मा का अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण है। इससे अनुभव शोभनीय, निर्दोष, प्रमाण, भगवान, पुरुष, पुराण, ज्ञान, विज्ञानघन, परम सुख का पोषक, परम पवित्र ऐसे और भी अनंत नामों का धारक है, अनुभव के सिवाय और कहीं मोक्ष नहीं है।।३०।।

काव्य - ३० पर प्रवचन

दरबकी नय परजायनय दोऊ,
श्रुतग्यानरूप श्रुतग्यान तो परोख है।
सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ प्रगट तातैं,
अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है।।

१. श्रुतज्ञान के अंग हैं।
२. नय और प्रमाण में अंश-अंशी भेद है।

अनुभौ प्रवानं भगवान पुरुष पुरान,
ग्यान औ विग्यानघन महा सुखपोख है।
परम पवित्र यौं अनंत नाम अनुभौके,
अनुभौ विना न कहूं और ठौर मोख है॥३०॥

आहाहा! महासुख का पोषक है भगवान। '**परम पवित्र यौं अनंत नाम अनुभौके**' उसमें आता है न। उसे ज्ञान-दर्शन कहते हैं। ४४ में। दर्शन कहो, ज्ञान कहो। उसमें बहुत नाम दिये हैं। यहाँ दो नाम दिये हैं। '**परम पवित्र यौं अनंत नाम अनुभौके, अनुभौ विना न कहूं और ठौर मोख है**' अनुभव बिना कहीं धर्म नहीं और मोक्ष है नहीं। आहाहा!

'**दरबकी नय**' द्रव्य अर्थात् आत्मा ध्रुव त्रिकाल है। उसे जो जानने के विकल्पवाला नय, उसे यहाँ द्रव्यार्थिकनय कहा जाता है। पर्यायनय—एक समय की अवस्था को जो जाने, उसे पर्यायनय कहते हैं। परन्तु दोनों श्रुतज्ञान—विकल्पात्मक श्रुतज्ञान है, ऐसा कहते हैं। वह श्रुतज्ञान का भेद है न! श्रुतज्ञान स्वयं कहता है कि ऐसा है। यह द्रव्य है और पर्याय है, ऐसे भेदवाला श्रुतज्ञान, वह तो परोक्ष है। उसमें कहीं आत्मा अनुभव में आवे, ऐसा नहीं है। यहाँ तो श्रुतज्ञान से न आवे, ऐसा कहते हैं। वे विकल्प आवे, उसे श्रुतज्ञान कहा है। आहाहा! क्योंकि परोक्ष कहना है न!

यह आत्मा द्रव्यार्थिकनय... द्रव्य अर्थात् वस्तु त्रिकाल, उस नय से देखो तो वह ध्रुव है। वर्तमान अवस्था से देखो तो अध्रुव और उत्पाद-व्ययवाला है। ऐसे विकल्पवाले श्रुतज्ञान से दोनों को जानो तो भी वह परोक्ष और विकल्प में रही हुई चीज़ है। '**सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ प्रगट तातैं**' परन्तु जहाँ आत्मा का अनुभव—शुद्ध आनन्दस्वरूप का जहाँ भान हुआ, वह तो प्रत्यक्ष है, कहते हैं। आहाहा! परोक्ष कहा, देखा! ऐसा कहकर निकाल दिया। पुण्य-पाप के विकल्प तो निकाल दिये, परन्तु विकल्पवाला ज्ञान भी छोड़ दिया।

ऐसी वस्तु है वह तो निर्विकल्प है। वह तो ऊपर कहा (कि) अविकल्पी वस्तु है। चैतन्य भगवान आनन्दकन्द, वह तो विकल्परहित चीज़ है, रागरहित चीज़ है। उसे कहते हैं, श्रुतज्ञान द्वारा पहले जाना हो कि यह द्रव्य ध्रुव है, यह एक समय की अवस्था—दशा है—पर्याय है, व्यवहार है, परन्तु यह सब विकल्पात्मक श्रुतज्ञान, वह तो परोक्ष है। उसमें आत्मा का अनुभव नहीं होता। आहाहा! लो, सब पढ़ा हो, कहते हैं, लाख शास्त्र।

वह तो और पठन का अभिमान हो। उसकी तो, कहते हैं, कोई गिनती नहीं। समझ में आया? यहाँ तो श्रुतज्ञान के विकल्पवाली जो दशा है, उसकी यहाँ गिनती नहीं, कहते हैं। आहाहा! अन्तर के विचार, शुद्ध ध्रुव यह और यह पर्याय—ऐसे नयज्ञान के विचार उठें, वह भी दु:खरूप है। समझ में आया? मार डाले ऐसी बात है।

यहाँ तो बाहर का जानपना कुछ हो, उसे ऐसा हो जाता है कि ओहो! बहुत शास्त्र मैंने वाँचे हैं, बहुत पढ़े हैं। मिथ्यात्व का अनुभव है। आहाहा! जिसे बाहर के उघाड़ का अभिमान हो, उसे अन्दर की वस्तु का बहुमान नहीं आता। कभी नहीं आ सकता। समझ में आया? यहाँ तो इससे आगे ले गये। अन्तर वस्तु में भेद पाड़कर विचारता है कि यह वस्तु द्रव्य त्रिकाली है, पर्याय एक समय की है। वह अपने ही विचार में उतरा, वह भी विकल्पात्मक ज्ञान में रहा है, वह भी दु:ख है। उसमें आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता और प्रत्यक्ष हुए बिना उसका आनन्द का स्वाद नहीं आता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कठिन बात, भाई!

कलशटीका में आया है दो जगह। यह श्रुतज्ञान... है न कलश में आया है। इसमें भी कलश में भी है। श्रुतज्ञान परोक्ष है नय विकल्प में। वह परोक्ष है, ऐसा कहा न! क्या है यह ४८ न? ४८ कलश नहीं? कर्ता-कर्म। एक ही... ४८ है। (समयसार सलंग कलश ९३)। देखो। 'इसमें भावार्थ है कि जितने नय उतने श्रुतज्ञानरूप हैं। श्रुतज्ञान परोक्ष है, अनुभव प्रत्यक्ष है, इसलिए श्रुतज्ञान बिना जो ज्ञान, वह प्रत्यक्ष अनुभवता है।' देखो भाषा। ऐसा ही श्लोक १९ है न। (समयसार कलश) १९ श्लोक। उसमें भी है। 'भावार्थ ऐसा है कि श्रुतज्ञान से आत्मस्वरूप विचारने पर बहुत विकल्प उपजते हैं।' 'श्रुतज्ञान से' ऐसी भाषा है। आत्मा विचारने से बहुत विकल्प उपजते हैं। 'एक पक्ष से विचारने पर आत्मा अनेकरूप, दूसरे पक्ष से विचारने पर आत्मा अभेदरूप है—ऐसा विचारते हुए स्वरूप अनुभव नहीं।' समझ में आया? १९वाँ श्लोक है न! '**आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयो**' यह इसका अर्थ है। दो जगह है। आहाहा!

अरे! ऐसी शास्त्र की धारणा अनन्त बार की, कहते हैं। समझ में आया? 'सब शास्त्रन के नय धारि हिये, आता है न? मत मंडन खंडन भेद लिये, यह साधन बार अनन्त कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।' कहते हैं, वह श्रुतज्ञान परोक्ष है। यह वस्तु

है न यह पर्याय ऐसी है, उसका विकल्पात्मक विचार श्रुतज्ञान परोक्ष है। '**सुद्ध परमात्माकौ अनुभौ**' देखो, यह परमात्मा स्वयं। भाषा देखो। '**सुद्ध परमात्माकौ अनुभौ प्रगट**' यह तो प्रत्यक्ष है। सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञान वहाँ प्रत्यक्ष हो जाता है।

मति और श्रुतज्ञान मन और राग के अवलम्बन बिना... क्योंकि राग का कर्तृत्व उसका स्वरूप नहीं। इसलिए रागरहित आत्मा अनुभव में आने पर वह ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। उसे वास्तव में अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान और यथार्थ ज्ञान कहा जाता है। समझ में आया? कहा न, धारणा का ज्ञान चाहे जितना हो, वह ज्ञान नहीं। ऐसा श्रुतज्ञान द्वारा अन्तर विचार करने में आवे कि यह द्रव्य वस्तु ध्रुव है और यह पर्याय है, ऐसा विकल्पात्मक ज्ञान भी वह ज्ञान नहीं। क्योंकि वह प्रत्यक्ष वस्तु है, प्रत्यक्ष प्रसिद्ध पूरी चीज़ है, मौजूद है। उसे प्रत्यक्ष न करे, तब तक उस ज्ञान को ज्ञान नहीं कहा जाता। आहाहा! ऐ प्रकाशदासजी! देखो, यह मार्ग! आहाहा!

'**सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ**' भाषा ऐसी ली है, देखो! परमात्मा अर्थात् सिद्ध और अरिहन्त भगवान, वे नहीं। आहाहा! परमस्वरूप। परमात्मा अर्थात् परमस्वरूप। ध्रुव ज्ञायकभाव एकरूप त्रिकाल, ऐसे परमात्मा का अनुभव प्रगट, वह तो प्रत्यक्ष है, कहते हैं। यह श्रुतज्ञान से विकल्प उठावे, वह तो परोक्ष है। आहाहा! कहो, जेठाभाई! उस परोक्षज्ञान द्वारा आत्मा अनुभव में नहीं आता, ऐसा कहते हैं। अब राग और विकल्प द्वारा अनुभव में आये और मिले (ऐसा नहीं)। चिल्लाहट मचाये लोग, हों! यह सोनगढ़वालों ने ऐसा कहाँ से निकाला? एक व्यक्ति ऐसा कहता था। निकाला कहाँ से? है, वैसा बाहर आया है। यह किसी का किया हुआ है? यहाँ सोनगढ़ का है?

मुमुक्षु : प्रकाशित तो सोनगढ़ में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रकाशित चाहे जहाँ से हो, उसका क्या है? समाप्त हो गये हैं, कोई कहता था। बाईस सौ छपाये न? समाप्त हो गये। जिसे देने (थे), वे भी रह गये। ऐसी पुस्तक चार रुपये की। साढ़े छह की पड़ी, चार में देते हैं। भगवान आत्मा, कहते हैं कि प्रत्यक्ष वस्तु है। उसका प्रत्यक्षज्ञान द्वारा अनुभव होता है। आहाहा! विशेष कहा जायेगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४९, फाल्गुन कृष्ण ८, शनिवार, दिनांक २०-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद ३०, ३१, ३२

यह नाटक समयसार। कर्ता-कर्म-क्रिया अधिकार। ३०वाँ पद है। ३०वाँ पद है उसमें। **आत्मानुभव की प्रशंसा**। पृष्ठ ८८ है।

दरबकी नय परजायनय दोऊ,
श्रुतग्यानरूप श्रुतग्यान तो परोख है।
सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ प्रगट तातैं,
अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है॥
अनुभौ प्रवानं भगवान पुरुष पुरान,
ग्यान औ विग्यानघन महा सुखपोख है।
परम पवित्र यौं अनंत नाम अनुभौके,
अनुभौ विना न कहूं और ठौर मोख है॥३०॥

क्या कहते हैं, देखो! यह आत्मा वस्तु आनन्द और ज्ञानस्वभाव से भरपूर भरा हुआ आत्मा है। उस आत्मा (को) दो नय से पहिचाना जाता है। एक द्रव्य का नय द्रव्यार्थिक। 'वस्तु मैं त्रिकाल ध्रुव हूँ' ऐसा द्रव्यार्थिक—द्रव्य जिसका प्रयोजन है, ऐसे ज्ञान से—द्रव्यार्थिकनय से आत्मा जानने में आता है, परन्तु वह भी एक विकल्प है। पर्यायार्थिकनय दो (-दूसरा) भेद। पर्याय—अवस्था है, भेद है, गुण है—ऐसे जानना, वह व्यवहारनय है—पर्यायनय है। दोनों श्रुतज्ञानरूप हैं। क्या कहते हैं? यह विकल्प है, राग है। ऐसा दो भेद करके जानना, वह रागरूप भाव है। तो कहते हैं कि यह श्रुतज्ञान है विकल्पात्मक, वह वास्तविक तत्त्व नहीं। आहाहा!

बाह्य शरीर, वाणी, मन तो निकाल दिया। वह तो आत्मा के अनुभव में आये, ऐसी चीज़ नहीं। और अन्दर पुण्य-पाप का विकल्प जो है दया, दान, व्रत, भक्ति आदि, वह भी राग है, वह आत्मा नहीं, वह आत्मा का धर्म नहीं और आत्मा का स्वभाव नहीं और जो 'आत्मा है' ऐसा दो पक्षों से—दो बाजू से उसका विचार करना, वह भी एक

रागमिश्रित विचार है। आहाहा! वह धर्म नहीं। आत्मा ऐसा है नहीं। दो नय से—भेद से विचार करके रुकना, वह चीज़ नहीं है। वह तो अटकाव है—रुकाव है। आहाहा!

'सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ प्रगट तातैं' श्रुतज्ञान... वस्तु सूक्ष्म है। कभी उसने अनुभव में लिया नहीं। धर्म, अनुभव (रूप) धर्म है। कोई दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम, वह धर्म नहीं। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि जिसको यहाँ हम श्रुतज्ञान कहते हैं, वह भी परोक्ष है। आत्मा अन्दर शुद्ध ध्रुव चैतन्य और पर्याय में अनेक प्रकार की दशा—यह रागमिश्रित श्रुतज्ञान, वह वास्तविक श्रुतज्ञान नहीं। वह तो परोक्ष है, परोक्ष है, वह वस्तु नहीं। आहाहा! समझ में आया?

'सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ' यह तो प्रत्यक्ष है। वह विकल्पात्मक विचार छोड़कर अखण्ड, अभेद, चैतन्य वस्तुस्वभाव उसका अनुभव करके प्रत्यक्षपना (अर्थात्) ज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष हो, उसका नाम आत्मा का अनुभव और आत्मज्ञान कहा जाता है। आहाहा! **'सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ प्रगट'** प्रत्यक्ष। वस्तु है आनन्दस्वरूप। स्वसंवेदन में आनेवाला आत्मा है, ऐसा कहते हैं। व्यवहाररत्नत्रय से भी जानने में नहीं आता, परन्तु इसका भेद करने के विकल्पज्ञान से भी जानने में नहीं आता।

'सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ' वह विकल्प तो भेदरूप हुआ, कहते हैं। उसमें परमस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव नहीं आया। परम शुद्ध भगवान अखण्ड अभेद चैतन्य का अनुभव तो प्रत्यक्ष है। उसमें कोई विकल्प का सहारा—मदद है नहीं। आहाहा! कठिन काम, भाई!

'अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है' आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप विघानघन का अनुभव... अनुभव है तो पर्याय—अवस्था, परन्तु वह अवस्था निर्मल है। समझ में आया? **'अनुभौ प्रगट... अनुभौ विराजमान...'** भगवान स्वसंवेदनज्ञान में अनुभव में आत्मा विराजमान है, (तो) उसमें भान में आता है। आहाहा! भारी महँगा भाई यह! ऐसा धर्म? लोग कहते हैं। इसलिए बेचारे....

मुमुक्षु : आप तो सरल करके समझाते हो। महँगा तो बहुत लगता है परन्तु आपने सरल कर दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : लोग बाहर में बेचारे मानो धर्म... धर्म... धर्म... धर्म चीज़ अन्दर की है। आहाहा! प्रथम धर्म की शुरुआत। समझ में आया?

यह बात तो बाहर अब लोग बातें करने लगे हैं। हमको भी आता है ऐसा करने के लिये, लो।

मुमुक्षु : नकल करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वांग है स्वांग। मानो कि यह सब... चलता है। भाई! यह स्वांग यहाँ नहीं चलती। किसी की कॉपी करने जाये... आहाहा! कहते हैं कि वस्तु भगवान आत्मा ऐसी चीज़ है कि जिसको भेद—वस्तु का भेद (अर्थात्) दो पक्षों से ज्ञान करना, ऐसा विकल्प (का) भी उसमें सहारा मिलता है और आत्मा का अनुभव है, ऐसा है नहीं। सम्यग्दर्शन होने में पर का—विकल्प का आश्रय बिल्कुल नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

'**अनुभौ विराजमान**' अनुभव की पर्याय में ही आत्मा विराजमान दिखता है। वस्तु तो अभेद त्रिकाल है, परन्तु उसके अनुभव की पर्याय में यह 'अभेद है' ऐसा अनुभव होता है।

मुमुक्षु : वेदन....

पूज्य गुरुदेवश्री : 'स्व-अनुभव' कहा न। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान का होना, उसका नाम अनुभव। स्व अर्थात् अपने से, सं अर्थात् प्रत्यक्ष आनन्द का अनुभव होना, उसका नाम अनुभव और सम्यग्दर्शन कहते हैं। गजब! यह तो बनारसीदास कहते हैं। समझ में आया? बनारसीदास घर की बात नहीं कहते हैं। यह तो कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं (और) अमृतचन्द्र आचार्य(कृत) कलश है नीचे, यह तो उसकी बात है। समझ में आया?

'**अनुभौ विराजमान**' प्रत्यक्ष प्रमाण है, ऐसा कहते हैं। **इससे अनुभव शोभनीय...** है। आहाहा! '**अदोख है**'—निर्दोष है। विराजमान आगे 'राज' शब्द है न, इसलिए उसका शोभनीक अर्थ किया, भाई! विराजमान है न! विराजमान... राज्यते शोभते इति राजा। भगवान अनुभव में शोभता है। आहाहा! अर्थ ठीक किया है। **अनुभव शोभनीय...**

है, ऐसा किया है। '**अनुभौ विराजमान**' आत्मा की शान्ति स्वभाव-सन्मुख होकर हो, अनुभव हो, उससे आत्मा शोभनीय है। विकल्प और दया-दान के राग से आत्मा प्राप्त नहीं होता। आहाहा! व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है—ऐसा लिखा है। पण्डितजी! ऐसा लिखा है शास्त्र में। वह तो (निमित्त का) ज्ञान कराने का (हेतु है)। भगवान! उस समय भूमिकायोग्य व्यवहार कषाय की मन्दता की इतनी मर्यादा है, वह बताने की बात है। वस्तु उससे प्राप्त होती है, ऐसी चीज़ है नहीं। आहाहा! भारी झगड़ा। शुद्ध परमात्मा अनुभव में विराजमान है। आत्मा आनन्दस्वरूप को अनुसरकर वेदन में प्रत्यक्ष ज्ञान का होना, आनन्द का वेदन होना, वही आत्मा को शोभनीय है। देखो, यह शोभा! आहाहा!

'**अनुभौ अदोख है**'—निर्दोष है। उसका अर्थ हुआ कि विकल्पात्मक श्रुतज्ञान, वह सदोष है। आहाहा! समझ में आया? 'मैं द्रव्य हूँ' ऐसा और 'मैं पर्याय हूँ' ऐसा श्रुतज्ञान का विकल्प सदोष है और विकल्प को छोड़कर अकेले आत्मा का अनुभव होना, वह निर्दोष है। आहाहा! उसका अर्थ यह हुआ कि व्यवहाररत्नत्रय विकल्प, वह भी अशोभनीय सदोष है। चन्दुभाई! आहाहा! '**अनुभौ अदोख है**' भगवान का मार्ग यह है।

'अनुभव रत्नचिन्तामणि, अनुभव है रसकूप, अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्षस्वरूप।' भारी कठिन पड़े लोगों को। अभी तो बाहर की निवृत्ति, कषाय की मन्दता करने का भी ठिकाना न हो। आहाहा! उसे ऐसा लगे कि यह तो निश्चय... निश्चय है। एकान्त निश्चय, ऐसा कहते हैं बेचारे। अरे भगवान! कहो, यह कुन्दकुन्दाचार्य को और अमृतचन्द्र आचार्य को कहो। ऐ डॉक्टर! अनुभव निर्दोष है। क्योंकि आत्मा वीतरागस्वरूप आत्मा है। अविकारी अकषायस्वरूप है। वह अकषायभाव से अनुभव में आता है। तो यह अकषायभाव ही अनुभव (और) ये ही निर्दोष है। आहाहा!

तब कहे, और यह सब क्या? ऐसा वापस लोगों को लगे। बातें ऐसी करे और फिर सब बड़े मन्दिर और... ऐ हिम्मतभाई! मन्दिर और प्रतिमा और लाखों रुपये खर्च करे और बारह-बारह लाख रुपये के यह बड़े मन्दिर....

मुमुक्षु : आगम....

पूज्य गुरुदेवश्री : आगम... परमागम। यह बड़ा मन्दिर और मानस्तम्भ और यह समवसरण और... आहाहा! भाई! यह चीज़ तो उस चीज़ के (अपने) कारण से बनती है, यह आत्मा के कारण से बनती नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : यह भी गले कैसे उतरे?

पूज्य गुरुदेवश्री : गले न उतरे तो इसे उतारना पड़ेगा। उसमें भक्तों का शुभभाव होता है। सम्यग्दर्शन से पहले ऐसा भाव होता है, बाद में भी ऐसा (हो)। व्रत, नियम और तप यह सम्यग्दर्शन बिना नहीं होते। समझ में आया?

परन्तु सम्यग्दर्शन से पहले और सम्यग्दर्शन के बाद भी ऐसा शुभभाव भक्ति का आये बिना नहीं रहता। आता है। समझ में आया? परन्तु है वह सदोष। आहाहा! समझ में आया? धरमचन्दजी! ऐसा धर्म है। आहाहा!

मुमुक्षु : अन्तर की लगन....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह लगन की (बात) नहीं, ऐसा भाव आता है, होता है। 'होता है', कहना, वह भी उसको प्रसन्नता होती है कि ठीक है। परन्तु (भाव) आता है तो ऐसा देखने में आता है कि यह भक्ति करते हैं, यह करते हैं... यह करते हैं। बस, इतनी मर्यादा है।

मुमुक्षु : लगन अन्तर की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लगन अन्तर की, हाँ। अन्तर की लगन बिना राग को व्यवहार भी नहीं कहा जाता। आहाहा! क्या करे? वह कहे, पाखण्ड है, वह कहे निश्चय एकान्त है। वह अभी आया था न! ऐसा है भगवान! तुझे यह स्वीकार करना पड़ेगा, यदि सत्य के रास्ते जाना हो तो। समझ में आया? अनुभव, वह निर्दोष है।

'**अनुभव प्रवांन भगवान पुरुष प्रमाण**' क्या कहते हैं? देखो। कहते हैं कि अनुभव यही भगवान है, प्रमाण है, वह सच्चा है—ऐसा कहते हैं। आत्मा ज्ञायकस्वरूप भगवान का अनुभव, राग का मिश्रितपना छोड़कर निर्दोष निर्विकल्प आनन्द से अनुभव करना, वही सच्चा प्रमाण है। वह प्रमाण है, ऐसा कहना है। प्रमाण अर्थात् वही सत्य है। बाकी अप्रमाण है। आहाहा! समझ में आया? है, अन्दर लिखा है। उसमें

(किसी के) घर की बात नहीं यहाँ। पुस्तक में है या नहीं? समयसार नाटक तो बहुत प्रचलित है।

मुमुक्षु : सोनगढ़ से छपा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : छपा है, उसमें क्या? पुस्तकें समाप्त हो गयीं। अभी आज पत्र आया है। एक व्यक्ति ने सोलह मँगायी हैं सोलह। चौंसठ रुपये। क्या कहलाये पोस्ट और सब दिया। हमको भेजो। ऐसा समयसार नाटक छपाकर बहुत उपकार किया है, ऐसा पत्र आया है। आहाहा!

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी थी। अमृतचन्द्राचार्य ने कलश किये। उन कलशों में से यह बनाया। कलश में से राजमल ने टीका बनायी है। उसमें यह बनाया है। आहाहा! क्या हो? अनुभव, वह प्रमाण है। अनुभव, वह भगवान है। आहाहा! पुण्य की क्रिया, वह रंकाई है। रंकाई कहते हैं न, रंकाई। रंक। दीनता है। पुण्यभाव है, वह दीनता है और अनुभव है, वह भगवान है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? मार्ग ऐसा है, जिसको जन्म-मरण की आकुलता से निकलना हो तो। जन्म-मरण, वह कोई चीज़ नहीं, परन्तु आकुलता जो अन्दर है, महा जहर की आकुलता। मिथ्याश्रद्धा, राग-द्वेष आकुलता (है तो) अकेले दु:ख की भट्ठी में जला हुआ आत्मा है अनादि से। आहाहा! उसको निकलना हो तो अनुभव भगवान आत्मा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अनुभव भगवान है। आचार्य ने अनुभव को दो नाम दिये सम्यग्दर्शन और ज्ञान। यह कहे कि जितने नाम दो, वे सब (घटित होते) हैं। आहाहा! है न कलश में लिखा है न! यह टीका में थोड़ा रखा है। कलश में इन्होंने और इन्होंने रखा है ज्यादा। कलश तो उनके हैं न! अमृतचन्द्र आचार्य (के) कलश हैं न! अनुभव, वह भगवान है। आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु शुद्ध अनाकुल आनन्दरस आत्मा का स्वसन्मुख का अनुभव, वही भगवान का रूप है। समझ में आया? ऊपर पुण्य-पाप का वेश विकल्प दीनता है, दीनता। आहाहा!

'**पुरुष**' है, लो! अनुभव, वह पुरुष है, बाकी नपुंसक है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा शुद्धस्वभाव अनन्त पवित्र आनन्दस्वरूप, उसको अन्तर में अनुभव में आया, वही पुरुष है, वही आत्मा है। वह पुरुष कहो या आत्मा कहो, वही आत्मा है। बाकी राग में आना, वह नपुंसक है, वह आत्मा नहीं। आहाहा! गजब भाई ऐसी व्याख्या! अनुभव पुरुष है।

'**पुरान**' है। लो, वह पुरान। अनादि की चीज़ जो आनन्दस्वरूप थी, उसका अनुभव, वह अनुभव ही पुरान—पुरानी चीज़ है। अनादि की पुरानी चीज़, वह अनुभव है। अनन्त-अनन्त सन्त, अनन्त ज्ञानी—धर्मात्मा आत्मा का आनन्द अनुभव करके मुक्ति को पाये। वह पुरानी चीज़ है, अनुभव कोई नयी चीज़ नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! है या नहीं इसमें? उसमें है बनारसीदास। घर-घर नाटक कथा बखानी। कहते हैं, पुरान पुरुष। 'पुराना धर्म लो जान रे सन्तों, पुराना धर्म लो जान।' पुराना अर्थात् अनादि का आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप के अन्तर्मुख होकर—सन्मुख होकर अनुभव करना, यह पुरानी चीज़ है।

यह नयी चीज़ नहीं, ऐसा कहते हैं। कोई कहते हैं न कि यह तो नया निकला। ऐ पण्डितजी! नया पंथ निकाला। अरे भगवान! यह तो अनादि की पुरानी चीज़ है। अनादि से सन्त समकिती—ज्ञानी पंचम, छठवें गुणस्थान मुनि आदि अनुभव करते चले आये हैं, मुक्ति पायी है।

मुमुक्षु : उनके दिमाग में पुरानी नहीं, नयी प्रसिद्ध है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नयी प्रसिद्ध है। यहाँ कहाँ कहा, देखो! पुरान है। सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसा सिद्धस्वरूप का राग और विकल्प से हटकर स्वभाव-सन्मुख में अनुभव करना, यह स्वसंवेदन ज्ञान पुराना है—जूना है। आहाहा! समझ में आया?

यह ज्ञान है, देखो। देखो, यहाँ ज्ञान आया। समझ में आया? उसमें तो सम्यग्दर्शन और ज्ञान कहा था। यहाँ सम्यग्दर्शन नाम आया नहीं। ऐई! मूल में '**दंसणं लहदि णाणं**' है। व्यपदेश ही तब कहलाता है—कहने में आता है। आत्मा विकल्प राग से रहित अनुभव करे तो उसको समकित का नाम तब दिया जाता है। ऐसा पाठ है (समयसार)

१४४ (गाथा)। यह उसका श्लोक है। समझ में आया? कायर का काम नहीं, यहाँ कहते हैं। पुरुषार्थहीन। राग में पुरुषार्थ जोड़े, वह नपुंसक है, वह पुरान पुरुष नहीं। आहाहा! पुरुष शब्द से (आशय है) आत्मा। समझ में आया? पुरान।

'ग्यान औ।' उसको ज्ञान कहते हैं। शास्त्र के पठन-बठन को ज्ञान नहीं कहते हैं, ऐसा कहते हैं। पठन-पाठन क्रिया और बातें करना आयी और सभा को समझाना आया, वह ज्ञान नहीं। ज्ञान तो अपना आनन्दस्वरूप का अन्दर भान—अनुभव हो, उसका नाम ज्ञान है। भारी काम, भाई! समझ में आया? यह थोड़ा-बहुत कुछ याद रहे तो उसे ऐसा हो कि आहाहा! हम आकाश में लात (मारते हैं)। आकाश में लात समझे? यहाँ पग पहुँचे नहीं, वह वहाँ कहाँ लात मारने जाये। थोड़ा बहुत कुछ आवे, पाँच-पचास हजार श्लोक आये, फलाना आया, ढींकणा आया, ओहोहो! मुझे तो सब शास्त्र कण्ठस्थ—मुखाग्र हैं। मुखाग्र है न? हम घण्टे भर ऐसे व्याख्यान दें, लोगों को ऐसे पुण्य-पुण्य हो जाये। वह ज्ञान कहाँ है? उसे ज्ञान कौन कहते हैं?

ज्ञान तो भगवान आत्मा अखण्डानन्द प्रभु शुद्ध आनन्द का नाथ का अनुभव करना, उसे ज्ञान कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? समयसार नाटक में है। उसमें लिखा है न... भैया है न पुस्तक? देखो है न! ऐ इन्दौर! अजमेर। ली है न पुस्तक? देखो, उसमें लिखा है। समझ में आया? आहाहा! भगवान सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने कहा, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, ऐसा अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं), ऐसा अर्थ (में) बनारसीदास ने पद बनाये हैं।

कहते हैं कि ज्ञान, उसका नाम ज्ञान है। आहाहा! जिसको—अपने त्रिकाल को ज्ञान ने पकड़कर अनुभव किया, वह ज्ञान है। आहाहा! ज्ञान तो उसको कहते हैं कि जिसके साथ आनन्द का अनुभव हो, (उसे) ज्ञान कहते हैं—ऐसा कहते हैं। अनुभव को ज्ञान कहा न! क्यों भाई नहीं आये चेतनजी? चेतनजी नहीं, प्रकाशदासजी। यह दवा है आत्मा की। आहाहा! यह दवा है। कहते हैं, वह ज्ञान (है), ओहोहो! कि जिसके अनुभव में आनन्द आता है। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में अनुभव हो, उसका नाम ज्ञान है। आहाहा! अकेला ज्ञान का उघाड़, वह ज्ञान (नहीं)। आत्मा तो आया नहीं उसमें।

वह तो एक अंश आया परसम्बन्धी। आत्मा उसमें अनुभव में आये तो अनन्त गुण का स्वाद पर्याय में आता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

'**और विग्यानघन।**' वही विज्ञानघन हुआ। आत्मा के स्वभाव-सन्मुख होकर अनुभव हुआ, वह विज्ञानघन हुआ। जैसा विज्ञानघन त्रिकाल है, ऐसा पर्याय में... तरलता-चंचलता ज्ञान की थी, वह निकलकर ज्ञान अन्दर में स्थिर हुआ, उसका नाम विज्ञानघन कहते हैं। ओ पण्डितजी! यह संस्कृत-संस्कृत का पढ़ना, (वह) ज्ञान नहीं, कहते हैं। इनकार करते हैं। प्रोफेसर है न संस्कृत के।

मुमुक्षु : संस्कृत के न? आत्मा के प्रोफेसर तो यहाँ होनेवाले हैं....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो नरम है, पण्डितजी नरम है।

मुमुक्षु : प्रोफेसर में (पढ़ाने में) कुछ नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ नहीं? पण्डितजी बहुत नरम हैं। यह बात अन्दर जँचना कठिन है। यह तेरे पठन ग्यारह अंग के, नौ पूर्व के पठन, लो! उसको ज्ञान नहीं कहते। (वह) ज्ञान नहीं है। उसमें आनन्द आया नहीं, वह तो दुःख है। आहाहा! समझ में आया? कहेंगे आगे, हों! तुरन्त ही कहेंगे।

'**ग्यान औ विग्यानघन महा सुखपोख है।**' समझ में आया? परम सुख का पोषक है अनुभव तो। यह राग का पोषक नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध आनन्दकन्द का अनुभव होकर द्रव्य—वस्तु का अनुभव होकर जो ज्ञान हुआ, उसमें आनन्द का पोषण है। आनन्द से वह ज्ञान पोढ़ा हुआ है—पुष्ट हुआ है। गजब बात, भाई! समझ में आया? '**महा सुखपोख**' महासुख है, ऐसा। परम सुख का पोषक (ऐसा) महा का अर्थ किया। भगवान आत्मा! विकल्प अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति का राग, वह बन्ध का कारण है, वह सदोष है। उससे हटकर अपने स्वभाव का अनुभव करते हैं, वह अनुभव महा—परम सुख का पोषक है। अथवा महा अर्थात् सच्चे सुख का पोषक है। समझ में आया? कल्पना (से) सुख माना है न पैसे में और धूल में और ऐसा और फैसा। दुःखी प्राणी है बेचारा। सच्चा सुख का पोषक अनुभव है। समझ में आया?

'**परम पवित्र यौं अनंत नाम अनुभौके**' परम, उसको परम भी कहते हैं। आत्मा

के अनुभव का नाम परम भी कहते हैं। अनुभव को बहुत नाम दिये हैं। 'अनुभवप्रकाश' में। दीपचन्दजी ने। अनुभवप्रकाश में और द्रव्यसंग्रह। पीछे अनुभव के नाम दिये हैं। ६३ जितने नाम हैं। द्रव्यसंग्रह है न, उसमें पीछे टीका में है। परम कहते हैं, कहते हैं। ओहोहो! एक ओर परमस्वभाव आत्मा और उसके अनुभव को भी परम कहते हैं, पर्याय को भी परम। (चैतन्य) राजा की पर्याय है न! अनुभव भगवान आत्मा की पर्याय है न! आहाहा! समझ में आया? '**यौं अनंत पवित्र है**' अनुभव ही पवित्र है। बाकी शुभ-अशुभराग की क्रिया और शुभाशुभराग का अनुभव अपवित्र है। समझ में आया?

'**अनंत नाम अनुभौके**' लो, यहाँ तो एक-दो-तीन थोड़े नाम दिये। '**अनंत नाम अनुभौके**' आत्मा में जितने—जितने गुण हैं, सब गुण का नाम अनुभव (को दिया जाता) है। सब गुण का अंश अनुभव में... सब—अनन्त गुण का अंश अनुभव में आता है, तो अनुभव के अनन्त नाम हैं। आहाहा! 'सर्व गुणांशे समकित।' समझ में आया? आहाहा! उसको—अनुभव को सम्यग्दर्शन कहो, सम्यग्ज्ञान कहो, सम्यक् स्वरूपाचरण-चारित्र कहो, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन कहो, वीर्य की स्फुरणा कहो सम्यक् वीर्य की, आत्मा का साक्षात्कार कहो, आत्मा की भेंट कहो, भगवान साक्षात् हुआ कहो—यह सब अनुभव के नाम हैं। आहाहा! परमेश्वर को मिला। पर्याय है न।

'**अनुभौ विना न कहूं और ठौर मोख है**' अनुभव बिना किसी स्थान में किसी कारण से मोक्ष होता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! लोगों को बाहर के आचरणवालों को ऐसा लगे। परम सिद्धान्त की बात है। तुम्हारे जयपुर में शिक्षण शिविर होनेवाला है। तुम्हें किया मुख्य मीठालाल। ऐसी बात, आहाहा! अनुभव के अतिरिक्त कहीं मुक्ति है नहीं, ऐसा कहते हैं। उसका अर्थ—अनुभव के अतिरिक्त कोई धर्म नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? बीच में व्रत, तप, भक्ति, पूजा और यात्रा का भाव जो है, वह तो विकल्प पुण्य है; वह धर्म नहीं, वह मुक्ति का कारण नहीं।

'**अनुभौ विना न कहूं और ठौर मोख है' अनुभव के सिवाय और कहीं मोक्ष नहीं है।** आहाहा! गजब! एकान्त हो जाता है। उसका नाम सम्यक् एकान्त है। पण्डितजी! अनुभव मोक्ष का कारण, व्यवहार भी मोक्ष का कारण, (ऐसा) दो (नय) लगाओ तो अनेकान्त होता है। वह अनेकान्त नहीं, वह तो फुदड़ीवाद होता है। अपना आत्मा शुद्ध

आनन्दस्वरूप प्रभु, जैसा सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने कहा, ऐसा आत्मा का अन्तर्मुख होकर अनुभव करना, वही मोक्ष है। मोक्षमार्ग दो नहीं। व्यवहार से भी मोक्ष होता है, निश्चय से होता है, ऐसा (है नहीं), ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह कहा न? '**अनुभौ विना न कहूं और ठौर मोख है**' दूसरे स्थान में मोक्ष नहीं। दूसरे कारण से मुक्ति होती नहीं। आता है, बीच में व्यवहार आता है, जब (तक) पूर्ण वीतराग न हो तो ऐसा राग भक्ति का, पूजा का, दया का, श्रवण का राग आता तो है न! आता है, परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है।

यह ३०वाँ कलश हुआ पद्य का, हों! वैसे यह ४८ कलश है। इस ओर ४९ कलश। ८९ पृष्ठ पर। लो, अकेला नौ का अंक चला आता है। .... नीचे कलश। अमृतचन्द्र आचार्य दिगम्बर सन्त मुनि ९०० वर्ष पहले हुए। कुन्दकुन्दाचार्य २००० वर्ष पहले हुए। टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य का कलश है। दिगम्बर मुनि निर्ग्रन्थ मुनि आत्मध्यान में मस्त। जंगल में रहनेवाले। समझ में आया?

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो,
दूरादेव विवेक-निम्न-गमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैक-रसस्तदेक-रसिना-मात्मान-मात्मा हरन्,
आत्मन्येव सदा गतानुगतता-मायात्ययं तोय-वत्।।४९।।

उसका पद। बनारसीदास (कृत)। देखो, यह बनारसीदास पहले व्यभिचारी (शृंगारी कवि) थे और व्यभिचारी (शृंगार रस का) ग्रन्थ लिखा था। पश्चात् आत्मज्ञान हुआ तो व्यभिचारी ग्रन्थ... जमुना या गंगा? गोमती में डाल दिया। जवान व्यक्ति थे और व्यभिचारी हो गये। फिर संग मिला रूपचन्दजी आदि पण्डितों का। भान हुआ, तो (व्यभिचारी) पुस्तक थी, गोमती में डाल दी। यह शास्त्र बनाया। समझ में आया? **अनुभव के अभाव में संसार और सद्भाव में मोक्ष है, इस पर दृष्टान्त।**

★ ★ ★

काव्य - ३१

अनुभव के अभाव में संसार और सद्भाव में मोक्ष है, इस पर दृष्टांत (सवैया इकतीसा)

जैसैं एक जल नानारूप-दरबानुजोग,
भयौ बहु भांति पहिचान्यौ न परतु है।
फिरि काल पाइ दरबानुजोग दूरि होत,
अपनै सहज नीचे मारग ढरतु है।।
तैसैं यह चेतन पदारथ विभाव तासौं,
गति जोनि भेस भव-भांवरि भरतु है।
सम्यक सुभाइ पाइ अनुभौके पंथ धाइ,
बंधकी जुगति भानि मुकति करतु है।।३१।।

शब्दार्थ:-दरबानुजोग=अन्य वस्तुओं का संयोग, मिलावट। भेस (वेष)=रूप। भव-भांवरि=जन्म-मरणरूप संसार का चक्कर। भानि=नष्ट करके।

अर्थ:-जिस प्रकार जल का एक वर्ण है, परंतु गेरु, राख, रंग आदि अनेक वस्तुओं का संयोग होने पर अनेक रूप हो जाने से पहचान में नहीं आता, फिर संयोग दूर होने पर अपने स्वभाव में बहने लगता है, उसी प्रकार यह चैतन्यपदार्थ विभाव-अवस्था में गति, योनि, कुलरूप संसार में चक्कर लगाया करता है, पीछे अवसर मिलने पर निजस्वभाव को पाकर अनुभव के मार्ग में लगकर कर्म-बंधन को नष्ट करता है और मुक्ति को प्राप्त होता है।।३१।।

काव्य - ३१ पर प्रवचन

जैसैं एक जल नानारूप-दरबानुजोग,
भयौ बहु भांति पहिचान्यौ न परतु है।
फिरि काल पाइ दरबानुजोग दूरि होत,
अपनै सहज नीचे मारग ढरतु है॥

तैसैं यह चेतन पदारथ विभाव तासौं,
गति जोनि भेस भव-भांवरि भरतु है।
सम्यक सुभाइ पाइ अनुभौके पंथ धाइ,
बंधकी जुगति भानि मुकति करतु है॥३१॥

आहाहा! ऐसा नहीं समझना कि हम तो जवान हैं, बालक हैं या वृद्ध हैं, इसलिए हमें क्यों समझ में आवे? ऐसी चीज़ नहीं है। आत्मा बाल, युवा, वृद्ध है नहीं। हमारी बुद्धि अल्प है तो कैसे समझें? बुद्धि अल्प नहीं, महा केवलज्ञान का कन्द है यह (आत्मा) तो। आहाहा! समझ में आया? अन्दर रुचि और दृष्टि का विषय होना चाहिए। ज्ञान अल्प हो, विशेष हो, कम हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है।

'**जैसैं एक जल नानारूप-दरबानुजोग**' दृष्टान्त दिया है। जैसे नदी में से पानी निकला और अनेकरूप द्रव्य अर्थात् पदार्थ का संयोग हुआ, अन्य वस्तु का संयोग मिला। पानी निकलता है न नदी में से, (कुछ) पीपल में चढ़ जाता है, (कुछ) नीम में चढ़ता है। पानी चढ़ जाता है न ऐसा। '**जैसैं एक जल नानारूप-दरबानुजोग, भयौ बहु भांति**' जल निर्मल—स्वच्छ है, परन्तु पानी (के प्रवाह) में से निकलकर प्रत्येक भिन्न-भिन्न झाड़—वृक्ष आदि में चढ़ जाता है। तो **बहुभांति** पानी की दशा होकर **पहिचान्यौ न परतु है...** यह जल है, ऐसी पहिचान नहीं पड़ती। आहाहा! मीठा जल का प्रवाह नदी का चलता हो, उसमें से थोड़ा एक प्रवाह निकल गया, खेत में या दूसरी (जगह) चला गया। वह जो-जो वृक्ष थे, जो-जो जमीन थी, उसरूप पानी परिणम गया। उसका रंग भी ऐसा हो गया। जल—पानी की स्वच्छता पहिचानने में आती नहीं।

'**फिरि काल पाई दरबानुजोग दूरि होत**' परन्तु वह स्वच्छ और पथ्य जल नदी में से निकलकर प्रत्येक वृक्ष आदि भूमि में जाकर (जाने से) अपनी जल की स्वच्छता पहिचानने में नहीं आती थी, वह जल उसमें से निकलकर (फिर से) नदी में मिल गया। '**फिरि काल पाई दरबानुजोग दूरि होत**' संयोग को दूर कर दिया जल ने। '**अपनै सहज नीचे मारग ढरतु है।**' जल नीचे प्रवाह (की ओर ढलते-ढलते) अपना—निज पानी प्रवाह है, उसमें चला जाता है।

'अपनै सहज नीचे मारग ढरतु है, तैसें यह चेतन पदारथ विभाव तासौं' आहाहा! भगवान चैतन्यजल आनन्दस्वरूप भगवान अतीन्द्रिय अमृत का सागर प्रभु... **'चेतन पदारथ विभाव'** विभाव के कारण से... अनेक प्रकार का शुभ और अशुभ विकल्प—विभाव, उस कारण से **'गति जोनि भेस भव-भांवरि भरतु है।'** आहाहा! शुभ और अशुभभाव, वह विभाव है। जैसे जल निकल करके... करेला आदि होता है न? करेला कहते हैं न, क्या कहते हैं? करेला कड़वा। करेला कहते हैं तुम्हारे। तो पानी वहाँ चढ़े तो कड़वा दिखाई दे, पीपल में देखे तो ऐसा (पीपलरूप) दिखे, लौकी में ऐसा (लौकीरूप) दिखे। पानी की स्वच्छता पहिचानने में आती नहीं। परन्तु पानी उसमें से निकलकर जल (प्रवाह) में जब चला जाये तो (वह) पहिचानने में आता है।

इसी प्रकार आत्मा विभाव... आहाहा! भगवान चैतन्यस्वरूप... **'विभाव तासौं'** पुण्य और पाप के विकल्प—विभाव... अपना चैतन्यस्वरूप छोड़कर विभाव की गति में गमन करता है, तो **'गति जोनि भेस...'** भिन्न-भिन्न गति दिखती है। भिन्न योनि—उत्पत्तिस्थानरूप वेश दिखते हैं। **'भव-भांवरि'** जन्म-मरण के संसार के चक्र दिखते हैं। यह उसका स्वभाव नहीं। आहाहा! समझ में आया? **'गति जोनि भेस भव-भांवरि भरतु है'** विभाव के कारण। यहाँ तो यह कहा, देखो! कर्म के कारण, ऐसा नहीं लिया है, देखो! पानी भी अपने कारण से दूसरे में जाता है।

इसी प्रकार अपना ज्ञान और आनन्द स्वभाव भगवान अपने स्वरूप को छोड़कर, अपने स्वभाव में है नहीं, ऐसे पुण्य-पाप के शुभ-अशुभभाव में पसरकर—व्यापकर, अज्ञान से व्याप्य-व्यापक होकर गति में—नरकगति, मनुष्यगति, ढोर—पशुगति, निगोदगति, स्वर्गगति... बाहर का शरीर नहीं, हों! उसकी योग्यता जो अन्दर है विभाव से गति आदि, ऐसा दिखता है। उसे ऐसा लगे, बस, मैं यह, मैं यह हूँ। योनि—उत्पत्तिस्थान। वेश। **विभाव अवस्था में गति, योनि, कुलरूप संसार में चक्कर लगाया करते हैं।** अर्थ में है। बनिया, ब्राह्मण और मुसलमान और ढेढ और पशु, चींटी और कौआ। यह योग्यता अन्दर दशा में हों, शरीर नहीं। विभाव के कारण से भिन्न-भिन्न योनि में उत्पन्न होकर उसका वास्तविक अपना रूप दिखने में आता नहीं। वह विभाव, वही मैं हूँ, बस। आहाहा! समझ में आया?

'**सम्यक सुभाइ पाइ अनुभौके पंथ धाइ**' लो, सम्यक्। **पीछे अवसर मिलने पर निज स्वभाव को पाकर...** ऐसा कहते हैं। '**सम्यक सुभाइ पाइ अनुभौके पंथ धाइ**' सम्यक् स्वभाव पाई, मूल तो ऐसा है। सच्चे स्वभाव को पाकर... वह विभाव को पाकर, ऐसा था। जल वृक्ष में, पृथ्वी में जाकर दूसरा हो गया, परन्तु वह जल अपने स्वभाव में आया, ... में से, नदी में चला गया। इसी प्रकार भगवान आत्मा विकल्प के जाल में फँसता हुआ भिन्न-भिन्न अवतार धारण करता हुआ दिखता है। परन्तु '**सम्यक सुभाइ पाइ**' 'अरे! मैं तो चैतन्य आनन्द शुद्ध हूँ। मैं तो पवित्रता का धाम हूँ। पुण्य-पाप के अपवित्र विभाव—विकल्प मेरे में है नहीं।' आहाहा! कहो, समझ में आया?

'**सम्यक सुभाइ पाइ**' भगवान आत्मा जैसा उसका स्वभाव सम्यक् था ज्ञान-आनन्द-शान्ति-स्वच्छता-वीतरागता, ऐसा स्वभाव का अनुभव हुआ, ऐसा स्वभाव का भान—सम्यग्दर्शन हुआ। सम्यग्दर्शन में अपने स्वभाव का भान होता है। आहाहा! '**सम्यक सुभाइ पाइ अनुभौके पंथ धाइ**' आहाहा! देखो! जैसे जल झाड़ में—वृक्ष में और पृथ्वी में भिन्न-भिन्न रूप धारण करके फिरता था। उसमें से जल का प्रवाह इकट्ठा होकर नदी में चला गया। महाप्रवाह के साथ चला गया। इसी प्रकार भगवान आत्मा पुण्य और पाप के विकल्प के—विभाव के प्रवाह में भिन्न-भिन्न गति, योनि आदि में दिखता था, यह उसका वास्तविक—असली स्वरूप नहीं। समझ में आया? अपने को मनुष्यपने से पहिचानना, स्वर्गपने से पहिचानना, दया-दान के विकल्प से पहिचानना—यह उसका स्वरूप नहीं। समझ में आया? आहाहा!

'**सम्यक सुभाइ पाइ अनुभौके पंथ धाइ**' शब्द कैसा है! अनुभव के पंथ में दौड़ा—गति की। पुण्य-पाप के विकल्पभाव, उसमें जो गति थी, वह तो पर वेश था, वह वास्तविक स्वभाव नहीं, वह तो विभाव का वेश है। विभाव से हटकर अपना निजस्वभाव ज्ञान और शुद्ध आनन्द का स्वभाव में अनुभव में आया और अनुभव के पंथ... अनुभव की गति के पंथ में दौड़ा, उसमें वीर्य ने गति की। ऐसा कहते हैं। आहाहा! भाषा है न! **अनुभव के मार्ग में लगकर...** '**लगकर—पंथ धाइ**' है न। करने (योग्य) कार्य तो यह है। भगवान आत्मा अपना निज ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप शुद्ध स्वभाव का अनुभव किया और अनुभव में लग गया, अनुभव करते... करते... करते मोक्ष हो गया उसका, ऐसा कहते हैं।

'बंधकी जुगति भानि' अनुभव के पंथ में आनन्द का वेदन करते-करते **'बंधकी जुगति भानि'**—नष्ट कर दिया, बन्ध का नाश कर दिया। समझाने में तो ऐसा ही समझावे न। बन्ध होता नहीं, उसको बन्ध को नाश करता है, (ऐसा) कहने में आता है। अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा का अनुभव हुआ, अनुभव में लगा, लगन लगी, आहाहा! अनुभव में से बाहर निकलना ज्ञानी को नहीं रुचता। समझ में आया? आहाहा! ऐसे अनुभव के पंथ में लगकर, **'बंधकी जुगति'** उस बन्ध के प्रकार को टाल दिया **भानि।** कर्मबन्धन को नष्ट करता है। देखो, अनुभव से कर्मबन्धन का नाश होता है। समझ में आया? **'मुकति करतु है'** लो। **'बंधकी जुगति भानि मुकति करतु है'** जुगति के साथ मुक्ति। कवि है न कवि! आहाहा!

अन्तर में स्वभाव का अनुभव करके... जो अनादि से पुण्य-पाप विकार और दया-दान-व्रत-भक्ति का अनुभव में वेदन था, वह तो जहर का वेदन था। उससे तो बन्ध होता है, ऐसा कहते हैं। अनुभव की जुगति... **'पंथ धाइ, बंधकी जुगति भानि'** बन्ध के भाव को टालकर मुक्ति करता है। उसको—आत्मा को मोक्ष होता है। आहाहा! सार में सार जैनशासन का, वीतराग परमात्मा का। यह आत्मस्वभाव क्या है, उसको पहले पहिचानकर फिर अनुभव करना, वह सार में सार चीज़ है। समझ में आया? **'बंधकी जुगति भानि मुकति करतु है'** मुक्ति करता है। यह ४९ कलश का भावार्थ हो गया। अर्थ, इसका अर्थ हो गया, लो। अब, **'मिथ्यादृष्टि जीव कर्म का कर्ता है।** है? ५० (कलश)।

विकल्पक: परं कर्ता विकल्प: कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृ-कर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति।।५०।।

आहाहा! बहुत थोड़े शब्द में—बहुत अल्प शब्द में भण्डार भरा है। ३२वाँ पद।

★ ★ ★

काव्य - ३२

मिथ्यादृष्टि जीव कर्म का कर्ता है (दोहा)

निसि दिन मिथ्याभाव बहु, धरै मिथ्याती जीव।
तातैं भावित करमकौ, करता कह्यौ सदीव।।३२।।

शब्दार्थ:-निसिदिन=सदाकाल। तातैं=इससे। भावितकरम=राग-द्वेष-मोह आदि। सदीव=सदैव।

अर्थ:-मिथ्यादृष्टि जीव सदैव मिथ्याभाव किया करता है, इससे वह भावकर्मों का कर्ता है।

भावार्थ:-मिथ्यात्वी जीव अपनी भूल से परद्रव्यों को अपना मानता है, जिससे मैंने यह किया, यह लिया, यह दिया इत्यादि अनेक प्रकार के रागादि भाव किया करता है, इससे वह भावकर्म का कर्ता होता है।।३२।।

काव्य - ३२ पर प्रवचन

निसि दिन मिथ्याभाव बहु, धरै मिथ्याती जीव।
तातैं भावित करमकौ, करता कह्यौ सदीव॥३२॥

जिसकी दृष्टि अपने आनन्द और ज्ञायकभाव पर नहीं है, उसकी दृष्टि पुण्य और पाप के विकल्प और व्यवहार के राग में है। वह **मिथ्यादृष्टि जीव सदैव मिथ्याभाव किया करता है**। क्योंकि दृष्टि में—उसकी श्रद्धा में राग ही आया है, आत्मा तो आया नहीं। आहाहा! क्या कहते हैं? '**विकल्पक:**' है न! विकल्प का करनेवाला कर्म कर्ता। '**विकल्पक:**'—विकल्प का करनेवाला, वह कर्ता। उसका क्या अर्थ है? कि भगवान! राग हुआ विकल्प—राग, हों! चाहे तो दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, यात्रा (हो), परन्तु वह विकल्प का करनेवाला—कर्ता अज्ञानभाव ही है, अज्ञानभाव कर्ता है। '**विकल्पक: परं कर्ता**' विकल्प का करनेवाला... वह अज्ञानी कर्ता है। देखो, कर्म के कारण से

विकल्प का कर्ता आत्मा होता है, ऐसा नहीं। अपने स्वरूप के अज्ञान से विकल्प के ऊपर दृष्टि रखने से '**विकल्पक:**' विकल्प का करनेवाला अज्ञानी होता है।

दूसरा काम तो कर सकता नहीं वह। व्यापार-धन्धा कोई आत्मा कर नहीं सकता तीन काल में। वह तो विकल्प करता है—राग... राग... राग... राग... राग... बस वह विकल्प—राग का कर्ता, अज्ञानी होता है। आहाहा! कहो, पोपटभाई! यह टाईल्स-बाईल्स का कुछ किया नहीं। माना कि हम ऐसा करते हैं और ऐसा करते हैं। यह इतने पैसे हुए और यह ऐसे पैसे हुए। लड़के छह हैं और उनके प्रमाण इतने भाग करना चाहिए, उसका यह करना चाहिए। ऐसा विकल्प उठे, उसके ऊपर दृष्टि है, वह विकल्प का कर्ता अज्ञानी होता है। दूसरा कोई कर्ता नहीं, ऐसा पहले सिद्ध करना है। कर्म कर्ता नहीं, द्रव्यस्वभाव कर्ता नहीं। विकल्प जो अज्ञानभाव से उत्पन्न करता है, वह (अज्ञानी) ही विकल्प का करनेवाला कर्ता एक है। दूसरा कोई कर्ता नहीं।

'**निसिदिन मिथ्याभाव बहु**' निशदिन—चौबीस घण्टा, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। आहाहा! किसी भी प्रकार से बदल-बदलकर उसको (—अपने को) विकल्प का कर्ता मानता है। ऐसा करूँ और ऐसा करूँ और ऐसा करूँ और ऐसा करूँ... यह सब मिथ्यात्वभाव के (कारण से है)। है न अन्दर? **परद्रव्यों को अपना मानता है, जिससे मैंने यह किया...** मैंने ऐसा किया, मैंने ऐसा लिया, मैंने ऐसा काम किया—ऐसा (मानकर) मूढ़ अज्ञानी राग का कर्ता अज्ञानी है। धर्मी राग का कर्ता होता नहीं, क्योंकि राग से भिन्न अपने स्वरूप का भान में भिन्न (चीज़) का कर्ता आत्मा होता नहीं। परन्तु राग को अपना माना है और राग से भिन्न अपने स्वरूप का तो भान है नहीं। तो राग का कर्ता अकेला अज्ञानी है, दूसरा कोई है नहीं। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५०, फाल्गुन कृष्ण ९, रविवार, दिनांक २१-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद ३२, ३३, ३४

कर्ता-कर्म-क्रिया अधिकार। (पद) ३२। अर्थ फिर से। '**मिथ्यादृष्टि जीव सदैव मिथ्याभाव किया करता है, इससे वह भावकर्मों का कर्ता है।** क्या कहते हैं? जिसकी दृष्टि (में) मिथ्यात्व और विपरीत श्रद्धा है, ऐसा आत्मा, क्षण में और पल में पुण्य और पाप की वृत्ति (रूप) जो अभिनिवेश—आग्रह उत्पन्न होता है, उसका वह कर्ता होता है। विकल्प का कर्ता, वह कर्ता—ऐसा शब्द है न मूल तो। '**विकल्पकः परं कर्त्ता**'। नीचे ५० (श्लोक) है और ऊपर है ३२ (पद)। क्या कहते हैं? कि यह विकल्प का करनेवाला, वह कर्ता। अर्थात्? जो यह आत्मा के स्वभाव को भूलकर विकल्प अर्थात् रागादि का एकाग्रपना—अभिनिवेश अभिप्राय में (है और) वह 'मैं हूँ'—ऐसा जो मानता है, वह विकल्प का कर्ता, वह अशुद्धभाव है। परन्तु वह पर का कर सकता है, यह है (नहीं)।

'**विकल्पकः कर्त्ता**।' मिथ्यादृष्टि अर्थात् विभाव। विभावभाव को अपना माननेवाला, वही विकल्प अर्थात् मिथ्यात्वभाव का करनेवाला होता है। किसका कर्ता होता है वह? उसके अपने विकारीभाव का। क्योंकि विकारीभाव, वह भिन्न होने पर भी उसे भिन्न (होने का) आग्रह नहीं, परन्तु अभिन्न (होने का) आग्रह है। राग और द्वेष के परिणाम, वे मेरे आत्मा के साथ अभेद है, ऐसा जो मानता है, वह यह मिथ्यात्वभावरूपी विकल्प का कर्ता होता है। समझ में आया? खजूर आदि धन्धे का नहीं। कनुभाई! यह हीरा-माणेक, यह तुम्हारी टाईल्स—उसका तो कर्ता अज्ञानी भी नहीं और ज्ञानी भी नहीं। परन्तु अज्ञानी, आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वभाव के सन्मुख की दृष्टि से विमुख और राग के परिणाम से सन्मुख है। समझ में आया? ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञातापना का अन्तर सन्मुख होकर स्वभाव का भान जिसे नहीं, वह स्वभाव से विरुद्ध विभाव, चाहे तो दया, दान, भक्ति, व्रतादि के विकल्प हों, उस विकल्प का कर्ता है। स्वरूप की दृष्टि का अभाव है, इसलिए वह 'मेरा कार्य है' ऐसे राग का आग्रह करके कर्ता होता है। समझ में आया?

'**विकल्पक: परं कर्त्ता**' ऐसा है न मूल पाठ। विकल्प का वास्तव में वह कर्ता है, ऐसा कहना है। **परं** अर्थात् वास्तव में। परवस्तु का कर्ता नहीं। ज्ञानी कर्ता नहीं। आत्मा आनन्द और ज्ञान के स्वभाव से भरपूर तत्त्व ही 'मैं' हूँ—ऐसे अपने अस्तित्व की अस्ति का जिसे दृष्टि में अभाव है, उसकी दृष्टि में राग का अस्तित्व, वह मेरा है, ऐसा मानकर वह राग का कर्ता अज्ञानी होता है। पण्डितजी! इसमें तो कोई कहता है कि तू यदि पर का कर्ता न माने तो दिगम्बर जैन नहीं है। ऐसा वे कहते हैं, लो!

मुमुक्षु : दो प्रकार के दिगम्बर जैन....

पूज्य गुरुदेवश्री : दिगम्बर जैन... अरे भगवान! दिगम्बर जैन वह कौन? वस्तु का स्वरूप है कि उसे राग का वस्त्र नहीं। वह राग का वस्त्र जिसने अपना माना, वह राग का कर्ता है, वह दिगम्बर नहीं। जेठाभाई! आहाहा!

वस्तु तो ऐसी है। भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान के चमत्कार से भरपूर तत्त्व है, अस्ति है—सत्ता है। निज सत्ता, आया था न सवेरे? दर्शन उपयोग में नहीं आया था? निजसत्ता स्वभावरूप वस्तु है। कहाँ गया मनीष? नहीं आया? वह कहता था, निजसत्ता वस्तु आत्मा, हों! नहीं आया लगता? चला गया होगा घर। ...आत्मा का स्वरूप निजसत्तास्वरूप है, ऐसा कहते हैं। हाँ, आत्मा का जानना, देखना, ऐसा जो स्वभाव, वह निजसत्ता—अपने अस्तित्वपने के स्वभावरूप भाव है। समझ में आया? ऐसी निजसत्ता स्वभावरूप आनन्दस्वभाव का जिसे अन्तर प्रेम नहीं, उसे निजसत्ता स्वभाव में नहीं, ऐसे विकल्प का उसे प्रेम है। आग्रह कहो, प्रेम कहो, अभिनिवेश कहो। वह विकल्प का करनेवाला अज्ञानी का अशुद्धभाव होता है। समझ में आया?

परन्तु उस विकल्प का कर्ता, वह भी अज्ञानी है। पर का कर्ता तो है नहीं। आहाहा! जो परवस्तु अपनी सत्ता में नहीं अर्थात् उसका करना, वह तो है नहीं। अब राग भी अपनी सत्ता में नहीं, तथापि उस निजसत्ता का स्वभाव शुद्धसंग्रह चैतन्य भगवान, उसकी सत्ता का स्वसन्मुख में स्वीकार नहीं, वह जीव (अपने को) पर का कर्ता मानकर विकल्प का कर्ता वह होता है। समझ में आया? '**विकल्पक: परं कर्त्ता**' अर्थात् कि वह राग का कर्ता, वही वास्तव में कर्ता, ऐसा कहते हैं। ५०वें कलश में नीचे

है। है नीचे नेमचन्दभाई? ५०, ५०। परन्तु कभी पढ़ा ही न हो वहाँ। निवृत्ति कहाँ है वहाँ? '**विकल्पकः परं कर्त्ता**' यह तीन अक्षर का अर्थ अभी चलता है। मनुभाई! यह तीन शब्द पड़े हैं न नीचे। यह तो संक्षिप्त अर्थ किया वहाँ उसका।

'**निसि दिन मिथ्याभाव बहु, धरै मिथ्याती जीव**' ३२वाँ पद। परन्तु क्या अर्थ किया है? इसका अर्थ यह कि मिथ्यात्वी जीव ही मिथ्यात्व का कर्ता है। ऐसा कहते हैं। आहाहा! जो स्वभाव भगवान ज्ञान और आनन्दस्वरूप की सत्तावाला तत्त्व है, ऐसी सत्ता का स्वीकार जहाँ अन्तर्मुख में नहीं, उसे राग का स्वीकार ही होता है। क्योंकि स्वभाव की ओर की सन्मुखता और भान नहीं, इसलिए जो विकल्प उठे दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध की वृत्ति उठे, उस वृत्ति का वह करनेवाला होता है। क्योंकि वह मेरा स्वरूप है, ऐसा अभिन्न मानकर उसका कर्ता वह होता है। नवरंगभाई! दवा-बवा का कर्ता नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

और '**विकल्पः कर्म केवलं**' क्या कहा? देखो! राग जो हुआ या द्वेष का अंश हुआ, वही अज्ञानी का कार्य। उसकी हद और मर्यादा अज्ञानी की इतनी कि दया, दान, व्रतादि का विकल्प उठा, वह उसका—अज्ञानी का कार्य। वह उसका कार्य। इसके अतिरिक्त दूसरी चीज़ का कार्य उसमें नहीं। स्वभाव का कार्य तो नहीं, दूसरे का भी नहीं। 'केवल अकेला' ऐसा कहना है न! केवल अकेला विकल्प उसका कार्य है। आहाहा! परन्तु चौबीसों घण्टे जो अज्ञानी का कर्ता और कर्म हो तो अशुद्धभाव से राग का कर्ता होता है और वह राग उसका कार्य है। इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ कार्य नहीं। बराबर होगा?

यह टाईल्स में ऐसे डाले भात-बात, क्या कहलाता है? डिजाईन। यह उसमें के पत्र लिखकर कान्तिभाई को भेजे वहाँ। इतने खजूर लाना इस प्रकार के खजूर। कहते हैं कि वह वाणी, वह क्रिया जड़ की, वह पत्र—उसका कर्ता तो अज्ञानी है नहीं। गजब बात भाई ऐसी!

मुमुक्षु : जड़ कागज लिखता है जड़?

पूज्य गुरुदेवश्री : जड़ लिखता है। जड़ के परमाणुओं की वह स्वयं पर्याय होती

है वहाँ। या आत्मा की पर्याय है वह ? जिसकी पर्याय, वह उसका कर्ता। यहाँ अज्ञानी ने उसकी (अपनी) पर्याय मानी है राग की, इससे कर्ता है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा! '**विकल्पः कर्म केवलं**' ऐसा वापस। कहते हैं कि अज्ञानी का कार्य हो तो केवल राग और द्वेष के परिणाम, वह एक ही उसका कार्य है। जादवजीभाई! लेनदेन का और हुण्डी का कुछ नहीं, ऐसा कहते हैं। गजब भाई! ऐसा कहते हैं कि जादवजीभाई करते नहीं, इनका पुत्र करता है।

यह तो उनका पुत्र इनकार करता है, छोटा दिलीप। परन्तु करता कौन है ? राग करो। करे कौन पर का ? ऐसा कहते हैं। इनके पुत्र का पुत्र है न दिलीप, बारह वर्ष का। कौन करे ? कहा, तुझे करना पड़ेगा। कहे, 'नहीं, अपने नहीं, मेरा पिता भी कहाँ करता है ? राग करे राग।' पण्डितजी! पढ़ाने में क्या करता है आत्मा ? पढ़ा सकता है ? ..... बोलना कि वह पुस्तक ले। समास.... वह वाणी आत्मा कर सकता है ? अरे गजब भाई! ....पंगु हो गया यह तो।

मुमुक्षु : राग से तो पंगु ही है न। परपदार्थ से भी पंगु ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परपदार्थ से रहित है, इसलिए परपदार्थ से पंगु है। वास्तव में तो वह राग से रहित वस्तु है। उससे पंगु है परन्तु उसे भान नहीं, इसलिए राग को अपना स्वरूप मानकर अभिन्न का आग्रह करके—अभिनिवेश करके, विपरीतता सिर पर डाली, यह मेरा कर्तव्य है, ऐसा (मानकर) वह कर्ता होता है और राग उसका (कार्य है)। बस, अकेला कार्य हो तो राग उसका (कार्य) है। दूसरा कुछ एक आँख की पलक घुमाना (वह उसका कार्य नहीं)। कहो, समझ में आया ? गजब .... यह सब! नजर से देखे कि ऐसा करता है और यह कहते हैं कि कुछ करता नहीं। कौन नजर से देखे ? यहाँ तू कहाँ .... है ? आत्मा की सत्ता में क्या हो रहा है, वह तो आत्मा की सत्ता जाने, उसे खबर पड़े। समझ में आया ? आत्मा की सत्ता की खबर न हो और परसत्ता का काम मैं करता हूँ, ऐसा माने, उस अज्ञानी को तो नहीं चैतन्यसत्ता की खबर (और) पर के अस्तित्व का कार्य उसके (स्वयं) से होता है, उसकी भी उसे खबर नहीं। समझ में आया ?

'**न जातु कर्तुकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति**' क्या कहते हैं ? श्लोक तो बहुत

ऊँचा है, परन्तु भाषा उनकी हिन्दी में डाली है न पद में। कि जब तक वह राग का कर्ता और राग का करना जब तक मानता है, तब तक विकल्पवाले जीव का कर्ता-कर्म (पना) नाश नहीं होता। समझ में आया? **न जातु कर्तु...** तीन काल में कर्ता-कर्म (पना) का सविकल्पी जीव को नाश नहीं होता, ऐसा कहते हैं। सविकल्पी जीव को अर्थात् कि राग और विभाव सहित हूँ, ऐसी (मान्यतावाले) जीव को विभाव का कर्ता-कर्मपना है। विभाव सहित हूँ—**'सविकल्पस्य'** ऐसा जो अन्तर में माना है, उसका कर्ताकर्मपना टलता नहीं। गजब ऐसी बात!

यह लड़कों को पढ़ाना या नहीं? क्या करना तब होशियार करना या नहीं करना? रामजीभाई ने, वे गये थे वहाँ अमेरिका—अमेरिका (तो) पैसा-बैसा खर्च किया होगा या नहीं?

मुमुक्षु : आप सब इनकार करते हो। हाँ करना, फिर ना करना....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! कहते हैं, आहाहा! जिसे चैतन्य के आनन्द का रस नहीं, जिसने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का रस देखा नहीं, वह राग के रस में डूब गया है, ऐसा कहते हैं। और जब तक उसे राग का रस है, तब तक राग का कर्ता-कर्मपना उसे छूटेगा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

भावार्थ : **मिथ्यात्वी जीव अपनी भूल से...** देखो, अपनी भूल से, अपने को भूलकर **परद्रव्य को अपना मानता है।** मानता है, हों! है नहीं। **जिससे मैंने यह किया...** मैंने यह किया, मैंने यह किया। अरे! लड़के-भाई तुम छोटे थे और पिता मर गये और मैंने यह किया है सब। अब तुम कहते हो कि बराबर बाँटो। परन्तु यह कमर टूट गयी, पचपन वर्ष हुए, तुम अभी ३०-३० वर्ष के, यह पच्चीस वर्ष तक कमर तोड़कर काम किया (और) अब (कहे कि) समान बाँट दो। यह बना है, हों! मनसुखभाई! बने हुए की बात है। नाम-ठाम नहीं दिये जाते। यह तो सब उसे कहा छोटे भाई ने (कि) भाई! समान बाँट दो। अरे भाई! परन्तु २५-२५ वर्ष से टूट मरा मैं और अब कमर कम होने लगी, अब मुझे कमाने की शक्ति कम (हुई) और तुम कहते हो कि तुम तीन भाईयों के बीच में बराबर बाँट दो। ऐ जेठाभाई! मलूकचन्दभाई! ऐसा हुआ है, हों! अन्त में बाँटना पड़ा। चाहे जिस प्रकार परन्तु बँटवारा तो हुआ। समझ में आया?

कहते हैं, **जिससे मैंने यह किया...** यह काम तो मैं था न (तो) लाईन पर चढ़ गया। परन्तु होशियार मनुष्य का अन्तर न पड़े? दुकान पर एक होशियार बैठे और एक कुम्हार जैसा बैठावे। कैसे होगा मलूकचन्दभाई? कहते हैं, यह अज्ञानी को—तुझे अभिमान होता है कि मैं यह व्यवस्थित काम (करता हूँ)। अरेरे! कहीं विघ्न आवे नहीं। आहाहा! कुछ कमी न रह जावे, ऐसे हमारे काम। ठीक बापू! ऐसा अभिमान करके विकार का कर्ता अज्ञानी होता है। समझ में आया? आहाहा! इसने काम किये हैं... उसमें आता है। संसार में थे तब सीखते थे न चार सज्झायमाला, उसमें आता है।

पाण्डव गये थे न वहाँ सामने द्रौपदी को लेने। फिर स्वयं तो उतरे गंगा नदी में नाव द्वारा पाण्डव। परन्तु पाण्डवों को ऐसा हुआ कि तब श्रीकृष्ण अपने आप भुजाबल से आयेंगे या नहीं.... आयेंगे या नहीं? इसलिए अपने नाव भेजना नहीं। नाव नहीं भेजी। स्वयं उतरे। ऐसे जहाँ कृष्ण आते हैं वहाँ... दोनों—द्रौपदी और कृष्ण स्वयं। अब... पाण्डव तो जोरदार... अकेले तिरकर गये। उन्हें खबर थी। नाव द्वारा तिरकर गये तो नाव भेजेंगे मुझे (—मेरे लिये)। एक हाथ से द्रौपदी हाथ में और एक हाथ से पानी को काटते गये। पूरा लवण समुद्र, हों! दो लाख योजन का। घातकी(खण्ड में) उस ओर गये थे न, ऐसे जहाँ नीचे उतरे। 'अरे! पाण्डवों! तुम बहुत बाहुबली हो। वहाँ तुम कैसे पराजित हुए? द्रौपदी को लेने गये, वहाँ कैसे पराजित हुए? बहुत बलवान, मैं तो थक गया।' प्रभु! हमने तो तुम्हारी परीक्षा की। अपने आप आ सकते हैं या नहीं, ऐसी परीक्षा की। ऐसा? उनको पावर चढ़ गया। पूरा उठाया... हों! मार डाला।

पश्चात् द्रौपदी ऐसे हाथ जोड़ती है कि भाई! तब यह श्रीकृष्ण कहते हैं, 'द्रुपती तेरे पति के वेण के क्षण क्षण सांभरे रे लोल।' यह तेरे पति ने जो ऐसा किया इसमें। अब मेरी परीक्षा इन्हें करनी थी। वहाँ पाँचों भागकर आये और अकेला जाकर लाया, यह वहाँ बल देखा नहीं था। यहाँ इन्हें देखना है बल तिरने में। द्रौपदी तेरे पति की.... सज्झाय में आता है, हों! सज्झायमाला तब निकाली थी न। पहले भाग में आता था। दुकान पर पढ़ता था वहाँ, संसार में था तब। 'द्रुपती तारा पतिना वेण क्षण क्षण सांभरे। घा वाग्या छे तारा पतिना वेणे।' आहाहा! हमारी परीक्षा ऐसी करनी है इन्हें। भागकर

चले गये आये पाँच और अकेला जाकर द्रौपदी को लाया, उसकी खबर नहीं तुझे अभी। मार डाला।

द्रौपदी कहती है, प्रभु! आप मेरे भाई हो। अर्जुन की स्त्री थी न। अर्जुन के साथ (विवाहा) कृष्ण की बहिन (सुभद्रा) थी (इसलिए) भाई-बहिन हुए न। आहाहा! इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि अरे! तेरे लक्षण तो देख। विकार जो चैतन्य का नहीं, उसे अपना मानकर अज्ञानी तू अकेला कर्ता होता है। तेरे ऐसे अज्ञान की चोट, वह तेरा अज्ञानरूपी भाव ही तेरा कार्य है, दूसरा तेरा काम है नहीं। आहाहा! शुद्ध भगवान आत्मा वस्तु चिदानन्दस्वरूप भगवान का यह काम नहीं, भाई! समझ में आया? क्या काम? विकारी परिणाम, वह कर्म ज्ञानी—धर्मी का नहीं, भाई! आत्मा का नहीं, तुझे नहीं शोभता। परन्तु उसमें तो मैंने यह किया, यह लिया, मैं सट्टा कर आया हूँ, हों! उसमें पाँच लाख आमदनी (हुई)। देखो, वहाँ भाव बढ़ा गया एकदम। पश्चात् पैदा हो गया हो अधिक।

देखो, यह कहते हैं, हों! वह अभी उठाया है न! 'कृष्णजी तुमको कहूँ मैं कर जोड़ कि सुनो प्रभु विनती रे लोल, प्रभुजी नहीं कोई तुमसो दोष, नठोर थया मुझ पति रे लोल, प्रभुजी एक तुमसु अेवडी हास।' तुम्हारी हँसी तुम्हें नहीं करना चाहिए। यह हँसी की थी न। 'प्रभुजी तुमसु अेवडी हास, करवी केम घटे रे लोल, प्रभुजी लख्या छठ्ठी न लेख ये मटाड्या नहीं मटे रे लोल।' द्रौपदी विनय करती है, हों! यह तो उत्तम पुरुष है, यह कहीं रंक नहीं। और उल्टे पड़े तो कहीं दूसरे... सुलटे पड़े तो मोक्ष ले लेवे। और वे (कृष्ण) तीर्थंकर होनेवाले हैं। समझ में आया?

'प्रभुजी दोष नहीं तुम कोई किरतार अेही गमे रे लोल।
प्रभुजी छोरु कछोरु थाय पण मावतर तोही क्षमे रे लोल।'

मावतर तो क्षमे बापा! अब रहने दो। 'बांधव तुमसी मूकी लाज के काज विचारीअे रे लोल।' यह सब दुकान में वहाँ सीखते थे। तुम्हारे जैसे अकेले खजूर का धन्धा नहीं (करते) थे। धन्धा... यह तो सत्तर वर्ष पहले। 'प्रभुजी! विनवुं गोद बिछाय के रोष निवारीअे रे लोल।' रोष न करो, प्रभु! 'प्रभुजी तमे मोटा महाराज के मनमां जाणीये रे लोल।' फिर 'प्रभुजी मोटा होय दातार के बोले मुख मीठडुं रे लोल।'

'प्रभुजी मोटा न ग्रहे आळ, करे अणदीठडुं रे लोल।' अनदेखा कर डालते हैं बड़े पुरुष। महाराज! ....अब कहते हैं, 'द्रुपती तारा पतिना बोल के क्षण क्षण सांभरे रे।' उन्हें मेरी परीक्षा करनी थी। अकेला जाकर ले आया और यह सब वापस भागे, तब परीक्षा नहीं हुई थी अभी इन्हें। यह परीक्षा करने... यह तो उत्तम पुरुष है। समझ में आया? धर्मात्मा ज्ञानी उत्तम है, इन्हें कहीं साधारण संयम... ऐई छोटुभाई! 'द्रुपती अेणे कीधा जे काम, वेरी भी नव करे रे लोल।' हमारी परीक्षा करनी थी, आहाहा! अरे द्रुपती! 'द्रुपती मारी एक ज बात के गदा पाछी नहीं फरे रे लोल।'

गदा उठी और ऐसी वापस नहीं फिरे। हम उत्तम पुरुष हैं। शलाका पुरुष है न! हमारी गदा उठी, वापस नहीं फिरे। 'अेने बळ देखाडुं आज के मनमां विष धरे रे लोल। राणी विलखाणी तेनी वार के आंखे आंसु ढणे रे लोल! भाईजी अेवडो न करो रोष ऊभी अेम टळवळे रे लोल। प्रभुजी फोई कुंतानी लाज दिलमां आणीअे रे लोल। प्रभुजी पांडुराय मनमां जाणीअे रे, प्रभुजी गौब्राह्मण प्रतिपाल सहु तमने कहे रे लोल।'

ऐ .... कौन होगा? कौन होगा? एक उदय रतनभाई हुए थे हमारे गाँव में, नहीं? खेडा के। वे इसमें... गुणसागर है इसमें। दूसरा है। एक उदय रतन थे। यह सब सज्झाय... ऐसी ४-४ सज्झायमाला है पूरी। २००-३०० .... अभी तो एक (पुस्तक) अपने को मिली नहीं। समझ में आया? बहुत, बहुत-बहुत लम्बी बात है। प्रभुजी मेलो मन ईश, पहले रथ जोड़ो आप। रथ जोड़ो प्रभु। फिर कहे, अब जाओ। एक बार मारा लोहदण्ड।... की वहाँ पाँचों ही रथ गये कस्तूर। पाण्डव खड़े रहे। पाँचों रथ का चूरा कर दिया। यहाँ कहीं नाम दिया कस्तूर गाँव का नाम। मूल तो ऐसा कहते हैं कि भगवान आत्मा उल्टा पड़ा, उसके लक्षण ऐसे हैं कि राग को अपना मानकर राग का कर्ता और राग उसका कर्म अकेला है। समझ में आया? आहाहा!

क्या कहा यह अभी तक? ऐसा कहते हैं। मनसुखभाई! ऐसा सब किया होगा जादवजीभाई? यह दुकान में बैठते हैं। यह लिया, यह दिया। आहाहा! उसमें फिर उसरूप से कोलाबा मुम्बई में... क्या कैसा? कोलाबा। एक दिन देखने गये थे। माल लेने गये थे न! देखा तो एक मारवाड़ी ऐसे कूदे। यह लिया, दिया। ...पागल हो गये, कहा।

मुमुक्षु : उसमें लिया, दिया लिखा है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, उसमें नहीं। तब तो क्या पढ़ा था न, यह सब पढ़ा था। ऐसा था, लो! था तो उम्रवाला व्यक्ति था। ऐसा करूँ, लूँ। वहाँ समाचार आवे शीप से, हों! विलायत से। हाँ, अमेरिका शीप से आवे, समाचार आवे। समाचार आवे और फिर ले–दे करे। सिर फोड़े। उसी प्रकार यह अज्ञान का अन्दर सन्देश आता है कि मैंने दिया और मैंने लिया तथा राग और द्वेष, राग और द्वेष। आहाहा!

शान्तिभाई! यह क्या अब ? यह सब होशियारी नहीं की होगी ? उसमें काम नहीं आता होगा ? ऐ धीरुभाई! होशियार हो तो बहुत पैदा हो, ऐसा नहीं होगा ? आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा जगत में प्रसिद्ध करते हैं कि भाई! केवल राग का कार्य तेरा और अशुद्धभाव, वह उसका कर्ता। शुद्धभाव तो त्रिकाल है, उसकी तुझे खबर नहीं। आहाहा! समझ में आया ? **इत्यादि अनेक प्रकार के रागादि भाव किया करते हैं, इससे वह भावकर्म का कर्ता होता है।** लो। जड़ का कर्ता नहीं जड़कर्म का, पर का कर्ता नहीं, स्वभाव का भान नहीं तो स्वभाव का कर्ता नहीं। मात्र विकारी परिणाम (रूप) कर्म का कर्ता है। लो! किया हो अनादि से तो एक ही काम उसने किया है। बराबर है ? ५१ कलश, ५१। ५० का अर्थ किया न, अब ५१।

यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्।।५१।।

ओहोहो! कलश भी क्या है न! यह पद ३३वाँ।

★ ★ ★

काव्य - ३३

मिथ्यात्वी जीव कर्म का कर्ता और ज्ञानी अकर्ता है (चौपाई)

करै करम सोई करतारा।
जो जानै सौ जाननहारा।।
जो करता नहि जानै सोई।
जानै सो करता नहि होई।।३३।।

शब्दार्थ:-सोई=वही। करतारा=कर्ता। जाननहारा=ज्ञाता।

अर्थ:-जो कर्म करे, वह कर्ता है और जो जाने, सो ज्ञाता है, जो कर्ता है, वह ज्ञाता नहीं होता और जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं होता।

भावार्थ:-मूढ़ और ज्ञानी दोनों देखने में एक सी क्रिया करते हैं, परन्तु दोनों के भावों में बड़ा भेद रहता है। अज्ञानी जीव ममत्वभाव के सद्भाव में बन्धन को प्राप्त होता है और ज्ञानी ममत्व के अभाव में अबन्ध रहता है।।३३।।

काव्य - ३३ पर प्रवचन

करै करम सोई करतारा।
जो जानै सौ जाननहारा॥
जो करता नहि जानै सोई।
जानै सो करता नहि होई॥३३॥

विशिष्टता तो अर्थ में ऐसी है। देखो, **'यः करोति स करोति केवलम्'** क्या कहते हैं? अज्ञानी राग को करे, मात्र राग को करे, मात्र अशुद्ध परिणाम को ही अज्ञानी करे, ऐसा कहते हैं। **'यः करोति स करोति केवलम्'** ऐसा। और कुछ शुद्ध भी थोड़ा करे और थोड़ा अशुद्ध करे, ऐसा होता नहीं, ऐसा कहते हैं **'केवलम्'** कहकर। समझ में आया? **जो कर्म करे, वह कर्ता है...** ऐसा। परन्तु उसका **'केवलम्'** का वजन है। अर्थात् कि भगवान शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु को भूलकर भूलवाला जीव, भगवान

को भूलकर भूलवाला जीव मात्र भूल की अशुद्ध परिणति को ही करता है। वजुभाई! तुमने तो बहुत सब किया था वहाँ। दस-दस लाख के मकान। यहाँ आये वहाँ सब फँसना है। समझ में आया? यहाँ तीनों सब साथ में बैठे हैं। आहाहा!

'**यः करोति स करोति केवलम्**' क्या कहते हैं? आत्मा शुद्ध आनन्द का धाम भगवान, उसे भूलकर, भगवान आत्मा परमानन्द का धाम भगवान को भूलकर अज्ञानी करे तो मात्र विकारी अशुद्धभाव ही करता है। जरा थोड़ा शुद्ध और थोड़ा अशुद्ध, (ऐसा) वह तीन काल में कर नहीं सकता। आहाहा! समझ में आया? यह हाथ का हिलाना या आँख को घुमाना—उसका तो कर सकता ही नहीं। वह प्रश्न तो है ही नहीं। परन्तु अज्ञानी करे तो केवल अशुद्ध परिणति को करे। आहाहा! क्योंकि उसने शुद्ध स्वभाव—चैतन्य का द्रव्यस्वभाव देखा-जाना (नहीं)। जिसे चैतन्य के स्वभाव का स्वीकार का अभाव है, वह अज्ञानी मात्र अशुद्ध परिणमन ही करता है। आहाहा! गजब बात, भाई!

जो कर्म करे वह कर्ता है... ऐसा। अशुद्ध परिणमन करे, वह कर्ता। यहाँ केवल का अर्थ अकेला अशुद्ध परिणमता है, ऐसा। **जो जाने सो ज्ञाता**। बात क्या है, देखो! '**यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलं**' अर्थात् क्या कहते हैं? ओहो! आत्मा को जाननेवाला अनुभव करनेवाला ज्ञानी धर्मी जीव आत्मा आनन्दस्वरूप को अनुभव करनेवाला, मात्र अकेले शुद्ध परिणाम को करता है अर्थात् जानता है। जानता है, (ऐसा) यहाँ तो कहना है। आहाहा! जाननेवाला मात्र जानता है और करनेवाला मात्र विकार को करता है। समझ में आया? '**यस्तु वेत्ति**' 'मैं तो ज्ञान और आनन्द हूँ। मेरे अस्तित्व में तो मैल और परवस्तु का त्रिकाल अभाव है। मेरे स्वभाव में शुद्धता का सद्भाव है।'—ऐसा जिसने जाना, वह तो जाननेवाला ही रहता है। उसे रागादि होते हैं, ऐसा कहना, वह तो व्यवहार—उपचार से (कथन) है। वह तो वास्तव में जाननेवाला है। धर्मी अकेला जानता है। होता है, उसे जाने; जाये, उसे जाने; उदय हो, उसे जाने; खिरे, उसे जाने, आहाहा! इसका नाम सम्यग्दृष्टि और इसका नाम ज्ञानी। आहाहा!

'**यस्तु वेत्ति**' जो जाननेवाला जाननेवाला भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु, जिसे आत्मा का भान हुआ है, वह तो केवल जाननेवाला दुनिया का साक्षी रहता है। राग से लेकर

जगत के पदार्थ की सभी दशाओं का दृष्टा और साक्षी है। आहाहा! कहो, समझ में आया? भारी महँगा भाई ऐसा धर्म! कहते हैं। वह तो दया पालो, अपवास करो (तो) धर्म। देखो, ऐसा था। जादवजीभाई! तुम वहाँ प्रमुख थे कलकत्ता में। यह नेमिदास भी थे। ये वहाँ थे न स्थानकवासी के (प्रमुख)। आहाहा! भगवान सर्वज्ञ के मुख में ऐसी वाणी आयी। कहते हैं कि जो कोई अशुद्ध—विकारी परिणाम के अंश को भी करता है, वह मात्र करता (ही है, इसलिए) उसका कर्ता ही उसे भासित होता है। और मात्र जाननेवाला-देखनेवाला हूँ, ऐसा जिसे भासित हुआ है, उसे वह तीन काल-तीन लोक और बड़े अशुभ रागादि हों, तो भी केवल जाननेवाला, वह जाननेवाला रहकर ही खड़ा रहता है। जाननेवाला जाननेवाला होकर ही रहा है। आहाहा! समझ में आया?

यह अधिकार तो अच्छा आया है, मोहनभाई! दोनों भाई आये हैं। ऐसा मार्ग है। बात में विशिष्टता तो यह की है कि विकार करे छोटे में छोटे अंश का, (तो भी) केवल विकार का ही कर्ता, ऐसा। जरा भी धर्म और शान्ति का कर्ता नहीं और जो स्वभाव का कर्ता है अर्थात् कि राग का कर्ता नहीं, उसने तो आत्मा का स्वभाव शुद्ध चैतन्य ज्ञान है, ऐसा अनुभव किया है। इसलिए वह केवल मात्र जाननेवाला ही जाननेवाले में रहता है। आहाहा! समझ में आया? तब (कोई) कहे (कि) ऐसा जाननेवाला जाननेवाले में रहे तथापि और यह क्या? छियानवें हजार स्त्रियों से विवाह, बड़े पाँच-पाँच बँगले देवों ने (बनाये हुए)। विशाल पाँच बँगले होते हैं चक्रवर्ती को। सोलह हजार देव जिसकी तैनाती में और मणिरत्न के हीरा के जिसके... क्या कहलाते हैं वे? सिंहासन, उसमें बैठा हो। इन्द्रों को भी भुलावे, ऐसी जिसकी ऋद्धि हो। इन्द्र जिसके मित्र हों। वह सब आडम्बर किसका?

ऐ हिम्मतभाई! यह प्रश्न हुआ था। ऐसा मार्ग? बात तो सुनो। वे आज आये थे न छह (व्यक्ति)। कल। वे तो बेचारे, मैं रास्ते में निकलता था, (वहाँ) मेरे सामने एकदम आये। वापस एकदम आकर 'महाराज! हमको सुनाओ।' कल न? कल सवेरे। गोण्डल के आये थे न? दामाणी! ऐई कहाँ गये? वासुदेव। दामाणी नहीं थे? जमनादास, उनकी तीन पुत्रियाँ... जंगल में निकले। उन्हें खबर थी। महाराज को जगह के पीछे

जाना है। रास्ते में सुनेंगे। छहों आये, हों! एक दीक्षा लेनीवाली थी। 'कुछ सुनाओ महाराज!' मैंने कहा, रास्ते में क्या सुनाऊँ? सुनाओ, सुनाओ। बेचारे प्रेम से, हों!

कहा, यह मार्ग दूसरा है, हों! अन्दर सम्यग्दर्शन बिना धर्म की शुरुआत नहीं होती, कहा। राग और विकल्प से पार भगवान है, ऐसे चैतन्य के अनुभव बिना इसे सम्यक्त्व नहीं होता और सम्यक्त्व बिना धर्म की शुरुआत नहीं होती। सच्ची बात। सच्ची बात... अब यहाँ की बात बाहर आयी है न सर्वत्र! यह ढिंढोरा पीटकर रखी है, यहाँ कहाँ गुप्त रखी है? बाकी भाई! यह मान छोड़ना (कठिन)। यह तो सम्प्रदाय की दृष्टि छोड़कर, जो साधु नहीं, उसे साधु....

यह तो विरला कोई कहे, हों! आये नहीं थे? दिगम्बर साधु आये थे न। बेचारे ९५ वर्ष की उम्र। ९५ वर्ष की उम्र कहते, ८५ तो होंगे। ऋषभसागर। यहाँ का पढ़ते हैं। भावलिंगी, आप कहते हो तत्प्रमाण हिन्दुस्तान में कोई भावलिंगी साधु नहीं है।

मुमुक्षु : भावलिंगी अर्थात् क्या और.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : तथा द्रव्यलिंगी भी नहीं। मैंने फिर कहा, द्रव्यलिंगी भी नहीं। बेचारे स्वयं कहते थे, हों! ऐ प्रकाशदासजी! परन्तु तुम रह गये, हों! आहाहा! बेचारा वह पाप का उदय (कि) नग्नपना आया। क्या करना? यह सुनना, वह किस प्रकार सुनना? रुकना किस प्रकार? कठिन ऐसा काम, भाई! यह प्रतिबन्ध है। आहाहा! मार्ग वीतराग का कुछ है और लोगों को कुछ चढ़ा दिया है।

यहाँ तो कहते हैं, '**यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति**।' मात्र जाननेवाला, ऐसा। जरा भी उसे अशुद्ध का परिणमन (नहीं)। भाई! ऐसा कहते हैं यहाँ। आहाहा! सम्यग्दर्शन—आत्मा का भान हुआ, कहते हैं कि केवल शुद्ध का परिणमन है। आहाहा! मात्र जाननेवाला-देखनेवाले का भाव, वही उसका है। अशुद्ध का बिल्कुल परिणमन नहीं। आहाहा! लोग चिल्लाहट करे न! कहो, समझ में आया? दास! है, इसमें है न? श्लोक में है, देखो! अपने श्लोक में से अर्थ करते हैं। यहाँ बराबर अर्थ इसमें नहीं है इसलिए... '**य करोति न वेत्ति**' क्या कहते हैं अब? जिसे अन्दर में अशुद्धता के परिणमन का भान है, अर्थात् अशुद्ध परिणमन का ही कर्तव्य है, वह जाननेवाला बिल्कुल—अंश भी रहता

नहीं। उसे जाननेवाले की भूमिका प्रगट होती नहीं, अंश भी है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

'य करोति न हि वेत्ति' जो अशुद्ध परिणमन को करता है, वह बिल्कुल जानता नहीं। आत्मा वस्तु क्या, (वह) जानता नहीं। ऐ धर्मचन्दजी! कठिन काम भाई ऐसा! आहाहा! वीतराग परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ का यह सन्देश है। सन्त बीच में आढ़तिया होकर (सन्देश लाये)। माल ले आते हैं न मनसुखभाई और मनुभाई वहाँ से। तो वह आढ़तिया होकर भेजे दिल्ली और बीच में (आढ़तिया) होकर। मनुभाई! यह सन्त बीच में आढ़तिया होकर बात करते हैं। आहाहा!

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, (जिन्हें) एक समय में तीन काल तीन लोक का ज्ञान है। उन भगवान की वाणी में, आगम में यह आया कि जिसे अशुद्ध परिणमन का भाव हुआ, वह बिल्कुल जानता नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया या नहीं? शान्तिभाई! यह अशुद्ध परिणमन चला गया? ऐ शान्तिभाई! भगवान! अशुद्ध परिणमन तो, वह द्रव्यदृष्टि से वस्तु के स्वरूप का भान नहीं था, तब अशुद्ध परिणमन नहीं था, वह खड़ा हुआ, स्वभाव में नहीं था, वह खड़ा हुआ। इसलिए वह खड़ा हुआ, उसका वह कर्ता, उसे शुद्धता का कुछ जरा भी भान नहीं। और शुद्धता का जहाँ भान हुआ, बिल्कुल—कुछ अशुद्ध का परिणमन उसकी दशा में गिनने में आया नहीं। है?

'यः करोति न हि वेत्ति' 'न वेत्ति' अर्थात् जाननेवाला न रहे। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। समझ में आया? आहाहा! यह राग का कर्ता हो और फिर जाननेवाला (भी) रहे, ऐसा नहीं होता। समझ में आया? अथवा राग आया, फिर उसे जानने का प्रयत्न करे कि अरेरे! यह राग है। कहते हैं कि यह करे, वह बिल्कुल (—जानता नहीं)। उस काल में जानना चाहिए (परन्तु) उस काल में जाननेवाला नहीं रह सकता। ...राग आया। अब, राग और मैं (एक) हो। वह दूसरे क्षण में कहे (कि) राग मैं नहीं। इसलिए जाननेवाला हो वह? नहीं।

प्रवीणभाई! यहाँ तो ऐसी बातें हैं, भाई! लड़का नहीं आया या सो गया? क्या हुआ? सो गया होगा। है धारनेवाला, हों! भड़ाका बोलता है। रास्ते में बोलता था।

ओहो! त्रिकाल ज्ञान और त्रिकाल दर्शन के आश्रय से धर्म होता है। यह नहीं, वह यह तुम्हारा भानेज। लिखता है न। ... अरे! यह तो पहले अन्दर आना चाहिए न! यह तो उसके घर की चीज़ है। भले अज्ञानपने, अव्यक्तपने, परन्तु यह क्या है, ऐसा अन्दर ख्याल तो आना चाहिए पहले! समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, '**यः करोति न हि वेत्ति**' कर्तारूप से परिणमता है, वह जाननेरूप से रह सकता ही नहीं। आहाहा! कहो, भीखाभाई! ऐसा महँगा है। महँगा कहो या सरल कहो, इसके घर की जो पद्धति है, वह यह पद्धति है। '**यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्... क्वचित्**' उसमें (पहले के पद में) गया। '**न हि वेत्ति स क्वचित्**' ऐसा। जरा भी नहीं जानता। जो अशुद्ध परिणमन का कर्ता है, वह जरा भी जानता नहीं। नहीं जानता स्व को, नहीं जानता पर को। '**यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्**' जो भगवान आत्मा जाननेवाला-देखनेवाला, जाननेवाले-देखनेवाले में ही रहा है, जाननेवाले-देखनेवाले के अस्तित्व में जिसकी दृष्टि पड़ी है, वह तो जाननेवाले में (रहकर), किंचित् भी राग और व्यवहार के विकल्प और व्यवहाररत्नत्रय के शुभ उपयोग को करता नहीं। गजब...!

व्यवहाररत्नत्रय तो निश्चय का कारण है। व्यवहार पहले आवे, फिर निश्चय हो। आता है न पंचास्तिकाय में (कि) साध्य-साधन ऐसा होता है। साधन हो राग, साध्य हो निश्चय। ऐई! यह तो भिन्न साधन है न! राग यहाँ हो, साध्य यहाँ होता है। राग भिन्न साधन और भिन्न साध्य। लिखा नहीं तुम्हारे भाई ने? अर्थ कर दिया नीचे फिर कि ऐसा है और वैसा है, फलाना है।

मुमुक्षु : अर्थ खोल दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थ खोल दिया। अर्थ खोल दिया, ऐसा कहते हैं। खो दिया नहीं, खोल दिया। आहाहा! **यस्तु**—जो कोई, **वेत्ति**—जाने, **न करोति स**—वह। वह जाने वह। **यः**—जाने वह, **न करोति क्वचित्...** जरा भी ज्ञानी करता नहीं राग को-विकल्प को। ओय...! युद्ध के भाव हों, वह भाव उसके नहीं। आहाहा! ऐई! वीतरागमार्ग का रास्ता अलौकिक है। लोग बाहर से मानकर बैठे हैं, वह मार्ग नहीं। आहाहा!

सौ इन्द्रों के पूज्य ऐसे परमात्मा की जो धर्मप्रणालिका, वह अलौकिक है।

आहाहा! अकेली वीतरागता खड़ी... अस्थिरता के राग के कण का भी अभाव होकर जाननेवाला रहता होने पर भी... अस्थिरता आती होने पर भी उसका भी जाननेवाला है। वह जाननेवाला रहते-रहते अस्थिरता टल गयी और मात्र ज्ञानदशा वीतराग हो गयी। ऐसा शास्त्र में कहा, जो कोई आत्मा का जाननेवाला हो, आत्मा का जाननेवाला हो, वह क्वचित्—किंचित् राग को करता नहीं। धरमचन्दभाई! अर्थ में देखो। **जो कर्म करे, वह कर्ता है...** अर्थात् अशुद्धतारूप से परिणमे, वह कर्ता। **जो जाने सो ज्ञाता है।** जो जाननेवाला है, (वह) ज्ञाता है। **जो कर्ता है, वह ज्ञाता नहीं होता।** अशुद्धपने के परिणमन में परिणमित, वह ज्ञाता नहीं रह सकता और **जो कर्ता है, वह ज्ञाता नहीं।** जाननेवाले में रहा, वह अशुद्धरूप से परिणमता नहीं। आहाहा!

भावार्थ : **मूढ़ और ज्ञानी दोनों देखने में एकसी क्रिया करते हैं।** ज्ञानी और **मूढ**—दोनों की क्रिया एक दिखती है। युद्ध में खड़े हों दोनों समान, लो। दोनों बाण मारते हों। है? **मूढ़ और ज्ञानी दोनों देखने में एकसी क्रिया करते हैं। परन्तु दोनों के भाव में बड़ा भेद रहता है।** भाव में अन्तर है। पकड़-पकड़ में अन्तर है। हमारे एक लड़की थी, (वह) कहती, बिल्ली होती है न बिल्ली। बिल्ली बच्चे को पकड़े और चूहे को पकड़े। बोली थी बेचारी छोटी। (संवत्) १९८० के वर्ष की बात है। आठ वर्ष की लड़की थी। पोपटभाई की लड़के की लड़की। मर गयी टी.बी. होकर.... पकड़-पकड़ में अन्तर है, ऐसा कुछ बोलती थी, भूल गये। २५-५० श्लोक....

बिल्ली चूहे को पकड़े और बिल्ली अपने बच्चे को पकड़े। दोनों मुँह में लटकते हों। एक में दबाव हो और एक में पोचा हो। बिल्ली सात-आठ दिन में फिराती है न बच्चे को। वह ऐसे लटकता हो, हों! मुख से पकड़े पोचा पोचा। पूरा मुँह यहाँ आ नहीं जाना चाहिए। मुँह खुल्ला रहे, ऐसे बीच में से पकड़े। वह चूहे जैसी ही पकड़ हो, परन्तु अन्दर पकड़ में अन्तर है। उसे अन्दर दाँत के उस पोले भाग में उसने रखा हो। और बिल्ली चूहे को पकड़े.... पकड़-पकड़ में अन्तर। इसी प्रकार ज्ञानी-अज्ञानी की क्रिया बाहर की एक दिखती है, परन्तु अन्दर पकड़ में अन्तर है। एक को राग में पकड़कर काम दिखता है। एक को ज्ञाता में रहकर काम दिखता है। आहाहा! समझ में आया?

अज्ञानी जीव ममत्वभाव के सद्भाव में बन्धन को प्राप्त होता है... लो! **और ज्ञानी ममत्व के अभाव में अबन्ध रहता है।** लो! क्या कहा? कि अज्ञानी, रागादि का सूक्ष्म विकल्प है, वह मेरा है—ऐसा मानकर उसका कर्ता होता है, इसलिए बन्धन उत्पन्न करता है। ज्ञानी को राग का ममत्व है नहीं। ममत्व वहाँ स्वभाव में है। जानने-देखने के स्वभाव में ममत्व—अहंपना है। उसे राग में अहंपना आता नहीं। इसलिए वह बन्धनपने को प्राप्त नहीं होता, परन्तु अबन्धपरिणाम को उत्पन्न करता है। समझ में आया?

५२, (श्लोक) ५२ है न?

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितञ्च।।५२।।

★ ★ ★

काव्य - ३४

जो ज्ञानी है वह कर्ता नहीं है (सोरठा)

ग्यान मिथ्यात न एक, नहि रागादिक ग्यान महि।
ग्यान करम अतिरेक, ग्याता सो करता नहीं।।३४।।

शब्दार्थः-महि=में। अतिरेक (अतिरिक्त)=भिन्न भिन्न।

अर्थः-ज्ञानभाव और मिथ्यात्वभाव एक नहीं हैं और न ज्ञान में रागादिभाव होते हैं। ज्ञान से कर्म भिन्न है, जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है।।३४।।

काव्य - ३४ पर प्रवचन

ग्यान मिथ्यात न एक, नहि रागादिक ग्यान महि।
ग्यान करम अतिरेक, ग्याता सो करता नहीं।।३४।।

ज्ञानभाव और मिथ्यात्वभाव एक नहीं है... स्वभावभाव और विभावभाव एक नहीं है। लो, अब स्त्री-पुत्र तो एक (रूप) नहीं, पैसा एक (रूप) नहीं, यह धन्धा-बन्धा एक (रूप) नहीं, परन्तु ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव में विभाव भी एक (रूप) नहीं। समझ में आया? **ज्ञानभाव और मिथ्यात्वभाव एक नहीं है और न ज्ञान में रागादिभाव होते हैं।** जहाँ आत्मा ज्ञानस्वरूप का भान हुआ, वहाँ ज्ञानभाव में रागभाव होता ही नहीं। स्वभावभाव में विभावभाव होता ही नहीं। आहाहा! '**ग्यान करम अतिरेक**' वह विकारी कर्म... विकार—विकल्प का भाव, वह कर्म और ज्ञानस्वरूप धर्म।—इन दो को अतिरेक अर्थात् भिन्नता है। दोनों को कहीं मेल नहीं। आहाहा! '**ग्याता सो करता नहीं**।' जो जाननेवाला—धर्मी हो, वह राग का कर्ता नहीं और राग का परिणमन उसे होता नहीं। ऐसा वस्तु का स्वतः होता स्वभाव है। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५१, फाल्गुन कृष्ण १०, सोमवार, दिनांक २२-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद ३५, ३६

यह समयसार नाटक। कर्ता–कर्म–क्रिया द्वार। ५३ कलश है।

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि,
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृ–कर्म–स्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति–
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम्।।५३।।

इसका पद ३५।

★ ★ ★

काव्य - ३५

जीव कर्म का कर्ता नहीं है (छप्पय)

करम पिंड अरु रागभाव, मिलि एक हौंहि नाहि।
दोऊ भिन्न–सरूप बसहिं, दोऊ न जीवमहि।।
करमपिंड पुग्गल, विभाव रागादि मूढ़ भ्रम।
अलख एक पुग्गल अनंत, किमि धरहि प्रकृति सम।।
निज निज विलासजुत जगतमहि,
जथा सहज परिनमहि तिम।
करतार जीव जड़ करमकौ,
मोह–विकल जन कहहि इम।।३५।।

शब्दार्थः–बसहिं=रहते हैं। महि=में। अलख=आत्मा। किमि=कैसे। प्रकृति= स्वभाव। सम=एकसा। जुत (युत)=सहित। विकल=दुःखी।

अर्थः–ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और राग–द्वेष आदि भावकर्म, ये दोनों भिन्न–

भिन्न स्वभाववाले हैं, मिलकर एक नहीं हो सकते, और न ये जीव के स्वभाव हैं। द्रव्यकर्म पुद्गलरूप हैं और भावकर्म जीव के विभाव हैं। आत्मा एक है और पुद्गलकर्म अनन्त हैं, दोनों की एकसी प्रकृति कैसे हो सकती है? क्योंकि संसार में सब द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में परिणमन करते हैं, इसलिए जो मनुष्य जीव को कर्म का कर्ता कहते हैं, सो केवल मोह की विकलता है।।३५।।

काव्य - ३५ पर प्रवचन

करम पिंड अरु रागभाव, मिलि एक हौंहि नाहि।
दोऊ भिन्न-सरूप बसहिं, दोऊ न जीवमहि॥
करमपिंड पुग्गल, विभाव रागादि मूढ़ भ्रम।
अलख एक पुग्गल अनंत, किमि धरहि प्रकृति सम॥
निज निज विलासजुत जगतमहि,
जथा सहज परिनमहि तिम।
करतार जीव जड़ करमकौ,
मोह-विकल जन कहहि इम॥३५॥

क्या कहते हैं? यह आत्मा वस्तु है आत्मा, वह जड़कर्म की पर्याय को करता नहीं। आठ कर्म है न ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय (आदि)। वह (अज्ञानी) ज्ञान की असातना आदि के भाव को भले करे, परन्तु वह भाव तो जीव में रहा है और ज्ञानावरणीय कर्म की पर्याय तो जड़ की है। तो '**करमपिंड अरु रागभाव, मिलि एक हौंहि नाहि।**' क्या कहते हैं? जड़कर्म की अवस्था परमाणु के पिण्ड की और यहाँ मिथ्यात्व के और राग-द्वेष के भाव... '**मिलि एक हौंहि नाहि।**' दोनों एक होते नहीं। बराबर है? यहाँ तो मात्र जड़कर्म की पर्याय का परिणमन... जीव अपनी भूल को करे और भूल में राग-द्वेष, मिथ्यात्वभाव को करे, परन्तु वह मिथ्यात्व और राग-द्वेषभाव—विभावभावों का अस्तित्व जीव की दशा में है और कर्म का अस्तित्व जड़ की दशा में है। बराबर है?

'**करमपिंड अरु रागभाव, मिलि एक हौंहि नाहि।**' राग शब्द से मिथ्यात्व, राग-

द्वेष आदि सब और कर्म-जड़ परमाणु ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि (कर्म)। ज्ञानावरणीय कर्म छह प्रकार से बँधता है... आता है न! पण्डितजी! '**तत्प्रदोष**' तत्त्वार्थसूत्र में (अध्याय ६, सूत्र-१०) सत्य को ढँके, सत्य के प्रति द्वेष करे इत्यादि-इत्यादि छह बोल हैं। ज्ञान की असातना करनेवाले का ऐसा भाव, उसे यहाँ राग कहा है। '**करमपिंड अरु रागभाव, मिलि एक हौंहि नहि।**' समझ में आया? परमाणु जड़कर्म, वह तो जड़ की अवस्था को करनेवाले हैं और यह आत्मा रागभाव का करनेवाला है। आत्मा को पर से भिन्न करना है। समझ में आया?

जिस समय में जैसे परिणाम करे अज्ञान के, राग-द्वेष के, उसी प्रमाण सामने कर्म बँधे, तथापि उस कर्मबन्धन की पर्याय का कर्ता विकारभाव नहीं। समझ में आया? जीव अपने स्वरूप को भूलकर, ज्ञाता-दृष्टा, आनन्द हूँ—ऐसे स्वसन्मुखता के भाव बिना, कहते हैं कि भले विभावरूपी राग-द्वेष, मिथ्यात्व आदि करे, परन्तु उस मिथ्यात्वभाव का भिन्नपना है और कर्म का बँधना, वह भिन्नपना है, दोनों चीजें ही भिन्न है। कहो, तत्त्वार्थसूत्र में तो ऐसा आता है कि छह कारण से जीव ज्ञानावरणीय को बाँधे। ऐसा आता है या नहीं? छह कारण से दर्शनावरणीय बाँधे, अमुक मोहनीय बाँधे, ... आयुष्य बँधे। कहते हैं कि वे सब निमित्त के कथन हैं, क्योंकि जीव की भूलवाली दशा की अस्ति कहीं परमाणु की—कर्म की पर्याय में जाती नहीं।

'**करमपिंड अरु रागभाव, मिलि एक हौंहि नाहि।**' जड़कर्म की अवस्था... अप्पा कत्ता विकत्ता... आत्मा कर्म का कर्ता, आत्मा कर्म का भोक्ता—ऐसा होता नहीं, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। ऐई पोपटभाई! क्या सुना था अभी तक? कर्म (का) कर्ता.... आत्मा कर्म करे और आत्मा कर्म भोगे, इतना सुना था न!

मुमुक्षु : जैनधर्म का यह मूल....

पूज्य गुरुदेवश्री : जैनधर्म का तो यह मूल है। ऐ मोहनभाई! यह बात खोटी है, कहते हैं। आत्मा जैसे भाव करे अज्ञान के, विकार के, उस प्रकार से कर्म (को) जीव बाँधे—ऐसा नहीं है। क्योंकि कर्म रजकण हैं, कर्म परमाणुपिण्ड है। है न? वह तो रजकण का पिण्ड है। उस रजकण के पिण्ड की अवस्था और राग-द्वेष, अज्ञान की

अवस्था '**मिलि एक हौंहि नाहि।**' दोनों मिलकर एक नहीं होते। एक (हुए) बिना, वह कर्ता कैसे होंगे? ऐसा कहते हैं। जीव विकारभाव को करे और वह विकारभाव कर्म को बाँधे, ऐसा कैसे होगा? यह गोम्मटसार में तो यह लेख आवे, लो। समझ में आया?

'**दोऊ भिन्न-सरूप बसहिं**' भगवान आत्मा में, विकाररूपी भाव आत्मा की अवस्था में बसे और कर्म की अवस्था जड़ में बसे। '**दोऊ भिन्न-सरूप बसहिं**' बराबर है? ऐसा, जड़कर्म और राग भिन्न—ऐसा था वहाँ? लो, तुमको (वहाँ) कहा (कि) कर्म के कारण भटकता है, (ऐसा) निर्णय करो। है या नहीं?

मुमुक्षु : वह तो भगवान ने कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान ने हमको भी कहा है। पत्र आया है। व्यक्तिगत आया है। जयन्तीभाई के गोदाम में उतरे थे न (संवत्) २००६ के वर्ष, २१ वर्ष हुए। भगवान तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव (कहते हैं कि) कर्म के कारण भटकता है। ऐसा परोपकारी पुरुष कहते हैं। तुम कहते हो कि (ऐसा) नहीं है।

मुमुक्षु : अनन्त उपकारी....

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त उपकारी। थे कब तुम? पालीताणा। यहाँ तो कहते हैं कि जैसे कर्म की अवस्था जड़ में है, वैसे विकार की अवस्था जीव में है। इसलिए जैसे कर्म की अवस्था कर्म में (होने से) कर्म की अवस्था विकार की अवस्था नहीं करती, बराबर है? इसी प्रकार विकार अवस्था कर्म को नहीं करती। दोनों भिन्न-भिन्न चीज़ है। अलग बात है। है ही नहीं उसमें। श्वेताम्बर में (या) कहीं यह स्पष्ट बात है ही नहीं। सब गड़बड़-गड़बड़। बेचारे निकाल नहीं सकते उसमें से। यहाँ तो स्पष्ट बात है।

देखो, '**दोऊ भिन्न सरूप बसहिं।**' विकारभाव भिन्न अरूपी विकाररूप से वर्तता है और कर्म रूपीपने वर्तता है। दोनों तो भिन्न-भिन्न है। '**दोऊ न जीवमहि**' जीव में दोनों नहीं होते। जीव में है राग-द्वेष के विकारी परिणाम, परन्तु वे कर्म के परिणाम भी जीव में हैं, ऐसा है नहीं। समझ में आया? '**करमपिंड पुग्गल।**' परमाणु की जड़ की अवस्था, वह तो पुद्गल की अवस्था है। '**विभाव रागादि मूढ़ भ्रम।**' और पुण्य-पाप और रागादिभाव तो मूढ़ का भ्रमभाव—विभाव है। समझ में आया?

'**करमपिंड पुग्गल, विभाव रागादि मूढ़ भ्रम, अलख एक पुग्गल अनंत, किमि धरहि प्रकृति सम...**' भगवान आत्मा तो एकस्वरूप अरूपी और कर्म परमाणु—अनन्त परमाणुओं की अवस्था। वह कर्म की अनन्त अवस्था और (अपनी) दोनों जीव कैसे करे? अपने भाव को करे और (दूसरे के परिणाम करे) ऐसी प्रकृति कैसे हो? '**किमि धरहि प्रकृति सम...**' दोनों के समान भाव कैसे हों? दोनों के भिन्न-भिन्न भाव हैं। समझ में आया? ऐसा यदि यह निर्णय करे, तब तो जैसे भाव करे, वैसे कर्म बँधे, तथापि कर्मबन्धन का कर्ता इसका भाव नहीं। क्या कहा, भीखाभाई! ऐसा यदि इसे ख्याल में आवे तो इसकी दृष्टि जड़ के ऊपर अनादि से पड़ी थी, वह उठ जाती है और स्वभाव सन्मुख दृष्टि जाने से 'मैं आत्मा ज्ञान, दर्शन और आनन्द का कर्ता हूँ। पर का कर्ता नहीं, साथ में विभाव का कर्ता भी नहीं।' चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा... आहाहा! गजब काम, भाई! यह बात अभी जैन में बैठना कठिन पड़े। यह तो स्थूल—मोटी बात है।

प्रश्न निकाला था, (संवत्) २००६ के वर्ष में राजकोट (में)। कि देखो, आत्मा राग करे तो कर्म बँधते हैं, राग न करे तो कर्म नहीं बँधते—इतना कर्मबन्धन में पराधीनपना है या नहीं? बिल्कुल खोटी बात है। मूढ़ जीव स्वयं अपने विभावभाव से राग धारण करे। यह कहते हैं न, '**रागादि मूढ़ भ्रम।**' आहाहा! भाषा देखो! विभावभाव कर्म की पर्याय का कर्ता नहीं, इतना सिद्ध करना है। समझ में आया?

'**अलख एक**' और '**पुग्गल अनंत**' अर्थात् द्रव्य ऐसा है, ऐसा कहते हैं। एक अर्थात् आत्मा एक द्रव्य है और वे तो अनन्त द्रव्य हैं, ऐसा सिद्ध करना है, हों!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं। ऐसा भी नहीं और एक अर्थात् अकेला ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसा भी नहीं। यहाँ तो आत्मा एक द्रव्य है, ऐसा कहना है और परमाणु अनन्त द्रव्य हैं, ऐसा कहना है। समझ में आया? नहीं तो उसमें से ऐसा निकले कि अलख एक है, वह ज्ञाता-दृष्टारूप से है, राग भी (उसमें) नहीं।—ऐसा अभी नहीं कहना। समझ में आया? यह तो आत्मा एक द्रव्य है। ऐसे भिन्न वस्तु है। वह मूढ़ अपने स्वभाव को भूलकर भ्रम को करे, भ्रमणा रागादि के भाव को करे। (आत्मा) एक द्रव्य और वे

रजकण तो अनन्त द्रव्य हैं। तो एक द्रव्य—एक वस्तु अनन्त द्रव्य की अवस्था को कैसे करे? ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

केवली भी पहले समय में भाषा ग्रहण करे और दूसरे समय में छोड़े, यह बात चली थी (संवत्) २००६ के वर्ष में पालीताणा में। अरे भगवान! यहाँ तो कहते हैं कि भाषा की पर्याय का आत्मा बिल्कुल कर्ता नहीं। क्योंकि भाषा की अवस्था वह जड़ की दशा है। हाँ, अज्ञानी उसके रागभाव को करे। ज्ञानी तो राग को न करके, राग को जाने और भाषा हो, उसे जाने। आहाहा! समझ में आया? बड़े-बड़े पदधारक गोते खाते हैं, गज गोते खाये। यद्यपि गज तो न कहलाये, परन्तु उसे ऐसी उपमा दी है। कहते हैं न गज गोते खाये, वहाँ गाडर की क्या हैसियत। गज ही नहीं वह। आहाहा!

वस्तु भगवान आत्मा! यहाँ तो (संसारी जीव) मात्र विकारीभाव करता है। वह न हो तो संसार नहीं होता। और वह संसार कहीं कर्म के कारण से है, ऐसा नहीं है। तथा कर्म की अवस्था जीव के संसारभाव के कारण से है, ऐसा भी नहीं है। बराबर है पण्डितजी? आहाहा! दो (द्रव्य) समान प्रकृति कैसे धारण करे? ऐसा कहते हैं। एक ओर अनन्त परमाणु और एक ओर एक जीवद्रव्य। दो द्रव्य समान भाव को कैसे धारण करे? कि अपने भाव को करे जीव और कर्म जड़ अनन्त हैं, उनके भी भाव को करे, ऐसा कभी नहीं होता।

'**निज निज विलासजुत जगतमहि**' अपने-अपने विलासजुत जगतमहि। परमाणु, परमाणु की अवस्था के विलास को करे; आत्मा, आत्मा की मूढ़ अवस्था को करे। इतनी यहाँ बात लेनी है। समझ में आया? अब यहाँ तक बोले (कि) पर का कर्ता न माने वह दिगम्बर जैन नहीं। अरेरे! भाई क्या हुआ यह? भगवान! अनन्त द्रव्य हैं, ऐसा यदि माने, तो अनन्त द्रव्य भिन्न-भिन्न अपनी अवस्था—कार्य को किये बिना रहते नहीं। दूसरा उसे क्या करे? कैसे है, कौन जाने क्या हो गया...? कहते हैं, '**निज निज विलासजुत जगतमहि, जथा सहज परिनमहि तिम।**' आत्मा आत्मा के भाव से परिणमे... यहाँ तो भाव अर्थात् विकार लेना है, हों! और परमाणु, परमाणु के भाव से परिणमे। वह आत्मा का भाव जगत के परमाणु को परिणमावे नहीं क्योंकि वह तो उसके अपने विलास सहित का परिणमन उसका है।

'जथा सहज परिनमहि तिम, करतार जीव जड़ करमकौ, मोह-विकल जन कहहि इम' लो। जीव जड़कर्म को करे, वह मिथ्यादृष्टि जन का मोह-भ्रम है। समझ में आया? **मोह की विकलता है...** पागलपन है, पागलपन। अब उसमें कर्म जितने प्रमाण में... यहाँ बाट रखे उतने प्रमाण में कांटा (तराजू) समान हो। तो कहते हैं कि कांटा बाट के कारण से नहीं, कांटा कांटा के कारण से ऐसे आवे। यहाँ जैसे परिणाम करे, उतने ही प्रमाण में ही वहाँ कर्म बँधे। पुण्य के भाव हो, उस प्रमाण ही सातावेदनीय बँधे, पाप के भाव हों तो असाता आदि, मोहादि बँधे, तथापि वह विलास जड़ का है, आत्मा का वह है नहीं। आहाहा!

तो फिर यह शरीर और वाणी और यह देश का करना और परिवार का करना... भाई! दुकान में बैठे और सब ध्यान रखकर करे, ऐसा होता है या नहीं? तुम यहाँ बैठे, वहाँ हीराभाई आयेंगे तो वहाँ भानेज को सौपेंगे। जिसे-तिसे सौंपेंगे? भानेज को सौंपे, भाई! अपने घर का व्यक्ति कहलाता है। यह कुछ दूसरा नहीं करेगा। देखो, यह कुछ कर सकता है, तब ऐसा मनाते होंगे या नहीं? वरना कहे यह?

मुमुक्षु : स्पष्ट बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पष्ट बात है। भ्रम घुस गया है। हीराभाई न हो तो भानेज हो। भानेज न हो तो हीराभाई हो। दो तो रखना चाहिए वहाँ। यह तो मुफ्त का और जाये किसी दिन दो घण्टे। समझ में आया? क्या होगा यह? पोपटभाई! देखो, यह तो करे... परन्तु एक बात तो देखो!

वस्तु एक और कर्म के रजकण अनन्त... अनन्त... स्कन्ध के पिण्ड पूरे। आहाहा! कोई ऐसा कहे कि ईश्वर जगत का कर्ता और तू ऐसा कहे कि जड़कर्म की अवस्था का मैं कर्ता, तो दोनों में अन्तर क्या पड़ा? कहो, समझ में आया? ईश्वर जगत का कर्ता (नहीं) क्योंकि वस्तु सत् है। सत् है, उसे करे कौन? नहीं, वह हो कैसे? समझ में आया? यहाँ तो मात्र एक वस्तु जीव और अनन्त वस्तु परमाणु... तो एक-एक परमाणु जब उस-उस काल में अपनी पर्याय को करे, (परन्तु) कोई दूसरा परमाणु नहीं, तो उस पर्याय को जीव का भाव करे, भाई! तुझे कैसे बैठता है? क्योंकि अनन्त द्रव्य हैं न...

ऐसा कहा न! अनन्त द्रव्य हैं। अनन्त द्रव्य हैं तो एक-एक द्रव्य अपनी अवस्था को करे। कहो, समझ में आया? आहाहा!

एक विचार ऐसा आया कि यह अनन्त-अनन्त द्रव्य हैं अनन्तगुणे, यह उसकी (अपनी) पर्याय को करे, ऐसा जहाँ उसे बैठे, तब तो उसे अनन्त का जाननेवाला मैं एक समय में अनन्त हूँ। उसका करनेवाला नहीं परन्तु जाननेवाला सही। यह अनन्त रजकणों की दशा... उसमें आया था न। अन्दर प्रश्न आया लड़कों का। अपने आया था न कि अनन्त को जाने, वहाँ ज्ञान में अनन्त का छोर आया या नहीं? अनन्त है न क्षेत्र। कहीं छोर है? ज्ञान ने जाना या नहीं उसे? छोर जाना या नहीं ठेठ तक का ज्ञान ने? ठेठ तक जाना या नहीं ज्ञान ने पूरा? या कुछ अधूरा रहा है ज्ञान में जानने का?

भाई! ज्ञान है, वह अन्तरहित चीज़ है। अन्त बिना का ऐसा का ऐसा क्षेत्र... क्षेत्र... है... है... है... है... है... है... है... है... ऐसा है। है, उसे ज्ञान है... है... है... है (ऐसा) अन्त बिना का ऐसा ही जानता है। जाना, इसलिए वहाँ अन्त आ गया, (ऐसा नहीं है)। उसमें तो (ज्ञान का) रहस्य है। ओहो! यह ज्ञान... जैसा अनन्त है, ऐसे अनन्त को जाने। जैसे अनन्त द्रव्य हैं, ऐसे अनन्त को जाने। अनन्त काल है... आदि-अन्त बिना का मैं ऐसा अनादि-अनन्त को जो ज्ञान जाने और जो ज्ञान एक द्रव्य के आकाश के प्रदेश से अनन्तगुणे गुण हैं, उन्हें जाने; इसलिए वहाँ अन्त आता नहीं, परन्तु यहाँ रागरहित दशा होकर राग का अन्त आ जाता है। क्या कुछ समझ में आता है इसमें?

यह आत्मा ऐसे अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को अनन्त को अनन्तरूप से जानता है। वह अनन्त को अनन्तरूप से जाने। ऐसा जो अनन्त ज्ञान, जैसा है वैसा उसे जाने और वह भी पर है, इसलिए नहीं। पर ऐसा अनन्त है द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, इसलिए नहीं। वह तो अपने ज्ञान में ऐसी ही शक्ति है। अनन्त को अनन्त रूप से जानने की ऐसी शक्तिवाला तत्त्व है, ऐसा जिसे अन्दर में बैठे, उसकी राग में एकता रहती नहीं और स्वभाव की अनन्तता प्रगटे हुए बिना रहती नहीं। समझ में आया? भगवान आत्मा! यह अनन्त की बात सुनी या नहीं? जवाहरभाई! प्रश्न था न भाई का। यह ज्ञान में ज्ञात हो... आया था आज दोपहर में। लड़के ने पूछा, ज्ञान जानने का छोर आ गया या नहीं? कहे, हाँ। क्या करे? बड़े-बड़े गोते खा जाते हैं, वहाँ यह बेचारा तो बालक है।

वह तो ज्ञान ने जैसा पूरा है, वैसा पूरा जाना। आहाहा! ऐसा पूरा जानने का मेरा स्वभाव, बेहद को भी पूरा जानने का ज्ञान मुझमें मेरे कारण से (ऐसा) स्वभाव है। ऐसे अनन्त द्रव्य, अनन्त क्षेत्र, आदि-अन्त बिना का तत्त्व और अनन्त गुण—ऐसे को जानने का मेरा स्वभाव है अर्थात् कि मैं तो सर्वज्ञस्वभावी—सर्व को जानने के स्वभाववाला हूँ, ऐसा जहाँ स्वभाव को माने, उसकी राग की अल्पता भिन्न पड़े बिना रहे नहीं। प्रकाशदासजी! आहा! गजब! '**करतार जीव जड़ करमकौ।**' अरे प्रभु! क्या हुआ है? ऐसा कहते हैं। '**मोह-विकल जन कहहि हम।**' वह मिथ्यादृष्टि पागल... वैसे तो ऐसा कहे कि धारणावाला शास्त्रज्ञान (वह ज्ञान) नहीं। समझ में आया? यह तो भाव में उसे भाता हूँ, ऐसा कहते हैं। यहाँ तो बात ऐसी है तो कहे ही न! जड़कर्म की पर्याय जड़ करे, आत्मा उसकी (पर्याय) करे नहीं। अरे! परन्तु कब तुझे यह भासित हो? समझ में आया?

मेरा स्वभाव ही अनन्त को अनन्तरूप से जानने का स्वभाव है। (आकाश का) क्षेत्र अनन्त—बेहद और मेरा क्षेत्र इतना, तो भी उसका भाव बेहद। ऐसे अपरिमित ज्ञान के स्वभाववाला मैं हूँ, ऐसा जिसे अन्तर में भास हो, तब वह राग और पर का कर्ता मिटकर अकर्ता होता है। तब मैं पर का कर्ता नहीं, ऐसा कहने का उसे यथार्थ अधिकार है। ऐई! उसे बेचारी को—बाई को सुनना हो, वह चिल्लाहट मचाती हो, करना क्या उसमें? समझ में आया? यहाँ तो कहते हैं कि सहजरूप से जहाँ द्रव्य अपनी अवस्थाकाल में वह परिणमन करे, उसमें फिर जीव पर की अवस्था को करे, यह कहाँ रहा? वह तो मोही—मिथ्यादृष्टि का पागलभाव है। आहाहा!

ओ पण्डितजी! वहाँ इन्दौर में ऐसा बोला था।.... परद्रव्य का कर्ता न माने, वह दिगम्बर जैन नहीं।

मुमुक्षु : कहने में क्या दिक्कत है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहने में...

मुमुक्षु : कोई उसे पूछनेवाला ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूछनेवाला... उसे स्वयं को भाव का भान नहीं होता। सम्प्रदाय

के लोग बेचारे पड़े हैं। प्रवृत्ति करे २०-२२ घण्टे अन्यत्र और घण्टे-दो घण्टे जाये यह मन्दिर और हो-हा करे, हो गया धर्म। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ऐसी ही हालत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी हालत है। भाई ! यह तो संसार के अन्त करने की बात है। आहाहा ! अनादि की घोर अज्ञान निद्रा में सो रहा है। कहते हैं, जीव अपने भाव को करे, वह तो जीव का अपना अज्ञानभाव का विलास है। परन्तु साथ में जड़ की अवस्था का विलास (कि जो) जड़ करता है, उसे आत्मा करे, ऐसा कैसे हो ? समझ में आया ? यह ५३ हुआ, ५४। **शुद्ध आत्मानुभव का माहात्म्य।**

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव,
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ।।५४।।

देखो, आया अब योगफल। ऐसा जाने नहीं... ऐसा कहते हैं। '**जीव मिथ्यात्व न करै, भाव नहि धरै भरम मल**' अब तो मिथ्यात्वभाव को न करे, ऐसा इस गाथा में है। जो कर्म को न करे, ऐसा निश्चित हो, वह मिथ्यात्वभाव को भी नहीं करता।

★ ★ ★

काव्य - ३६

शुद्ध आत्मानुभव का माहात्म्य (छप्पय)

जीव मिथ्यात न करै, भाव नहि धरै भरम मल।
ग्यान ग्यानरस रमै, होइ करमादिक पुदगल।।
असंख्यात परदेस सकति, जगमगै प्रगट अति।
चिदविलास गंभीर धीर, थिर रहै विमलमति।।

जब लगि प्रबोध घटमहि उदित,
तब लगि अनय न पेखिये।
जिमि धरम–राज वरतंत पुर,
जहं तहं नीति परेखिये।।३६।।

शब्दार्थ:–भरम (भ्रम)=अज्ञान। प्रबोध=सम्यग्ज्ञान। उदित=प्रकाशित। अनय= अन्याय। धरम–राज=धर्मयुक्त राज्य। बरतंत=प्रवर्तित। पुर=नगर। परेखिये=दिखाई देती है।

अर्थ:–जीव मिथ्याभाव को नहीं करता और न रागादि भावमल का धारक है। कर्म पुद्गल हैं और ज्ञान तो ज्ञानरस ही में लीन रहता है, उसकी जीव के असंख्यात प्रदेशों में स्थिर, गम्भीर, धीर, निर्मल ज्योति अत्यन्त जगमगाती है, सो जब तक हृदय में प्रकाशित रहता है, तब तक मिथ्यात्व नहीं रहता। जैसे कि नगर में धर्मराज वर्तने से जहाँ–तहाँ नीति ही नीति दिखाई देती है, अनीति का लेश भी नहीं रहता।।३६।।

काव्य - ३६ पर प्रवचन

जीव मिथ्यात न करै, भाव नहि धरै भरम मल।
ग्यान ग्यानरस रमै, होइ करमादिक पुदगल॥
असंख्यात परदेस सकति, जगमगै प्रगट अति।
चिदविलास गंभीर धीर, थिर रहै विमलमति॥
जब लगि प्रबोध घटमहि उदित,
तब लगि अनय न पेखिये।
जिमि धरम-राज वरतंत पुर,
जहं तहं नीति परेखिये॥३६॥

भ्रममल न करे। '**जीव मिथ्यात न करै**' भगवान ज्ञानस्वभावी प्रभु, वह भ्रमणा कैसे करे ? भगवान ज्ञानस्वभावी, भ्रमणा को कैसे करे ? कर्ता पर का तो उड़ाया परन्तु, कहते हैं कि भ्रमणा यह वह जीवस्वभाव में भ्रमणा का करना बलजोरी से अज्ञानी मानता है। ऐसा है नहीं। आहाहा! जोर से मानता है। नहीं है और मानता है, ऐसा कहते

हैं। समझ में आया? '**जीव मिथ्यात न करै, भाव नहि धरै भरम मल**।' वह रागादि भावमल को धारनेवाला आत्मा नहीं। आहाहा! कहो, अभी पर का कर्ता माने, उसकी बात तो कहीं रही, परन्तु राग का कर्ता आत्मा (माने), उसे आत्मा नहीं कहते। आहाहा! भगवान! तेरी बात सुनना कठिन! बात पूरी मूल भगवान को भूलकर बातें। समझ में आया? भगवान ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु, उसमें तो ज्ञान का रस है, कहते हैं। आया न, देखो! '**ग्यान ग्यानरस रमै**।' आहाहा! समझ में आया?

बहिर्मुखी अज्ञानी जीव का भाव, वह बहिर्भाव से करे, तथापि कर्म को तो करता नहीं, ऐसा कहते हैं। अब इससे आगे ले गये। अब तो बहिर्बुद्धि भाव, उस ज्ञानरस में है नहीं। यह दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के भाव विकल्प मैल, उन्हें आत्मा नहीं करता। प्रभु! आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूपी है। बेहद—अनन्त जिसके जानने के स्वभाव का माप, अनन्त जिसके श्रद्धा स्वभाव का माप, अनन्त जिसके आनन्द का माप, ऐसी एक-एक शक्ति का अनन्त माप (वाला) ऐसे अनन्त शक्ति(वान) ऐसा जो भगवान आत्मा, वह स्वयं राग को कैसे करे? समझ में आया? ऐसा स्वभाव का धारक भगवान, वह विभाव को कैसे करे? आहा! मानता है, वह तो पहले कहा कि मानता है। देखो न, '**मोह-विकल जन कहहि इम**।' मानता है कि मैं पर का करता हूँ। इसी प्रकार यह ज्ञाता-दृष्टा चैतन्यपिण्ड प्रभु....

जैसे एक द्रव्य जीव और वे अनन्त (जड़कर्म परमाणु)। अब यहाँ ऐसे अनन्त... अनन्त... शुद्ध (गुणरूप) स्वभाव और एक क्षण की विकार अवस्था। ऐसी गुलांट खाये तो ऐसा है। समझ में आया? जैसे एक वस्तु भगवान आत्मा और कर्म के रजकण तो अनन्त हैं। वह एक अनन्त को कैसे करे? अब बात गुलांट खाती है। आत्मा ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, वह राग की कणी का मल-मैल क्षण की, उसे कैसे करे वह? आहाहा! देखो! सन्तों का प्रसिद्ध ढिंढ़ोरा। प्रकाशदासजी! यह ढिंढ़ोरा। नगाड़े की दांडी पीटकर बात है। यहाँ कहीं गुप्त रखी नहीं है। आहाहा!

भाई! '**जीव मिथ्यात न करै**' भगवान बेहद स्वरूप जिसका, ऐसा जो ज्ञान (स्वभावी) भगवान आत्मा, वह भ्रमणा को कैसे करे? क्योंकि बेहद अपरिमित स्वभाव का सागर, वह परिमित एक समय की भूल जो भ्रमणा, उसे भगवान कैसे करे?

अमरचन्दभाई! यह तो दवा का कुछ करे नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अरे गजब! दवा करे नहीं, इंजेक्शन दे सकता नहीं, बोल सकता नहीं, चल सकता नहीं, सामायिक बाँध सकता नहीं। यहाँ तो अब कहते हैं कि आगे जा जरा सा। तेरा ज्ञानरस—शक्ति तो अनन्त को जाने, आहाहा! बेहद पदार्थ द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव, (ऐसी) बेहद (सामर्थ्य) वाली चीज़ को भी जहाँ अपने ज्ञान में बेहदरूप से जाने, ऐसा जो ज्ञानस्वभाव वह मिथ्यात्व नहीं करता। देखो, यह बात! ऐसा जो ज्ञानस्वभावभाव, वह भ्रमणा की दशा को कैसे करे? आहाहा! किस प्रकार करे? बेहद ज्ञान करनेवाला तत्त्व, वह क्षणिक विभाव के दया-दान-व्रत के परिणाम को करे कैसे? कहते हैं। आहाहा!

यह अज्ञानभाव है। अचेतन का एक क्षणिक थोड़ा अचेतन का भाव। वह तो अनन्त-अनन्त चेतन के अनन्त भाव। आहाहा! ऐसे चेतन का अनन्त स्वभावभाव, ऐसा भगवान आत्मा, वह मिथ्याभ्रम को—कृत्रिम राग को—नहीं रहे हुए को—नया करे (और) रहे हुए भाव को छोड़कर उसे करे, (ऐसा होता नहीं)। समझ में आया? लोगों को कठिन लगे। ऐसा कोई धर्म होता होगा? नये प्रकार का धर्म निकाला, ऐसा माने। भगवान! नयी जाति तो तूने जानी नहीं थी न आत्मा की, वह नयी जाति है। है वह तो है। '**जीव मिथ्यात न करै**' एक बात। क्योंकि '**भाव नहि धरै**' वह मलिन परिणाम को धारता ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? '**भाव नहि धरै भरम मल।**' भावमल का धारक न हो। न ही धारक है।

यह तो सादी भाषा में बनारसीदास ने, कुन्दकुन्दाचार्य के श्लोक में से टीका की है अमृतचन्द्राचार्य ने, उसमें से ये कलश बनाये हैं। उसमें से राजमलजी की टीका हुई। कलशटीका आती है न। कलश टीका आयी है न अभी। नहीं, यहाँ नहीं वह कलशटीका का ग्रन्थ। राजमलजी की कलशटीका नहीं है? खबर नहीं? परन्तु तुम्हारे पास है? एक भी राजमलजी की टीका नहीं हिन्दी, गुजराती? हिन्दी है न।

मुमुक्षु : हिन्दी है, परन्तु देखी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ....यह नहीं, ऐसी बुक है या नहीं? यह बुक है भिन्न कलश की। कलशटीका। वह कहते हैं। कलशटीका है न, उसमें से (नाटक समयसार) बनाया है। इस कलशटीका में से बनाया है।

आता है न पीछे, नहीं ? घर-घर (नाटक) कथा बखानी... देखो, उसमें ४१७ पृष्ठ। चार, एक, सात। '**पांडे राजमल्ल जिनधर्मी**' कहाँ है भीखाभाई ? '**पांडे राजमल्ल जिनधर्मी**' है ? '**समैसार नाटकके मर्मी**' अब इसका सुधार करना चाहते हैं रतनचन्दजी। इसमें भूल है, (ऐसा वे) कहते हैं। स्वयं की भूल है, उसे देखते नहीं और इसकी भूल निकालते हैं। '**तिन गिरंथकी टीका कीनी, बालबोध सुगम कर दीनी।**' साधारण प्राणी को समझाने के लिये कहते हैं।

इह विधि बोध-वचनिका फैली, समै सार अध्यातम सैली।
प्रगटी जगमांही जिनवानी, घर घर नाटक कथा बखानी॥

अब अपने यह (समयसार) नाटक २५०० छपाये, वे समाप्त हो गये। दूसरे छपाने पड़ेंगे, ऐसी बात हुई। माँग आयी है। कौन छपाता है यह ? ऐ पण्डितजी ! हमारे हिम्मतभाई का है न। यह २५०० तो समाप्त हो गये। '**प्रगटी जगमांही जिनवानी, घर घर नाटक कथा बखानी।**' घर-घर नाटक कथा... समयसार घर-घर में चलता है। उसमें से—कलश में यह बनाया है।

'**जीव मिथ्यात न करै, भाव नहि धरै भरम मल।**' आहाहा ! इस हल्की चीज़ को सिर पर बोझा क्या ? भारी चीज़ पर हल्की रह सकती है परन्तु हल्की चीज़ पर बोझा क्या यह ? '**भाव नहि धरै भरम मल।**' आहाहा ! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्दघन ऐसी निर्मल चीज़, वह मलिनभाव को कैसे करे और कैसे धारे ? समझ में आया ? यह श्रीखण्ड को खानेवाला विष्टा को कैसे खाये ? हंस मोती का चारा चरनेवाला, वह ज्वार और बाजरा नहीं खाता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

'**जीव मिथ्यात न करै भाव नहि धरै भरम मल।**' यह मिथ्यात्व की बात है यहाँ तो। '**ग्यान ग्यानरस रमै।**' आहाहा ! ज्ञानशक्ति तो ज्ञान में रमे। भगवान अनन्त दर्शन-ज्ञान स्वभाव, अनन्त आनन्द आदि जिसकी प्रकृति अर्थात् स्वभाव अनन्त है। ऐसा भगवान आत्मा, वह तो अपने स्वभाव को रमे। राग को करे और धारे नहीं और स्वभाव में रमे, यह उसका स्वरूप है। समझ में आया ? '**ग्यान ग्यानरस रमै।**' भाषा देखो। इसमें ऐसा नहीं कहा कि राग में रमे। राग को तो करे नहीं और धरे नहीं। यह व्यवहार राग

को करे नहीं और व्यवहार राग को धारे नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा ज्ञानप्रकाश की मूर्ति ज्ञानरस में रमे।

'**होइ करमादिक पुदगल।**' तो पुद्गल वह कर्मरूप परिणम जाये और कर्मादि हैं, वे पुद्गल हो जायें, ऐसा कहते हैं। यह यहाँ रमे, कर्म कर्मरूप पुद्गल हो जाये। समझ में आया? जड़कर्म पुद्गल है, (वह) जड़ की अवस्थारूप हो। यह भगवान तो ज्ञानस्वरूप है चैतन्यप्रकाश, उसमें रमे तो आत्मारामरूप हो जाये, वह आत्मा ही होता है। कर्म पुद्गलरूप से हो जाये। दोनों वेश मिट गये। यहाँ अज्ञान का वेश गया, वहाँ कर्म की पर्याय में पुद्गल का कर्मपर्याय का वेश था, वह भी गया।'**ग्यान ग्यानरस रमै, होइ करमादिक पुदगल। असंख्यात परदेस सकति।**' आहाहा! देखो, भगवान आत्मा असंख्य प्रदेशी है। उसका क्षेत्र असंख्य प्रदेश (प्रमाण) है। शरीरप्रमाण (परन्तु) भिन्न, अरूपी असंख्य प्रदेश का वह पिण्ड है। '**ग्यानरस रमै**' कहा न!

'**असंख्यात परदेस सकति जगमगै प्रगट अति।**' उसमें वह रमे। असंख्य (प्रदेशी) अपने निजक्षेत्र में वह रमे। राग के और कर्म के क्षेत्र में वह ज्ञानरस रमे नहीं। समझ में आया? यह धर्मदशा, लो। गजब धर्म, भाई! '**असंख्यात परदेस सकति**' भाषा देखो, प्रदेशशक्ति। उसमें '**जगमगै प्रगट अति।**' असंख्यात प्रदेश में अनन्त शक्तियाँ—गुण भरे हैं। वह पर का कर्ता तो नहीं, परन्तु राग का कर्ता और धर्ता नहीं। ऐसी बेहद चैतन्य शक्ति का भान होने से, वह स्वयं प्रगट जगमगता है। चैतन्य के विकास की ज्योति जगमग-जगमग जगमगाती है। आहाहा! दीपावली के दीपक जैसे जगमग-जगमग चमकते हैं, वैसे भगवान आत्मा उस राग को करता था न, तब चैतन्य चमक ढँक जाती थी। समझ में आया? कठिन ऐसा धर्म भारी भाई यह!

'**जगमगै प्रगट अति।**' लो, **प्रकाशित रहता है**। जगमग जगमगाती है शक्ति। वह शक्ति थी, वह पर्याय में जगमग प्रकाश हो जाता है। जागती ज्योति भगवान ब्रह्माण्ड आत्मा ब्रह्मानन्द का नाथ, ब्रह्माण्ड का जाननेवाला, ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होनेवाला नहीं। अरे, गजब काम कठिन! स्वयं पूरा परमात्मा है, उसकी इसे खबर नहीं। परमात्मा पर्याय में ऐन्लार्ज होता है, वह तो अन्दर में है, उसका ऐन्लार्ज होता है। वह परमात्मदशा कहीं बाहर से आती नहीं। बाहर से आती है? 'अप्पा सो परमअप्पा।' भगवान आत्मा, वही

परमात्मा है। वह असंख्य प्रदेश में जगमग-जगमग ज्योति जानन, देखन, श्रद्धा, आनन्द आदि शक्तियों से विलास करती है। '**जगमगै प्रगट अति**।' वापस। समझ में आया?

'**चिदविलास गंभीर धीर**।' ज्ञान का विलास, आनन्द का विलास... राग की क्रीड़ा को छोड़कर भगवान अपने ज्ञानरस के आनन्द में आया, वही आत्मा है, वह आत्मा '**चिदविलास गंभीर**' जिसके ज्ञान का विलास गहरा गम्भीर है। समझ में आया? गम्भीर है। जिसके ज्ञान की दशा महागम्भीर है। ज्ञान की दशा में अनन्तता आ गयी है। समझ में आया? आहाहा! '**धीर**' है, वह अनन्त गम्भीर होने पर भी धीर है—धीरू है। शान्त... शान्त... समझ में आया? देखो, यह सम्यग्दर्शन के भान में यह दशा होती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा अनन्त गुण का असंख्यप्रदेशी पिण्ड प्रभु, वह राग को करे नहीं और धरे नहीं अर्थात् वहाँ से दृष्टि उठ गयी है। और दृष्टि हुई वस्तु के स्वभाव में, तो असंख्य प्रदेश जगमगा उठे। अनन्त दीपक पर्याय में प्रगट हुए। अनन्त गुण। '**गंभीर धीर**'—धीर है। धी आता है न, धी—बुद्धि। ध्येय के प्रति प्रेरे, वह धीर।

उसमें—अष्टपाहुड़ में आया था। अपनी ज्ञान की पर्यायरूपी धी, ध्येय जो अखण्ड पूर्ण प्रभु, उसमें प्रेरे, ऐसे ज्ञान को धीर कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा! उसके गीत भी सुने न हों कभी। यह तो वह महाव्रत पालन करो, पूजा करो और भक्ति करो और सिदगिरि पालीताणा तथा सम्मेदशिखर की यात्रा करो, जाओ। जाओ, तुम्हारा कल्याण होओ।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी अच्छा (नहीं)। वह शुभभाव है इतनी बात है। हो, परन्तु वह कहीं धर्म है और यह उससे धर्म प्रगट होता है, ऐसी वस्तु नहीं है। होता है, ज्ञानी को भी बीच में ऐसा राग होता है, परन्तु वह बन्ध का कारण है। पूर्ण अबन्धपरिणाम प्रगट न हो (तब तक) होता है। संवर-निर्जरा का कारण नहीं। समझ में आया?

भगवान के दर्शन से आस्रव .... घटे और संवर बढ़े। ऐ देवानुप्रिया! आता है न कहीं? देवचन्दजी में आता है। भगवान के दर्शन से आस्रव ... घटे और संवर बढ़े। यह भगवान के वचन नहीं। समझ में आया? परन्तु पूर्णता न हो तो बीच में ऐसा भाव होता

है, होता है, हो जाता है, होकर जाता है। आहाहा! '**थिर रहै**' वस्तु में स्थिर रहे, ऐसी **निर्मल ज्योति अत्यन्त जगमगाती है।** '**विमलमति**' है न। जगमगाती है निर्मलज्योति। मल को न धारे... कहो, समझ में आया?

'**चिदविलास गंभीर धीर, थिर रहै विमलमति, जब लगि प्रबोध घटमहि उदित**' क्या कहते हैं? जब तक अन्तर में ज्ञानस्वरूप का भान वर्ते। '**जब लगि अनय न परेखिये।**' अन्याय में प्रवेश कर सकता नहीं। आहाहा! समझ में आया? अन्याय अर्थात् मिथ्यात्व। अन्याय अर्थात् मिथ्यात्व। '**जब लगि प्रबोध घटमहि उदित**' ज्ञानानन्दस्वभाव मैं हूँ, मैं आत्मा चिदानन्द परमात्मस्वरूप हूँ—ऐसा जब तक प्रमोद वर्तता है, तब तक '**अनय न परेखिये।**'—मिथ्यात्व नहीं हो सकता। अन्याय अर्थात् मिथ्यात्व को ही अन्याय कहते हैं। समझ में आया? क्या कहा? आहाहा! देखो, अर्थ यह किया है, **तब तक मिथ्यात्व नहीं रहता**। अर्थ में है।

'**तब लगि अनय न परेखिये।**' जहाँ ज्ञानप्रकाश की मूर्ति आत्मा धीर स्थिर वीर ऐसा हूँ, ऐसा भान वर्ते, मिथ्यात्व का प्रवेश नहीं, अन्याय का प्रवेश नहीं। किसकी भाँति? '**जिमि धरम-राज वरतंत पुर**' रामराजय, रामचन्द्रजी के समय में रामराज्य वर्तता था। '**जहं तहं निति परेखिये**' कहीं अनीति हो नहीं सकती। जहाँ-तहाँ नीति, नीति और नीति। धर्मराज में जहाँ हो वहाँ नीति, नीति और नीति होती है। आहाहा! रामराज्य। रामचन्द्रजी पुरुषोत्तम पुरुष धर्मात्मा ज्ञानी के समय में नीति राज्य की। नीति... नीति... नीति... समझ में आया?

इसी प्रकार आत्माराम आत्मराम जागता प्रबोध में जब तक रहे, भाग नहीं भ्रम का। भ्रम भगवान में आ नहीं सकता। '**जिमि धरम-राज वरतंत पुर**' पुर अर्थात् नगर। **जैसे कि नगर में धर्मराज वर्तने से जहाँ-तहाँ नीति ही नीति दिखाई देती है, अनीति का लेश भी नहीं रहता।** समझ में आया? भगवान अनन्त गुण का धाम प्रभु चेतनस्वरूप, राग से भिन्न पड़कर अपने भान के राज में आया, वहाँ उसे अन्याय और मिथ्यात्व नहीं हो सकता। समझ में आया? यह ३६वाँ पद। कलश ५४वाँ और पद ३६वाँ। यह पूरा हुआ, लो। अब अधिकार का सार।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५२, फाल्गुन कृष्ण ११, मंगलवार, दिनांक २३-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार के सार पर प्रवचन

कर्ता–कर्म–क्रिया द्वार अधिकार का सार

करना सो क्रिया, किया जाय सो कर्म, जो करे सो कर्ता है। अभिप्राय यह है कि जो क्रिया का व्यापार करे अर्थात् काम करनेवाले को कर्ता कहते हैं, जिसमें क्रिया का फल रहता है अर्थात् किये हुए काम को कर्म कहते हैं, जो (करतूति) कार्रवाई की जावे, उसे क्रिया कहते हैं। जैसे कि कुम्भकार कर्ता है, घट कर्म हैं और घट बनाने की विधि क्रिया है। अथवा ज्ञानीराम आम तोड़ता है, इस वाक्य में ज्ञानीराम कर्ता, आम कर्म और तोड़ना क्रिया है।

स्मरण रहे कि ऊपर के दो दृष्टान्तों से जो स्पष्ट किया है, वह भेद–विवक्षा से है, क्योंकि कर्ता कुम्भकार पृथक् पदार्थ हैं, कर्म घट पृथक् पदार्थ है, घट सृष्टि की क्रिया पृथक् है। इसी प्रकार दूसरे वाक्य में ज्ञानीराम कर्ता पृथक् है, आम कर्म पृथक् है और तोड़ने की क्रिया पृथक् है। जैसे भेद–व्यवहार में कर्ता–कर्म–क्रिया भिन्न–भिन्न रहते हैं, वैसे अभेद–दृष्टि में नहीं होते–एक पदार्थ में ही कर्ता–कर्म–क्रिया तीनों रहते हैं। जैसे कि 'चिद्भाव कर्म चिदेश करता चेतना किरिया तहाँ' अर्थात् चिदेश आत्मा कर्ता, चैतन्यभाव कर्म और चेतना (जानना) क्रिया है; अथवा मृत्तिका कर्ता, घट कर्म और मृत्तिका का पिण्डपर्याय से घटपर्यायरूप होना क्रिया है। इस अधिकार में कर्ता–कर्म–क्रिया शब्द कहीं भेद–दृष्टि से और कहीं अभेद–दृष्टि से आये हैं, सो खूब गहन विचारपूर्वक समझना चाहिए।

अज्ञान की दशा में जीव शुभाशुभ कर्म और शुभाशुभ प्रवृत्ति को अपनी मानता है और उनका कर्ता आप बनता है, परन्तु खूब ध्यान रहे कि लोक में अनन्त पौद्गलिक कार्मणवर्गणाएँ भरी हुई हैं, इन कार्मणवर्गणाओं में ऐसी शक्ति है कि आत्मा के राग–द्वेष का निमित्त पाकर वे कर्मरूप हो जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्म पुद्गलरूप हैं, अचेतन हैं, पुद्गल ही इनका कर्ता है–आत्मा नहीं है, हाँ राग–द्वेष–मोह आत्मा के विकार हैं। ये आत्मा–जनित हैं या पुद्गलजनित हैं, इसका बृहदद्रव्यसंग्रह

में बड़ा अच्छा समाधान किया है। वह इस प्रकार है कि – जैसे सन्तान को न तो अकेली माता ही से उत्पन्न कह सकते हैं और न अकेले पिता से उत्पन्न कह सकते हैं, किन्तु दोनों के संयोग से सन्तान की उत्पत्ति है। उसी प्रकार राग–द्वेष–मोह न तो अकेला आत्मा उपजाता है और न अकेला पुद्गल ही उपजाता है, जीव और पुद्गल दोनों के संयोग राग–द्वेष–मोह भावकर्म की उत्पत्ति है, यदि अकेले पुद्गल से राग–द्वेष उत्पन्न होते तो कलम, कागज, ईंट, पत्थर आदि में भी राग–द्वेष पाये जाते, यदि अकेले आत्मा से उत्पन्न होते तो सिद्ध आत्मा में भी राग–द्वेष पाये जाते, अधिक लिखने से क्या? राग–द्वेष–मोह पुद्गल और आत्मा दोनों के संयोग से हैं, जीव–पुद्गल परस्पर एक–दूसरे के लिये निमित्त–नैमित्तिक हैं, परन्तु यह ग्रन्थ निश्चयनय का है, सो यहाँ राग–द्वेष–मोह को पुद्गलजनित बतलाया है, ये आत्मा के निजस्वरूप नहीं हैं। इसी प्रकार शुभाशुभ क्रिया पौद्गलिक कर्मों के उदय से जीव में होती है, अत: क्रिया भी पुद्गलजनित है। सारांश यह कि शुभाशुभ कर्म वा शुभाशुभ क्रिया को आत्मा का मानना और उन दोनों का कर्ता जीव को ठहराना अज्ञान है। आत्मा तो अपने चिद्भाव कर्म और चैतन्य क्रिया का कर्ता है, और पुद्गल कर्मों का कर्ता पुद्गल ही है। मिथ्यात्व के उदय से जीव साता–असाता आदि कर्म और दया, दान, पूजा व विषय–कषाय आदि शुभाशुभ क्रिया में अहंबुद्धि करता है कि मेरे कर्म हैं, मेरी क्रिया है, यह मिथ्याभाव है, बन्ध का कारण है, बन्ध–परम्परा को बढ़ाता है; और शुभाशुभ क्रिया में अहंबुद्धि नहीं करना अर्थात् अपनी नहीं मानना, और उनमें तन्मय नहीं होना सम्यक् स्वभाव है–निर्जरा का कारण है।

कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार के सार पर प्रवचन

नाटक समयसार। तृतीय अधिकार का सार। है न? अन्तिम (सार)। क्रिया, कर्म और कर्ता की व्याख्या। क्रिया अर्थात् क्या? कर्म अर्थात् क्या? और कर्ता अर्थात् क्या? **करना सो क्रिया...** है न पहला? पदार्थ में कुछ भी पलटनेरूप क्रिया करना, वह क्रिया—पलटना। **किया जाय सो कर्म**—किया जाये, वह कार्य—वह कर्म। कर्म शब्द से, यह जड़कर्म है, वह यहाँ बात नहीं। किया जावे—वस्तु में किया जावे, वह उसका

कर्म कहलाता है। और **जो करे सो कर्ता।** वह क्रिया—करना, (वह) क्रिया, पलटने की क्रिया—पलटने की क्रिया, उसे जो करे, वह कर्ता। यह सिद्धान्त सिद्ध किया। समझ में आया? दृष्टान्त देंगे भेद के और अभेद के, दोनों।

जिसमें क्रिया का फल रहता है (अर्थात्) किये हुए काम को कर्म कहते हैं। विशेष स्पष्ट करते हैं। जिस पदार्थ में, आत्मा या परमाणु, उसमें क्रिया का फल—पलटने का कार्य आवे, फल अर्थात् पलटने का कार्य, फल आवे... **किये हुए काम को कर्म कहते हैं।** किया हुआ—किये हुए काम को कर्म कहते हैं। किये हुए काम को कर्म कहते हैं। यह तो अकेले सिद्धान्त हैं। **जो कारवाई की जावे, उसे क्रिया कहते हैं। कारवाई** अर्थात् पलटने की अवस्था हो, उसे क्रिया कहते हैं। वह अपने एक श्लोक में आ गया है। **कर्ता परिनामी दरव, कर्मरूप परिनाम। किरिया परजयकी फिरनी, वस्तु एक त्रय नाम।** (पद ७)।

एक-एक—प्रत्येक पदार्थ में—आत्मा में, परमाणु में या छहों द्रव्यों में '**कर्ता परिनामी दरव**' बदलनेवाला, वह कर्ता। उस परिणामी पदार्थ को कर्ता कहा जाता है।

मुमुक्षु : परिणामी द्रव्य, वह कर्ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता। पलटने की क्रिया का कर्ता परिणाम, उसे यहाँ कर्ता कहा जाता है। '**कर्मरूप परिनाम**' और परिणामी द्वारा हुआ परिणाम—भाव, उसे कर्म कहा जाता है। अब अपने यह तो बहुत बार आ गया है, परन्तु अर्थहीन जैसा लगे, ऐसा है अभी तक का। क्या कहा? जो किया जावे, वह क्रिया और क्रिया का कर्ता पलटनेवाला, वह कर्ता और उसका फल आया, (वह) कार्य—काम आया, वह कर्म। यह तो मात्र सिद्धान्त सिद्ध किये हैं। पश्चात् दृष्टान्त देंगे।

जैसे कि कुम्भकार कर्ता... यह तो भेद से व्याख्या करते हैं, हों! भेद से इसे समझाते हैं कि कुम्हार कर्ता, घड़ा, वह उसकी कार्यवाही का फल। वह मिट्टी की पिण्ड(रूप) पर्याय पलटकर फल आया, वह घड़ा कर्म **और घट बनाने की विधि क्रिया है...** घट बनने में जो मिट्टी के पिण्ड की पर्याय बदलकर घट हुआ, वह उसकी क्रिया। **अथवा...** यह भेद का कथन दूसरा एक देते हैं।

ज्ञानीराम आम तोड़ता है। ज्ञानीराम आम तोड़ता है—आम तोड़ता है। वाक्य में ज्ञानीराम, तोड़ने की क्रिया का कर्ता, वह ज्ञानी राम है। तोड़ने की क्रिया का फल कर्म अर्थात् आम—केरी। और तोड़ना, वह क्रिया। समझ में आया? व्यापारी को ऐसा न आया हो, इसलिए उसे यह नया लगे। पण्डितजी को समय न हो बहुत बार। **स्मरण रहे**—याद रखना चाहिए कि **ऊपर के दो दृष्टान्तों से जो स्पष्ट किया है, वह भेद-विवक्षा से है।** भिन्न कर्ता और भिन्न कर्म और भिन्न क्रिया की व्याख्या की है, समझाने के लिये। समझ में आया?

क्योंकि कर्ता कुंभकार पृथक् पदार्थ है। घड़ारूपी कार्य पृथक् है और घड़ा का कर्ता कुम्हार अलग है। कर्म अर्थात् घट का काम, वह पृथक् पदार्थ है और घट की उत्पत्ति की क्रिया, वह पृथक् है। मिट्टी का पिण्ड पलटकर घड़ा हुआ, वह दूसरी क्रिया है।

इसी प्रकार दूसरे वाक्य में ज्ञानीराम कर्ता पृथक् है—पृथक् है, आम कर्म पृथक् है, तोड़ने की क्रिया भिन्न है। तोड़ते हैं न आम में से। विद्यालय में (पढ़ने में) आता है। छह कारक का दृष्टान्त विद्यालय में आता है। छहों कारक का आता है उसमें। **जैसे भेद-व्यवहार में....** भिन्न-भिन्न द्रव्य में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से जैसे यह कर्ता-कर्म-क्रिया भिन्न-भिन्न कही गयी है, **वैसे अभेद-दृष्टि में नहीं होते।** अभेददृष्टि में कर्ता-कर्म भिन्न-भिन्न नहीं होते। ओहोहो! **एक पदार्थ में ही कर्ता-कर्म-क्रिया तीनों रहते हैं।** अभेद में—वास्तविक तत्त्व में, करनेवाला, कर्म और क्रिया—एक तत्त्व में तीनों एक साथ रहते हैं।

'**जैसे कि चिद्भाव कर्म चिदेशकर्ता चेतना किरिया तहाँ।**' आता है न! आ गया है।

मुमुक्षु : चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ (छहढाला, ढाल ६, पद ९)

पूज्य गुरुदेवश्री : यह। छहढाला में आता है न। चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता... अर्थात्? यह ज्ञानस्वभावी भगवान का ज्ञान का ईश, ईश अर्थात् आत्मा, वह करनेवाला।

क्या करे? चिद्भाव—ज्ञानभाव। ज्ञानभाव को करे। ज्ञानेश—ज्ञान का ईश भगवान आत्मा, वह ज्ञानभाव को करे। पुस्तक में यह सब आया होगा, वह तो याद नहीं रहा होगा। वह तो परीक्षा देने के लिये सीखे हों, उस जितना। समझ में आया? आहाहा! चिद्भाव, वह कर्म है। ज्ञानभाव, वह आत्मा का कार्य है और ज्ञान का ईश ऐसा आत्मा, वह कार्य का कर्ता है। आहाहा! समझ में आया?

चेतना क्रिया। चेतने की क्रिया होती है पलटती-बदलती, वह क्रिया है। वहाँ चिदेश आत्मा कर्ता, देखो, दूसरा बोल है न! यहाँ पहला लिया। ज्ञान का ईश्वर भगवान, ज्ञान का धनी आत्मा वह कर्ता, चैतन्यभाव उसका कार्य और चेतना—जानना उसकी क्रिया। आहाहा! यह तो पर से पृथक् बतलाने की बात करते हैं। समझ में आया? बाकी तो चिदेश भगवान आत्मा, वह शुद्ध परिणाम का कर्ता (है, ऐसा कहना), वह भी व्यवहार है। वह ध्रुवस्वभाव भगवान, उस परिणाम का वास्तव में कर्ता नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यह तो पर से भिन्न करने, प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपनी क्रिया का और कार्य का कर्ता, वह है—ऐसा सिद्ध करने के लिये तीन बोल एक में बतलाये हैं। ज्ञान ईश्वर आत्मा कर्ता। कर्ता (होकर) क्या करे? ज्ञान का ईश्वर भगवान आत्मा, वह ईश्वर कर्ता होकर क्या करे? स्वयं ईश्वर, हों! चैतन्यभाव कर्म। उसके जानने के कार्य को करे, वह उसका कर्म। रागादि उसका कर्म या जड़कर्म की पर्याय का उसका कर्म, ऐसा नहीं तथा यह लड्डू बाँधना, मकान बनाना—यह उसका काम है, ऐसा नहीं। समझ में आया?

चेतना—जानना—जानना, यह उसकी क्रिया। निश्चय से तो भगवान जानने की पर्याय की क्रिया से रहित निष्क्रिय है। समझ में आया? क्या है? नहीं आयी समझ में? यहाँ तो कहा न (कि) पर से भिन्न करने की बात है। परन्तु अन्तर परिणाम और परिणामी की भिन्नता जाननी हो, तब वह परिणामी जिसे त्रिकाली अपरिणामी रूप से कहें (कि जो) पलटता नहीं, उसमें यह परिणाम की क्रिया भी नहीं।

मुमुक्षु : इसमें घड़ीक में कहना कर्ता है और घड़ीक में कहना कर्ता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब मिलाना है। ऐई!

मुमुक्षु : बराबर सम्यक् है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यक् है। घड़ीक में कहना कि चिदेश ज्ञान की क्रिया का, ज्ञानकर्म का कर्ता। किस अपेक्षा से? एक के एक द्रव्य में भेद की अपेक्षा से। पर की अपेक्षा से वह अभेद हुआ, परन्तु अपने द्रव्य और परिणाम के भेद की अपेक्षा से चेतन आत्मा कर्ता और उसका परिणाम आया, वह कर्म।

परन्तु जब परिणाम और परिणामी—दोनों की अकेली भिन्नता बतलानी हो, तब परिणामी भगवान आत्मा, वह क्रिया का—परिणमन का कर्ता नहीं। (समयसार गाथा) ३२० में आ नहीं गया? ३२० गाथा में आ गया है। यहाँ आ गया है न यहाँ वह। मोक्षमार्ग के परिणाम और मोक्ष के परिणाम, उसे ध्रुव नहीं करता। ध्रुव में वे हैं नहीं। पढ़ा है, सुना या नहीं? सेठी! यहाँ सुना था? कहाँ सुना है?

मुमुक्षु : अब जयपुर में सुनना बाकी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो जयपुर.... जयपुर में वह आवे सूक्ष्म? वे पृष्ठ दिये हैं या नहीं तुमको? ३२० गाथा का पृष्ठ है, नहीं? आया है?

मुमुक्षु : मुम्बई में....

पूज्य गुरुदेवश्री : ....मुम्बई में बाँटे होंगे, परन्तु मुम्बई में पढ़ा नहीं।

मुमुक्षु : छपाया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : छपाया है, ठीक।

देखो, भाई! यहाँ भगवान आत्मा एक द्रव्य कर्ता और दूसरा (द्रव्य) कर्म कहना, वह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का व्यवहार बतलाने (का प्रयोजन) है। वास्तव में उसका—(पर का) कर्ता है नहीं। अब प्रत्येक पदार्थ में... अपने यहाँ आत्मा में लेना है अब। कि आत्मा जो है, वह पर का कर्ता (और) पर की क्रिया और पर का कर्म (करे)—वह आत्मा में है नहीं। बहुत तो उसे लेना हो तो भगवान ईश्वर चैतन्यमूर्ति प्रभु वह अपने ज्ञानभाव, श्रद्धाभाव, आनन्दभाव, वर्तमान निर्मल निर्विकारी भाव का वह कर्ता और निर्मलभाव, वह उसका काम अर्थात् कर्म। और जो अवस्था बदली... देखो

न 'जानना' वह क्रिया। इस प्रकार पर से भिन्न करके अपने स्वभाव में इस प्रकार से होता है, ऐसी उसकी कर्ता-कर्म-क्रिया बतलायी।

परन्तु इससे आगे ले जाकर देखना हो... यह तो पीछे ३२० गाथा में है न। तो भगवान आत्मा चैतन्य ध्रुव... ध्रुव... अनादि-अनन्त वह काल से ठीक, परन्तु वस्तु जो ध्रुव चैतन्यदल का पिण्ड, वह स्वयं परिणामी है अर्थात् कि परिणमने के योग्य, ऐसा कहना, वह भी अभी व्यवहार है। परन्तु सहजभाव से वह भाव वस्तु है, इसलिए उसे परिणामी कहा जाता है और उसके जो मोक्ष के परिणाम अथवा मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चय समयग्दर्शन-ज्ञान के परिणाम, वे परिणाम भी ध्रुव में नहीं और ध्रुव करता नहीं। अरे! समझ में आया?

ऐसा क्यों कहा? कि अनादि की वर्तमान पर्याय में एकताबुद्धि है, उसे तुड़ाने के लिये कहा कि वे परिणाम तेरी वस्तु में है नहीं। अनादि का इसे पर्याय के ऊपर लक्ष्य है। साधु हुआ, नौवें ग्रैवेयक गया, तो भी उस वर्तमान दशा के अंश के ऊपर ही इसका सत्ता का स्वीकार है। परिणाम के अतिरिक्त पूरा द्रव्य वस्तु है, उसका अन्तर्मुख होकर उसका स्वीकार नहीं, बहिर्मुख का ही स्वीकार है। परिणाम बहिर्मुख है। अन्त:तत्त्व से बहिर्मुख है न! नियमसार में आ गया है। समझ में आया? अभी तो आस्रव और संवर के दोनों परिणाम का बहिर्पना है, वह अन्त:तत्त्व उसका कर्ता नहीं। समझ में आया?

वहाँ ऐसा सिद्ध करना है कि सदृशरूप से रहा हुआ एकरूप त्रिकालीभाव, वह विसदृश परिणाम में आता नहीं। आहाहा! भारी सूक्ष्म, भाई! विसदृश समझ में आता है? उत्पाद-व्यय है न वह। अवस्था होती-जाती है, होती है-जाती है, होती है-जाती है। होवे-जाये में स्थिर रहा हुआ, वह आता नहीं। समझ में आया? यह कहीं परस्पर विरोध है, ऐसा नहीं। उसकी पर से पृथक्ता बतलाने की और स्व के तीन (भेद), एक वस्तु में तीन (भेद) है, ऐसा बतलाने की स्थिति में पर से भिन्न बतलाना है। परन्तु सूक्ष्मरूप से वह अनादि से उसकी वर्तमानदशा में ही रमता है, उसकी रमणता की है सब दशा में। उस दशा का स्वामी होकर एकताबुद्धि से रमता है, उसे उसमें से छुड़ाकर ध्रुव वस्तु में ले जाना है। समझ में आया?

जो ऐसे स्थिरबिम्ब वस्तु है ध्रुव—निश्चल—अविचल—अचल, वह चीज़ तो

मोक्ष के परिणाम को भी करती नहीं अथवा मोक्ष के परिणाम रहित है और मोक्षमार्ग के परिणाम से भी वह वस्तु रहित है। अब इतना सब कितना समझना? एक तो कुम्हार घड़े का कर्ता। दूसरे प्रकार से द्रव्य अपने परिणाम का भी कर्ता नहीं। ...गजब बातें हैं न! ऐई! अभी तो यह भी ठीक नहीं लगता। क्या कुम्हार बिना घड़ा होता है? यह कुम्हार बिना ही घड़ा हुआ है। समझ में आया? इसी प्रकार आत्मा बिना राग होता है? कि आत्मा बिना ही राग हुआ है। अब परिणाम—अवस्था है, वह आत्मा बिना होती है? कि आत्मा बिना होती है। अरे! समझ में आया?

महाप्रभु ध्रुवस्वरूप है और एक उसका अवस्थास्वरूप है। वस्तु है (उसके) दो स्वरूप हैं। ऐसे जब दो भाग करे एक में, तब तो वह परिणाम वस्तु में है नहीं, इसलिए उस परिणाम का कर्ता वस्तु नहीं। इसमें विरोध है, ऐसा नहीं। ऐई! रामजीभाई कहे, ठीक, ऐसे एक ओर घड़े का कर्ता कुम्हार को कहना, एक ओर निर्मल परिणाम का भी कर्ता आत्मा को नहीं कहना। यह गजब, भाई! ऐई! एक ओर कहना कि आत्मा, निर्मल परिणाम का कार्य आया, उसका वह कर्ता है। चिदेश, वह चिद्भाव का कर्ता है। ऐसा आया या नहीं यहाँ?

मुमुक्षु : हाँ, छहढाला में।

पूज्य गुरुदेवश्री : छहढाला का श्लोक रखा है। समझ में आया?

यह वस्तु में दो भाग करके जब बात करनी हो... परन्तु परवस्तु से भिन्न करके कहना हो, तब तो यह आत्मा अपने परिणाम का कर्ता, यह क्रिया उसकी और उसका कर्ता वह आत्मा। अरे, गजब बातें भाई! समझ में आया? परन्तु एक त्रिकाल रहनेवाली चीज़ और एक समय जितनी एक अवस्था—दशा—ऐसे दोनों को जब भिन्न समझाना हो और ध्रुव का माहात्म्य कराने को, उसमें स्थिर होने को कहना हो, तब वह स्थिर होनेवाली पर्याय उस ध्रुव में नहीं। समझ में आया? भाई! इसे अपेक्षा से, जिस स्वरूप के ज्ञान की अपेक्षा है, उस अपेक्षा से उसे जानना चाहिए। जिस पहलू से, जिस पद्धति से कहते हैं, उस प्रकार से उसका ज्ञान करना चाहिए।

कहते हैं, अब दृष्टान्त का। मृतिका कर्ता... वह आत्मा की बात की पहले।

मृतिका कर्ता, घट उसका—मिट्टी का कार्य और **मृतिका का पिण्डपर्याय से घटपर्यायरूप होना क्रिया है।** कुम्हार और पर से भिन्न करके, भेद से उसकी—(मिट्टी की)—अकेले स्वतन्त्र द्रव्य की तीन बातें कीं। समझ में आया? आहाहा!

इस अधिकार में,.... देखो, इन्होंने लिखा है वापस नीचे। **कर्ता-कर्म-क्रिया शुद्ध कहीं भेददृष्टि से और कहीं अभेददृष्टि से आये हैं, सो खूब गहन विचारपूर्वक समझना चाहिए।** कहीं ऐसा कहा है कि अज्ञानी (अपने को) जड़कर्म का कर्ता मानता है, ऐसा। आता है न? मानता है कर्ता कि मैं जड़ का कर्ता हूँ। समझ में आया? कहीं वह राग का कर्ता है, ऐसा मनाया—माना है और कहीं राग का भी नहीं और ज्ञान का कर्ता आत्मा है, ऐसा भी मनाया है। पोपटभाई! यह सब गहरी बातें हैं। आहाहा!

कहते हैं कि इसमें कहीं भेददृष्टि से कथन है। ऐसा यह कहा है न! अज्ञानी कर्म 'करता हूँ' ऐसा मानता है, ऐसा कहा है न! भेददृष्टि का कथन है। परन्तु वह मानता है कि 'कर्म मैंने किये, जड़ मैंने किये।'

मुमुक्षु : वह तो शास्त्र में आता है तो माने ही न!

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र में किस प्रकार से आता है? उसे वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की प्रसिद्धि कराने को, ऐसे नैमित्तिक क्रिया में निमित्त उसे देखकर 'आत्मा ज्ञानावरणीयकर्म को बाँधता है' ऐसा कहा गया है। ओहो! भगवान आनन्द का रस प्रभु... छह द्रव्य और पर्याय में जैसे अपनी चीज़ जो है भगवान आत्मा, उसे अपेक्षा से—मेरी अपेक्षा से जगत में कोई दूसरी चीज़ ही नहीं है। क्या कहा?

जैसे मेरे सुख के लिये मेरा आत्मा ही एक साधन है, इसके अतिरिक्त सुख का साधन कोई (दूसरी) चीज़ नहीं इसीलिए कोई दूसरी चीज़ ही नहीं।

मुमुक्षु : अस्ति धराती नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दूसरी चीज़ जरा भी (अस्ति) धराती नहीं इस अपेक्षा से। उसकी अपेक्षा से भले धराती है। समझ में आया? ऐसे लेने से वापस आगे जाने पर ध्रुव की अपेक्षा से पर्याय अवस्तु है। समझ में आया? जैसे मैं ही हूँ जगत में सर्वस्व स्वभाव—स्वरूप भगवान, उसकी अपेक्षा से दूसरी चीज़ है ही नहीं। उसकी अपेक्षा से

है और इसकी अपेक्षा से नहीं, ऐसे विकल्प की भी वहाँ आवश्यकता नहीं। समझ में आया? दो के भेद की अपेक्षा से... भीखाभाई! गजब बातें, भाई! ऐसा स्वभाव! मेरी सत्ता की अपेक्षा से तो दूसरी चीज़ असत्ता है। इस पूरी चीज़ की अपेक्षा से दूसरी पूरी चीज़ असत्ता है। इसी प्रकार ध्रुव की सत्ता की अपेक्षा से, पर्याय की ध्रुव में सत्ता नहीं, इसलिए असत्ता है। समझ में आया? आहाहा!

चेतन के विलास हैं। लोगों को अन्तर स्वभाव वस्तु क्या है महाप्रभु, उसकी एक समय की दशा क्या है, (उसकी खबर नहीं)। जो पर से पृथक् है, उसे बहुत तो पर्याय के साथ व्यवहार सम्बन्ध है। ध्रुव को पर्याय के साथ व्यवहार सम्बन्ध है।

मुमुक्षु : और सम्बन्ध लाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार का अर्थ क्या हुआ? वास्तव में सम्बन्ध है नहीं। ऐंई! अरे, अरे! व्यवहार सम्बन्ध अर्थात् क्या हुआ? अभूतार्थ सम्बन्ध हुआ। असत्यार्थ सम्बन्ध है। ऐंई! ऐसी चीज़ है। उस वस्तु की सिद्धि ही इस प्रकार से है। भगवान ने कहा है, परन्तु इस प्रकार से कहा है भगवान ने। समझ में आया?

ऐसा जब तक इसे महाप्रभु ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा... सामान्य भाषा कहो या ध्रुव कहो, सामान्य (के लिये) आया है न भूत। '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' उसमें आया है न ११वीं गाथा (समयसार) में। छठवीं में ज्ञायक आया। 'ज्ञायकभाव—ध्रुव एकभाव—सदृशभाव।' उसमें तो (ऐसा आया कि) वह प्रमत्त-अप्रमत्त की पर्यायें उसमें नहीं। नास्ति आया था, भाई! आया नहीं था? गाथा में आया था। क्या कहा? कि ज्ञायकभाव—ध्रुवभाव—स्वभावभाव की अपेक्षा से प्रमत्त-अप्रमत्त चौदह गुणस्थान की पर्याय की नास्ति है। अस्ति तो, महाप्रभु अकेला है ज्ञायक, वह अस्ति है।

'जैन तत्त्वमीमांसा' में (स्पष्टीकरण) है न। भीखाभाई! है या नहीं?

मुमुक्षु : है तो सही, ... मुझे आँखें.... है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ...वह अलग बात है। परन्तु दूसरा कुछ वाँचते नहीं बहियाँ-वहियाँ?

मुमुक्षु : वह तो शास्त्र में है न.... लड़के से पढ़वा लें।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! बारीक अक्षर है। बात सच्ची है उसमें.... बारीक पड़े। बारीक अक्षर है न। नहीं? सूक्ष्म पड़े, उसके आँख को वह किया है। दलील है, परन्तु वह दूसरा करता हो तो यह वाँच सके, इतनी बात।

मुमुक्षु : आपका कहा तो वास्तविक कहलाये न!

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे वाँचते हों बहियों का और यह नहीं।

मुमुक्षु : परन्तु उन बहियों में अक्षर बड़े....

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़े... यह बात सच्ची। आहाहा!

(जैसे) सर्वज्ञ परमेश्वर, वैसा सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा, उसकी अपेक्षा से एक समय की पर्याय की उसमें नास्ति है, लो। आहाहा! पर्याय के अंश की अपेक्षा से पर्याय है। परन्तु भगवान तो सर्वज्ञस्वभावी है। ऐसे सर्वज्ञस्वभाव को... सूक्ष्म है, रतिभाई! ध्यान रखते हैं भाई अब। उन व्यापारियों को अब उनकी बुद्धि फैलाना, वकील तो फैलाते हैं, कहते हैं भाई....

मुमुक्षु : ऐसा होगा? व्यापारियों को बुद्धि बहुत होती है। अद्धर से पक्षी को पाड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाड़े, कितने ही व्यापारी तो सब समझने जैसे होते हैं। वह तो पुण्य के कारण कमा-खाये न, इसलिए चतुर कहलाये। भीखाभाई!

मुमुक्षु : बराबर कहा। भले संख्या में....

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! काम की चीज़... ऐसा सब आता नहीं भाई... कालाबाजार करना... अब हमारे कुँवरजीभाई और थे न सब, कैसे खबर है न सब। ...दो लाख हो बारह महीने में, लो। दुनिया में कहलाये, हो तो पागल।

मुमुक्षु : वरना पैसेदार चतुर ही हो न!

पूज्य गुरुदेवश्री : चतुर कहलाये, हो समझने जैसे। आहाहा!

तेरी चतुराई यह है, बापू! उसका अस्तित्व तो प्रभु का, प्रभु अस्तित्व तो सर्वज्ञस्वभाव से एक ही मैं हूँ। अल्पज्ञपना भी मैं नहीं। केवलज्ञान की पर्यायपने भी मैं

नहीं। ऐसा आया या नहीं? नियमसार में आया या नहीं? केवलज्ञान की क्षायिकपर्याय परद्रव्य, परभाव, हेय। आहाहा! गजब बात है न! वीतराग के तत्त्व... यह सनातन जैनदर्शन में यह बात है। सनातन वस्तु के स्वभाव में है। कहते हैं... यहाँ तो और जरा सा आया न, **खूब गहन विचारपूर्वक समझना चाहिए।** जिस अपेक्षा से जहाँ-जहाँ (जो) कहा, उसे उस प्रकार से समझना चाहिए। व्यवहार से भेद किये हों, वह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में, लोग मानते हैं कर्ता, ऐसा वह बतलाया और अपने में पर से भिन्न करके स्वयं ही स्वयं कर्ता-कर्म और क्रिया है। एक वस्तु के तीन (नाम)। वस्तु एक और तीन नाम।

यह आया न उसमें? **कर्ता परिनामी... (श्रोता : कर्ता परिनामी दरव)। कर्मरूप परिनाम। किरिया परजयकी फिरनी, वस्तु एक त्रय नाम।'** (पद ७वाँ)। अब इन तीन में भी एक द्रव्य और एक पर्याय ऐसे दो भाग करने पर....

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : दो रूप है। एक रूप दूसरे रूप हो तो दो रूप पड़े कैसे? आहाहा! समझ में आया? वहाँ ऐसा कहा कि मोक्षमार्ग की (और) मोक्ष की पर्याय आत्मा में नहीं। नहीं, वह उसे करे? पण्डितजी! केवलज्ञान की पर्याय आत्मा में नहीं है।

मुमुक्षु : अद्धर से आयी?

पूज्य गुरुदेवश्री : अद्धर से पर्याय का सत् है। पर्याय सत् है। सत् को कोई हेतु-हेतु हो सकता नहीं।

मुमुक्षु : पर्याय स्वयं सत्....

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्—स्वयं सत् है। अरे! सत् को हेतु-फेतु होता नहीं। समझ में आया?

खूब गहन विचारपूर्वक समझना चाहिए। ऐसा लिखा है, हों! और उसमें व्यवहार डालेंगे वह प्रमाण। वह रतनचन्दजी की चौथी लाईन। आहाहा! एक प्रमाण का वाक्य है, एक निश्चय स्व में सत् के तीन भेदों का वाक्य है और अकेले द्रव्य के सत्त्व का वाक्य है वाक्य, ऐसा इसे समझना पड़ेगा न। समझ में आया? यहाँ तो विकारी

परिणाम को दो होकर करते हैं, ऐसा कहेंगे। द्रव्यसंग्रह की व्याख्या। वह तो समयसार में आता है न दो में। दो में। अब इस ओर ९४ पृष्ठ पर।

अज्ञान की दशा में जीव शुभाशुभ कर्म और शुभाशुभ प्रवृत्ति को अपनी मानता है। देखो! अज्ञानदशा में जीव (मानता है कि) शुभ-अशुभ कर्म को मैं करता हूँ और शुभाशुभ प्रवृत्ति के परिणाम को भी मैं करता हूँ। **और उनका कर्ता (आप) बनता है।** मानता है कि मैं जड़ का कर्ता, शरीर का कर्ता, उसका कर्ता। **परन्तु खूब ध्यान रहे कि लोक में अनन्त पौद्गलिक कार्मणवर्गणाएँ भरी हुई हैं।** इस लोक के अन्दर अनन्त परमाणु—रजकण अस्ति तत्त्व रूप से कार्मण नाम से परमाणुओं के समूहरूप से (वर्गणा) भरी है अन्दर चौदह ब्रह्माण्ड में।

इन कार्मणवर्गणाओं में ऐसी शक्ति है कि आत्मा के राग-द्वेष का निमित्त पाकर वे कर्मरूप हो जाती हैं। परन्तु यह आ गया है कि राग है, इसलिए कर्मरूप होती है, ऐसा नहीं है। इसलिए **निमित्त पाकर...** ऐसा कहा है। उपादान तो उस काल में कर्मरूपी पर्याय होने का उसका स्वयं का स्वभाव है। वरना यहाँ **निमित्त पाकर...** कहना है न, तो **निमित्त पाकर...** का अर्थ क्या? कि यहाँ है, इतना, बस। उस नैमित्तिक में कर्म के रजकण कर्म के कारण से परिणमते हैं। आहाहा! समझ में आया? थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करे तो समझ में आये ऐसा है, हों! यहाँ उलझने जैसा नहीं। सूक्ष्म पड़े उस व्यापारी को, कभी सूक्ष्म पढ़ना... जीव और अजीव दोनों प्रगट स्वभाव भिन्न। प्रगट स्वभाव भिन्न। इसी प्रकार यह पुद्गल परमाणु का स्वभाव (जीव) से अत्यन्त भिन्न है।

कहते हैं कि उस काल में भले राग-द्वेष और अज्ञान (रूप) जीव की पर्याय निमित्तरूप से हो, तथापि परिणमन तो कर्म की पर्याय का स्वयं से हुआ है। निमित्त कहा है न! **निमित्त पाकर...** तो इसका अर्थ क्या हुआ?

मुमुक्षु : निमित्त नहीं पका तो नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उस सत् (को) समयफेर है? अब यह निमित्त और बाद में हुई वर्गणा कर्म की, ऐसा है?

मुमुक्षु : दोनों साथ में ही चलते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : साथ में चलते हैं, तो इसका अर्थ क्या हुआ? कि उसके उपादान की उस समय परिणमने की योग्यता से परिणमे, निमित्तरूप से कौन था कि अज्ञानी के राग-द्वेष। अज्ञानी के, ज्ञानी को राग-द्वेष है नहीं। समझ में आया?

राग-द्वेष का निमित्त पाकर... इसमें कहते हैं, देखो, निमित्त होकर ऐसा होता है। परन्तु भाई क्या कहते हैं, सुन तो सही! निमित्त होना और कर्म परिणमे, उसका कालभेद है? और कर्म को खबर है कि यहाँ राग-द्वेष है, इसलिए मैं कर्मरूप परिणमूँ? बहुत सूक्ष्म... सूक्ष्म जगत को...

मुमुक्षु : वह तो यह खोला इसलिए.... साहेब! नहीं तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : इससे स्पष्ट है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्म पुद्गलरूप हैं... आठों कर्म जड़ हैं। जैसे यह शरीर जड़ है, वैसे यह आठ कर्म भी अन्दर परमाणु जड़ है। **अचेतन है...** आठ कर्म के रजकण अचेतन की अस्तिपने सत्ता है। **पुद्गल ही इनका कर्ता है।** इन आठ कर्म की पर्याय का अचेतन पुद्गल कर्ता है, क्योंकि वे अचेतन हैं। कर्मपर्याय अचेतन है, इसलिए उसका अचेतन परमाणु कर्ता है। समझ में आया?

हाँ, अचेतन कर्ता... **आत्मा नहीं है।** उस कर्म की—जड़ की पर्याय का परिणमना, वह आत्मा परिणमावे, ऐसा नहीं है। आहाहा! **हाँ, राग-द्वेष तो आत्मा के विकार हैं।** यहाँ अज्ञानी सिद्ध करना है न! आत्मा में, कर्म सामने निमित्त और स्वयं अपने कारण से मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप हो, वह आत्मा के अस्तित्व में है। वह कर्म के निमित्त का अस्तित्व है, इसलिए यह अस्तित्व है, ऐसा नहीं है। राग-द्वेष और मोह अर्थात् मिथ्यात्व। आत्मा के विकार हैं। आत्मा में निमित्त की अपेक्षा रखे बिना अथवा निमित्त का अस्तित्व है, इसलिए आत्मा राग-द्वेष मोहरूप परिणमता है, ऐसा नहीं है।

ये आत्मजनित हैं' देखो, आत्मा से जनित... **या पुद्गलजनित हैं, इसका द्रव्यसंग्रह में बड़ा अच्छा समाधान किया है।** प्रमाण से बात करते हैं अब।

मुमुक्षु : उपादान-निमित्त दोनों का ज्ञान कराते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों का ज्ञान कराते हैं यहाँ। आत्मा अपने भाव से राग-द्वेष करता है, तब निमित्त था, उसे व्यवहार (कर्ता) कहकर प्रमाण से दो होकर हुआ, ऐसा

प्रमाणज्ञान कराने को बात की है। आहाहा! प्रमाणज्ञान, राग-द्वेष मोह जीव करता है, उसका निषेध करके प्रमाणज्ञान नहीं कहता। समझ में आया? निश्चय का भाव रखकर निमित्त साथ में दूसरी चीज़ है, उस भाव को मिलाता है। ऐसा है।

फिर से। कहते हैं कि वह राग-द्वेष तो आत्मा करता है। वह आत्मजनित है या दु:ख पुद्गलजनित है।

मुमुक्षु : किसी जगह आत्मजनित आया है, किसी जगह पुद्गलजनित आया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसी जगह... निश्चय से देखो तो आत्मजनित है, व्यवहार से कहो तो कर्मजनित है। मात्र कर्मजनित है, ऐसा भी आता है। शुद्धनिश्चय के स्वभाव से आत्मा में देखो तो विकार मात्र कर्म से ही है। परन्तु अशुद्ध विकारी पर्याय से उसे पर की अपेक्षा रखे बिना देखो तो आत्मजनित ही है। परन्तु उस आत्मजनित की दशा में निमित्त का ज्ञान कराने के लिये दूसरी चीज़ निमित्त है, उसका ज्ञान कराने के लिये, दो से हुए—ऐसा कहा जाता है। दो से हुए, ऐसा प्रमाण कहे, परन्तु उसमें निश्चय से उसके (स्वयं) से हुए, उसका निषेध करके नहीं कहता। समझ में आया? कुछ समझ में आता है इसमें? सब ऐसा का ऐसा समय व्यतीत किया सब समझ बिना का, कहते हैं।

'आत्म सत्ता द्वारा वे प्रवर्ते जान' नहीं आता? शरीर आदि... क्या आता है?

मुमुक्षु : आत्म सत्ता द्वारा।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्म सत्ता द्वारा... क्या भाषा? भूल गये।

मुमुक्षु : जो जाने उसे, जाने नहीं सत्ता,..

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा सत्ता द्वारा वह प्रवर्ते जान, देखो! यह तो प्रवर्तने के हैं शरीर के वे परिणाम, उस समय आत्मा के परिणाम निमित्त थे, दोनों (को) प्रमाण करके बात की है। परन्तु शरीर के परिणाम आत्मा के कारण से प्रवर्तते हैं, ऐसा नहीं। है न 'आत्मसिद्धि' में। परन्तु यह विचार भी कितने गहरे किये हों? वह तो हाँक रखे गाड़ी।

मुमुक्षु : उसे कुछ समझानेवाला न हो तो क्या करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु इसे समझना चाहिए न स्वयं को। काम क्या है समझानेवाले का? स्वयं समझनेवाला बैठा है न बड़ा भगवान। आहाहा! समझ में आया?

वह इस प्रकार है कि—जैसे सन्तान को न तो अकेली माता ही से उत्पन्न कह सकते हैं और न अकेले पिता ही से उत्पन्न कह सकते हैं। वास्तव में तो पिता भी उत्पन्न (नहीं) करता... परन्तु अब व्यवहार में समझाना हो, प्रमाणज्ञान बतलाना हो, तब कहते हैं कि दोनों थे और आयुष्य हुआ, ऐसा। हुआ तो है उसके कारण से। अब सन्तान किससे होती होगी? आहाहा! वह शास्त्र में है ऐसा, हों, पण्डितजी!

मुमुक्षु : बृहद् द्रव्यसंग्रह में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्यसंग्रह में है और समयसार में है कर्ता-कर्म अधिकार में।

जब वह हरखचन्द कहता कि देखो, राग-द्वेष और मोह अकेले आत्मा के कहे, वे झूठे हैं, अकेले कर्म के कहे, (वे झूठे हैं) और दोनों के कहे, वे सच्चे हैं। सुन न अब! अकेले आत्मा के हैं। अकेले आत्मा के ही हैं, यह निश्चय का सत्य कथन है। अकेले पर के हैं, यह व्यवहार का (कथन) स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से विकार पर से, पर के लक्ष्य से हुआ, इसलिए पर का है, (ऐसा कहा है)। और प्रमाण की दृष्टि से स्व से—अपने से हुए और निमित्त, वह था, इसलिए दो के इकट्ठे होकर हुए, ऐसा कहा जाता है। ऐसे भाग नहीं दो का वहाँ कुछ। अरे! अब यह लोगों को ठीक पड़े सब यह रतनचन्दजी और उनके....

ऐसा कि आत्मा जो है, वह विकार करता है, वह स्वत:.... पंचास्तिकाय में आया न, ६२ गाथा। वह तो स्वयं अपने से ही विकार (करता है, इसलिए) जिसे निमित्त की, पर की अपेक्षा कर्ता को है नहीं। यह निश्चय की बात की। अब जब वह कर्म से होता है, ऐसा कहा, समयसार में, वह कहा, वह तो स्वभाव की दृष्टि होने पर—वस्तु ज्ञायक चैतन्य है, ऐसी दृष्टि होने पर—स्वभाव का कार्य स्वभाव होता है। इसलिए उस काल में राग होता है, उसका ज्ञाता है, परन्तु राग का कर्ता नहीं, इसलिए राग कर्म के निमित्त से हुआ है, कर्म के कारण से हुआ है, ऐसा कहा।

और दोनों इकट्ठे होकर बात करनी हो कि स्व से हुआ, वह निश्चय है और निमित्तपना था, वह व्यवहार है। दोनों को मिलाकर कहा, वह प्रमाण से दो से हुआ, ऐसा कहने में आता है। परन्तु दो से हुआ कहनेवाला वह प्रमाण, उससे (स्वयं से)

हुआ, (ऐसा) उसका—निश्चय का निषेध करके नहीं कहता। समझ में आया? क्योंकि निश्चय और व्यवहार दोनों इकट्ठे हैं न। मात्र स्व आत्मा से विकार हुआ, वह निश्चय है। यह उचितपना रखकर उपरान्त एक निमित्त चीज़ है, उसे मिलाकर ज्ञान करते हैं, उसे यहाँ प्रमाणज्ञान कहा जाता है। व्यवहार मिलाया इतना, परन्तु वह निश्चय का निषेध करके मिलाया है तो वह प्रमाण नहीं रहता। समझ में आया?

दोनों के संयोग से सन्तान की उत्पत्ति है... यह सब व्यवहार। ऐसा दो का होकर... परमाणु और सन्तान उत्पन्न होते हैं, (वह) अपनी-अपनी स्वतन्त्र पर्याय है। माता-पिता तो निमित्त है।

मुमुक्षु : परन्तु वह हो तो निमित्त कहलाये न!

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह तो उत्पन्न हुआ, तब निमित्त कहा न! उत्पन्न तो उससे हुआ है, तब इसे निमित्त कहने में आता है। इसी प्रकार जीव में विकार तो स्वयं से हुआ है। जड़कर्म का निमित्त है, (इससे) दो से हुआ ऐसा कहा जाता है। झगड़ा विकार का झगड़ा।

मुमुक्षु : झगड़ा विकार का ही होता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : ....न तो अकेला आत्मा उपजाता है और न अकेला पुद्‌गल ही उपजाता है, जीव और पुद्‌गल दोनों के संयोग से राग-द्वेष-मोह भावकर्म की उत्पत्ति है। अब नीचे लेंगे, हों! **यदि अकेले पुद्‌गल से राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होते तो कलम, कागज, ईंट, पत्थर आदि में भी राग-द्वेष-मोह पाये जाते।**' यह निमित्तपना बतलाना है इतना। आहाहा! **यदि अकेले आत्मा से उत्पन्न होते तो सिद्ध आत्मा में भी राग-द्वेष-मोह पाये जाते।** तो सिद्ध में भी होना (चाहिए)। ऐ चेतनजी! आया था न वहाँ? कहाँ? ईडर... ईडर।

मुमुक्षु : मित्र....

पूज्य गुरुदेवश्री : मित्र....

मुमुक्षु : उपाधि पर्याय की....

पूज्य गुरुदेवश्री : विकाररूप आत्मा (हो) तो सिद्ध को (भी) होना चाहिए। रात्रि में चर्चा करते हैं... क्या हो?

अधिक लिखने से क्या? राग-द्वेष-मोह पुद्गल और आत्मा दोनों के संयोग से होते हैं।' प्रमाण का ज्ञान है, हों! **जीव-पुद्गल परस्पर एक-दूसरे के लिए निमित्त-नैमित्तिक हैं।** इस कारण से कहा, यहाँ स्पष्ट करते हैं। **एक-दूसरे के लिए निमित्त-नैमित्तिक हैं, परन्तु यह ग्रन्थ निश्चयनय का है।** अब यहाँ की बात की, देखो! परन्तु यह ग्रन्थ निश्चयनय का है, इसलिए प्रमाण की बात न करके, निश्चय की बात की है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? द्रव्यसंग्रह में यह सब प्रमाण का ज्ञान बतलाने के लिये बहुत-बहुत कहा है।

यह ग्रन्थ निश्चयनय का है, सो यहाँ राग-द्वेष-मोह को पुद्गलजनित बताया है, ये आत्मा के निजस्वरूप नहीं हैं। इसी प्रकार शुभाशुभ क्रिया पौद्गलिक कर्मों के उदय से जीव में होती है... पौद्गलिक कर्मों के उदय से जीव में होते हैं शुभाशुभ परिणाम। **अतः क्रिया भी पुद्गल जनित है।** राग-द्वेष के परिणाम भी पुद्गलजनित, ऐसा निश्चय कहा है शुद्धनिश्चय से। अरे, अरे!

ये आत्मा के निजस्वरूप नहीं हैं। लो। शुद्ध स्वभाव भगवान आत्मा... परम शुद्ध निश्चयनय से तो यह (रागादि) आत्मा के हैं ही नहीं। यह आया है न द्रव्यसंग्रह में। परम शुद्ध निश्चय से तो आत्मा के भी नहीं और पुद्गल के भी नहीं। ले, ऐसा कहा वापस।

मुमुक्षु : द्रव्यसंग्रह में कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा है न। एक ओर उस द्रव्यसंग्रह में यह कहा। दोनों से हुए। दूसरे प्रकार से यह कहा कि साक्षात् शुद्ध निश्चय से लें तो विकार है ही नहीं कहीं। नहीं आत्मा से हुए, नहीं पुद्गल से हुए। अवस्तु है। गजब ऐसा ज्ञान सब करना भारी कठिन लोगों को!

वह कहे, एक ही आत्मा है यह ईश्वर ने किया, जाओ अब छूटो। ऐसा नहीं चलता। यह भूला है तो वह भूल क्या है? भूल न हो तो उसे आनन्द का अनुभव प्रत्यक्ष

होना चाहिए और आनन्द का अनुभव नहीं तो उसे प्रत्यक्ष भूल है। भूल होने पर भी वह भूल स्वभाव में है नहीं। भूल टालकर निर्भूल भगवानस्वरूप हो सकता है—ऐसा सब इसे सत्य निर्णय करना चाहिए न। समझ में आया? **इसी प्रकार शुभाशुभ क्रिया पौद्गलिक कर्मों के उदय से जीव में होती है...** राग-द्वेष आदि पलटना। **ये क्रिया भी पुद्गलजनित है।** पुद्गलजनित ही है, स्वभावजनित नहीं। स्वभावजनित हो तो सदा ही हुआ ही करे। यह तो एक पेरेग्राफ देखे (तो) बहुत नय की अपेक्षायें रखकर बात की है।

सारांश यह है कि शुभाशुभ कर्म व शुभाशुभ क्रिया को आत्मा का मानना... राग-द्वेषभाव **और ये दोनों का कर्ता जीव को ठहराना अज्ञान है।** लो। जड़ की पर्याय आत्मा का कहना, मानना अज्ञान है, ऐसे पुण्य-पाप के परिणाम आत्मा करे, यह (मान्यता) भी अज्ञान है। समझ में आया? जड़ की पर्याय का कर्ता आत्मा को मानना, वह अज्ञान है और विकारी परिणाम का कर्ता आत्मा को मानना, वह भी अज्ञान है। क्यों? भान नहीं इसलिए अज्ञानता है। स्वभाव का भान हो तो उसे राग-द्वेष, मोह होते ही नहीं। उसमें है ही कहाँ? वस्तु में कहाँ है? समझ में आया?

मुमुक्षु : आज तो कठिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत कठिन विषय कठोर। परन्तु यह तो विचारे और एक मनन करे न, तो जँचे, ऐसा है। यह कहीं जँचे नहीं—ऐसा नहीं है।

परन्तु मार्ग ऐसा है कि अन्दर समझ के सब पहलू स्पष्ट होना चाहिए और कहीं यदि भूतड़ा (विपरीतता) रह जाये तो अन्तर्मुख जाने की योग्यता नहीं होती। समझ में आया? और वास्तविक समझ हो जाये तो भी उसके अभाव से अन्तर में जा सकता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म? सवेरे सूक्ष्म, अभी सूक्ष्म।

मुमुक्षु : अब गर्मी.... सूक्ष्म ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गर्मी में देखो न मलमल के कपड़े पहनते हैं, देखो! सेठी मलमल पहनकर आये, देखो। सर्दी में वह मोटा लम्बा कोट पहनकर आवे। देखो न यहाँ का....

सारांश यह है कि शुभाशुभ कर्म-जड़ और शुभाशुभ क्रिया-परिणाम को आत्मा का मानना और उन दोनों का कर्ता जीव को ठहराना अज्ञान है। आहाहा! पेरेग्राफ तो पूरा चला। उसमें भी बहुत पहलू... पचता हुआ थोड़ा-थोड़ा।

मुमुक्षु : ....हजम थोड़ा हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : ... आत्मा तो अपने चिद्भाव कर्म और चैतन्य क्रिया का कर्ता है... देखो, लो! भगवान आत्मा तो, ज्ञानभाव वह कार्य और चैतन्य क्रिया का कर्ता है। आहाहा! जो त्रिकाली चैतन्यस्वभाव, उसकी परिणमन की क्रिया का और उसका कार्य हुआ उसका, वह आत्मा कर्ता है। राग का भी नहीं और व्यवहार का भी नहीं तथा कर्म का तो (नहीं ही)। **पुद्गलकर्मों का कर्ता पुद्गल ही है।** लो।

मिथ्यात्व के उदय से जीव साता-असाता आदि कर्म और दया दान पूजा व विषय कषाय आदि शुभाशुभ क्रिया में... देखो भाव। मिथ्यात्व के उदय से जीव साता-असाता आदि कर्म... यह मेरा कर्म... मेरा कर्म....

मुमुक्षु : मेरा पुण्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा! हम पुण्य करके आये हैं, देखो हम पुण्यशाली हैं। समझ में आया?

एक लड़का उसके पिता को लिखता था। पैसा बहुत न दे। पूना में पढ़ता था। खर्च के देते खाने-पीने के। सब दे पैसे खाने के, पुस्तक के सब ही। जेब खर्च के पैसे देते होंगे थोड़े से २५-५० रुपये। इसलिए उसके पिता को पत्र लिखा। 'बापूजी! हम गृहस्थ के घर में अवतरित हुए हैं। इसलिए जेब (खर्च के) २०० रुपये महीने के खर्च के चाहिए। खाने-पीने का, चोपड़ी—पुस्तक के अतिरिक्त।' समझ में आया? नाम नहीं दिया जाता।

मुमुक्षु : लड़का होशियार लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़का होशियार था बेचारा। मर गया, छह महीने में मर गया। परन्तु लड़के ने लिखा कि आप हमको पुस्तक के, मास्टर के... क्या कहलाता है?

मुमुक्षु : फीस के, फीस के।

पूज्य गुरुदेवश्री : फीस के, खर्च के, भोजन के सब पैसे देते हो। खर्च करने के कुछ थोड़े देते होंगे, इसलिए पत्र लिखा।

एक महीने के २०० रुपये जेब खर्च के चाहिए। खाने-पीने-पुस्तक और फीस के अतिरिक्त। और तुमको न पोसाता हो तो काका को... दोनों शामिल थे दूसरे उसके काका, तो आप तुम्हारे खाते में लिखकर भी भेजना। क्योंकि वह रुपये की थैलियाँ जब आती हैं हजार-दो हजार, तब वे मजदूर बाहर रखते हैं और यहाँ कमर टूटती है हमारी। क्योंकि पहले रुपये रोकड़ा थे न तब और अन्दर ले जाना हो, कहाँ रखना हो वह मजदूर को खबर न पड़ने दे। इसलिए घर के व्यक्ति (रखे)। दरवाजा हो वहाँ रख जाये पैसा। थैली थीं, थैलियों की थैलियाँ। हजार-हजार, दस, बीस हजार, लाख, दो लाख....

अब रुपये बहुत। बड़े गृहस्थ थे। इसलिए लड़कों को बुलावे कि वहाँ से अपने दरवाजे में से यहाँ ले आओ। व्यक्ति को वहाँ खड़ा रखो। यह कमर हमारी टूटती है। अब जेब (खर्च) के २०० रुपये का खर्च काका को न पोसाता हो तो तुम्हारे खाते में लिखकर भेजना। ऐई!

मुमुक्षु : बाप तो इसका सगा है न....

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो, वह लड़का ऐसा। विवाह करके मर गया, विवाह करके छह महीने में मर गया। यह सब संसार....

यहाँ तो कहते हैं कि **दया दान पूजा व विषयकषाय आदि शुभाशुभ क्रिया में अहंबुद्धि करता है।** यह पुण्य और पाप के भाव में अहंबुद्धि करता है (कि) यह 'मैं हूँ', वह मिथ्यात्वभाव है। विशेष कहा जायेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५३, फाल्गुन कृष्ण १२, बुधवार, दिनांक २४-३-१९७१
कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार का सार तथा पुण्य-पाप एकत्व द्वार, पद १, २, ३

साता-असाता आदि कर्म... साता-असाता कर्म जो बाँधा हो, उसे अज्ञानी ठीक मानता है, अहंपना मानता है और उसके फल में संयोग मिले, उनमें भी अहंपना मानता है। हम पैसेवाले, हम निर्धन, हम मूरख, हम प्रमुख—ऐसे बाहर के साता-असाता के फल में अहंपना माने, वह मिथ्यात्वभाव है।

मुमुक्षु : पुण्य से पैसा मिले, ऐसा माने, उसमें मिथ्यात्व है?

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यादृष्टि। पुण्य से पैसा माने, ऐसा इसने कहाँ माना है? पुण्य मेरा है और उससे पैसे मिलते हैं, यह (मान्यता) मिथ्यात्वभाव है। जीव को पुण्य कैसा? पुण्य तो राग है, बन्धन है, जड़ है। साता-असाता जो बन्धन है, वह जड़ है।

मुमुक्षु : जीव का नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव का है? अजीव है। अजीव होकर रहे हैं, उसे वह मेरा मानता है। मेरा पुण्य है, वह मेरा पाप है। उसे निर्धनपना हो तो असाता के उदय (के कारण से), हमारे असाता, हमारा पापकर्म, हमको यह दु:ख होता है (ऐसा माने वे) सब मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। कहो, समझ में आया?

यह तो ठीक, अभी उससे (अधिक) अब आता है। अन्दर में दया-दान-व्रत-पूजा, विषय-कषाय के भाव वे शुभ और अशुभ भी मैं हूँ, मेरा कर्तव्य है—यह माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है। लो, दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा इत्यादि यह थोड़े शब्द डाले हैं। कहो, समझ में आया? शुभराग है, विकल्प है, विभाव है। स्वभाव त्रिकाली शुद्ध चैतन्य उससे अत्यन्त विरुद्ध भाव है। यह मेरा कार्य है, यह मेरी क्रिया है, यह मेरा भाव है—यह (मान्यता) वह सब मिथ्यात्वभाव है। कहो, धरमचन्दजी! ऐसी बात है।

साता-असाता कर्म जो बँधे हुए हैं जड़, वे मेरे हैं, मैंने बाँधे हैं और हमको उसका फल आता है, (ऐसा माने वह) मूढ़ है।

मुमुक्षु : मूढ़ हो परन्तु पैसादार तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसादार कब था ? मूढ़ है, मिथ्यात्वी है। मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्ववाला है, पैसावाला नहीं। पोपटभाई! भारी कठिन भाई यह तो! जीव मानता है अज्ञान से (क्योंकि) भान नहीं।

मुमुक्षु : वह कैसे हो जाता होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे हो जाये (क्योंकि) उसे भान नहीं।

'मैं एक सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, शुद्ध आनन्दकन्द हूँ, अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ हूँ, वह मैं हूँ। मेरी चीज़ में यह पुण्य-पाप के भाव और उनका बन्धन, वह मेरी चीज़ में नहीं है।' यहाँ कर्म... दो आये थे न—कर्म और कर्म का फल। अथवा कर्म—घातिकर्म के निमित्त के सम्बन्ध में जो कुछ पुण्य-पाप के भाव हों, उनका अहंपना माने, वह भी मिथ्यादृष्टि है और अघातिकर्म मेरे हैं और अघाति कर्म का फल मिले, वह मेरा है। पुत्र व्यवस्थित, पैसा, इज्जत, कीर्ति, मकान वह अहं (—मैं), वे मेरे (ऐसा माने वह) मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। समझ में आया ?

देखो, यहाँ है। **...शुभाशुभ क्रिया में अहंबुद्धि करता है।** वह मेरी क्रिया है। दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा-यात्रा के भाव, वे मेरे हैं। विभाव, वह मेरा है। वह मेरा कर्म है, वह मेरा कार्य है, वह मेरी क्रिया है। यह मिथ्याभाव है कर्ता-कर्म-क्रिया। भगवान तो चैतन्यस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। उसके चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त उससे विपरीत भाव और उसके फल, बन्धनरूप से... बन्धन कर्म और उसके फलरूप से संयोग—इन तीनों में अहंपना, यह मेरे हैं, यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। आहाहा! समयसार... दूसरा है यह ? हिन्दी... हिन्दी है यह। पृष्ठ में अन्तर क्यों ? यह इसकी ओर का पृष्ठ है। कहाँ देखते हो ? जीव साता-असाता आदि जड़कर्म, वह कर्म मैं हूँ, ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि है और दया-दान-पूजा, विषय आदि शुभाशुभ क्रिया परिणाम में अहंबुद्धि करे (कि) यह मेरे कर्म हैं, यह मेरा कार्य है, मेरा कर्तव्य है और यह मेरी क्रिया है—यह मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया ? आहाहा!

और शुभाशुभ क्रिया में... बन्ध का कारण है। यह पुण्य और पाप के भाव, वह बन्ध का कारण है। उसे अबन्धस्वरूपी भगवान अपने माने, (वह) मिथ्यात्व बुद्धि है,

मिथ्यादृष्टि है, वह मिथ्यात्व को सेवन करता है। आहाहा! समझ में आया? **बन्ध परम्परा को बढ़ाता है...** पुण्य और पाप के भाव बन्धनरूप हैं और बन्धन की परम्परा बढ़ाते हैं। आहाहा! उसे अनादि से लार ऐसी की ऐसी आती है भटकने की। आहाहा! उन्हें अपना मानना (कि) यह पुण्यभाव मेरे, मैंने किये, यह काम मैंने किये, मेरे सुकृत से किये, मेरे भाव अच्छे थे—ऐसा मानता है, वह मूढ़ है, कहते हैं। गजब बात! है या नहीं सेठी उसमें? दया-दान-पूजा, विषय-कषाय आदि शुभाशुभ क्रिया सब, आहाहा! ऐसे महाव्रत की क्रिया... वह शुभ क्रिया है, वह मैं हूँ, वह मेरा कर्तव्य है, वह मेरी क्रिया है, (ऐसा माने, वह) मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

और शुभाशुभ क्रिया में अहंबुद्धि नहीं करना। शुभ-अशुभ विकल्प है, राग है, उसमें अहंपना, मेरापना नहीं करना। **अपनी नहीं मानना।** वह क्रिया अपनी नहीं, राग की—विभाव की है। **उनमें तन्मय नहीं होना।** राग की क्रिया में, दया-दान की क्रिया में तन्मय एकपने नहीं मानना। **नहीं होना सम्यक् स्वभाव है...** वह सम्यक्स्वभाव। आत्मा के ज्ञान में तन्मय होना—स्वभाव में तन्मय होना और दया-दान की क्रिया में तन्मय नहीं होना, यह निर्जरा का कारण है। कहो, समझ में आया?

यह अपवास करने का भाव (आदि) सब विकल्प राग है। आठ अपवास और महीने के अपवास और यह सब करते हैं न, वह धर्म नहीं। वृत्ति उठती है, तो विकल्प है, राग की वृत्ति है। उसमें मैंपना मानना, वह बन्ध का कारण है, इसलिए मिथ्यात्व है। आहाहा! उसमें तन्मय न होकर... हो भाव, परन्तु उसके साथ एकता न होने से, ज्ञानानन्दस्वभाव भगवान आत्मा में एकता हो, उसे संवर और निर्जरा होती है, उसे धर्म होता है। कहो, समझ में आया? **सम्यक् स्वभाव है—निर्जरा का कारण है।** वह बन्ध का कारण है, यह निर्जरा का कारण है। बस इतनी बात। यह अधिकार पूरा हुआ।

★ ★ ★

पुण्य-पाप एकत्व द्वार

अब, **पुण्य-पाप एकत्व द्वार**। यह पुण्य और पाप दोनों एक ही जाति के हैं। चाहे तो पुण्यबन्धन हुआ हो या पापबन्धन हुआ हो, चाहे तो दया-दान-व्रत-भक्ति के शुभभाव हो, चाहे तो हिंसा-झूठ आदि के पाप भाव हो—दोनों एक जाति है।

मुमुक्षु : तो उसमें करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्या चलता है यह? उनसे भिन्न पड़कर आत्मा में यह करना। आत्मा में। आत्मा है या नहीं वस्तु? आत्मा चीज़ है या नहीं अन्दर? यह पुण्य-पाप तो विकल्प है, वह तो वृत्तियाँ है, राग है। उसके बिना की चीज़ है या नहीं अन्दर? उसमें एकाग्र होना, ऐसा कहते हैं। कभी दिशा देखी नहीं, इसलिए उसे सुनना कठिन पड़े, ऐसा लगता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहा?

मुमुक्षु : खोटे रास्ते चढ़ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : खोटे रास्ते। बात सच्ची। मूल इसे रास्ता ऐसा... अनादि से दृष्टि पड़ी है इसकी और इसके कहनेवाले भी ऐसे मिले इसे, इसलिए इसे झुकाव वहाँ हुआ। परन्तु अन्दर चिदानन्द भगवान है, अनन्त आनन्द का धाम आत्मा है, उसमें एकाकार होना, यह बात इसने सुनी नहीं, इसलिए कहाँ जाना? ऐसा इसे होता है। समझ में आया? आहाहा! क्या हो?

★ ★ ★

काव्य - १

पुण्य-पाप एकत्व द्वार। लो, ऊपर है न। दोनों एक ही है। इसके चार बोल लेंगे।

प्रतिज्ञा (दोहा)

करता किरिया करमकौ, प्रगट बखान्यौ मूल।
अब बरनौं अधिकार यह, पाप पुन्न समतूल।।१।।

शब्दार्थः-प्रगट=स्पष्ट। बखान्यौ=वर्णन किया। बरनौं=कहता हूँ। समतूल= समानता।

अर्थः-कर्ता, क्रिया और कर्म का स्पष्ट रहस्य वर्णन किया। अब पाप-पुण्य की समानता का अधिकार कहते हैं।।१।।

काव्य - १ पर प्रवचन

करता किरिया करमकौ, प्रगट बखान्यौ मूल।
अब बरनौं अधिकार यह, पाप पुन्न समतूल॥१॥

कर्ता, क्रिया और कर्म का स्पष्ट रहस्य वर्णन किया। **अब पाप-पुण्य की समानता का अधिकार कहते हैं**। पुण्य और पाप दोनों बन्ध के कारण हैं, दोनों एक ही हैं। सोना की बेड़ी और लोहा की बेडी। अरे! यह कहते हैं, देखो। नीचे पहला कलश है न!

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन्।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः॥१॥

इसका पद दूसरा। मंगलाचरण। मंगलाचरण।

★ ★ ★

काव्य - २

मंगलाचरण (कवित्त मात्रिक)

जाके उदै होत घट-अंतर,
बिनसै मोह-महातम-रोक।
सुभ अरु असुभ करमकी दुविधा,
मिटै सहज दीसै इक थोक।।
जाकी कला होत संपूरन,
प्रतिभासै सब लोक अलोक।
सो प्रबोध-ससि निरखि बनारसि,
सीस नवाइ देत पग धोक।।२।।

शब्दार्थ:-मोह-महातम=मोहरूपी घोर अन्धकार। दुविधा=भेद। इक थोक=एक ही। प्रबोध-ससि=केवलज्ञानरूप चन्द्रमा। पग धोक=चरणवन्दना।

अर्थ:-जिसके उदय होने पर हृदय से मोहरूपी महा अंधकार नष्ट हो जाता है, और शुभकर्म अच्छा है व अशुभकर्म बुरा है, यह भेद मिटकर दोनों एकसे भासने लगते हैं, जिसकी पूर्ण कला के प्रकाश में लोक-अलोक सब झलकने लगते हैं; उस केवलज्ञानरूप चन्द्रमा का अवलोकन करके पंडित बनारसीदासजी मस्तक नवाकर वन्दना करते हैं।।२।।

काव्य - २ पर प्रवचन

जाके उदै होत घट-अंतर,
बिनसै मोह-महातम-रोक।
सुभ अरु असुभ करमकी दुविधा,
मिटै सहज दीसै इक थोक॥
जाकी कला होत संपूरन,
प्रतिभासै सब लोक अलोक।

सो प्रबोध-ससि निरखि बनारसि,
सीस नवाइ देत पग धोक॥२॥

देखो, यह बनारसीदास। कलश में जो भाव आचार्यों ने भरे हैं, उन्हें यहाँ पद्य में वे स्वयं कहते हैं, हिन्दी पद में। उनका है तो वह पद संस्कृत है। यह हिन्दी पद में स्वयं (कहते हैं)।

'**जाके उदै होत घट-अंतर**' चन्द्रमा चैतन्य भगवान, पुण्य और पाप के विकल्प से भिन्न ऐसा चैतन्य भगवान जहाँ प्रगट होता है, कहते हैं। पुण्य-पाप के दो भाव बन्ध के ही कारण हैं—ऐसा समझकर, उनसे भिन्न पड़कर, आत्मा जहाँ घट अन्तर में प्रगट होता है। मैं चैतन्य शुद्ध चन्द्र हूँ। है न अन्दर? '**प्रबोध-ससि निरखि**' वह चन्द्रमा शान्त चन्द्रमा शीतल... शीतल... पुण्य और पाप के भाव आकुलतावाले हैं। इससे यहाँ कहते हैं। **पूर्ण कला के प्रकाश में लोक-अलोक सब झलकने लगते हैं। (उस) केवलज्ञानरूप चन्द्रमा का अवलोकन करके...** केवलज्ञानरूपी चन्द्र। निजस्वरूप भगवान चैतन्यमूर्ति, उसे पुण्य और पाप के राग से भिन्न करके स्वरूप में एकाग्र होने से केवलज्ञान होता है, ऐसा लिया एकदम।

'**जाके उदै होत घट-अंतर**' देखो, उदय शब्द प्रयोग किया है। चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा मैं। मुझमें यह पुण्य और पाप के विकल्प और बन्धन है नहीं। '**बिनसै मोह-महातम-रोक**' मोहरूपी महा घोर अन्धकार जहाँ रुक जाता है, नष्ट हो जाता है। चैतन्यसूर्य का पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न पड़ने से भगवान आत्मा एकरूप चैतन्य के ज्ञान की ज्योतिरूप से झलकता है, वहाँ मिथ्यात्व रुक जाता है, वहाँ महामोह नाश हो जाता है। सूर्य के उगने से अन्धकार नहीं रहता। कहो, समझ में आया? अनादि से पुण्य और पाप के भाव का विकल्प उदय पाता था, उसमें चैतन्यस्वभाव प्रकाश का अनादर था। और जब आत्मा, अपने स्वभाव की शुद्धता का आदर करने से, पुण्य और पाप की अशुद्धता को दृष्टि में से छोड़ने से, अन्तर्मुख होकर भगवान आत्मा को स्पर्श करता है, तब ज्ञान प्रगट होता है। आहाहा! समझ में आया?

'**बिनसै मोह-महातम-रोक, सुभ अरु असुभ करमकी दुविधा**' यह पुण्य और

पाप के दोनों बन्धन, दोनों दुविधा। '**मिटै सहज दीसै इक थोक**।' यह पुण्य और पाप के बन्धन दोनों छूटकर अकेला ज्ञान का, आनन्द का थोक भगवान अकेला दिखता है। आहाहा! समझ में आया? एक ही, ऐसा। एक ही आत्मा। जिसे अन्दर शुभ-अशुभराग के विकल्प का जिसे सम्बन्ध नहीं, समझ में आया? ऐसा आत्मा एकरूप दिखता है, ऐसा कहते हैं। वह दो रूप दिखता था न (कि) पुण्य और पापरूप हूँ, ऐसा। पुण्य और पाप के दो भाव मैल—विकार हैं—उसरूप मैं हूँ, ऐसा दिखता था। उससे भिन्न करके ज्ञायकमूर्ति एकरूप दिखता है, इसका नाम सम्यग्ज्ञान चन्द्रमा और केवलज्ञान चन्द्रमा कहा जाता है। अकेला ज्ञान प्रगट हुआ कहो और फिर आगे बढ़कर केवलज्ञान प्रगट हुआ कहो, ऐसा।

'**जाकी कला होत संपूरन**' पहली कला निकली, ऐसा कहते हैं। चन्द्रमा में जैसे पहली दूज उगती है, उसी प्रकार भगवान आत्मा में पुण्य और पाप के दो भावों से भिन्न भगवान अन्तर्मुख की दृष्टि करने से उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की पहली कला खिलती है। समझ में आया? '**जाकी कला होत संपूरन**' और वह कला पुण्य-पाप के दो भेदों को तोड़ती हुई, एकरूप स्वभाव में एकाकार होती हुई, वह ज्ञान की कला साधकदशा पूर्ण होती है, केवलज्ञान को प्राप्त होती है। '**प्रतिभासै सब लोक अलोक**' उसमें तो लोक और अलोक भासित हो, ऐसा उसका चैतन्य का स्वरूप है। '**सो प्रबोध-ससि**' वह ज्ञानरूपी चन्द्रमा। प्रबोध अर्थात् ज्ञानरूपी चन्द्रमा। वह ज्ञानरूपी अन्दर चन्द्रमा भगवान '**ससि निरखि...**' उसे निरखकर बनारसी '**सीस नवाइ देत पग धोक**' चरणवन्दना करते हैं। ऐसे आत्मा के आनन्द को और ज्ञान को वन्दन करते हैं।

कवि है न यह तो। बहुत ऊँचे कवि हैं बनारसीदास अध्यात्मकवि। समझ में आया? पहले बहुत व्यभिचारी (शृंगारी कवि) थे। जवान शरीर, व्यभिचार में चढ़ गये। इसमें उन्हें बोध लगा अन्दर का। ओहो! व्यभिचार की पुस्तकें बनायी। बड़े कवि जोरदार कवि। ऐसे तुलसीदास और ये दोनों मिले, इकट्ठे हुए। समझ में आया? यह तो जोरदार अध्यात्म में। वे पुस्तकें सब गोमती में डाल दीं। है न अपने पास एक पुस्तक, उसमें लिखा है, फोटो है। गोमती में डाल दी। तत्पश्चात् (नाटक समयसार के पद) नये बनाये। ओहो! सत्य वस्तु यह है। चैतन्य भगवान की प्राप्ति करनी हो तो यह मार्ग

है। पुण्य और पाप के दोनों विकल्पों को छोड़कर दृष्टि में अकेला चिदानन्द आत्मा को लेकर उसमें एकाग्र होना, वह ज्ञानकला है। आहाहा! समझ में आया?

पुण्य परिणाम के साथ एकत्व होना, वह तो व्यभिचार है। क्योंकि स्वभाव सहजानन्दमूर्ति आत्मा और राग है, वह विभाव, विकल्प, दु:ख—दोनों का एकपना—सुख और दु:ख का एकपना—यही व्यभिचार है। समझ में आया? अरे गजब बातें! पहले तो समझना ही कठिन पड़े अब फिर उतरना तो और कहाँ! पण्डितजी! इसलिए बेचारे लोग उतर गये बाहर में। ऐई! वे कहे भक्ति करो, वे कहे दया पालो, वे कहे यात्रा निकालो। यह कहे ऐसा खाना और न खाना, यह आहार की क्रिया में उतर पड़े वे सब। आहाहा! यह सब क्रिया के विकल्प से पार आत्मा है। उसका जहाँ भान हो, तथापि कहते हैं '**सीस नवाइ देत पग धोक**'

ऐसे केवलज्ञानरूपी चन्द्रमा को... अकेला ज्ञानरूपी चन्द्रमा, ऐसा। अर्थात् पुण्य-पाप रहित। ऐसे चन्द्रमा को शीतल... शीतल... शान्त स्वभाव। पुण्य-पाप का (जिसमें अभाव है)। परन्तु यहाँ चन्द्रमा क्यों लिया कि पुण्य-पाप का विकल्प है, वह आकुलता है, आकुलता, आताप है। आहाहा! शुभ और अशुभभाव—दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा शुभभाव और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभाव—दोनों आकुलता है, आताप है, दोनों अग्नि है। उसे छोड़कर भगवान चिदानन्द आत्मा का जिसने शरण लिया, वह शीतल चन्द्रमा आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? यह पहली लाईन हुई। '**पग धोक**' है न? चरणवन्दना, ऐसा। '**पग धोक**' पग अर्थात् चरण। धोक अर्थात् वन्दना। **बनारसीदास मस्तक नवाकर वंदना करते हैं**। लो। अर्थ में लिखा है, देखो।

जिसके उदय होने पर हृदय से मोहरूपी महा अन्धकार नष्ट हो जाता है। चन्द्रमा शीतल आत्मा भगवान। **शुभकर्म अच्छा व अशुभकर्म बुरा, यह भेद मिटकर...** पुण्य अच्छा और पाप खराब, यह भेद मिट जाता है। आहाहा! **दोनों एक से भासने लगते हैं।** पुण्य और पाप के भाव दोनों विकल्प—राग बन्ध के कारण एकरूप से भासित होते हैं। **जिसकी पूर्णकला के प्रकाश में लोक-अलोक सब झलकने लगते हैं**। तीन काल-तीन लोक उसके ज्ञान में प्रकाशित होते हैं, ऐसी कला को आगे बढ़ाकर केवलज्ञान

होता है। **केवलज्ञानरूप चन्द्रमा का अवलोकन करके बनारसीदास मस्तक नवाकर (वन्दना करते हैं)** लो। दूसरा कलश, दूसरा।

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः,
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जाति-भेद-भ्रमेण॥२॥

★ ★ ★

काव्य - ३

पुण्य-पाप की समानता (सवैया इकतीसा)

जैसैं काहू चंडाली जुगल पुत्र जनें तिनि,
एत दीयौ बांभनकै एक घर राख्यौ है।
बांभन कहायौ तिनि मद्य मांस त्याग कीनौ,
चंडाल कहायौ तिनि मद्य मांस चाख्यौ है।।
तैसैं एक वेदनी करमके जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है।
दुहूं मांहि दौर धूप दोऊ कर्मबंधरूप,
यातैं ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ है।।३।।

शब्दार्थः-जुगल=दो। बांभन=ब्राह्मण। भिन्न=जुदे। भाख्यौ=कहा। दौर धूप=भटकना। अभिलाख्यौ=चाहा।

अर्थः-जैसे किसी चांडालनी के दो पुत्र हुये, उनमें से उसने एक पुत्र ब्राह्मण को दिया और एक अपने घर में रक्खा। जो ब्राह्मण को दिया, वह ब्राह्मण कहलाया और मद्य-माँस का त्यागी हुआ, पर जो घर में रहा, वह चाण्डाल कहलाया और मद्य-माँस भक्षी हुआ। उसी प्रकार एक वेदनीय कर्म के पाप और पुण्य भिन्न-भिन्न नाम वाले दो

पुत्र हैं, सो दोनों में संसार की भटकना है और दोनों बंध-परंपरा को बढ़ाते हैं इससे ज्ञानी लोग दोनों ही की अभिलाषा नहीं करते।

भावार्थ:-जिस प्रकार पापकर्म बन्धन है तथा संसार में भ्रमानेवाला है, उसी प्रकार पुण्य भी बन्धन है, और उसका विपाक संसार ही है, इसलिए दोनों एक ही से हैं, पुण्य सोने की बेड़ी के समान और पाप लोहे की बेड़ी के समान है, पर दोनों बन्धन हैं।।३।।

काव्य - ३ पर प्रवचन

पुण्य-पाप की समानता

जैसैं काहू चंडाली जुगल पुत्र जनें तिनि,
एत दीयौ बांभनकै एक घर राख्यौ है।
बांभन कहायौ तिनि मद्य मांस त्याग कीनौ,
चंडाल कहायौ तिनि मद्य मांस चाख्यौ है॥
तैसैं एक वेदनी करमके जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है।
दुहूं मांहि दौर धूप दोऊ कर्मबंधरूप,
यातैं ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ है॥३॥

आहाहा! क्या कहते हैं, देखो अब। जैसे... एक चाण्डालनी हो, उसने दो पुत्रों को जन्म दिया। जुगल पुत्रों को जन्म दिया—दो को जन्म दिया। मूल तो उनकी उत्पत्ति चाण्डालनी में से है दोनों की। '**एक दीयौ बांभन ने।**' एक ब्राह्मण को पुत्र नहीं था, वह उसे दिया, परन्तु है तो चाण्डालनी का पुत्र। एक घर में रखा है। एक चाण्डालनी ने घर में रखा, दोनों में से। '**बांभन कहायौ तिनि मद्य मांस त्याग कीनौ।**' ब्राह्मण कहता है कि हमारे मधु नहीं चलता, मदिरा नहीं चलती, माँस नहीं चलता, यह नहीं चलता, यह नहीं चलता। है तो चाण्डालनी का पुत्र वह भी, परन्तु ब्राह्मण कहलाया। उसे (—ब्राह्मण के) घर दिया। यह हमारे नहीं चलता, यह हमारे नहीं चलता। यह हमारे

नहीं चलता, ऐसा करके मद्य-माँस छोड़ दिये। छोड़े तो भी है तो चाण्डालनी का ही पुत्र। '**चंडाल कहायौ तिनि मद्य-मांस चाख्यौ है।**'

'**तैसैं एक वेदनी करमके जुगल पुत्र।**' वेदनीय कर्म एक और उसके दो पुत्र—साता और असाता। '**एक पाप एक पुन्न।**' एक वेदनीय कर्म पाप और एक पुण्य। और उस वेदनीय कर्म बाँधने के कारण में साता पुण्यरूप से, उसका कारण शुभभाव और असाता पापरूप से, उसका कारण अशुभ (भाव)। दोनों शुभाशुभभाव विभाव चाण्डालनी के पुत्र हैं। जैसे उस चाण्डालनी के दो पुत्र थे। एक ब्राह्मण के घर में रखा, एक (स्वयं के) घर में रहा। उसने मद्य-माँस छोड़ दिये। इसने चखा है अर्थात् कि उसमें रहता है, खाता है, पीता है। इसी प्रकार पुण्य और पाप दोनों एक जाति के पुत्र—विभाव चाण्डालनी के पुत्र हैं। समझ में आया? अरे, गजब बात!

भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान की मूर्ति, उससे विरुद्ध विभाव है। उस विभावरूपी विकाररूपी परिणति के दो पुत्र हैं, पुण्य और पाप। चाण्डालनी के जैसे दो पुत्र, उसी प्रकार इस विभाव के दो पुत्र हैं। उसमें एक भी कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है। आहाहा! यह तो समझ में आये ऐसा है, हों! जरा स्थूल है यह सब। '**एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है।**' भिन्न-भिन्न नाम दिये, (परन्तु) है तो चाण्डालनी के पुत्र विभाव के दोनों। एक का नाम पुण्य और दूसरे का नाम पाप।

'**दुहूं मांहि दौरधूप दोऊ कर्मबंधरूप।**' **एक वेदनीय कर्म के पाप और पुण्य भिन्न-भिन्न नामवाले दो पुत्र हैं, सो दोनों में संसार की भटकना है।** दोनों संसार में ही जाने का (कारण) है। शुभभाव हो या अशुभ हो, दोनों संसार का कारण हैं। यहाँ कर्म की मुख्यता ली है परन्तु सब कारण भी अन्दर इकट्ठे ले लेना। यह श्लोक आयेगा। समझ में आया? '**दुहूं मांहि दौरधूप**' दोनों संसार की दौड़ करानेवाले—भटकानेवाले हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! शुभ और अशुभभाव दोनों संसार में भटकानेवाले हैं। '**दोऊ कर्मबंधरूप।**' पुण्य और पाप के भाव दोनों कर्म के बन्धरूप हैं।

'**यातैं ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ है।**' धर्मी जीव ने इन पुण्य और पाप दोनों भाव में से एक की भी अभिलाषा नहीं की। वे दोनों भाव मेरे, ऐसा उसे नहीं होता।

आहाहा! व्रत का भाव वह पुण्य; अव्रत का भाव, वह पाप—दोनों विभाव चाण्डालनी के पुत्र। धर्मी जीव अपना भगवान ध्रुव चिदानन्द सच्चिदानन्द प्रभु, ऐसी अन्तर में दृष्टि करने से पुण्य और पाप के दोनों भाव में से एक की भी वह अभिलाषा नहीं करता—इच्छा नहीं करता। पुण्य की इच्छा नहीं, पाप की उसे इच्छा है नहीं। आहाहा! समझ में आया? अर्थ में है न '**दौरधूप**'—भटकना। दौड़धूप अर्थात् भटकता। दौड़धूप।

अर्थ : जैसे किसी चाण्डालनी के दो पुत्र हुए, उनमें से उसने एक पुत्र ब्राह्मण को दिया और एक अपने घर में रखा। जो ब्राह्मण को दिया, वह ब्राह्मण कहलाया और मद्य-मांस का त्यागी हुआ, पर जो घर में रहा वह चाण्डाल कहलाया और मद्य-मांसभक्षी हुआ। ऐसे एक वेदनीयकर्म के पुण्य और पाप दो भाग। **भिन्न-भिन्न नामवाले दो पुत्र हैं, दोनों में संसार की भटकना है।** अरे, अरे, गजब!

शुभभाव हो या अशुभभाव हो, इससे शुभबन्धन करो या अशुभबन्धन करो, उससे शुभ बाहर के फल मिलो या अशुभ मिलो—वह सब संसार भटकने का है। कहो, पोपटभाई! यह पूर्व में कोई शुभभाव बाँधे होंगे न, शुभभाव हुए होंगे, उसका बँधा पुण्य और उसका बँधा यह धूल।

मुमुक्षु : धूल कहाँ? रुपये हैं। नगद माल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नगद माल है, सड़ा हुआ माल है। आहा!

पुद्गल गन्ध मारे... गन्ध मारे ऐसे हैं ये रजकण। ऐसे बाहर पाप का उदय हो तो शरीर में कीड़े पड़ें, निर्धनता, अपमान, कहीं बुलावे नहीं कोई, काला शरीर। परन्तु कहते हैं कि वह भी अभिलाषायोग्य नहीं। और फिर पुण्य के कारण सुन्दर शरीर, वाणी अच्छी, जगत में आओ... आओ... आओ... आओ... पधारो... पधारो... पधारो... वह भी अभिलाषायोग्य नहीं। दोनों चाण्डालनी के पुत्र हैं। ऐई! सेठिया को बुलावे वे आओ... आओ साहेब... आओ साहेब, ऐसा। पधारो... पधारो... पधारो....

मुमुक्षु : गरीब को कौन बुलावे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दोनों एक जाति है, वे बुलावे और वह न बुलावे। दोनों पुण्य और पाप के फल एक चाण्डालनी के पुत्र (जैसे) हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या ? परन्तु पैसेवाले को बैठावे न ! पैसा लेना हो वापस। झाड़ना हो कुछ। पाँच-दस हजार के चन्दा के लिये। न दे परन्तु उसे भाव तो हो न उसको। वहाँ सामने बैठावे। उसे कहे, चन्दा होता है, भाई ! लिखाओ बड़े पहले। अब सामने लिखावे उसमें थोड़े में थोड़े पाँच सौ लिखाने पड़े। वह कहीं सौ-दो सौ नहीं लिखाये जाते। करोड़पति बैठा हो तो। पाँच सौ एक हमारे लिखो। साहेब ! परन्तु पहला तुम्हारा अंक लिखूँ तो छोटा पड़े। दस हजार लिखो। वहाँ वह स्वयं प्रसन्न हो जाये कि आहाहा !

मुमुक्षु : कितने अधिक दिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी प्रसन्न हो जाये, आहाहा ! दोनों चाण्डालनी के पुत्र हैं, सुन न अब ! समझ में आया ? और वह निर्धन बैठा हो एक ओर चाण्डाल। कोई सामने देखता न हो, शरीर काला और पैसा नहीं, बाँझ, अविवाहित। परन्तु वह तो बाहर के पुण्य के फल की सामग्री है, उसमें आत्मा कहाँ आया ? आहाहा ! समझ में आया ?

ज्ञानवन्त तो उसकी अभिलाषा नहीं करते हैं। अर्थात् ? कि निर्धनता, वह ठीक नहीं और सधनता, वह ठीक; पुण्यभाव ठीक और पापभाव ठीक नहीं। ऐसा आदर मिले खम्मा... खम्मा... आदर तो मिले बाहर में। इसी प्रकार धर्मी पुण्य और पाप के दोनों भाव को, उनके बन्धन को और उनके फल को बिल्कुल इच्छता नहीं। धर्मी की भावना तो आनन्द को अन्तर में बढ़ाने की होती है। आहाहा ! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु पिण्ड पड़ा है। धर्मी की दृष्टि अतीन्द्रिय ध्रुव के ऊपर होती है। उसके कारण अतीन्द्रिय आनन्दवृद्धि की भावना होती है। उसे पुण्य-पाप बढ़ाना और उनके फल लेना—यह भावना धर्मी की होती नहीं। आहाहा !

परन्तु यह तो बाहर में ऐसा दिखता है, एक चाण्डाल रोटी माँगता हो ऐसे... ऐई बापू ! कुछ देना। वह (दूसरा) खाजा खाता हो राजा। मखमल के कपड़े पहनता हो, लाख रुपये की मोटर में निकलता हो। अभी बड़ी होगी मोटर पहले (की अपेक्षा), लो न। है न वह लाख की क्या कहलाती है ? लाख की लाख... लाख। ईम्पाला, ऐसा कुछ

कहते हैं। है न तुम्हारे पूनमभाई के घर में? वह गढडावाले को है। दो व्यक्ति नहीं लाये? नहीं थे वहाँ भिवंडी? पहले (संवत्) २०१३ के (वर्ष में) गये थे न, दोनों लाये थे। आहा! अरे कहाँ बैठे? कौन बैठे? कहाँ बैठे? आत्मा अपने क्षेत्र को छोड़कर कहीं जाता-आता नहीं। कहीं बैठता ही नहीं। वह तो अपने आत्मा के क्षेत्र में स्वयं आत्मा है। समझ में आया?

अज्ञानी को इस प्रकार ऐसा लगे न ऐसा। सोने की कुर्सी हो हीरेजड़ित। है न वह दिल्ली में, नहीं? भाई मेहमानों को जीमने का। देखने गये थे न एक बार। कुर्सियाँ सब सोने की, हों! ..... वहाँ अपने थे न भाई साथ में। जयन्तीभाई डॉक्टर। नानालालभाई के दामाद। है न वहाँ बड़ा। बड़ा भवन कैसा?

मुमुक्षु : राष्ट्रपति भवन।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। छाछ देखो तो, आहाहा! और उसमें बैठे हों और कटोरे चाँदी के और उसमें उकाली हो, चाय डाले। बहुत दूध डाले। चाय हो तो रखे। धूल हो तो भी क्या? और अरबी के भुजिया ऐसे। थाली भी चाँदी की पड़ी हो, यह और हाथ में ऐसे। धूल भी नहीं, सुन न अब! वह तो सब पाप के उदय के जड़ के फल हैं। उसमें आत्मा कहाँ आया उसमें?

और निर्धन... काला शरीर, एक आँख फूट गयी हो, एक साधारण दिखाव और सुनाई न दे, घर में स्त्री नहीं, घर में पुत्र नहीं, महीने में दस रुपये कमाने आवे नहीं। तो भी यह दो चीज़ें आत्मा की नहीं। दोनों चीज़ें जानने योग्य है। एक को भी नकार करना कि यह ठीक और यह अठीक—यह मान्यता अज्ञानियों की है। आहाहा! कहो, पण्डितजी! यह बाहर में तो यह भपक भारी लगे न! ऐई!

और मुम्बई में देखो होटलें। देखो न, सम्बन्ध करे या ऐसा करे... मुम्बई में होता है न। दो हजार मनुष्य आज हमारे आनेवाले हैं। हुकम कर दे। एक-एक में पाँच-पाँच हजार, दस-दस, आठ-आठ हजार। कोई कहता था। लो न, जो हो वह।

मुमुक्षु : आठ तो साधारण होटल में होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ी होटल में कह दे, जाओ। हमारे दो हजार व्यक्ति आज

होनेवाले हैं। दूध और फलाना और ढींकणा रखना। तुम्हारे होटल ले लेना जाओ। कितने दस-दस रुपये ? बीस हजार ले लेना एक बार के। आहाहा! ... इकट्ठे हो वहाँ... उसके माँ-बाप गरीब हों और उसके लड़के ऐसे हों, वह उसे ऐसा हो जाये कि वाह! वाह! ऐ मोहनभाई! परन्तु लड़के ने प्रसिद्ध किया न! धूल में भी नहीं, सुन न! यह रंक हैं भिखारी।

जड़ की मोटाई से, पर की मोटाई से आत्मा की मोटाई माननेवाले धूल जड़ है। पोपटभाई!

मुमुक्षु : जड़ हैं या जड़बुद्धि है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जड़... जड़ ही है। जिसका पर की ओर का उपयोग जड़ है, तो उसे माननेवाला तो जड़ है। ऐई! आहाहा! अचेतन है, पागल है, मर गया हुआ मुर्दा है। आहाहा! दीनता को देखकर उहं... शरीर गन्ध मारे, रोटियाँ पचे नहीं, स्त्री मिले नहीं, दस बार जाये तब मुश्किल से रोटी का टुकड़ा मिले। परन्तु वह तो बाहर की चीजें, उसे आत्मा के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? उसमें यह निर्धनता आदि को ठीक न माने और सधनता की शोभा को ठीक माने, (तो) मूढ़ है, कहते हैं। पोपटभाई! गजब बातें ऐसी, हों! आहाहा!

कहते हैं, भगवान! सुन न प्रभु! तू तो चैतन्य की ज्योति है न, नाथ! आहाहा! तेरे परिणाम जो हैं निर्मल, वह भी पर्याय का एक अंश है। तेरे माल के समक्ष तो वह अंश भी बारदान है। आहाहा! उसके बदले पुण्य और पाप के भाव की गिनती ज्ञानी को होती नहीं। आहाहा! कठिन काम भाई ऐसा! समझ में आया ? भले छह खण्ड के राज में दिखाई दे और सातवें नरक के नारकी के स्थान में समकिती दिखाई दे.... सातवें नरक के नारकी। रौरव नरक में समकिती दिखाई दे। पाप करके वहाँ गया, भान हुआ, आत्मा का भान हुआ। वह नरक की वेदना और वे (संयोग) तेरा नहीं। इसकी अपेक्षा अनुकूलता हो तो अच्छी, ऐसा ज्ञानी को होता नहीं। आहाहा! समझ में आया ?

समकिती को इन्द्र के अवतार हों, करोड़ों इन्द्राणियाँ, खम्मा... खम्मा... और बड़े देव हाथी के रूप धारण करे और ऊपर चढ़े इन्द्र। तो भी वह समकिती ज्ञानी, यह

अच्छा होता है और यह ठीक है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! समझ में आया? ...परन्तु बाहर की यह सब भपका की लालच।

अठारह हाथी, आहाहा! मानो क्या है उसे! तब नहीं जयपुर? रथयात्रा निकली तो अठारह हाथी, अठारह ऊँट और कैसे दूसरे? घोड़ा-घोड़ा। २५-३० हजार लोग हों रथयात्रा में अन्तिम। लोग (कहे) क्या है परन्तु यह? भाई! यह तो, कहा, पुण्य के ठाठ की बातें, बापू! इसमें कहीं आत्मा नहीं एक यह। समझ में आया? पण्डितजी थे या नहीं जयपुर? इस बार कुछ करना चाहते हैं जरा। एक दिन ऐसा है और वैसा है, ऐसे समाचार आये हैं। बीस दिन किये हैं उसमें से फिर एक दिन-दो दिन करना, हमारे शोभायात्रा। परन्तु दिन कब थे यहाँ? आहाहा!

अरे! उसकी शोभा तो अन्दर है। वह आनन्द का नाथ उस आनन्द की कला से खिलता है, वह उसकी शोभा है। बाकी बाहर की धूल की शोभा और अशोभा, वह कहीं उसकी है नहीं। आहा! भारी कठिन पड़े लोगों को, हों! सुन्दर ऐसा शरीर और ऐसे मखमल का कुर्ता पहना हो, मखमल की टोपियाँ, मखमल के गद्दे पर बैठा हो, आहा! मानो लगे मानो बड़ा, हों! बापू! परन्तु वह सब तो जड़ है। उस जड़ में और राग में बैठा (बड़ा) माने, वह तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। और सातवें नरक का नारकी समकिती, वह आत्मा के भान में बैठा है। भले रौरव (नरक) की वेदना बाहर, समझ में आया? वह मुझे अठीक है, ऐसा वह मानता नहीं। वह तो ज्ञान का ज्ञेय है, ऐसा मानता है। आहाहा! समझ में आया?

धर्मी जीव को कोई पहिचाने तो उसकी कीमत हो, ऐसा होगा? और न पहिचाने तो उसकी कीमत नहीं होगा, ऐसा होगा? समझ में आया? आहाहा! बाहर में ऐसा कि मेरी महिमा हो, दुनिया कहे बड़ा हूँ, अच्छा है। आहाहा! उसमें कुछ ठीक करता है। उसमें सामने पड़ने के लिये प्रयास करे बेचारा! कहीं-कहीं सामने पड़कर हम कुछ गिनावे हमको। गिनावें जड़ में। आहाहा! समझ में आया? उसमें यह महत्ता माने। मूढ़ है, कहते हैं। भारी कठिन काम भाई ऐसा!

और अपनी हीनदशा को ढाँकना चाहता है। समझ में आया? आहाहा! एक तो

काली स्त्री हो, उसे आँख फूटी हुई हो। फिर ऐसी साड़ी ऐसे आड़े रखकर आँख न दिखाई दे ऐसा। आहाहा! क्या है, प्रभु! तुझे यह? क्या हुआ यह? तू सच्चिदानन्द अनन्त आनन्द का नाथ है। यह एक आँख उसकी कम हुई, इसके लिये शर्माता है। है क्या तुझे?

मुमुक्षु : समाधान....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समाधान होता ही है वहाँ। ऐसा करना नहीं। आहाहा! अरे! मैं तो आनन्द और ज्ञान हूँ। यह प्रतिकूलता का संयोग तो जड़ की लीला है, वह मेरी है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

उसे धर्म कहते हैं। धर्म यह सब सामायिक और प्रौषध, प्रतिक्रमण किये इसलिए धर्मी है। धूल भी नहीं, सुन न! आहाहा! धर्म तो भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति, आनन्द का सागर, उसे पुण्य और पाप के राग से भिन्न करके स्वभाव में एकाग्र होकर जो कला आनन्द की जगे, उसे धर्मी और धर्म कहा जाता है। वह धर्मी पुण्य और पाप दोनों में से एक को भी इच्छता नहीं। अन्तिम यह है न?

'**यातैं ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ है।**' आहाहा! जगत की मिठास। एक तो शुभभाव हो, उसकी मिठास, उसके बन्धन में साता बँधे, ऐसा सुने वहाँ और उसकी मिठास और उसके फल ऐसे मिले बाहर में... आहाहा! बड़े बँगले, तैल... क्या कहलाता है वह सब? तैलचित्र, क्या कहते हैं वह सब?

मुमुक्षु : ऑईल पेन्टिंग।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऑईल पेन्ट करे पूरी दीवारें और उसमें चित्राम बड़े और उसमें बीच में बैठा हो।

अरे! बड़ा लकड़ी का बड़ा... संगमरमर का, लो। २५-५० बैठे और ... चाँदी की थालियाँ, अरबी के वे भुजिया। भगवान! तू कहाँ है? वहाँ है? उन सबकी तो तुझमें नास्ति है। उन सबकी तो तुझमें नास्ति है। आहाहा! यहाँ तो प्रमत्त-अप्रमत्त अवस्था होती है, वह तेरे चैतन्य में नहीं। यहाँ तक ले जाना है। आहाहा! अरे! छठवीं गाथा में आया न! यह प्रमत्त-अप्रमत्त अवस्थायें होती हैं, (परन्तु) ध्रुव में कोई पर्याय है नहीं, जाओ। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा जिसे दृष्टि में और अनुभव में आया, वह यह हीन

और अधिकता की किसी चीज़ में अपनापना मानता नहीं। आहाहा! इसका नाम धर्म है। धर्म, वह ऐसा किया और यह किया, इसलिए धर्म हो गया, (ऐसा नहीं है)। समझ में आया?

'**यातैं**'—इस कारण से। किस कारण से? शुभ और अशुभ भाव दोनों भटकने का रास्ता है। संसार टलने का वह रास्ता नहीं, ऐसा कहते हैं। भारी काम भाई ऐसा! यह सब शोभावतार की बात की हो... ऐ मूलचन्दभाई! दस-बीस हजार वयक्ति हों और अरबी (के भुजिया) उड़ते हों और श्रीखण्ड खाते हों और... हम मांगलिक करते हैं, जाओ। अब धूल भी नहीं मांगलिक, सुन न! ऐई! अरे, कठिन बात!

मांगलिक तो उसे कहते हैं... यह पुण्य-पाप के विकल्पों से मैं भिन्न, उनके बन्धन के रजकणों से भिन्न, उनके फल से (भिन्न), उसमें मैं नहीं, वे मुझमें नहीं, ऐसे भिन्न का भान करे, उसे यहाँ मांगलिक और उसे शोभनीक आत्मा कहा जाता है। आहाहा! पाँच में गिनाये वह तो ठीक कहलाये। साधु हो और कुछ वाँचना आवे और लोग—सभा प्रसन्न हो तो साधु हुए वह सफल। और नहीं तो, उसे वाँचना आवे नहीं (और) एक ओर बैठा रहे, वह साधु कहलाये? मूरख है, सुन न अब! आहाहा! वाँचना आवे—न आवे, वह तो जड़ की क्रिया है। और बाहर का उघाड़ है, वह भी जड़ है। उसमें तेरी महत्ता है, उसके कारण? आहाहा! कठिन बात, भाई!

यहाँ तो कहते हैं कि वास्तव में तो वह पुण्य-पाप भाव अचेतन है, इसलिए धर्मी उसे इच्छता नहीं। परन्तु वास्तव में तो पर के उपयोग की ओर का झुकाव है चैतन्य के उपयोग का, वह भी अचेतन है, दुःखदायक है, इसलिए उसे भी इच्छता नहीं। आहाहा! ऐसा अजर प्याला है भगवान के मार्ग का। वीतराग परमेश्वर समकित उसे कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? **ज्ञानी लोग दोनों ही की अभिलाषा नहीं करते**। आहाहा! अज्ञानी ने जरा सा पुण्य किया, वहाँ देखो न! यह मैंने किया, देखो मेरा यह जानपना, देखो हम दूसरे से होशियार। कुछ गिनो तो सही। उसे गिनाना है संसार के भटकने में। ऐई! भटकनेवाले में हमको गिनो। आहाहा!

भाई! धर्म तो उसे कहते हैं। पुण्य-पाप के भाव और उनका बन्धन और उसका फल, सबसे मेरी चीज़ तो भिन्न है। मेरे स्वरूप में वह कोई चीज़ है नहीं। पुण्य-पाप के

विकल्प कैसे मेरे चीज़ में? आहाहा! यह तो प्रमाणज्ञान की अपेक्षा से है। परन्तु द्रव्य के भान के अन्दर में तो पर्याय भी मुझमें नहीं। ऐसा जो धर्मी—धर्मात्मा—ज्ञानी, पर्याय भी ऐसी करूँ, ऐसी जिसे इच्छा नहीं, उसे पुण्य करूँ—ऐसा भाव ज्ञानी को होता नहीं। समझ में आया? यह दूसरा, दूसरा कलश हुआ। चाण्डालिनी का (दृष्टान्त) कहा, हों!

इसी प्रकार शुभभाव करनेवाला ऐसा माने। 'हमको हिंसा चलती नहीं। विषय सेवन चलता नहीं, हमारे यह चलता नहीं।' वह ब्राह्मण के यहाँ गया न चाण्डाल का पुत्र। 'हमारे मदिरा—माँस चलते नहीं, हमारे यह चलता नहीं, उसे छूना चलता नहीं।' ऐसे शुभभाव की क्रियावाला 'हमको यह माँस चलता नहीं, यह परस्त्री चलती नहीं, फलाना चलता नहीं। हमारे लिये बनाया हुआ आहार चलता नहीं।' ऐसे जो शुभविकल्प में पड़ा, वह अशुभ मुझे चलता नहीं, ऐसा मानकर शुभ मेरी चीज़ है, ऐसा मानता है, वह चाण्डाल का पुत्र चाण्डालिनी का है।

मुमुक्षु : परन्तु ब्राह्मण तो है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कब हुआ था ब्राह्मण?

मुमुक्षु : ब्राह्मण के घर में गया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ब्राह्मण के घर में गया, उसमें घर में कहाँ पुत्र आया? वह तो चाण्डालिनी का पुत्र है, ऐसा कहा है अन्दर।

शुभभाववाला ऐसा कहे, मुझे ऐसा अशुभ चलता नहीं, ऐसा चलता नहीं। चाण्डालिनी का पुत्र ब्राह्मण के घर में गया। यह मुझे चलता नहीं। ऐसा यह अशुभभाव हमको चलता नहीं। तेरा शुभभाव ही बन्ध का कारण है, सुन न अब! वह माने, 'ऐसा मुझे चलता नहीं, ऐसा हमको चलता नहीं, ऐसा हमको चलता नहीं। हमारे शुभभाव चलता है।' समझ में आया? और अशुभभाववाला कहे, 'हमारे दिक्कत नहीं अब चाहे जैसा हो। पाप करें तो दिक्कत नहीं। फलाना करें तो...' दोनों चाण्डालिनी के पुत्र—विभाव के पुत्र हैं। भगवान आत्मा उस विभाव की परिणति से अत्यन्त भिन्न है। उसका जिसे भान है, वह दोनों में कहीं भेद करता नहीं। दोनों में से एक को भी इच्छता नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५४, फाल्गुन कृष्ण १४, गुरुवार, दिनांक २५-३-१९७१
पुण्य-पाप एकत्व द्वार, पद ३ से ७

यह समयसार नाटक। तीसरा पद है और दूसरा कलश। भावार्थ है न, भावार्थ। **जिस प्रकार पापकर्म बन्धन है तथा संसार में भ्रमानेवाला है।** आत्मा में... हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, राग-द्वेष आदि भाव अशुभ—वह भी संसार में भटकनेवाले हैं और **पुण्य भी बन्धन है।** और शुभभाव—दया, दान, पूजा, व्रत, शील, संयमादि, वह भाव शुभ है (और) वह भी बन्धन है, भटकावे ऐसा है।

मुमुक्षु : इसमें भटकावे ऐसा नहीं लिखा।

पूज्य गुरुदेवश्री : आया है न। कहे कि हमको चलता नहीं, ऐसे अर्थ में आया है। '**दुहूं मांहि दौर धूप।**' **दुहूं मांहि दौर धूप**—ऐसा लेकर मिलाया है। बस, दोनों भटकानेवाले हैं। उसमें भी दृष्टान्त का सिद्धान्त ऐसा लिया है कि चाण्डालिनी के दो पुत्र हों, एक जाये ब्राह्मण के यहाँ और एक रहे उसके घर में—चाण्डालिनी के यहाँ। चाण्डालिनी के यहाँ रहे उसे तो मदिरा-माँस आदि चलता है और उसे वहाँ ग्लानि नहीं होती। परन्तु ब्राह्मण के घर में गया चाण्डालिनी का पुत्र, हमारे माँस चलता नहीं, मदिरा चलती नहीं, हम किसी को छूते नहीं—ऐसा वह माने, परन्तु है तो चाण्डालिनी का पुत्र।

मुमुक्षु : हमारे में लागू कर दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा जाता है न अब।

इसी प्रकार पाप... गृहस्थाश्रमी जीव, यह तो कहे कि हमारे तो पाप चलता है, हिंसा, चोरी, दुकान, धन्धा, यह हमारे तो होता है। वह अशुभभाव है। परन्तु साधु नाम धराकर, गृहस्थ नाम धराकर, धर्म (माने) और उसका ऐसा शुभभाव हो कि 'हमारे विषय कषाय चलते नहीं, हमारे माँस-मदिरा चलती नहीं। हमारे लिये बनाया हुआ आहार-पानी चलता नहीं, हमारे धन्धा-पानी जगत का करना चलता नहीं। ऐसा जो शुभराग, वह भी चाण्डालिनी के पुत्र की भाँति विभाव है। समझ में आया?

मुमुक्षु : मुनि को चले वह सब?

पूज्य गुरुदेवश्री : चले नहीं। चलता नहीं परन्तु भाव है न शुभ। 'चलता नहीं, चलता नहीं' में विकल्प उठता है, वह तो विभाव है, अधर्म है। सूक्ष्म बात है।

आत्मा आनन्दमूर्ति सच्चिदानन्द प्रभु है। वह तो ज्ञान और आनन्द का सागर आत्मा है। उसमें से यह वृत्ति उठे, वह दोनों दु:खरूप है, दोनों जहर है। उसमें तो ऐसा कहा। है न, एक सोने की बेड़ी... वह कर्मबंध की अपेक्षा से। सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी। शुभभाववाला ऐसा कहता है कि 'हमारे यह चलता नहीं, हमारे यह चलता नहीं। हिंसा नहीं करते, झूठ नहीं बोलते, विषय सेवन नहीं करते।' परन्तु यह तेरा भाव है, वह शुभ और राग है। पण्डितजी! वह विभाव का पुत्र है। जैसे अशुभ विभाव और विकार का जन्मा हुआ है, उसी प्रकार यह दया-दान-व्रत, हमारे हिंसा करना नहीं, हमारे अव्रत नहीं होते, हमारे फलाना नहीं होता—यह सब विकल्प की वृत्तियाँ हैं। यह वृत्ति भी विकार की दशा से उत्पन्न हुई है। चाण्डालिनी के पुत्र हैं यह वे। कहो, भीखाभाई! अरे, गजब, भाई!

'हमारे तो बराबर देव-गुरु-शास्त्र का विनय करना ही चाहिए—अविनय नहीं करेंगे।' 'अविनय नहीं करेंगे' ऐसा विकल्प हों। समझ में आया? 'हम तो कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को नहीं मानेंगे'—ऐसा जो विकल्प शुभ, वह भी विभाव का पुत्र है, दु:खदायक है, आत्मा की शान्ति को लूटनेवाला है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ....बैठे कौन? स्वयं (तो) सदृश है। बैठाये कौन? आत्मा के परिणाम स्वयं (स्वयं को) अन्दर बैठाये, दूसरा कौन बैठाये? आहाहा! भगवान आत्मा वस्तु है न अन्दर आत्मा! पदार्थ है न, तत्त्व है न! उस तत्त्व में तो आनन्द, शान्ति, स्वच्छता और प्रभुता अनन्त पड़ी है। उसमें परिणाम को जोड़ दे तो वह परिणाम शुद्ध है। वह परिणाम अबन्ध के परिणाम हैं, उसका नाम धर्म है। गजब, भाई! समझ में आया?

परन्तु जिस परिणाम में अशुभता है... गृहस्थ (कहे), हमारे भोग चलते हैं, हमारे विषय-कषाय चलते हैं, हमारे धन्धा... क्या हमारे गृहस्थी है न। वह चाण्डालिनी

के पुत्र हों (वे कहे), हमारे माँस, मदिरा चलते हैं, हमारे चलते हैं, इसी प्रकार यह। दोनों—अशुभ का सेवन करनेवाला और शुभ का सेवन करनेवाला अज्ञानी है, ऐसा कहते हैं। यह तो आत्मा का मार्ग, भाई! मार्ग बहुत प्रभु! पूरा आत्मा। यह विकल्प उठता है वह तो क्षणिक विकार है और वस्तु भगवान आत्मा तो आनन्द का धाम सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत्—शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का धाम है। उसमें से अंकुर फूटे तो आनन्द और अतीन्द्रिय शान्ति आवे। आहाहा! गजब जगत को! क्या परन्तु तब अब हमारे करना? कहे। लो। यह श्लोक बाद में आयेंगे। नहीं यह सब? तो करना क्या हमारे? आठेक कलश हैं आठ। यह सब निषेध करोगे, तो हमारे (करना क्या?) यह निषिद्ध आता है पाँचवें कलश में आता है। पाँचवाँ कलश। यह तो अभी शुरुआत है न! पाँचवाँ कलश। आहाहा!

कहते हैं, प्रभु! तुम तो सब निषेध करते हो, परन्तु तब अब हमारे करना क्या? ऐसा कहते हैं। कहते हैं, भाई! तू आत्मा है या नहीं? कोई चीज़ है या नहीं? आत्मा तत्त्व है या नहीं? और आत्मा में विकार का कण भी नहीं। वह तो अखण्डानन्द प्रभु शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मा है। उसमें एकाकार होना, वह करने की क्रिया है। तो यह दोनों कहते हैं... एक व्यक्ति, अशुभभाव सेवन करके हमारे दिक्कत नहीं, ऐसा कहता है। दूसरा शुभभाव को सेवन करके, 'हमारे यह नहीं चलता, यह नहीं चलता, नहीं चलता' ऐसे शुभभाव में रहता है। वह शुभभाव भी विकारी पर्याय है, बन्धन का कारण है। चाण्डालिनी का पुत्र—विभाव का पुत्र है। वह कहीं आत्मा का पुत्र नहीं। ऐसी बातें! उसे तो लोग धर्म मानते हैं। मुनि हो... उसमें लिखा है कलश में। ऐसा कि मुनि हो, साधु हो, हमारे यह नहीं चलता। हमारे यह नहीं चलता। शुद्ध उपयोग की तो खबर नहीं होती। और 'यह नहीं चलता, यह नहीं चलता' ऐसे शुभभाव में रुककर... कलशटीका (श्लोक-२)। यह पुण्य-(पाप) का अधिकार है।

'भावार्थ इस प्रकार है कि शूद्राणी के पेट से उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसे मर्म को जानता नहीं।' कौन? वह ब्राह्मण के घर में गया, चाण्डालिनी का पुत्र। 'मैं ब्राह्मण, मेरे कुल में मदिरा निषिद्ध है' ऐसा जानकर मदिरा छोड़ी है, वह भी विचारने पर चाण्डाल है। इसी प्रकार कोई जीव शुभोपयोगी होता हुआ...' शुभ उपयोग, शुभ उपयोग में आता

हुआ, 'यतिक्रिया में मग्न होता हुआ...' साधु की और श्रावक की क्रिया व्यवहार में मग्न—लीन होता हुआ शुद्ध उपयोग को नहीं जानता।' शुभ और अशुभ दोनों परिणाम से रहित आत्मा शुद्धस्वरूप भगवान है, ऐसे शुद्ध उपयोग को तो जानता नहीं। आहाहा!

यहाँ वाडावालों को तो ऐसा लगे, ...यह धर्म उत्थापित कर दिया।

मुमुक्षु : धर्म कहाँ था?

पूज्य गुरुदेवश्री : मानता है न ऐसा। अभी तक माना था न! माना है न, यह हमारा धर्म—भगवान की भक्ति, पूजा, दान, दया, व्रत, शील, संयम। ऐसे धर्म दूसरा कौन सा? पाप छोड़कर (पुण्य) करना, वह धर्म। वह (धर्म) नहीं, पाप छोड़कर शुभभाव हो, वह भी धर्म नहीं, ऐसा कहते हैं। कहो। कहते हैं, 'शुद्ध उपयोग को तो जानता नहीं।' यतिक्रिया में मग्न हुआ। केवल यतिक्रिया में मग्न है। वह ऐसा मानता है कि, 'मैं तो मुनिश्वर, हमको विषय-कषाय सामग्री निषिद्ध। हमारे वस्त्र चले नहीं, हमारे पात्र चले नहीं, हमारे यह चले नहीं, हमारे लिये बनाया हुआ आहार चले नहीं।'—परन्तु वह तो सब विकल्प है, वह तो शुभराग है। आहाहा! वह तो वृत्ति उठती है। (उसमें) मग्न ऐसा मानता है, लो।

'ऐसा जानकर विषय रस सामग्री को छोड़े। अपने को धन्यपना मानता है।' हम धन्य (सब) छोड़कर साधु हुए। धूल भी नहीं साधु, मिथ्यादृष्टि है, सुन न! आहाहा!

मुमुक्षु : मिथ्यादृष्टि का गुनाह बहुत बड़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : बादशाही गुणस्थान है। जैसे बादशाह का नाम हो, वह सर्वत्र चले, इसी प्रकार सब जगह यह छाप पड़े। एक सूक्ष्म भी राग के कण को अपना मानकर लाभ माने, अरे! यह लाभ भी एक कण है, वह मेरा माने, संसार है, मिथ्यात्व है। कहो, समझ में आया?

भगवान का ऐसा विनय... विनय... विनय... विनय... विनयवाला ओहोहा! 'हमारे तो विनय ही भगवान का करना है। देव-गुरु-शास्त्र का विनय ही करना है। विनय से ही हमारा मोक्ष होगा।'

मुमुक्षु : शास्त्र में आता है, विनय से ही मोक्ष होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन सा विनय? परद्रव्य अनुसार का विनय वह तो विकल्प है। ऐ सेठी!

मुमुक्षु : नहीं करना चाहिये?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं करना चाहिये, (ऐसा) भी कौन कहता है? कौन करता है?

मुमुक्षु : करने की बात ही कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है विकल्प, उसको दुःखरूप जानना (और) अपने स्वभाव सन्मुख दृष्टि लेना, ऐसी बात है। ऐ पण्डितजी! सेठी को क्या करना? पहले तो भड़कते थे शुरुआत में तो। अब जरा... क्या कहते हैं? कठिन काम, भाई!

'...छोड़ता है। धन्यपना माने, मोक्षमार्ग माने, परन्तु विचार करने पर वह जीव मिथ्यादृष्टि है।' देखो! शुभक्रिया में स्वयं धर्म माने, व्रत और नियम और शील। 'हमारे नहीं चलता, हमारे यह नहीं चलता।' परन्तु यह तेरे चलता है शुभभाव। ऐई! अरे, भारी कठिन काम है! कर्मबन्ध को करता है, लो। कहते हैं, जैसे यह पाप के भाव, हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, परिग्रह के परिणाम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष—यह पाप के भाव हैं, यह बन्धन है और संसार में भटकानेवाले हैं। इसी प्रकार पुण्य भी बन्धन है। परद्रव्य का आश्रय करके जितने परिणाम होते हैं, वे सब बन्धन के कारण हैं। आहाहा! कठिन काम, भाई!

तीन लोक के नाथ तीर्थंकर की वाणी सुनने के भाव हों, वह पुण्यभाव, वह बन्ध का कारण है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! बापू! तू कहाँ खाली है? गुण और आनन्द से कहाँ खाली है कि तू पर को अनुसरकर परिणाम करने जाता है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! 'तू तो भगवान है' परन्तु जँचे कैसे? भगवान है! साक्षात् भगवान है! परमात्मा स्वयं ही स्वयं परमात्मा अन्दर आया है। आहाहा! समझ में आया? परिपूर्ण गुण से, शान्ति से, आनन्द से परिपूर्ण प्रभु हूँ। ऐसे परिपूर्ण प्रभु पर दृष्टि किये बिना जितने ऐसे परिणाम शुभ और अशुभ हों, वे सब जहर जैसे, बन्धन जैसे दु.खदायक हैं। कहो, समझ में आया इसमें? कहो, मलूकचन्दभाई!

वह बेचारा दुकान छोड़कर बैठे, ब्रह्मचर्य लेकर बैठे, हमारे विवाह करना नहीं, लो। तो कहे कि मुझे विषय चलते नहीं। परन्तु तेरा भाव कौन सा? वह तो शुभभाव है। ऐ कान्तिभाई!

मुमुक्षु : धन्धा—नौकरी छोड़ देंगे तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : धन्धा-नौकरी छोड़ा, ऐसा जो विकल्प है, वह क्या है? ऐ जेठाभाई! यहाँ तो देखो! पहिचानते हो न! कान्तिभाई बालब्रह्मचारी। १५०० वेतन छोड़ दिया, नौकरी छोड़ दी। नौकरी ही करनी नहीं, कहे। १५०० वेतन है मासिक प्लेन में। नौकरी छोड़ दी, अब धन्धा ही नहीं करना।

परन्तु यहाँ तो कहना है कि वह शुभभाव होता है न (कि) वे मेरे नहीं—यह भी पुण्य है। ऐसा कहना है। भाई! यह तो पूरा अन्तर का आत्मा का मार्ग है। भगवान आत्मा! आहाहा! समझ में आया? और यहाँ सन्तोष मानकर बैठ जाये, हमने तो आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत लिया है, हम बालब्रह्मचारी हैं, हमने विषय-कषाय का सेवन नहीं किया, हमने स्त्री से विवाह नहीं किया। तो क्या हुआ परन्तु उसमें तुझे?

मुमुक्षु : रागरूपी स्त्री से तो विवाह किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वजुभाई! मार्ग तो खुले, तब सब ऐसा निकले। वह शुभभाव है। समझ में आया? ऐ प्रकाशदासजी! यह ऐसा मार्ग है। आहाहा!

नौवें ग्रैवेयक में गया जैन साधु होकर, ऊपर से इन्द्राणी डिगाने आवे तो डिगे नहीं, ऐसा उसका शुभभाव, (परन्तु) धर्म नहीं। विषय का कितना (त्याग) कि ऐसे इन्द्राणी डिगावे (तो भी डिगे नहीं)। समझ में आया? वह तो विकल्प है, शुभभाव है, वह कहीं धर्म नहीं। शुभभाव से रहित भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु निर्मलानन्द सहजानन्द की मूर्ति है आत्मा। आहाहा! उसकी खबर भी नहीं होती और बाहर में सिर बदलकर मानो हमारे धर्म हो गया। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! **उसका विपाक संसार ही है...** देखो। पुण्यबन्धन का विपाक संसार ही है। कहाँ आया? पृष्ठ ९७, दूसरी लाईन।

पुण्य भी बन्धन है और उसका विपाक संसार ही है। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा में तो स्वभाव... जैसे आत्मा स्वयं अविनाशी है, वैसे उसके आनन्द और ज्ञान आदि शक्तियाँ भी अविनाशी हैं। उस अविनाशी के आनन्द को पकड़ना और उसमें एकाकार होना, इसका नाम धर्म है। कहो, समझ में आया? पहले पक्ष तो करे श्रद्धा का, कि इस भगवान आत्मा में जाने से... विकल्प से पहले निर्णय करना चाहिए। अन्तर स्वभाव को स्पर्शने से धर्म होता है। परद्रव्य के अनुसार चाहे तो शुभ हो या अशुभ हो, दोनों संसार का पाक देनेवाले हैं। आनन्द का देनेवाला है नहीं। आहाहा! '**दोनों एकही से है**। इसलिए दोनों एक ही समान हैं। समझ में आया? **पुण्य सोने की बेडी समान और पाप लोहे की बेडी के समान है, पर दोनों बन्धन है।**

अब, **पाप-पुण्य की समानता में शिष्य की शंका**। तीसरा कलश नीचे।

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ॥३॥

वह शिष्य का प्रश्न है। '**कोऊ सिष्य कहै गुरु पांहीं, पाप पुन्न दोऊ सम नाहीं।**' शिष्य कहता है कि महाराज! दोनों समान नहीं होते। ऐसा कहीं होता है? कितना अन्तर? एक दुकान में धन्धे में बैठा हो, व्यापार करता हो, कारखाना चलाता हो और एक व्यक्ति दुकान छोड़कर त्यागी होकर मुनि अकेला बैठा हो और महाव्रत पालता हो। कितना अन्तर है? कहो, जयन्तीभाई! यह शिष्य प्रश्न करता है। आहाहा! मार्ग तो बापू! अलग प्रकार का है। अन्तर सच्चिदानन्द प्रभु है, उसकी इसे खबर नहीं। कहते हैं,

★ ★ ★

काव्य - ४

पाप-पुण्य की समानता में शिष्य की शंका (चौपाई)

कोऊ सिष्य कहै गुरु पांहीं।
पाप पुन्न दोऊ सम नाहीं।।
कारन रस सुभाव फल न्यारे।
एक अनिष्ट लगैं इक प्यारे।।४।।

शब्दार्थ:-गुरु पांही=गुरु के पास। रसै=स्वाद, विपाक। अनिष्ट=अप्रिय।

अर्थ:-श्रीगुरु के समीप कोई शिष्य कहता है कि, पाप और पुण्य दोनों समान नहीं है, क्योंकि उनके कारण, रस, स्वभाव तथा फल चारों ही जुदे-जुदे हैं। एक के (कारण, रस, स्वभाव, फल) अप्रिय और एक के प्रिय लगते हैं।।४।। पुनः

काव्य - ४ पर प्रवचन

कोऊ सिष्य कहै गुरु पांहीं।
पाप पुन्न दोऊ सम नाहीं॥
कारन रस सुभाव फल न्यारे।
एक अनिष्ट लगैं इक प्यारे॥४॥

एक मीठा लगे। महेन्द्रभाई दिखाई दे, पैसा दिखाई दे, हीरा-माणेक दिखाई दे, लो।

मुमुक्षु : दिखाई ही दे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिखाई ही दे न। 'पिताजी साहेब! आपको यहाँ आना पड़ेगा। आपका मैं तो पुत्र हूँ, विनय से कहता हूँ आपको। मैं कहीं आपका वह नहीं, आपका सेवक हूँ।' आहाहा! दूसरा गाली देनेवाला मिले। ऐसा पुत्र-पुत्र हो, रिश्तेदार हो न। वह पाप के फल हैं, यह पुण्य का फल है, उसमें आत्मा को क्या आया?

मुमुक्षु : आत्मा को मजा आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी मजा नहीं। आहाहा! यह न्यालभाई जैसा पुत्र। कान से सुनते हैं मगजमारी... मजा तो आता है न! बड़ा इज्जतवाला व्यक्ति, दो करोड़ रुपये।

मुमुक्षु : मुझे कुछ मिलेगा, उसका याद आवे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सम्बन्ध किया था तब पूछा नहीं। यह उसके बाप और काका सब तीनों बैठे हैं। ....रख लिया। ...वे नहीं तो नहीं चले, ऐसा कहाँ... लगाया था। उसका कौन मानता था वहाँ? परन्तु सत्य बात है या नहीं?

मुमुक्षु : वह तो परद्रव्य का प्रेम था....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह हिम्मतभाई तो होशियार व्यक्ति कहलाये या नहीं ? इसे तुमको पूछना चाहिए या नहीं कि काका ! कहो मेरा क्या कर्तव्य है ? इसका अधिकार सौंप दिया। आहाहा ! अच्छा लगे इसे वहाँ। और वह मानता नहीं, यह और पाप का उदय माने। वह अशुभभाव (और शुभभाव) दोनों दु:खदायक हैं। समझ में आया ? आहाहा !

भगवान तो आनन्द की मूर्ति है। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वामी आत्मा है। उसमें ऐसे दोनों (भाव) विकल्प की वृत्तियाँ हैं। कहते हैं कि परन्तु मुझे समान नहीं लगता, हों ! शिष्य कहता है। कारण... कारण में अन्तर है, शिष्य कहता है। पुण्य-पाप के बन्धन के परिणाम में अन्तर है, उसके अनुभव में अन्तर है, बन्धन के स्वभाव में अन्तर है और फल न्यारे-न्यारे हैं। एक अनिष्ट लगता है। एक खराब लगता है, एक ठीक लगता है। स्त्री, पुत्र, परिवार यह सब, दो-चार-पाँच करोड़ रुपये। देखो न, यह तो जा आये हैं न। क्या कहलाता है ? उसके बगीचे में स्वीट्जरलैण्ड। परन्तु यहाँ ऐसा कहे, यह सब ... मानते नहीं ऐसा यदि साथ में इकट्ठा रखे तो वहाँ खेद होता है। आहाहा ! कल्पना है या नहीं ? दूसरी क्या बात है ? यह तो उसके घर में रहेगा।

एक ऐसा लगे कि आहाहा ! मुझे तो बड़े-बड़े गाँव के प्रमुख आवे शाम को मिलने, बाग-बगीचा देखने। अच्छा बगीचा बनाया हो संगमरमर के पत्थर लगाकर, पुतले-पुतलियाँ और फलाना, लो। देखने आकर बैठा हो, वह खाये, लड्डू... वह वहाँ बैठे ने... जाते हैं न अपने काठियावाड़ी वहाँ जाये (तो) उसके घर में जाये। पैसावाला है न वहाँ। इसलिए जाये (तो) भले प्रकार सम्हाले। वहाँ क्या अब ? बारह महीने ५००-१००० का खर्चा। कैसा लगे कि न्यालभाई के यहाँ गये थे। कहे, गजब लगे, हों !

कहते हैं कि यह सब पुण्य के प्रसंग—पुण्य के फल, बन्धन के कारण हैं। आहाहा ! और निर्धनता हो, स्त्री न हो, पुत्र न हो, शरीर काला हो, कण्ठ हिलता न हो, होंठ टूट गया हो, कान कट गये हों नाक-कान, दस-पच्चीस रुपये महीने में कमाने की क्षमता न हो। यह खराब। किसे कहना खराब ? सुन न ! आहाहा ! समझ में आया ?

दोनों बाहर की सामग्री है, आत्मा में कुछ है नहीं। उसके कारण लाभ-नुकसान

आत्मा को कुछ है नहीं। यह ऐसी कल्पना करे कि यह मुझे ठीक है, यह मुझे अठीक है। दोनों पाप और बन्ध के कारण हैं। समझ में आया? ठाठ-बाठ ऐसे कपड़े पहने हों और मुर्दे का श्रृंगार किया हो व्यवस्थित। है तो मुर्दा है या नहीं यह? सिर पर क्या कहलाये? कलगी फेंटा पहने, बीस वर्ष का जवान हो, विवाह करने जाये, दस लाख खर्च करना हो और बड़े-बड़े मेहमान कैसे तुम्हारे कार्यकर्ता, वे इकट्ठे हों। बड़ों को इकट्ठा करे माखन चुपड़ने के लिये। जयन्तीभाई! आहाहा! भारी पुण्यशाली! क्या है परन्तु अब? सुन न!

यह पूर्व के शुभभाव, वह बन्धन (और) जहर के कारण थे। समझ में आया? उसके फल, वे तो अनिष्ट हैं। एक लगे अनिष्ट और एक लगे प्यारा। ऐसे भाव अच्छे लगें और (एक) खराब। निर्धनता, अकेला हो, ज्वार के छिलके की रोटियाँ खाने को मिले और इसे मिले श्रीखण्ड और पूड़ियाँ। दोनों के संयोगों में अन्तर है या नहीं? नहीं, नहीं। कहते हैं, सुन न! दोनों संयोगों में कुछ अन्तर नहीं। आत्मा को क्या है उसमें? गुरु के समीप शिष्य पूछता है, लो। न्यारे-न्यारे हैं। एक कारण में अन्तर, रस में अन्तर, फल का अन्तर। एक अप्रिय और एक प्रिय लगता है। उसका जवाब गुरु देते हैं। वह स्वयं ही जवाब कहते हैं, स्पष्टीकरण करते हैं।

मुमुक्षु : शिष्य की शंका चालू है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शिष्य अभी (अपनी शंका को) स्पष्ट करता है।

★ ★ ★

काव्य - ५

(सवैया इकतीसा)

संकलेस परिनामनिसौं पाप बंध होइ,
विसुद्धसौं पुन्न बंध हेतु-भेद मानीयै।
पापके उदै असाता ताकौ है कटुक स्वाद,
पुन्न उदै साता मिष्ट राग भेदि जानियै।।

पाप संकलेस रूप पुन्न है विसुद्ध रूप,
दुहूंकौ सुभाव भिन्न भेद यौं बखानियै।
पापसौं कुगति होइ पुन्नसौं सुगति होइ,
ऐसौ फलभेद परतच्छि परमानियै।।५।।

शब्दार्थ:-संकलेश=तीव्र कषाय। विसुद्ध=मंद कषाय। असाता=दु:ख। कटुक= कड़वा। साता=सुख। परतच्छि=(प्रत्यक्ष) साक्षात्।

अर्थ:-संक्लिष्ट भावों से पाप और निर्मल भावों से पुण्यबन्ध होता है, इस प्रकार दोनों के बन्ध में कारण-भेद है। पाप का उदय असाता है, जिसका स्वाद कड़ुवा है और पुण्य का उदय साता है, जिसका स्वाद मधुर है, इस प्रकार दोनों के स्वाद में अन्तर है। पाप का स्वभाव तीव्र कषाय और पुण्य का स्वभाव मन्द कषाय है, इस प्रकार दोनों के स्वभाव में भेद है। पाप से कुगति और पुण्य से सुगति होती है, इस प्रकार दोनों में फल-भेद प्रत्यक्ष जान पड़ता है।।५।।

काव्य - ५ पर प्रवचन

संकलेस परिनामनिसौं पाप बंध होइ,
विसुद्धसौं पुन्न बंध हेतु-भेद मानीयै।
पापके उदै असाता ताकौ है कटुक स्वाद,
पुन्न उदै साता मिष्ट राग भेदि जानियै॥
पाप संकलेस रूप पुन्न है विसुद्ध रूप,
दुहूंकौ सुभाव भिन्न भेद यौं बखानियै।
पापसौं कुगति होइ पुन्नसौं सुगति होइ,
ऐसौ फलभेद परतच्छि परमानियै॥५॥

क्या कहते हैं? संक्लेश परिणाम से तो पापबन्ध होता है। लो, कारण में अन्तर है। शिष्य कहता है। माठा—बुरे परिणाम से पाप होता है और विशुद्ध परिणाम से (पुण्य) बन्ध। परिणाम में अन्तर है—बन्ध के कारण में अन्तर है। क्या कहा? जो

साता-असाता बँधती है, पुण्यबन्ध-पापबन्ध, तो कहते हैं कि पापबन्ध के कारण संक्लेश—बुरे परिणाम हैं और साता बँधती है, उसका (कारण) शुभभाव परिणाम है। तो कारण में अन्तर है और तुम कहते हो कि दोनों समान हैं। (यह) शिष्य की शंका है। समझ में आया? '**विसुद्धसौं पुन्न बंध हेतु-भेद मानिये।**' देखो, कारणभेद जानते हैं, ऐसा। '**पापकै उदै असाता ताकौ है कटुक स्वाद।**' पाप के उदय में असाता और उसके कारण कटुक स्वाद, निर्धनता, आहाहा! स्त्री मिले तो ऐसी समानता की, कर्कश की भाषा अकेली। समझ में आया? ऐसे असाता के उदय के कारण पूरे दिन क्लेश... क्लेश घर में। यह असाता के उदय के कारण कटुक स्वाद है, लो।

'**पुन्न उदै साता मिष्ट रस भेद जानियै।**' और पुण्य का उदय हो तो पुत्र, स्त्री, लड़के, कुटुम्ब ओहोहो! सब आज्ञाकारी, एक वचन कहे तो खम्मा... खम्मा। इतना अन्तर पुण्य के फल में है और तुम कहते हो कि कुछ अन्तर नहीं, लो। पाप के फल में इतना अन्तर, पुण्य के फल में इतना अन्तर और तुम कहते हो कि दोनों समान हैं। '**पुन्न उदै साता मिष्ट रस भेद जानियै।**' देखो, मीठा लगे और भेद है, कहते हैं। बन्धन में-बन्धन में, हों! '**पाप संकलेस रूप पुन्न है विसुद्ध रूप।**' पाप, वह तो संक्लेश परिणाम है और पुण्य है, वह तो विशुद्ध रूप है। दोनों का स्वभाव भिन्न है। कहो, समझ में आया? पाप का स्वभाव न्यारा, पुण्य का स्वभाव न्यारा और तुम कहते हो कि दोनों एक है। एक लकड़ी से गाड़ी हाँकी तुमने तो, कहे।

'**दुहूंकौ सुभाव भिन्न भेद यौं बखानियै, पापसौं कुगति होई**' फल। पाप के कारण से कुगति मिलती है। '**पुन्नसौं सुगति होइ**' स्वर्ग मिले। '**ऐसौ फलभेद परतिच्छ परमानियै**' प्रत्यक्ष दिखता है, प्रत्यक्ष। एक व्यक्ति को माँगने से मिले नहीं और एक व्यक्ति को सामने आकर फले। पुण्य का फल है या नहीं? भाई! वह तो धूल में भी नहीं, सुन न! माँगने से मिले, न मिले, वह तो सब समान ही है। आत्मा के आनन्द के स्वाद के भान बिना वे सब दु:खी के सरदार हैं। आहाहा! समझ में आया? यह जवाब देते हैं, हों! वह तो शिष्य का प्रश्न का (स्पष्टीकरण) था। अब **शिष्य की शंका का समाधान।**

★ ★ ★

काव्य - ६

शिष्य की शंका का समाधान (सवैया इकतीसा)

पाप बंध पुन्न बंध दुहूंमैं मुकति नांहि,
कटुक मधुर स्वाद पुग्गलकौ पेखिए।
संकलेस विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल,
कुगति सुगति जगजालमैं विसेखिए।।
कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि,
ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टिमैं न लेखिए।
दोऊ महा अंधकूप दोऊ, कर्मबन्धरूप,
दुहूंकौ विनास मोख मारगमैं देखिए।।६।।

शब्दार्थ:-मुकति (मुक्ति)=मोक्ष। मधुर=मिष्ट। तोहि=तुझे। सूझत=दिखते। द्वैत=दुविधा। दुहूंकौ=दोनों का।

अर्थ:-पापबन्ध और पुण्यबन्ध दोनों मुक्तिमार्ग में बाधक हैं, इससे दोनों ही समान हैं, इनके कटु और मिष्ट स्वाद पुद्गल के हैं, इसलिए दोनों के रस भी समान हैं, संक्लेश और विशुद्ध भाव दोनों विभाव हैं, इसलिए दोनों के भाव भी समान हैं, कुगति और सुगति दोनों संसारमय हैं, इससे दोनों का फल भी समान है। दोनों के कारण, रस, स्वभाव और फल में तुझे अज्ञान से भेद दिखता है, परन्तु ज्ञानदृष्टि से दोनों में कुछ अन्तर नहीं है-दोनों आत्मस्वरूप को भुलानेवाले हैं, इसलिए महा अन्धकूप हैं, और दोनों ही कर्मबन्धरूप हैं, इससे मोक्षमार्ग में इन दोनों का त्याग कहा है।।६।।

काव्य - ६ पर प्रवचन

‘**पाप बंध पुन्न बंध दुहूंमैं मुकति नांहि**’ पापबन्ध और पुण्यबन्ध—दोनों में मुक्ति नहीं है, दोनों बन्ध के कारण हैं, मुक्ति के बाधक हैं। ‘**कटुक मधुर स्वाद पुग्गलकौ पेखिए**’ वह तो पुद्गल के स्वाद का अन्तर है। किसी को अनुकूल सामग्री और किसी को प्रतिकूल, वह तो पुद्गल के स्वाद में अन्तर है। इसमें आत्मा में कुछ अन्तर नहीं

पड़ा। '**संकलेस विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल**' यह संक्लेश परिणाम (और) विशुद्ध (भाव) तो कर्म की चाल अज्ञान है। मूल तो टीका में शुभ-अशुभभाव अज्ञान लिया है। क्या कहा? शुभभाव और अशुभभाव अज्ञान है, वह ज्ञान (रूप) आत्मा का स्वरूप नहीं। भगवान आत्मा तो ज्ञानमूर्ति चैतन्यप्रकाश की मूर्ति है, चैतन्यसूर्य है। ऐसे यह पुण्य-पाप दोनों अज्ञान है। अज्ञान अर्थात् उनमें ज्ञान है नहीं, पुद्गल है पुद्गल—अज्ञान। आहाहा!

'**संकलेस विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल**' देखा, स्वाभाविक दोनों कर्म की चाल है। आहाहा! उनमें आत्मा है नहीं। भारी कठिन जगत को! उसमें सम्प्रदायवालों ने मात्र धर्म मनाया यात्रा में, भक्ति में, यज्ञ करना, क्या कहते हैं? शान्तिकर्म और क्या कहते हैं सब? स्नात्र। यह करो, मर जाने के पश्चात् दान करो, फलाना करो, ढींकणा करो, पाँच-दस लाख रुपये खर्च करो (तो) तुम्हें धर्म होगा। धूल भी धर्म नहीं, सुन न अब!

मुमुक्षु : यहाँ धर्म होगा और देव में जायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : देव में जायेगा। यहाँ तो कहे देव में जायेगा। क्या कहते हैं? देव तो एक कर्म के फल की गति है, उसमें आत्मा कहाँ आया? देव हो या नारकी हो, दोनों में अन्तर क्या है उसमें?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख भी नहीं। बाहर के कारण से कहाँ, वह तो उसकी मान्यता में अन्तर है कि यह मुझे अठीक है और यह ठीक है। बाहर गति तो जो है, वह जड़ की पर्याय है। देवगति हो या नरकगति हो, उसमें आत्मा को क्या अन्तर है?

'**कुगति सुगति जगजालमैं विसेखिए।**' देखो, यह कहते हैं, नरक की गति और सुगति, वह तो सब संसारजाल है। आहाहा! यह तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा कदाचित नरक में जाये, पूर्व में आयुष्य बँधा हो तो, परन्तु वे नरक के परिणाम और नरकगति खिर जाती है। आहाहा! पापी स्वर्ग में जाये पुण्य करके, पापी—मिथ्यादृष्टि पुण्य करके स्वर्ग में जाये तो वहाँ पुण्यक्षय से, पुण्य क्षीण (होने से) वापस मृत्युलोक में (आता है)। पुण्य क्षय होने के पश्चात् भटकने में पड़ेगा ऊपर से नीचे। आहाहा! '**कुगति सुगति**

जगजालमैं' वह तो जगजाल है। कहो, ठीक। दोनों विभाव हैं। आहाहा!

'**कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि।**' देखो! तेरी दृष्टि में मिथ्यात्व है, इसलिए पुण्य-पाप के बन्धन के कारण में अन्तर लगता है, बन्धन में अन्तर लगता है, स्वभाव में अन्तर लगता है, फल में अन्तर लगता है। तेरी दृष्टि मिथ्या है, इसलिए लगता है। आहाहा! '**कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि, ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टिमैं न लेखिए।**' देखो, भगवान आत्मा आनन्द का पूर है, सच्चिदानन्द का नूर, प्रकाश की मूर्ति है। ऐसे ज्ञान के भान में द्वैत न देखिये। पुण्य-पाप दो हैं, ऐसा न देखिये; दोनों एक ही अज्ञान है, दोनों विकार है। समझ में आया? कठिन पड़े। '**ऐसौ द्वैत भाव**' ज्ञानदृष्टि में दो नहीं दिखते, दोनों एक ही है—ऐसा कहते हैं। चाहे तो शुभभाव हो या अशुभ हो, बन्धन भी साताकर हो या असाता हो, बाहर में अनुकूलता हो या प्रतिकूलता हो—उनमें दोनों में द्वैत नहीं देखना। ज्ञानी द्वैत देखता नहीं। आहाहा!

'**ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टिमैं न लेखिए।**' ज्ञानदृष्टि में दो (नहीं है), वे तो एक ही हैं। दोनों बन्ध के ही कारण हैं। धर्मी जीव आत्मा ज्ञानस्वरूपी (का) उसे ज्ञान हुआ, आत्मज्ञान हुआ, ऐसा धर्मात्मा पुण्य-पाप के दोनों विकल्पों को एकरूप बन्धन के, जहर के कारण जानता है। बन्धन का कारण जानता है। बन्धन भी एकरूप पुद्गल का स्वभाव मानता है। पररूप भी एक है। अनुभव के समय, ऐसा कहते हैं कि पाप के कारण न हो और फिर लम्बा है न उसमें... 'पाप वह बन्ध के आश्रय से होता है, पुण्य है वह मोक्षमार्ग के आश्रय से होता है।' धूल भी नहीं। दोनों एक आश्रय से है बन्धन के।

'**ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टिमैं न लेखिए।**' भगवान आत्मा चैतन्य शुद्ध आनन्दस्वरूप प्रभु, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई, उस धर्मात्मा को द्वैत दिखाई नहीं देता। दोनों एक जाति है। प्रतिकूलता—अनुकूलता, वह भी जगत में चीज़ नहीं, वह तो ज्ञेय है। पुण्य-पाप अज्ञानभाव है, वह कहीं अच्छा-बुरा नहीं। पाप बुरा और पुण्य अच्छा—ऐसा नहीं। ऐसा अन्दर बैठना चाहिए, हों! (मात्र) भाषा नहीं। आहाहा! '**ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टिमैं न लेखिए, दोऊ महा अंधकूप**' भगवान तो महा चैतन्य का—आनन्द का सागर है और पुण्य-पाप तो अन्ध कुँआ है, अन्ध कुँआ। आहाहा!

'दोऊ कर्मबंधरूप, दुहूकौ विनास मोख मारगमैं देखिए।' मोक्षमार्ग में तो दोनों का निषेध होकर नाश हो, तब मोक्षमार्ग होता है। बेचारा एक व्यक्ति कहे, देव के सुख तो भोगने दो पहले। बोटाद में केशुभाई थे नागलपर के, आते थे। तलोद। उसके पिता भी यह काम करते। वह उनका पुत्र था। ... वह हड्डियों का करता। ... वहाँ बोले, बोटाद। कहे, 'पुण्य करेगा तो स्वर्ग में जायेगा, सुख भोगेगा और फिर मोक्ष जायेगा।' अरे! पुण्य मेरा है, अच्छा है और पुण्य के देवलोक में सुख है—यह मान्यता ही मूढ़ अज्ञानी की है, सुन न! सुख तो आत्मा में है। देव में सुख है? देवलोक में सुख है? सेठाई में सुख है? यह सब पैसेवाले हंए हैं, वे सुखी हैं? मूढ़ है। समझ में आया? आहाहा! पैसेवाले को... जाये बड़े-बड़े लोग, लो! गरीब व्यक्ति जाये... परन्तु आये-जाये, उसमें तुझे क्या है? कहते हैं, दोनों अन्ध कुँआ है। आहाहा!

... फल में तुझे अज्ञान से भेद दिखता है... अन्ध कुँआ.... **परन्तु ज्ञानदृष्टि से दोनों में कुछ अन्तर नहीं है, दोनों आत्मस्वरूप को भुलानेवाले हैं।** आहाहा! भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्द का रसकूप, गूढ़ रसकूप, उसे भुलाकर पुण्य-पाप होते हैं, कहते हैं। गजब काम! जगत के लोगों को—वाडावालों को तो ऐसी चोट मारते हैं। 'गलती करता है'। वे आये थे। 'लोगों का कल्याण रुक जाता है इसमें।' सुन न अब! कल्याण था कब? ऐई! हमारे गुरु ऐसा कहते हैं। ऐसी प्ररूपणा करने से (कि) पुण्य है, वह धर्म नहीं, उसमें धर्म नहीं। इससे लोगों का कल्याण रुक जाता है। गलत है। कहा, तीन काल में सब गलत है दूसरे सबका। यह एक ही सत्य बात है। मानो तो मानो। न मानो तो घर में रहो तुम्हारे। आहाहा!

और कहते हैं, 'ऐसे पुण्य को धर्म नहीं मानते, बन्ध का कारण है, हेय है।' यहाँ तो कहते हैं लाख बार, अनन्त बार हेय है। सुन न! कल्याण करना है या नहीं तुझे? कल्याण, वह कहीं पुण्य-पाप से होता होगा? दया-व्रत आदि के भाव से कल्याण होगा? वह तो विकल्प है, रागभाव है। आहाहा! परन्तु गजब मार्ग! एक तो रुचि थी द्रव्यक्रिया की और भाव रुचि जड़हीन, उपदेशक भी वैसे। एक तो रोती थी और पीहरवाले मिले। रोती हो स्त्री, उसमें उसे पीहरवाले मिले भाई या पिता, ठीक से रखे।

'मेरी सासु ऐसी है और मेरा ससुरा ऐसा है।' पति का बहुत न बोले।'ऐसा है और मुझे ऐसे मारते हैं और मुझे ऐसा करते हैं।' वह तो ठीक से शोर मचाये।

एक तो अज्ञानी को पुण्य के परिणाम रुचते हैं और उसे उपदेशक ऐसे मिले। आहाहा! यह बात सच्ची, हों! यह वास्तविक बात। कैसे हुआ?

मुमुक्षु : दुःखता है पूरा शरीर।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक, ... बाहर खड़े होंगे? जीर्ण शरीर है न जीर्ण। समझ में आया? इस शरीर के खेल ऐसे हैं जड़ के। भगवान आत्मा तो आनन्द का कन्द है अन्दर। यह (शरीर) मिट्टी है, मिट्टी। मिट्टी को रहना हो वैसे रहे। यह आत्मा के सम्हाल से रहता नहीं। आहाहा! क्या हो? महा अन्धकूप है, देखो। **....कर्मबन्धरूप है, इससे मोक्षमार्ग में इन दोनों का त्याग कहा है।** भगवान ने तो त्याग कहा है, भाई! श्रद्धा में इसका त्याग करो। हो भले, परन्तु श्रद्धा में इसका—राग का त्याग और स्वभाव भगवान आत्मा अरागी, वीतरागस्वरूप, निर्दोषस्वरूप का आदर करो। बस यह आदर बिना कभी धर्म हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!....

मोक्षमार्ग में शुद्धोपयोग ही उपादेय है। लो। मोक्षमार्ग में तो आत्मा का—पुण्य-पाप के राग बिना की वस्तु जो चैतन्य भगवान, उसकी ओर का—व्यापार शुद्ध उपयोग, शुद्ध आचरण, शुद्ध रमणता, वही मोक्ष का मार्ग है। यहाँ और कितने ही कहें, 'शुद्ध उपयोग अभी नहीं होता। आठवें गुणस्थान में होता है।' मार डाला है न!

मुमुक्षु : मुनि को भी नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, मुनि तो छठवें-सातवें गुणस्थान में होते हैं। (शुद्धोपयोग) आठवें में होता है, सातवें में होता है, ऐसा कोई कहते हैं। सातवें में अभी कोई है नहीं। छठवाँ-सातवाँ हो... मुनिपना हो, उसे छठवाँ-सातवाँ (गुणस्थान) होता ही है। (अभी) कहाँ मुनि है? यह कहते हैं। क्या हो परन्तु अब? समझ में आया?

मुनि सन्त जिसे भावलिंगी नग्नदशा! और अन्तर में आनन्द का उफान अन्दर आता हो, उसे अन्तर साधुपद में शुद्ध उपयोग का ही उसे आदर होता है। मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में नहीं कहा? मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में कहा है न!

मुमुक्षु : मुनि को शुभोपयोग न हो, तो फिर अमृतचन्द्राचार्य कैसे कहते हैं कि शुभोपयोग अपराध है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहते हैं ?

मुमुक्षु : मुनि को शुभोपयोग न हो तो अमृतचन्द्राचार्य कैसे कहते हैं कि वह अपराध है और बन्ध का कारण है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अपराध है, यह न समझे। समझ में अन्तर है।

मुमुक्षु : शुभभाव तो अपराध ही होगा न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभभाव है, परन्तु उसे शुभभाव में अंश है शुद्धता का, ऐसा कहते हैं। उसमें शुद्धता का अंश है। अशुभ टलता है, इतनी शुद्धता होती है। सब खोटी बात है। ऐसा शुभभाव तो अनन्त बार किया और नौवें ग्रैवेयक में गया, तो भी शुद्धता का अंश भी आया नहीं। अंश आया हो तो निर्जरा हुए बिना रहे नहीं, धर्म हुए बिना रहे नहीं। परन्तु पूरी बात में बहुत अन्तर कर डाला, पण्डितों ने कितनों ने, हों, कितनों ने।

चौथा कलश।

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥४॥

गुरु कहते हैं (कि) भगवान ने तो भाई ! ऐसा कहा है। आहाहा ! सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें आत्मा का ज्ञान पूर्ण प्रगट हो गया है, तीन काल तीन लोक जिन्होंने जाने। 'सर्वविद' है न ! '**सर्वविदो**'। इसका पद, ७वाँ पद।

★ ★ ★

काव्य - ७

मोक्षमार्ग में शुद्धोपयोग ही उपादेय है (सवैया इकतीसा)

सील तप संजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असंजम कषाय विषैभोग है।
कोऊ सुभरूप कोऊ अशुभ स्वरूप मूल,
वस्तुके विचारत दुविध कर्मरोग है।।
ऐसी बंधपद्धति बखानी वीतराग देव,
आतम धरममैं करम त्याग-जोग है।
भौ-जल-तरैया राग-द्वेषकौ हरैया महा,
मोखको करैया एक सुद्ध उपयोग है।।७।।

शब्दार्थः-सील (शील)=ब्रह्मचर्य। तप=इच्छाओं का रोकना। संजम (संयम)=छह काय के जीवों की रक्षा और इन्द्रियों तथा मन को वश में करना। विरति (व्रत)=हिंसादि पाँच पापों का त्याग। असंजम=छह काय के जीवों की हिंसा और इन्द्रियों तथा मन की स्वतन्त्रता। भौ (भव)=संसार। सुद्ध उपयोग=वीतराग परिणति।

अर्थः-ब्रह्मचर्य, तप, संयम, व्रत, दान, पूजा आदि अथवा असंयम, कषाय, विषय-भोग आदि इनमें कोई शुभ और कोई अशुभ हैं, सो आत्मस्वभाव विचारा जावे तो दोनों ही कर्मरूपी रोग हैं। भगवान वीतरागदेव ने दोनों को बन्ध की परिपाटी बतलाया है, आत्मस्वभाव की प्राप्ति में दोनों त्याज्य हैं। एक शुद्धोपयोग ही संसार-समुद्र से तारनेवाला, राग-द्वेष्ट नष्ट करनेवाला और परमपद का देनेवाला है।।७।।

काव्य - ७ पर प्रवचन

सील तप संजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असंजम कषाय विषैभोग है।
कोऊ सुभरूप कोऊ अशुभ स्वरूप मूल,
वस्तुके विचारत दुविध कर्मरोग है।।

ऐसी बंधपद्धति बखानी वीतराग देव,
आतम धरममैं करम त्याग-जोग है।
भौ-जल-तरैया राग-द्वेषकौ हरैया महा,
मोखको करैया एक सुद्ध उपयोग है॥७॥

सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव ने तो ऐसा कहा है, भाई!

आहाहा! यह तो गाथा... कौन जाने क्या करते हैं? मोक्ष का मार्ग शुद्ध उपयोग से शुरु होता है। समझ में आया? पुण्य और पाप शुभ-अशुभभाव अनन्त बार किये हैं। वह तो बन्धमार्ग और कर्मरोग है। शील—ब्रह्मचर्य पालना, देखो। वह शुभभाव है। शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, वह शुभभाव है; वह कहीं शुद्धभाव नहीं। तप करना, भाषा है न! यह अपवास, ऊनोदर, एक अपवास, दो अपवास, तीन अपवास, पन्द्रह अपवास—यह तो सब शुभराग भाव है, वह कहीं निर्जरा और तप नहीं। 'तुम तप को निर्जरा क्यों नहीं कहते?' एक व्यक्ति ने विवाद उठाया। 'दूसरी बात भले कहें, परन्तु अपवास करें तो तप और तप, वह तो निर्जरा है। शास्त्र में ऐसा है।' तुझे खबर नहीं, सुन न! कौन सा तप निर्जरा? वह तो आत्मा के आनन्द में अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करके अन्दर स्थिरता की रमणता आनन्द में रमे, ऐसा जो शुद्ध उपयोग आनन्द का, वह तप है। आहाहा! समझ में आया?

देखो, पाठ है न! शील और तप, संयम, विरति और पाँच इन्द्रिय का दमन करना, संयम पालना, छह काय की दया पालना—वह सब शुभभाव है। इतना तो स्पष्टीकरण स्पष्ट किया है। विरति करना—अविरत छोड़ना, हमारे यह नहीं चलता, मेरे नहीं चलता—ऐसे बाहर की बात हों। पाँच पापों का त्याग। विरति अर्थात् पाँच पाप का त्याग। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग। परन्तु अन्दर दया-दान के परिणाम हुए वे? अहिंसा—पर को नहीं मारने के परिणाम, वे शुभ हैं। आहाहा! यह दया-दान के परिणाम शुभ हैं। हिंसा के परिणाम, वे अशुभ हैं। दोनों बन्ध के कारण हैं।

यह कहे, 'दया धर्म का मूल है।'

मुमुक्षु : परन्तु आत्मदया हो या रागदया?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन सी दया? भाई! अन्दर राग की उत्पत्ति न होने से, भगवान आत्मा में शान्ति और अरागीदशा की उत्पत्ति हो, उसे भगवान अहिंसा कहते हैं, उसे दया कहते हैं। पर की दया का भाव तो विकल्प है। मारने का भाव पाप है। बचाने का विकल्प (पुण्य) है। दोनों पुण्य-पाप बन्ध के कारण हैं। संयम, व्रत। व्रत लो। विरति, नहीं? विरति। व्रत, वह भी पुण्यबन्ध का कारण है। प्रकाशदासजी! है उसमें? देखो, अर्थ नीचे अर्थ। **ब्रह्मचर्य, तप, संयम, व्रत।** इस ओर, इस ओर। ऐसा नहीं, इस ओर। ब्रह्मचर्य, वह शुभभाव; तप, वह शुभभाव; संयम, वह शुभभाव; व्रत, वह शुभभाव; दान देने का भाव, शुभ और पूजा, भक्ति आदि सब शुभभाव। यह असंयम, वह अशुभभाव; कषाय करना अशुभभाव; विषयभोग अशुभभाव।

इनमें कोई शुभ और कोई अशुभ हैं, सो आत्मस्वभाव विचारा जावे तो दोनों ही कर्मरूपी रोग हैं। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग वीतरागभाव से उत्पन्न होता है। राग से उत्पन्न हो, वह मार्ग है नहीं। समझ में आया? **आत्मस्वभाव विचारा जावे तो दोनों ही कर्मरूपी रोग हैं।** है न? '**कोऊ शुभरूप कोऊ अशुभरूप मूल, वस्तुके विचारत दुविध कर्मरोग है।**' वह दोनों कर्म का रोग है। अणुव्रत और महाव्रत का प्रचार, कहते हैं कि कर्म के रोग का प्रचार है—ऐसा कहते हैं। परन्तु गजब बात! आहाहा! वस्तु आत्मा चिदानन्दस्वरूप, उसके समक्ष विकल्प उठता है, वे दोनों कर्मरोग हैं। आहाहा! वह आत्मा की निरोगता नहीं। गजब, बापू! अरे! ऐसा मनुष्यदेह चला जाता है। उसमें यह बात स्वयं अपने कारण से हो न समझे और बाहर में बखेड़ा खड़ा करे, (तो) संसार में भटकेगा भाई! **दोनों ही कर्मरूपी रोग हैं।**

ऐसी बन्धपद्धति बखानी वीतरागदेव। भगवान वीतरागदेव ने दोनों को बन्ध की परिपाटी बतलाया है। भगवान ने यह कहा है कि व्रत का विकल्प वह पुण्य और अव्रत का पाप—दोनों बन्ध के कारण हैं। आहाहा! **दोनों को बन्ध की परिपाटी बतलाया है।** यह कहता है कि 'धर्म होता है, महाव्रत पालो, अणुव्रत पालो।' धूल भी नहीं। सम्यग्दर्शन बिना महाव्रत कैसे पाले? अणुव्रत कैसे? यह आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप अखण्ड, अभेद की दृष्टि के भान बिना अणुव्रत और व्रत कैसे? परन्तु यहाँ तो ज्ञानी को भी जो विकल्प आवे व्रत-अव्रत का, वह दोनों बन्ध का कारण है।

समझ में आया? यद्यपि ज्ञानी उनसे विरक्त है, तथापि अस्थिरता की अपेक्षा से दोनों बन्ध के कारण हैं।

'ऐसी बन्धपद्धति बखानी वीतरागदेव' ऐसा पाठ में है न? **'सर्वविदो बन्धसाधन-मुशन्त्यविशेषात्'**। देखो! भगवान ने तो बन्ध के साधन कहे हैं अविशेषात्—अन्तर बिना। अब यहाँ तो ऐसा तो है। अरेरे! इसे भी पढ़ने का समय नहीं। समझ में आया? **'आतम धरममैं करम त्याग-जोग है।'** भगवान आत्मा अबन्धस्वरूपी प्रभु की दृष्टि करने से वे पुण्य और पाप दोनों त्यागयोग्य हैं। दृष्टि में उनका आदर योग्य है नहीं। आवे, हो, आदर योग्य नहीं। आहाहा! आत्मधर्म ध्यान। भगवान आत्मा का स्वभाव—धर्म, वह तो आनन्द और ज्ञान की मूर्ति प्रभु ऐसे चैतन्य के नूर का पूर आत्मा है, उसका जहाँ भान हुआ, उस आत्मधर्म के समक्ष वह कर्म तो पुण्य-पाप के भाव तो त्यागरूप है, हेय है, आदरणीय नहीं। तब आदरणीय क्या है?

'भौ-जल-तरैया' शुद्ध उपयोग। चैतन्य भगवान आनन्दस्वरूप की ओर का उपयोग भवजल—चौरासी के अवतार का मिटना, राग-द्वेष का नष्ट होना, राग-द्वेष का हरनेवाला शुद्ध उपयोग है। उसके बदले कहे, शुभराग वह शुद्ध उपयोग का करनेवाला है। शुद्ध उपयोग, शुभराग का हरनेवाला है। तब यह कहे, 'शुभराग, शुद्ध उपयोग का करनेवाला है।' भारी फेरफार। समझ में आया? **'भौ-जल-तरैया राग-द्वेषकौ हरैया महा, मोखको करैया एक सुद्ध उपयोग है।'** परमपद महापद अर्थात्। परमपद ऐसा सिद्धपद—परमात्मपद—मोक्षपद का करनेवाला एक शुद्ध उपयोग है। एक शुद्ध उपयोग है। बीच में शुभ (आवे) परन्तु मोक्ष का करनेवाला है, ऐसा नहीं। है इसमें, है या नहीं? यह तो बनारसीदास ने बनाया है। मोक्ष का करनेवाला वह शुद्ध उपयोग है। इसके अतिरिक्त कोई मोक्ष का करनेवाला है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५५, फाल्गुन कृष्ण अमावस्या, शुक्रवार, दिनांक २६-३-१९७१
पुण्य-पाप एकत्व द्वार, पद ८, ९

नाटक समयसार। पुण्य-पाप अधिकार। पाँचवाँ कलश है। इस ओर है पाँचवाँ। यह वे अभी आये? अभी कहा, कहाँ गये थे? दिखते नहीं थे। पाँचवाँ कलश है। १०० पृष्ठ १००, नीचे।

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल,
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरित-मेषां हि शरणं,
स्वयं विन्दन्त्येते परम-ममृतं तत्र निरताः॥५॥

इसके ऊपर ८वाँ पद, ८वाँ पद। कलश का ८वाँ पद ऊपर है। **शिष्य-गुरु का प्रश्नोत्तर**। शिष्य का प्रश्न और गुरु का उत्तर। यह नीचे है, उसमें है। यह कलश बोला गया न उसका ही है।

★ ★ ★

काव्य - ८

शिष्य-गुरु का प्रश्नोत्तर (सवैया इकतीसा)

सिष्य कहै स्वामी तुम करनी असुभ सुभ,
कीनी है निषेध मेरे संसै मन मांही है।
मोखके सधैया ग्याता देसविरती मुनीस,
तिनकी अवस्था तौ निरावलंब नांही है।।
कहै गुरु करमकौ नास अनुभौ अभ्यास,
ऐसौ अवलंब उनहीकौ उन पांही है।
निरुपाधि आतम समाधि होई सिवरूप,
और दौर धूप पुदगल परछांही है।।८।।

शब्दार्थ:-संसै (संशय)=सन्देह। देसविरती=श्रावक। मुनीश=साधु। निरालंब= निराधार। समाधि=ध्यान।

अर्थ:-शिष्य कहता है कि हे स्वामी! आपने शुभ-अशुभ क्रिया का निषेध किया, सो मेरे मन में सन्देह है, क्योंकि मोक्षमार्गी ज्ञानी अणुव्रती श्रावक व महाव्रती मुनि तो निरावलम्ब नहीं होते अर्थात् दान, समिति, संयम आदि शुभक्रिया करते ही हैं। इस पर श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि कर्म-निर्जरा अनुभव के अभ्यास से है, सो वे अपने ही ज्ञान में स्वात्मानुभव करते हैं, राग-द्वेष-मोह रहित निर्विकल्प आत्मध्यान ही मोक्षरूप है, इसके बिना और सब भटकना पुद्‌गल जनित है।

भावार्थ:-शुभक्रिया समिति व्रत आदि आस्रव ही हैं, इनसे साधु वा श्रावक की कर्म-निर्जरा नहीं होती, निर्जरा तो आत्मानुभव से होती है[१]।।८।।

काव्य - ८ पर प्रवचन

सिष्य कहै स्वामी तुम करनी असुभ सुभ,
कीनी है निषेध मेरे संसै मन मांही है।
मोखके सधैया ग्याता देसविरती मुनीस,
तिनकी अवस्था तौ निरावलंब नांही है॥
कहै गुरु करमकौ नास अनुभौ अभ्यास,
ऐसौ अवलंब उनहीकौ उन पांही है।
निरुपाधि आतम समाधि होई सिवरूप,
और दौर धूप पुद्‌गल परछांही है॥८॥

बात बहुत सूक्ष्म है। अनन्त काल से इसे जानने में आयी नहीं और अभी तो सब पूरी उल्टी प्ररूपणा चलती है। बसन्तलालजी! आहाहा!

'**सिष्य कहै स्वामी**' शिष्य गुरु को कहता है, महाराज! '**तुम करनी असुभ सुभ**'

---

१. येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।। इत्यादि (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

शुभ—व्रत-नियम-दान-दया-पूजा-भक्ति—यह सब भाव शुभ और हिंसा-झूठ-चोरी-विषयभोग—अशुभ। दोनों का तो आपने निषेध किया कि वह धर्म नहीं। **आपने शुभाशुभ क्रिया का तो निषेध किया...** ऊपर आ गया है, नीचे भी आयेगा। ऊपर है न इस ओर। (पृष्ठ) ९९ में (सातवें पद का अर्थ), उसका उत्तर। ९९ (पृष्ठ) है न? शिष्य का प्रश्न है। ९९, इस ओर देखो। **ब्रह्मचर्य, तप, संयम, व्रत, दान, पूजा...** अर्थ है, अर्थ। यह सब शुभभाव है, पुण्य है। **असंयम, कषाय विषय-भोग आदि इनमें कोई शुभ और कोई अशुभ हैं, सो आत्मस्वभाव विचारा जावे तो दोनों ही कर्मरूपी रोग हैं।** उस ओर है न। यह आ गया है।

उसका यह प्रश्न शिष्य का है कि महाराज! आपने तो, शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, यह अपवास करना, तप करना। आठ-आठ दिन के अपवास करना, महीने-महीने के और इन्द्रियों का दमन करना, संयम पालना, दान-पूजा-भक्ति आदि—यह सब तो कर्मरोग आपने कहा। वह तो धर्म नहीं, ऐसा आपने कहा। और असंयम, कषाय, विषय-भोग आदि अशुभ। आत्मस्वभाव विचारा (जावे तो) दोनों कर्मरूपी रोग है। **भगवान वीतरागदेव ने तो दोनों को बन्ध की परिपाटी बतलाया है।** त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमेश्वर ने समवसरण के अन्दर, यह दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा के भाव शुभ और हिंसा-झूठ-चोरी के अशुभ—दोनों बन्ध का कारण भगवान ने कहा है। उसमें एक भी धर्म का कारण है नहीं। गजब बातें, भाई! समझ में आया?

यह अभी खटकता है न सबको यह। यह अवसर से आया है आज यह।

मुमुक्षु : बराबर स्पष्टता अपेक्षित है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पष्टता अपेक्षित है। उस ओर, उस ओर है भाई, कान्तिभाई! उस ओर देखो। ९९। पढ़ो तो सही, देखो, यह तो वहाँ वह रुपये कमाने में पूरा समय जाता है और यह सब पड़ा रहा है पूरा तत्त्व। है उस ओर? ९९ पृष्ठ पर है। देखो ब्रह्मचर्य... है? 'व्रत-तप-संयम, व्रत-दान-तप-पूजा आदि और असंयम, कषाय, विषय-भोग आदि, दोनों अशुद्ध हैं। आत्मस्वभाव विचारा जाये तो दोनों ही कर्मरूपी रोग है।' यहाँ तो सब धर्म कहते हैं सब।

मुमुक्षु : बड़े पुरुष हैं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी मूढ़ है। भारी कठिन काम!

अभी सम्प्रदाय में तो यही चलता है। व्रत करो, अपवास करो, तपस्या करो, यह तुम्हारे धर्म है। भगवान कहते हैं कि यह शुभभाव बन्ध का कारण है, विकल्प है, राग है शुभ। आहा! है न? **आत्मस्वभाव की प्राप्ति में दोनों त्याज्य हैं।** सूक्ष्म बात है, भाई! इसने धर्म की बात ही सुनी नहीं। ऐसी की ऐसी जिन्दगी पूरी करके पीठ मरकर वह चले गये धर्म के नाम से। यह बाहर में कहीं पैसा कमाने में गये। यहाँ आवे तो यह दया-दान और व्रत-तप परिणाम, वह धर्म है उसमें (समय) गया। दोनों लुटे। बराबर होगा चन्दुभाई?

मुमुक्षु : यह तो हर्ष से लुटा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो हर्ष से लुटता है। आहाहा!

'**सिष्य कहै स्वामी तुम करनी असुभ सुभ।**' क्रिया अशुभ करणी... हिंसा-झूठ-चोरी-विषय-भोग-वासना-काम-क्रोध वह अशुभ क्रिया और दान-दया-व्रत-तप-अपवास-पूजा, यह सामायिक, चौविसंत्थो, (रात्रि में) चतुर्विध आहार त्याग आदि विकल्प वह सब शुभक्रिया है। वह तो **कीनी है निषेध...** वह तो आपने निषेध की है कि वह तो धर्म नहीं, वह संवर-निर्जरा नहीं। तब '**मेरे संसै मन मांही है**' मुझे संशय है, शिष्य कहता है। क्यों?

'**मोखके सधैया**'—मोक्ष के साधनेवाले साधक जीव **ग्याता**। देखो, ज्ञाता—सम्यग्दृष्टि—धर्मी, '**देसविरती मुनीस**'—श्रावक और साधु। तब उन्हें अवलम्बन क्या? यह क्रिया जो थी उसे तो आपने धर्म नहीं कहा। तब अब उसे करना क्या? वे क्या करते होंगे? ऐ प्रवीणभाई! समझ में आया? उन्हें साधन क्या तब अब? '**मोखके सधैया**' नीचे है देखो। इसका अर्थ है न। **शिष्य कहता है कि हे स्वामी! आपने शुभ-अशुभ क्रिया का निषेध किया, सो मेरे मन में सन्देह है।**' अर्थ है न नीचे। **क्योंकि मोक्षमार्गी ज्ञानी,....** मोक्षमार्गी ज्ञानी, **अणुव्रती, श्रावक व महाव्रती मुनि तो निरावलम्ब नहीं होते (अर्थात्) दान-समिति संयम आदि शुभ क्रिया करते ही हैं।**

जब शुभक्रिया में तुम धर्म कहते नहीं। तब अब उन्हें क्या करना? तब उन्हें जाना कहाँ? पण्डितजी! अरे, अरे! लुटे हैं बेचारे धर्म के नाम से। कहते हैं कि दान, समिति, संयम, इन्द्रियदमन, व्रत और तप—यह तो आपने इनकार किया कि वह तो विकल्प है, वह तो वृत्ति उठती है, राग है। वह परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, इससे राग होता है और राग है, वह तो कर्म का रोग है। वह कहीं आत्मा का स्वभाव (नहीं है), वह आत्मा का धर्म नहीं है। उस व्रत और तप से संवर और निर्जरा (हो, ऐसा) है नहीं। '**तिनकी अवस्था तौ निरावलंब नांही।**' प्रभु! श्रावक और मुनि निरावलम्ब तो नहीं हैं। उन्हें ऐसी शुभक्रिया तो होती है।

'**कहै गुरु करमकौ नास अनुभौ अभ्यास।**' भाई! तुझे कर्म की निर्जरा की खबर नहीं है। **गुरु उत्तर देते हैं कि कर्म-निर्जरा अनुभव के अभ्यास से है।** क्या कहते हैं? बहुत सूक्ष्म बात है! आत्मा आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति है और अकेला ज्ञान-चैतन्य का पुंज रसकन्द है। ऐसे ज्ञान और आनन्द का अनुभव करने से उसे धर्म होता है, तब संवर और निर्जरा (होती है)। आहाहा! समझ में आया? '**करमकौ नास**' यह शुभ-अशुभ परिणाम का नाश... '**अनुभौ अभ्यास**' आहाहा! बात सुनने को मिलती नहीं बेचारे लोगों को। ऐसे के ऐसे अन्ध के अन्ध।

यह शरीर ठीक हो, वह फिर यह सामायिक, प्रौषध, प्रतिक्रमण, अपवास और तप करे। शरीर ठीक न हो और पैसा-बैसा हो तो दान दे पाँच-पचास हजार का। जाओ, तुम्हारे धर्म हो गया। ऐ मलूकचन्दभाई! धूल भी धर्म नहीं, सुन न! तेरे लाख क्या, करोड़ दे दे, वह तो जड़ है। पैसा तो जड़ है। और जड़ मेरे हैं, ऐसी मान्यता तो मिथ्यादृष्टि की—मूढ़ की है। मैं आत्मा (और) वह (पैसा) तो जड़ है। जड़ तेरा कहाँ से आ गया? और मैंने उसे दिया—मेरे थे। वह तो उसने जड़ को आत्मा माना। समझ में आया?

यह दान-बान में राग मन्द किया हो तो पुण्य है। परन्तु यह पैसा मैंने दिया और यह किया, (वह) उसकी मान्यता तो मिथ्यात्व की है। आहाहा! अजीव का स्वामी होता है। भगवान आत्मा अरूपी ज्ञानघन और यह जड़ मिट्टी-धूल। यह मैंने दिये और मेरा नाम डालो यहाँ उपाश्रय में या मन्दिर में अर्थात् पन्द्रह हजार एक दिये, इसका

अमुक करो। इक्कीस हजार और ग्यारह सौ और ग्यारह, ऐसे सब आते हैं न अंक लिखते हैं सब, उस ओर शून्य न लिखे फिर कुछ। ग्यारह हजार एक सौ ग्यारह। ग्यारह लाख ग्यारह हजार एक सौ ग्यारह। ऐई! प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये सब। आहाहा! देनेवाला—लेनेवाला दोनों। धूल भी धर्म नहीं उसमें, सुन न! वह तो राग की मन्दता तूने की हो शुभभाव (किया तो) पुण्य होगा; धर्म नहीं, संवर और निर्जरा नहीं।

इसी प्रकार व्रत पालने का (भाव) अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य पालन किया हो, अहिंसा—किसी प्राणी को न मारने का भाव किया हो, वह सब शुभभाव है, पुण्य है; धर्म नहीं। तीन काल में वीतरागमार्ग में उसे धर्म नहीं कहते। आहाहा! कहो, भीखाभाई! क्या कहते हैं? आहाहा! यह तो दया-दान-समिति-संयम तो करता है। कहे, नहीं, नहीं, सुन न! वह तो अनुभव का अभ्यास करता है, इससे निर्जरा होती है। भारी सूक्ष्म बात, भाई! जिसने आत्मा अखण्ड आनन्दमूर्ति... आत्मा भगवान सर्वज्ञ ने परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने कहा कि यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द (रूप है)। अन्यमतियों ने, अज्ञानियों ने कहा, वह नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर ने यह आत्मा कहा, वह अनन्त-अनन्त असंख्य प्रदेशी अनन्त गुण का पिण्ड है। वह इन पुण्य-पाप के राग की क्रिया से भिन्न चीज़ है। आहाहा!

उसका अनुभव करे... है? '**अनुभौ अभ्यास**' व्यय और उत्पत्ति, दोनों हैं, देखो! यह शुभ-अशुभ क्रिया का राग, उसका लक्ष्य छोड़कर, अखण्ड आनन्दस्वरूप ध्रुव भगवान आत्मा नित्यानन्द अविनाशी आत्मा के आनन्द और ज्ञान के स्वभाव में एकाग्र होकर उसका—आनन्द का—अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का अनुभव करे, उसे यहाँ संवर और निर्जरा तथा धर्म कहा जाता है। भाई! हमने तो अभी तक सुना हुआ है कि (रात्रि में) चतुर्विध आहार (छोड़ना)। सामायिक करना, प्रतिक्रमण करना, प्रौषध करना, आठ अपवास करना। अब अठ्ठम की हो तो पोरसी चढ़ावे तो फिर पाँच अपवास क्या अमुक कुछ लाभ कहते हैं? क्या प्रतिक्रमण... पोरसी चढ़ावे उसे निर्जरा बहुत होती है। धूल भी नहीं होती, सुन न! लंघन है तेरा सब।

यह आत्मा ऐसी पुण्य-पाप की क्रिया के विकल्प से—राग से भिन्न चीज़ है। ऐसा भगवान ने नौ तत्त्व में इस तत्त्व का ऐसा स्वरूप कहा है। समझ में आया? ऐसे

आत्मा के अनुभव से—अनुभव का अभ्यास... **'ऐसौ अवलंब उनहींकौ उन पांही है।'** यह तो सम्यग्दृष्टि जीव को खबर पड़े, कहते हैं। ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या कहते हैं? भाई! भगवान अन्दर चैतन्यस्वरूप है। ज्ञान के प्रकाश का पूर, नूर और आनन्द का सागर है। ऐसे आनन्द में झपट मारकर, दृष्टि की और उसके आनन्द का स्वाद ले, अतीन्द्रिय अनुभव करे, उस श्रावक को संवर और निर्जरा है। जेठाभाई! यह गर्म पानी पीना और यह सब निकाल दिया। आहाहा! भारी कठिन काम, भाई! समझ में आया?

'कहै गुरु करमकौ नास अनुभौ अभ्यास, ऐसौ अवलंब उनहींकौ उन पांही है।' क्या कहते हैं यह? उसके पास है, ऐसा कहते हैं। **वे अपने ही ज्ञान में स्वात्मानुभव करते हैं।** अर्थात् कि यह शरीर, वाणी तो मिट्टी-जड़ है। वह तो अजीव होकर रहे हुए हैं। वे कहीं आत्मा के होकर (रहे नहीं)। रहे हैं? यह लक्ष्मी-बक्ष्मी रही हो, वह क्या है? वह किसकी होकर रही है? अजीव होकर रही है या जीव होकर रही है? जादवजीभाई!

मुमुक्षु : है अजीव, परन्तु जीव को शकुन बहुत दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी दे नहीं। मूढ़ मानता है। ऐई!

मुमुक्षु : उसकी गर्मी चढ़ जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गर्मी चढ़ जाती है। आनेवाला है न क्या तुम्हारा कब—कब आनेवाला है?

मुमुक्षु : पत्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पत्र है। उसके पिता का भी चले नहीं, उस पैसेवाले के पास। लड़के (के पास) दो करोड़... तीन करोड़ और दो करोड़... आहाहा! अभी तो उसे खबर भी नहीं कि आयेगा कब? यह उनके लड़के! उसके पास दो करोड़। उसके पास तीन करोड़ मुम्बई रहता है, उसके पास। क्या तब यह तुम पिता होकर क्या रहे?

मुमुक्षु : आपने अभी इनकार किया कि बाप-पुत्र....

पूज्य गुरुदेवश्री : पिता-पुत्र है ही नहीं। आत्मा को पिता कैसा और पुत्र कैसा? आत्मा तो भगवान अनन्त आनन्द का कन्द है। उसमें यहाँ तो राग की क्रिया हो दया,

दान की, वह भी उसकी नहीं। तो दूसरी चीज़ तो कहाँ उसकी लावे? कठिन काम भाई! वीतरागमार्ग कहता है, वह तो उसके पास उसका अनुभव है। आहाहा! क्या कहते हैं? वह राग आदि क्रिया, वह भिन्न—दूर है, ऐसा कहते हैं। दया-दान-व्रत-भक्ति आदि का भाव—विकल्प, वह तो दूर है। और यह ज्ञान का अनुभव तो उसके पास—समीप में है। आहाहा! सेठी! कठिन काम, भाई!

कर्म-निर्जरा अनुभव के अभ्यास से हैं। कहे, कर्मनिर्जरा तो अनुभव के अभ्यास से है, भाई! **वे अपने ही ज्ञान में स्वात्मानुभव करते हैं।** सम्यग्दृष्टि—धर्मी जीव श्रावक हो, श्राविका हो, सच्चे साधु हो या आर्यिका हो। यह आत्मा निर्विकल्प—विकल्प अर्थात् राग से भिन्न अखण्ड अभेद चैतन्यमूर्ति है, उसका आश्रय करके अनुभव करता है, उसे संवर और निर्जरा कर्म की होती है। बाकी दूसरे को लंघन होकर नया कर्म मिथ्यात्व का बँधता है। कैसे होगा यह बसन्तलालजी? परन्तु यह तुम्हारे कलकत्ता में क्या अब चलता होगा यह?

मुमुक्षु : क्यों न चले?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा! अब तो पूरे देश में सर्वत्र चलता है। अब ३६ वर्ष हुए। सब गाँव में—गाँव-गाँव में हो गया है। यह मार्ग वीतराग का है। दूसरे प्रकार से माने तो यह वीतराग की श्रद्धा उसे नहीं, श्रद्धा भ्रष्ट है। कहो, समझ में आया?

लो, **कर्म-निर्जरा अनुभव के अभ्यास से हैं।** अब अनुभव क्या? यह किसी ने पूछा था, भाई! (संवत्) १९८० के वर्ष में वहाँ। वह एक थे ठाकरसी गोपाणी थे। नहीं वे अमृतलाल गोपाणी नहीं बड़े?

मुमुक्षु : प्रोफेसर।

पूज्य गुरुदेवश्री : काशी के प्रोफेसर बड़े। अमृतलाल स्वरूपचन्द गोपाणी। यह तो (संवत्) १९८० की बात है, हों! ४७ वर्ष हुए। अनुभव... अनुभव करे न तो वह ठाकरसी गोपाणी कहे, प्रतिक्रमण करना आवे, 'यह अनुभव... अनुभव क्या करते हैं यह महाराज? अनुभव अपने तो होता नहीं कुछ।'

मुमुक्षु : अपने तो सामायिक होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने तो यह प्रतिक्रमण, सामायिक करना। अरे भगवान! तेरी सामायिक और प्रौषध सब रण में शोर मचाने जैसे हैं। मिथ्यात्वसहित है अज्ञान। भान नहीं कि यह देह की क्रिया भिन्न है। अन्दर विकल्प उठे कि यह करूँ, यह राग और पुण्य है। उससे भगवान चीज़ भिन्न है। आहाहा! समझ में आया?

कर्म-निर्जरा अनुभव के अभ्यास से हैं, सो वे अपने ही ज्ञान में... देखो, अपने— अपना ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा... जैसे शक्कर मिठासस्वरूप है, वैसे भगवान आत्मा चैतन्यप्रकाश का नूर, पूर है आत्मा अन्दर। उस ज्ञान का अन्तर में एकाग्र होकर, पुण्य-पाप के विकल्पों की वृत्ति को छोड़कर, ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा का अन्तर अनुभव— अवलम्बन करके करे, उसे वीतरागदेव ने कर्म की निर्जरा कही है। कहो, प्रवीणभाई! भगवान का भजन करो, भगवान का भजन करो। भजन है, वह विकल्प है, कहते हैं, ले! हो, परन्तु वह शुभ-पुण्य है।

मुमुक्षु : भगवान ही कहाँ थे? उन्होंने फेरफार कर डाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भगवान तीर्थंकर... भगवान... भगवान... करो। णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं कहाँ है? वह तो विकल्प—राग है, शुभराग है; धर्म-बर्म नहीं। समझ में आया?

अरे रे! जगत की जिन्दगियाँ चली जाती हैं। लट और कीड़े जैसे मरे, वैसे सब यह भान बिना के मरेंगे, जायेंगे चौरासी के अवतार में। उसे कहीं कोई शरण नहीं। आहाहा! कहते हैं, तेरा शरण तो अन्दर आत्मा है, भाई! तुझे विश्वास भी नहीं कि वह मैं कौन हूँ? मुझमें अतीन्द्रिय आनन्द—अतीन्द्रिय आनन्द ठसाठस भरा है। आहाहा! जिसके सन्मुख भाव होने से जिसे अतीन्द्रिय आनन्द के अमृत के झरने बहे, उसे यहाँ अनुभव और निर्जरा कहा जाता है। कहो, धरमचन्दभाई! भारी कठिन काम, भाई!

वह यह सब कहते होंगे, वे खोटे होंगे? भाई! खोटे सिक्के के लड़के चले हैं, यह भान बिना के। आत्मा क्या? किसे कहना? और धर्म किसे कहना? इसके बिना यह सब करो और अपवास करो, यह करो और सूख जाओ। शरीर को... भाई! शरीर का दमन करो, शरीर का दमन करो, शरीर में से माल निकालो। इस जड़ का मालिक

है ? यह मिट्टी है, धूल है। आहाहा! धूल भी नहीं, सुन न! देह क्या है ? वह तो मिट्टी, वह तो धूल है, अजीव है। माँस और हड्डियाँ होकर रहा हुआ है, वह आत्मा होकर रहा नहीं। आत्मा तो अन्दर आनन्द की खान है। यह पुण्य-पाप की क्रिया के राग की खान नहीं। आहाहा!

भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव समवसरण में इन्द्रों और गणधर के बीच ऐसा कहते थे, वह यह बात है। समझ में आया ? कहते हैं कि यदि तुझे कर्म की निर्जरा करनी हो तो श्रावक और मुनि को क्या हो तो निर्जरा होगी ? कि वह तो आत्मा के आनन्द और ज्ञानस्वरूपी ज्ञान में एकाग्र हो, चैतन्यबिम्ब यह आत्मा है, उसे पकड़कर गहरा जाकर उसमें एकाग्र हो, उसका अभ्यास करे और पर्यायबुद्धि और रागबुद्धि नष्ट हो जाये, उसे धर्म (होता है) और कर्म की निर्जरा होती है। आहाहा! कठिन काम भाई! समझ में आया ?

'अनुभौ अभ्यास, ऐसौ अवलंब उनहीकौ उन पांही है।' अवलम्बन है। दया-दान-व्रत के परिणाम पुण्य है, बन्धन का कारण है। जब आत्मा का स्वभाव उसे—धर्मी को आधार और अवलम्बन है। उसके अन्तर चैतन्य के आश्रय से अवलम्बकर भगवान अनुभव करे, उसे यहाँ कर्म की निर्जरा कहा जाता है। बाकी पुण्य-पाप के विकल्प की क्रिया, वह तो कर्म का रोग है। आहाहा! एक से पुण्य बँधता है और दूसरे से पाप। सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी, दोनों संसार में भटकाने के कारण हैं। आहाहा! समझ में आया ?

'निरुपाधि आतम समाधि सोई सिवरूप।' आहाहा! कैसा है भगवान अन्दर आत्मा ? वह तो पुण्य और पाप के विकल्प से—उपाधि से रहित अन्दर है। चैतन्य... चैतन्यस्वरूप है। आत्मा महा अस्ति—सत्तास्वरूप है, निरुपाधि है। उसे शरीर भी नहीं, वाणी भी नहीं, कर्म भी नहीं और दया-दान के विकल्प भी उसके स्वरूप में नहीं। आहाहा! **'निरुपाधि आतम समाधि'** कहो, **निर्विकल्प आत्मध्यान ही मोक्षरूप है। 'समाहिवरमुत्तमदिंतु'** आता है लोगस्स में। अर्थ समझे नहीं कुछ, पहाड़े बोलते जाये, **'एवं मये अभिथुआ विहुयरयमला पहिणजरमरणा।'** गाड़ी हाँक रखे, एक भी शब्द का अर्थ आवे नहीं। कान्तिभाई! आता है अर्थ एक भी ?

'**विहुयरयमला**' कहा न एक बार। वीसा और दशा को विवाद था लींबड़ी में। फिर एक बाई सामायिक करने बैठी, वह लेकर बैठे न, क्या कहलाता है वह?

मुमुक्षु : घड़ी... घड़ी....

पूज्य गुरुदेवश्री : घड़ी। उसमें ऐसा पाठ आया। इसलिए थी दशाश्रीमाली बाई वृद्ध। भान नहीं होता अर्थ का। फिर यह '**विहुयरयमला**' आया। विसा रोई मर्या। कहे, ऐ, अपने लोगस्स में ऐसा कहाँ से आया? '**विहुयरयमला**' का अर्थ तो आवे नहीं। गाड़ी हाँके जाये। सवेरे यह सामायिक करके '**णमो अरिहंताणं**' जाओ, जाओ, पूरा हुआ जाओ। यह कहे, परन्तु अपना विवाद लोगस्स में कहाँ से आया? अपने दशा-वीसा की अनबन '**विहुयरयमला**' यहाँ कहाँ से आयी?

ऐ, अर्थ तो देखो। वहाँ निकला कि '**विहुय**' **वि** अर्थात् विशेष, **हुय** अर्थात् टाले हैं। हे परमात्मा! अरिहन्त प्रभु! आपने रज... '**विहुयरयमला**' रज अर्थात् आठ कर्मों की धूल आपने टाली है और मल अर्थात् पुण्य-पाप के मैल के भाव यह शुभ-अशुभ, उसे आपने टाला है। आहाहा! किसे गरज है? उन बहियों में—नामा में सब बराबर गरज। यह लोहे में इतने पैदा हुए और इतने गये, उसकी सब गिनती होती है या नहीं? कान्तिभाई! वहाँ सब गिनती हो उसे। यह अर्थ की खबर नहीं होती। सर्वत्र ऐसा है न। सर्वत्र—पूरी चलती ही है यह दुनिया।

मुमुक्षु : दुनिया में ऐसा ही चलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! अरे! परमेश्वर वीतरागदेव त्रिलोकनाथ तेरा आत्मा क्या कहते हैं? उसका क्या स्वरूप है? उसके अन्दर में तो, कहते हैं, वह तो स्वयं '**निरुपाधि आतम समाधि**' है। आहाहा! शान्त... शान्त... समाधि अन्दर लगायी। समाधि वे बाबा सब करते हैं, वैसी होगी?

मुमुक्षु : नहीं, वैसी समाधि हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : आधि, व्याधि और उपाधि—तीन से रहित। उपाधि अर्थात् यह संयोगी चीज़, व्याधि अर्थात् शरीर में रोग, आधि अर्थात् पुण्य-पाप का संकल्प। आधि, व्याधि, उपाधि से रहित आत्मा का ध्यान, उसे समाधि कहते हैं। आहाहा! ऐसी

समाधि को साधे, वह श्रावक और मुनि (है और) उसे धर्म होता है। आहाहा! गजब बातें भाई यह! है? '**निरुपाधि आतम समाधि सोई सिवरूप**' लो। वह ध्यान मोक्षरूप है। ध्यान ही मोक्षरूप है, कहते हैं। आहाहा! क्यों कहा? कि जो पुण्य-पाप के विकल्प हैं, वह तो कर्म रोग है। शुभ-अशुभ परिणाम और व्रत के और अव्रत के भाव, वह तो जहर है, कर्मरोग है। तब आत्मा आनन्दमूर्ति का ध्यान अन्तर के अवलम्बन से प्रगट दशा, वह शिवरूप है। है न? **आत्मध्यान ही मोक्षरूप है।** मोक्ष का कारण है और मोक्षरूप ही है। आहाहा! क्या कहना परन्तु यह जाननेवाले को!

भगवान आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूप है। जितने सिद्ध भगवान हुए, वे सब सिद्ध भगवान की दशायें कहाँ से लाये? अन्दर में है, उसमें से लाये हैं। परन्तु क्या है? कहाँ है? कैसे है? उसकी खबर नहीं। आहाहा! कहते हैं कि बाहर के विकल्प को समेटकर अन्तर भगवान पूर्णानन्द प्रभु द्रव्य आत्मस्वभाव है, उसकी दृष्टि और उसे ज्ञेय बनाकर उसका ध्यान करना, उसका अनुभव करना, उसका नाम ध्यान और उसका नाम समाधि कहा जाता है। इस समाधि से कर्म का रोग टलता है। बहुत कठिन काम, भाई यह तो! आहाहा! यह तो कहते हैं, एम.ए. और एल.एल.बी. की बातें करते हैं। बापू! अभी तो एकड़ा की बात है अभी यह, सुन न! धर्म करना हो तो, हों! बाकी तो यह भटकते हैं सब क्रिया करे भान बिना।

साधु भी अनन्त बार हुआ, पंच महाव्रत अनन्त बार पालन किये। ऐसा तो अभी पालनेवाले भी नहीं। मरकर नौवें ग्रैवेयक में गया जब... '**मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रैवेयक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिन सुख लेश न पायो।**' अनन्त बार पंच महाव्रत पालन किये। वह तो विकल्प, वह राग है। वह कहाँ धर्म था? आहाहा! धर्म तो, उस विकल्प की वृत्तिरहित भगवान आत्मा अन्तर शुद्ध चैतन्यमूर्ति को पुण्य-पाप के उपयोग से रहित—स्वरूप की उपयोग दशा—शुद्ध उपयोग हो, उसे यहाँ समाधि, आत्मध्यान और उसे यहाँ मोक्ष का कारण अथवा मोक्ष कहा जाता है। गजब बात! देखो, यह देशविरति श्रावक को ऐसा कहा, हों! भाई ने—बनारसीदास ने तो डाला है। उसमें अकेला मुनि डाला। दोनों को है, सुन न! श्रावक कहना किसे? यह वाडा में पड़े,

वे श्रावक? थैली में चिरायता भरा हो और ऊपर (नाम) डाले शक्कर, हो गया चिरायता मीठा? समझ में आया?

इसी प्रकार बड़े नाम दे कि श्रावक बड़े धुरन्धर, बड़े मुनि। कठोर नाम रखने में कहाँ दिक्कत है? भाव क्या है, उसका तो भान नहीं। आहाहा! श्रावक और मुनि किसे कहते हैं कि जो कोई पुण्य और पाप के विकल्प की वृत्तियों का लक्ष्य छोड़कर आत्मा के अनुभव की दृष्टि करके अनुभव करे, समाधि साधे—शान्ति साधे, उसे यहाँ निर्जरा कहा जाता है। समझ में आया? कुछ समझ में आया, ऐसा आता है न? सब समझ जाये तब तो यह निहाल हो जाये। परन्तु यह तो अभी कुछ ठिकाना नहीं होता समझने में। सेठी, आहा! भारी बात निकली। देखो, यहाँ तो उसे '**समाधि सोई सिवरूप**' (ऐसा) कहा भाई! जैसे वह कर्मरोग है, तब यह आत्मधर्म है, ऐसा शान्ति से यह समझना। आहाहा!

पुण्य-दया-दान-व्रत के भाव, वह तो शुभभाव है, शुभ उपयोग है, वह पुण्य है, निश्चय से तो अधर्म है। और हिंसा-झूठ-चोरी-विकल्प, वह भी पाप है, वह भी अधर्म है। धर्म तो यह शुभ-अशुभराग से भिन्न, चैतन्य के अन्तर अवलम्बकर होनेवाली अरागी—वीतरागी दशा, जिसमें अतीन्द्रिय आननद का अनुभव का स्वाद आवे, उसे यहाँ धर्म और कर्म की निर्जरा का कारण कहते हैं। गजब! समझ में आया? परन्तु सीधे आ जाता होगा ऐसा? पहले कुछ करना पड़ता है या नहीं? क्या करना पहले? वह कह न, पहले ऐसे व्रत-ब्रत करो, कषाय मन्द हो, फिर ऐसा होगा। लहसुन के ढोकला खाओ, फिर खाते हुए उसकी डकार कस्तूरी की आयेगी। यह तो ढोकला, ढोकला समझते हैं? यह तुम्हारी भाषा में... ढोकला होता है न चावल का। उसमें चावल गर्म करके फिर ऊपर मसाला बिछाये लहसुन का व्यवस्थित, फिर काटकर घी में-तेल में खाये। गले तक ठूँसकर खाये। फिर उसकी डकार यह कस्तूरी की आती होगी?

इसी प्रकार राग की क्रिया करे और उसमें से धर्म की क्रिया की डकार आती होगी? धूल में भी नहीं, कहते हैं, सुन न! आहाहा! कहते हैं, वह **मोक्षरूप है इसके बिना और सब भटकना पुद्‌गलजनित है**। देखो। है न? '**और दौर धूप पुदगल परछांही**

है।' यह पुण्य और व्रत का विकल्प पुद्गल की छाया है। आहाहा! गजब बात है न! आता है न, सहा जाये नहीं, सुना जाये नहीं। कहो, समझ में आया? वह '**दौर धूप**' है। यह व्रत और तप के विकल्प उठते हैं, वह शुभराग संसार में भटकने का कारण है। यह पुद्गल की छाया है, आत्मा की नहीं। सेठी, है उसमें? अब तो पुस्तक बहुत फर्स्टक्लास छपी है, ऐसे देखो। पढ़ सके ऐसा। '**पुदगल परछांही है।**'

भावार्थ। उसमें भावार्थ है न नीचे। '**शुभ क्रिया समिति।**' ईर्या, ऐषणा। ईर्या— देखकर चलना, भाषा बोलना, निर्दोष आहार लेना, वह सब आस्रव हैं। **व्रत आदि आस्रव ही हैं।** वह तो नये कर्म का कारण है। आहाहा! **इनसे साधु वा श्रावक की कर्म-निर्जरा नहीं होती।** ऐसा है, भाई! **निर्जरा तो आत्मानुभव से होती है।** पुरुषार्थसिद्धि (उपाय) का दृष्टान्त (उद्धरण) दिया।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥

पुरुषार्थसिद्धि (उपाय) का दृष्टान्त दिया है। भगवान आत्मा अपने आनन्दस्वरूप को और ज्ञानस्वभाव में जितनी वीतरागता से एकाग्रता हो, उतने बन्धन का नाश। जितना राग का भाव रहे, वह बन्धन का कारण। वीतरागमार्ग में यह है, अन्यत्र यह बात है नहीं। जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर के मार्ग में यह बात है। यह व्रत का विकल्प बन्ध का कारण और आत्मा के आनन्द का अनुभव, वह निर्जरा का कारण, यह बात वीतरागदेव के शासन में है। अज्ञानी इसे कुछ की कुछ खतौनी कर डालते हैं। समझ में आया?

आत्मानुभव से होती है। **निर्जरा तो आत्मानुभव से होती है।** आहाहा! अर्थात्? पुण्य-पाप के विकल्प का अनुभव, वह तो बन्ध का कारण है, कहते हैं। अब आत्मा जो पुण्य-पाप से रहित है, ऐसे शुद्ध चैतन्य का अनुभव, उसके आनन्द के झरने में जो अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन आवे, आहाहा! उसे अशुद्धता टलती है और शुद्धता बढ़ती है, उसे निर्जरा कहते हैं। अभी वस्तु वह क्या चीज़ है, इसकी समझ भी नहीं, पहिचान नहीं और दौड़े जाये, हाँक रखे।

छठवाँ कलश। इस ओर है न। १०१ पृष्ठ।

यदेतज् ज्ञानात्मा ध्रुव-मचल-माभाति भवनं,
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्,
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥६॥

भगवान ने तो ऐसा कहा है, कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा के आनन्द का अनुभव, उसे भगवान ने धर्म कहा है। विधि तो यह कही है। लो, चेतनजी! यह विधि-बिधि नहीं तुम्हारे चलती?

मुमुक्षु : विधिकर्ता....

पूज्य गुरुदेवश्री : विधि-विधान करना, विधि-विधि से सब करना, अविधि न होने देना। यह सब उसमें आता है। श्वेताम्बर में-मन्दिरमार्गी में मूर्तिपूजा में। उपधान करे वे ३५-३५ के। सब विधि-विधान राग के हैं, सुन न अब! आहाहा! समझ में आया?

इसका नौवाँ पद। नीचे छठवाँ कलश था न, उसका नौवाँ पद। मुनि-श्रावक की दशा में बन्ध और मोक्ष दोनों हैं।

★ ★ ★

काव्य - ९

मुनि श्रावक की दशा में बन्ध और मोक्ष दोनों हैं (सवैया तेईसा)

मोख सरूप सदा चिनमूरति,
बंधमई करतूति कही है।
जावतकाल बसै जहां चेतन,
तावत सो रस रीति गही है।।

आतमकौ अनुभौ जबलौं,
तबलौं सिवरूप दसा निबही है।
अंध भयौ करनी जब ठानत,
बंध विथा तब फैल रही है।।९।।

शब्दार्थ:-चिन्मूरति=आत्मा। करतूति=शुभाशुभ विभाव परिणति। जावत काल= जितने समय तक। तावत=तब तक। निबही=रहती है। अंध=अज्ञानी। विथा (व्यथा)= दु:ख।

अर्थ:-आत्मा सदैव शुद्ध अर्थात् अबन्ध है और क्रिया बन्धमय कही है, सो जितने समय तक जीव जिसमें (स्वरूप या क्रिया में) रहता है उतने समय तक उसका स्वाद लेता है, अर्थात् जब तक आत्म-अनुभव रहता है, तब तक अबन्धदशा रहती है, परन्तु जब स्वरूप से चिगकर क्रिया में लगता है, तब बन्धन का प्रपंच बढ़ता है।।९।।

काव्य - ९ पर प्रवचन

मोक्ष सरूप सदा चिनमूरति,
बंधमई करतूति कही है।
जावतकाल बसै जहां चेतन,
तावत सो रस रीति गही है॥
आतमकौ अनुभौ जबलौं,
तबलौं सिवरूप दसा निबही है।
अंध भयौ करनी जब ठानत,
बंध विथा तब फैल रही है॥९॥

आहा! '**मोख सरूप सदा चिनमूरति।**' नीचे अर्थ है। **आत्मा सदैव शुद्ध-अबन्ध है।** भगवान आत्मा उसे कहते हैं कि जो राग के विकल्प से भिन्न अबन्धस्वरूपी, उसे आत्मा कहते हैं। राग का भाग, वह भावबन्धस्वरूप है। '**मोख सरूप सदा चिनमूरति।**' ज्ञान की मूर्ति प्रभु, वह मोक्षस्वरूप है, अर्थात् उसकी क्रिया, वह मोक्षस्वरूप ही है—

ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रकाश, उस ज्ञान का परिणमन, उस आनन्द का परिणमन साथ में, उसे यहाँ मोक्षस्वरूप कहा जाता है। बड़ी बात। यह अब सुनी न हो। '**बंधमई करतूति कही है**' और जितनी क्रियायें ऐसे करूँ और वैसे करूँ और व्रत पालन करूँ, यह भक्ति करूँ और पूजा करूँ और दान करूँ, उस सब क्रिया को भगवान ने बन्धमयी कहा है।

दो भाग है। चाहिए वह भाग ले ले अब, कहते हैं। नहीं? लड़के को तरबूज के भाग करते हैं अन्दर दो भाग। बड़ा तजबूज लाये हों, दस सेर का। आठ लड़के हों और कोई प्रकृति का ऐसा हो कि उसके लिये कहे, 'तेरा ले ले। तेरा भाग यह। फिर बाद में विवाद करेगा', कहते हैं। वह लम्बा ऊपर का लम्बा लाल हो और नीचे छोटा हो। वह ले वह लम्बा देखकर, और वापस विवाद करे।'परन्तु नीचे चौड़ा।' यह चौड़ा नीचे है, उसे ले ले। परन्तु चौड़ा नीचे और ऊपर का लम्बा नहीं। यह तरबूज के टुकड़े करते हैं न और लड़के ऐसे हों कोई एकाध ऐसा ही हो, कहीं सब समान होते हैं, कहीं प्रकृति?

मुमुक्षु : सर्वत्र....

पूज्य गुरुदेवश्री : विवाद करे। पहले ले ले तेरा, देख यह आठ भाग हैं। दो हमारे और छह लड़को के चाहिए वे। ले!

मुमुक्षु : वह तो खा जाये और फिर कहे बहुत कम था।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह खाने के बाद कहे, 'मेरे नीचे थोड़ा था। इसके ऊपर से और नीचे बड़ा लम्बा है इसका।' परन्तु ऊपर छोटा था। सब समान थे। वह फिर खाने के बाद माँगे। उसका क्या करना? यहाँ कहते हैं कि विवाद ही इतने। यह आत्मा का अनुभव-अनुभव करना, वह धर्म है और राग-भाग करना, वह बन्ध है। इन दो में से तुझे पसन्द पड़े, वह ले। फिर बाद में तुझे, 'अरे! हम व्रत पालते थे और उसमें भी तुम कहो कि धर्म नहीं।' परन्तु तुझे कहा नहीं था पहले? तेरे व्रत और ब्रत के विकल्प सब राग के कारण-बन्ध के कारण हैं। समझ में आया? आहाहा!

यह चैतन्य भगवान अन्दर शुद्ध परम पवित्र पारिणामिकस्वभावभाव। वह यह नाम भी सुना न हो। परमपारिणामिक सहज भाव त्रिकाल... त्रिकाल... त्रिकाल...

अविनाशी, वह राग की पर्याय से भिन्न, अरे! एक समय की पर्याय के परिणाम हों न, वह उनसे भी भिन्न है। आहाहा! ऐसे भगवान को यहाँ तो '**चिनमूरति**' और '**मोख सरूप**' कहा है। '**सदा**' है न शब्द? आहाहा! समझ में आया? धीरे से थोड़ा भी सत्य समझना चाहिए। बड़ी पुस्तकों की पुस्तकें पढ़कर बातें करे, परन्तु सत्य की खबर नहीं होती, भटक मरेगा बापू वह। ऐसा अवसर मिलना फिर से मुश्किल है। मनुष्यपना मुश्किल से अनन्त काल में मनुष्यपना मिलता है, आहाहा! उसमें भगवान ने कहा हुआ यह सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान का मार्ग यदि नहीं समझा तो भाई! तेरा कोई शरण नहीं है। आहाहा!

यह तो क्षण में-क्षण में नाश, देखो न! दुलीचन्दजी ब्रह्मचारी का कल सुना ना, देखो न कुछ। कहो, बेचारे यहाँ कितने आते और बहुत प्रेम। क्षण में। सवेरे प्रवचन किया, आहार किया, हाथ से वस्त्र धोये। यह तो सात प्रतिमा हो, वहाँ धोते होंगे ठण्डे पानी से। ठण्डे पानी से धोवे न भाई! गर्म पानी किया हुआ, ठण्डे से नहीं? कुँए में नहीं? ठीक,

मुमुक्षु : कुँए का पानी हो, उसे गर्म करके....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु यह तो धोया, लो न हाथ से धोया। वस्त्र धोये और जहाँ सामायिक करने बैठते हैं दोपहर में १२ बजे, हार्ट बन्द। आहाहा! यह क्षण का भरोसा देह का नहीं। कब देहस्थिति पूरी होगी। उसे करने का किया नहीं, नहीं करने का करके समय चला जायेगा। आहाहा! दुलीचन्दजी, यहाँ का बहुत प्रेम था।

मुमुक्षु : बहुत पहले नम्बर में वे थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आनेवाले थे, आषाढ़ महीने में आनेवाले थे। गत समय आये नहीं थे? गये वक्त आषाढ़ महीने में आये थे।

अब उन्हें भी खबर नहीं कि यह अभी अब यह भव (पूरा होकर) यह क्षण में दूसरा भव हो जायेगा। आहाहा! यह देह भिन्न, यह अवतार भिन्न, यह भाव भिन्न। गये होंगे कहीं। वे तो स्वर्ग में जाये। ब्रह्मचारी थे न।

मुमुक्षु : वडनगर।

पूज्य गुरुदेवश्री : वडनगर है न! बीस दिन से वहाँ आये थे। यहाँ उनका पत्र आया है, उन लोगों का। यहाँ की खबर है न। यहाँ के प्रेमी थे, इसलिए यहाँ का नाम लेते हों न व्याख्यान में, इसलिए यहाँ पत्र आया है, विस्तार से आया है। २२वीं तारीख को गुजर गये, ऐसा है कुछ।

मुमुक्षु : २२वीं तारीख।

पूज्य गुरुदेवश्री : २२वीं तारीख, २२। आज तो २६ हुई न! एक क्षण के अन्दर। आहाहा!

यह देह-मिट्टी की स्थिति जहाँ है, वह पूरी होगी, इसलिए उस क्षण गाड़ी निकल जायेगी एकदम। वे डॉक्टर-वॉक्टर लाकर मर जाये तो कुछ चले ऐसा नहीं है, ले। पैसेवाले को ऐसा हो कि हम पैसा खर्च करके डॉक्टर लायेंगे। ऐई! विलायत से बुलायेंगे। परन्तु विलायत से बुलावे या ऊपर से इन्द्र उतरे तो भी कुछ बदले, ऐसा नहीं है, ले! आहाहा! यह देह की स्थिति पूरी होने पर, यह देह छूट जायेगी, बापू! फिर से ऐसा अवसर समझने का नहीं मिलेगा। और यह समझण यदि नहीं की, तो सुई में सूत का डोरा नहीं पिरोया तो वह सुई कहीं खो जायेगी तो हाथ नहीं आयेगी। परन्तु सच्ची समझण का डोरा आत्मा में यथार्थ पिरोया होगा, तो जन्म-मरण में से निकलकर वह हाथ आ जायेगा। मार्ग यह है। आहाहा! क्या हो?

शुद्ध अबन्ध है। भगवान तो अबन्ध है। आहाहा! चिन्मूर्ति प्रभु है, वह ज्ञान का सागर है, यह अतीन्द्रिय आनन्द का छलाछल भरपूर प्रभु है, ऐसा आत्मा भगवान ने कहा है। अब उसकी तो खबर भी नहीं होती। यह करो और यह करो और यह करो और यह करो। करता-करता-करना, वहाँ मरना है। समझ में आया? यह कहते हैं कि '**मोख सरूप सदा चिनमूरति**' मोक्ष अर्थात् अबन्धस्वरूप, ऐसा। '**बंधमई करतूति कही है। जावतकाल बसै जहाँ चेतन**' जितना काल आत्मा अपने ज्ञान और आनन्द में रहता है, '**तावत सो रस रीति गही है—उतने समय तक उसका स्वाद लेता है**' आत्मा। आहाहा!

क्या कहते हैं? श्रावक और मुनि सच्चे, उसे कहते हैं कि जिन्हें अन्तर के आत्मा

के आनन्द में जाकर जितना काल चेतन में एकाकार होकर बसते हैं, उतना '**रस रीति गही है**'—उतना काल आनन्द का स्वाद है। रस अर्थात् आत्मा का आनन्द। आहाहा! समझ में आया? '**जावतकाल बसै जहाँ चेतन-जावतकाल बसै जहाँ चेतन**'—अन्दर, '**तावत सो रस रीति गही है**'—तावत सो अनुभव में आनन्द ग्रह्यो है। तब वह आनन्द में होता है। उसे यहाँ अनुभव और धर्म कहा जाता है। आहाहा! लोगों को ऐसा लगे न (कि) यह नया... एकान्त। हाँ, हाँ, परन्तु कुछ बापू मार्ग ही यह है। भाई! मार्ग को पहले श्रद्धा में (तो ला), श्रद्धा तो कर, श्रद्धा तो कर पहले, कहते हैं, भाई! कोई बाहर के उत्साह बताकर ऐसा तुम्हारा धन, वह साथ नहीं आवे और सिफारिश, वह काम नहीं आवे। समझ में आया? आहाहा!

'**जावतकाल बसै जहाँ चेतन।**' कहाँ बसे? अपने स्वभाव में। तब उसे चेतन कहते हैं न? राग में बसे वह चेतन कैसा? आहाहा! मकान-फकान में और स्त्री-पुत्र में तो बसता भी नहीं कभी। वह तो मुफ्त में मूढ़ मानकर बैठा है कि यह मेरे स्त्री, पुत्र। कहाँ थे तेरे, अब सुन न! तेरे हों, (वे) तुझसे भिन्न रहे नहीं। भिन्न पड़ें, वे तेरे हों नहीं, इतनी तुझे खबर नहीं। समझ में आया? आहाहा! यह तो एक दया-दान के व्रत का कण राग भी तेरा नहीं। तेरा हो तो भिन्न पड़कर अनुभव हो सकता नहीं। आहाहा! बसन्तलालजी, भारी काम, भाई! और फिर कहे, सोनगढ़ में ऐसा बापू... सोनगढ़। यह भगवान कहते हैं और सुन न!

बेचारे सोनगढ़ के नाम से भड़कते हैं.... उसमें कौन कहता है? ग्रन्थ यहाँ का है? सोनगढ़ का है? यह तो कुन्दकुन्दाचार्य का कहा हुआ, उसमें से कलश और नीचे यह अर्थ है।

मुमुक्षु : छपाया कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : छपाया चाहे जहाँ हो उससे क्या हो गया? अक्षर अक्षर उनके हैं। कुन्दकुन्द आचार्य के, अमृतचन्द्र (आचार्य) के कलश और यह अब अर्थ है। अरे! परन्तु कभी गरज नहीं होती और बाहर में वह सरल लगे न, व्रत पालना-अपवास करना, रात्रिभोजन छोड़ना, कन्दमूल नहीं खाना, छह परबी पालना, जाओ। अरे! ऐसा

तो अनन्त बार किया, सुन न, वह तो राग की-पुण्य की क्रिया है। वह कहीं धरम-बरम है नहीं।

मुमुक्षु : चाण्डालनी का पुत्र.... दृष्टान्त कल आया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : कल आया था। चाण्डालिनी का पुत्र—दो पुत्र चाण्डालिनी के, आया था न? जन्मे इकट्ठे, एक लड़के को ले गया ब्राह्मण और एक रह गया चाण्डालिनी के यहाँ। ब्राह्मण के यहाँ गया वहाँ कहे, 'मुझे यह नहीं चलता, मुझे यह नहीं चलता। मुझे यह नहीं चलता।' परन्तु ए, चले, न चले, तू है तो चाण्डालिनी का पुत्र। इसी प्रकार शुभभाव में अज्ञानी कहे, यह मुझे नहीं चलता, यह मुझे नहीं चलता, परन्तु यह तेरा शुभभाव चाण्डालिनी है, सुन न! यह विभाव है, विकार है। आहाहा! आत्मा ज्ञानस्वरूप में नहीं चलता, चलता—ऐसा विकल्प ही उसमें नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

'आतमकौ अनुभौ जबलौं, तबलौं सिवरूप दसा निबही है।' आहाहा! क्या कहते हैं? जितना काल भगवान आत्मा निज घर में अन्तर (में) गया, यह पुण्य-पाप की वृत्ति के विकल्प की ओर की रुचि—आश्रय छोड़कर और आनन्दकन्द भगवान आत्मा में गया तब तक, कितना काल? शिवरूप दशा है उतना काल। मोक्षस्वरूप ही है। आहाहा! माणे आओ। '**तबलौं सिवरूप**' है न? **तब तक अबन्ध दशा रहती है।** मोक्ष अर्थात् अबन्ध दशा। इसका अर्थ किया है। '**शिव**' अर्थात् अबन्ध दशा। '**अंध भयौ करनी जब ठानत**'—तब अबन्ध.... **परन्तु जब स्वरूप से चिगकर...** ज्ञानी को विकल्प आवे, वह स्वरूप से हटकर नहीं आता, वह अस्थिरता का आता है। और अज्ञानी को तो स्वरूप में से हटकर, भान नहीं चैतन्य आनन्दकन्द है, ज्ञानस्वरूप है। यह व्रत करूँ और यह तप करूँ और यह अपवास करूँ, ऐसा हटकर.... है?

'**क्रिया में लगता है तब बन्ध का प्रपंच बढ़ता है।** लो, ऐसी है बात। यह तो तुम्हारे धर्म की बात है। यह तो बनारसीदास ने बनाया है, राजमल्ल टीका में से (बनाया है)। यह सोनगढ़ का नहीं है।

मुमुक्षु : सोनगढ़ ने बराबर अर्थ किये हैं कि ऐसा कहना चाहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह लोग भड़कते हैं। हम ऐसा धर्म मानते हैं और फिर यह नया कहाँ से निकाला ऐसा? ऐसा और कहते हैं। यह तो नया एक पंथ निकाला। भगवान! नया नहीं, हों नाथ! तुझे खबर नहीं। तेरे पंथ की पद्धति की—धर्म की तुझे खबर नहीं। आहाहा! सुमनभाई! नया पंथ निकाला, ऐसा कहते हैं। नहीं कहते हैं न कितने ही? वहाँ भी कहते हैं तुम्हारे कलकत्ता में। आहाहा!

वस्तु है न वस्तु—चैतन्य भगवान पूर्ण शक्ति का तत्त्व पूरा, जिसका निर्विकल्प -स्वभाव, जिसका अबन्धस्वभाव... बन्ध तत्त्व तो दूसरी चीज़ है। वह तो राग, वह बन्ध है और यह तो अबन्धस्वरूप भगवान है। आहाहा! ऐसे अबन्धस्वरूप में जितना काल रहे, उतना काल तू मोक्षस्वरूप ही है, ऐसा कहा। और जहाँ से हटकर यदि क्रिया की लगन लगी, व्रत, तप और पूरे दिन तुम्हारे, आहाहा! यह खाना और यह पीना और यह... भगवान की उठ-बैठ करना सौ बार-दो सौ बार, मूर्ति के निकट। वह सब शुभराग है, बापू! वह धर्म नहीं। समझ में आया? परन्तु स्वरूप की दृष्टि छोड़कर अकेला घूमे, अकेला बन्धभाव है। स्वरूप का भान रखकर वह भाव हो तो वह पुण्य बन्ध का कारण है। समझ में आया?

'अंध भयौ करनी जब ठानत, बंध विथा तब फैल रही है'— बन्ध का प्रपंच विस्तार पाया है, कहते हैं यह। आहाहा! है न? तो **बन्ध का प्रपंच बढ़ता है।** पुण्य बन्ध हो। अबन्ध भगवान को बन्धन हो, वह क्रियाकाण्ड में फल यह है। भगवान तो राग की क्रिया से उसका स्वरूप रहित है, ऐसे स्वरूप में अनुभव में रहे, उतना काल मानो शिवस्वरूप और अबन्ध परिणाम है। बाकी सब बन्धक्रिया—बन्ध का कारण है। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५६, चैत्र शुक्ल १, शनिवार, दिनांक २७-३-१९७१
पुण्य-पाप एकत्व द्वार, पद १०, ११, १२, १३

सातवाँ कलश। पुण्य-पाप अधिकार, नाटक समयसार। नीचे सातवाँ (श्लोक) है न, ७।

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत्॥७॥

१०वाँ पद। **मोक्ष की प्राप्ति अन्तर्दृष्टि से है।**

★ ★ ★

काव्य - १०

मोक्ष की प्राप्ति अन्तर्दृष्टि से है (सोरठा)

अंतर-दृष्टि-लखाउ, निज सरूपकौ आचरन।
ए परमातम भाउ, सिव कारन येई सदा।।१०।।

शब्दार्थ:-अंतर-दृष्टि=अन्तरंग ज्ञान। स्वरूपकौ आचरण=स्वरूप में स्थिरता। भाउ=स्वभाव।

अर्थ:-अन्तरंग, ज्ञानदृष्टि और आत्मस्वरूप में स्थिरता यह परमात्मा का स्वभाव है और यही मोक्ष का उपाय है।

भावार्थ:-सम्यक्त्व सहित ज्ञान और चारित्र परमेश्वर का स्वभाव है और यही परमेश्वर बनने का उपाय है।।१०।।

काव्य - १० पर प्रवचन

अंतर-दृष्टि-लखाउ, निज सरूपकौ आचरन।
ए परमातम भाउ, सिव कारन येई सदा॥१०॥

'**अंतर-दृष्टि लखाउ**' आत्मा पूर्ण परमेश्वर शुद्ध आनन्दघन की दृष्टि और उसमें लक्ष्य देना... पुण्य-पाप अधिकार है न! शुभ-अशुभ के परिणाम... दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा—यह सब शुभराग है, यह कहीं धर्मस्वरूप नहीं। '**अंतर-दृष्टि लखाउ**' भगवान अभेद शुद्धात्म चैतन्यदल परमात्म परमेश्वर स्वयं ही है। ऐसा स्वयं परमेश्वर, उसकी दृष्टि करके उसका लक्ष्य करना। और '**निज सरूपकौ आचरन**' और निज आनन्दस्वरूप में स्थिर होना, वह चारित्र। '**अंतर-दृष्टि-लखाउ निज सरूपकौ आचरन**' तीनों आ गये। वस्तु शुद्ध चैतन्यघन अन्तर्दृष्टि का विषय, उसे दृष्टि और ज्ञान द्वारा लक्ष्य करके उसमें—स्वरूप में स्थिर होना, '**ए परमातम भाउ**' यह परमेश्वर भगवान आत्मा का यह स्वभाव है।

'**ए परमातम भाउ**' परमस्वरूप भगवान ज्ञान और आनन्द के स्वभाववाला तत्त्व, वह परमात्मभाव है और अन्तर्दृष्टि होने से ज्ञान और शान्ति हो, वही परमेश्वर स्वद्रव्य का स्वभाव है। मूल उसकी व्याख्या है न, '**एक द्रव्यस्वभावत्वात्**' कलश है न, कलश। एक द्रव्य, उसकी व्याख्या की। भगवान शुद्ध चैतन्य पुण्य-पाप के विकल्प की क्रिया से रहित नित्यानन्द द्रव्यस्वरूप, ऐसा जो एक द्रव्यस्वभाव के कारण से उसमें अन्तर्दृष्टि देने से, उसे ज्ञान में ज्ञेय बनाने से, उसमें स्वरूप में शुद्धता में स्थिरता आनन्द की प्रगट करना, वह एक मोक्ष का उपाय है। गजब!

'**ए परमातम भाउ सिव कारन येई सदा**' सदा ही एक द्रव्य का स्वभाव... पुण्य-पाप के भाव तो एक द्रव्य का स्वभाव नहीं, वह तो पुद्गलस्वभाव है। चैतन्य के अन्तर द्रव्य का स्वभाव वह नहीं। यह पुण्य-पाप के विकल्प, दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा-यात्रा इत्यादि, वह तो पुद्गल का स्वभाव है। वास्तव में चैतन्य की जाति की वह दशा नहीं।

मुमुक्षु : शास्त्र को सुनना वह ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी विकल्प है। मार्ग तो ऐसा है, भाई! सुनना, कहना, वाँचना, वह सब विकल्प की जाति है। अरे गजब! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड—दल चैतन्यदल, जिसकी दशा में—स्वभाव में पुण्य-पाप के विकल्प की

गन्ध नहीं। ऐसा जो आत्मस्वभाव, उसकी अन्तर्दृष्टि, अन्तर का लक्ष्य और अन्तर में रमणता, वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ..... करे, उसे हो या नहीं करे उसे हो?

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप सत् शाश्वत् ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त गुण का पिण्ड ऐसा जो स्वतत्त्व, उसकी अन्तर्दृष्टि करने से और अन्तर का लक्ष्य करके अन्तर में स्थिरता करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो हो, वह स्वद्रव्य का स्वभाव अर्थात् परमेश्वर आत्मा का स्वभाव है। अरे, अरे! इसका नाम धर्म और इसका नाम मोक्ष का मार्ग है। बात बस इतनी है। समझ में आया? कहो, बसन्तलालजी! गजब ऐसा मार्ग!

'**सिव कारन येई सदा**' मोक्ष के कारणरूप से सदा मार्ग हो तो यह परमेश्वर का भाव। स्वद्रव्य ऐसा परमेश्वर, स्ववस्तु वह परमेश्वर, उसका स्वभाव शुद्ध चैतन्यघन, उसमें एकाग्र होने से जो निर्मल शक्ति में से व्यक्तता प्रगट हो, वह परमेश्वर का स्वभाव, एक द्रव्य का स्वभाव, चैतन्य का स्वभाव, वही मोक्ष का कारण सदा शिव का (कारण) है।

'**सिव कारन येई... सिव**' अर्थात् मोक्ष। पूर्ण आनन्द की प्राप्ति का नाम मुक्ति। जैसा भगवान आत्मा का आनन्द है शक्तिरूप से—स्वभावरूप से, उसकी उसे वर्तमान दशा में पूर्ण आनन्द की प्राप्ति का नाम मुक्ति। उस मुक्ति का कारण यह एक परमात्मभाव। परमस्वरूप ऐसा जो भगवान परमेश्वर अपना, ऐसा निज स्वभाव, उसकी अन्तर में दृष्टि करने से, लक्ष्य करने से, स्थिरता करने से जो दशा प्रगट होती है, वह निजद्रव्य का स्वभाव है, निजप्रभु का स्वभाव है। वह भगवान आत्मा का परमेश्वर का वह भाव है। वह भाव ही मुक्ति का कारण है। बाकी बीच में यह दया-दान और व्रत के विकल्प आवे, वह बन्ध का कारण है, धर्म और मुक्ति का कारण नहीं। आहाहा! गजब काम! कहो, समझ में आया?

'**सिव कारन येई सदा**' लो, अन्दर अर्थ भी किया है। देखो! '**अंतरंग ज्ञानदृष्टि**' है न अर्थ में। अन्तरंग ज्ञानदृष्टि अर्थात् ज्ञान से आत्मा को अन्तरदशा से देखना। पूर्ण स्वरूप भगवान को ज्ञान द्वारा देखना। अन्तर आँख—दृष्टि से आत्मा को अन्तर (में)

देखना और '**आत्मस्वरूप में स्थिरता**' वह दोनों इकट्ठा किया। लिखने में अलग पड़े। **यह परमात्मा का स्वभाव है...** वह स्वयं ही परमात्मा है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा परमस्वरूप भगवान आत्मा, उसमें अन्तर्दृष्टि और स्थिरता करने से, वह परमात्मा का स्वभाव, वही मोक्ष का उपाय है। कठिन बातें, भाई! यह मुक्ति का—मोक्ष का—सिद्धि होने का उपाय यह एक है। भावार्थ में फिर तीनों डाले। अर्थात् '**अंतर, दृष्टि**' और '**लखाउ**' है सही न!

'**सम्यक्त्व सहित**' अर्थात् आत्मा के पूर्ण आनन्दस्वरूप की अभेददृष्टिसहित, अखण्ड एकरूप की दृष्टिसहित ज्ञान। उस आत्मा का एकरूप दृष्टिसहित का जो स्व का ज्ञान और चारित्र—स्व स्वभाव में आनन्द में लीनता। अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन उग्ररूप से हो, उसे चारित्र कहते हैं। अरे... अरे!

यह **परमेश्वर का स्वभाव है...** परम ईश्वर ऐसा जो आत्मा स्वयं (और) एक-एक भगवान भिन्न ऐसा परमेश्वर का स्वभाव है। **और यही परमेश्वर बनने का उपाय है**। साधारण लोगों को अता-पता हाथ आवे नहीं। क्या कहते हैं यह? इसकी अपेक्षा हम सामायिक करें, प्रौषध करें, प्रतिक्रमण करें, अपवास करें और गर्म पानी पीवें, रात्रिभोजन न करें। अरे! वह तो सब विकल्प की—राग की क्रिया है। वह कहीं आत्मा की धर्मक्रिया नहीं। समझ में आया? चोट लगे ऐसा है, पूर्व का आग्रह हो उसे तो (चोट लगे)।

यह अन्तर्दृष्टि भगवान आत्मा... पुण्य-पाप के शुभ-अशुभ उपयोग ऐसी राग की क्रिया को छोड़कर अन्तर्मुख स्वभाव को पकड़कर चैतन्यदल का अनुभव करना, उसका नाम एक ही परमेश्वर स्वभाव और मोक्ष का उपाय है। आहाहा! '**एक द्रव्यस्वभावत्वात्**' ऐसा कहा है न! जिसमें दूसरे द्रव्य का स्वभाव राग का कुछ मिले नहीं, सम्मिलित हो नहीं। पण्डितजी! '**एक द्रव्यस्वभावत्वात्**' है संस्कृत में। आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्यपुंज है, वह ज्ञान में प्रकाश का नूर का पूर है, अकेला ज्ञान का रसकन्द है, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, एकरूप वस्तु अन्तर है, उसकी अन्तर्दृष्टि (वह) निर्विकल्प सम्यग्दर्शन। विकल्प अर्थात् राग के आश्रय के अवलम्बन बिना

त्रिकाली ज्ञायकभाव का आश्रय लेकर जो अनुभव हो, उसमें जो प्रतीति हो, उसमें उसमें रमणता हो, उसे यहाँ मोक्ष का मार्ग कहा जाता है। उससे अब विरुद्ध बात करते हैं। **बाह्य दृष्टि से मोक्ष नहीं है।**

आठवाँ कलश। नीचे आठवाँ कलश है।

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत्॥८॥

आहाहा! अरे! ऐसा स्पष्ट रूप! नित्य प्रसिद्ध भगवान आत्मा को पहिचाने बिना, उसकी दृष्टि-अनुभव किये बिना उसे मुक्ति हो, धर्म हो—यह तीन काल में नहीं होता। आहाहा! कहो, समझ में आया?

आठवाँ कलश है, उसके ऊपर ११वाँ पद।

★ ★ ★

काव्य - ११

बाह्यदृष्टि से मोक्ष नहीं है (सोरठा)

करम सुभासुभ दोइ, पुदगलपिंड विभाव मल।
इनसौं मुकति न होइ, नहिं केवल पद पाइए।।११।।

शब्दार्थ:-सुभासुभ=भले-बुरे। विभाव=विकार। मल=कलंक।

अर्थ:-शुभ और अशुभ ये दोनों कर्म मल हैं, पुद्‌गलपिण्ड हैं, आत्मा के विभाव हैं, इनसे मोक्ष नहीं होता और केवलज्ञान भी नहीं पा सकता है।११।।

काव्य - ११ पर प्रवचन

करम सुभासुभ दोइ, पुदगलपिंड विभाव मल।
इनसौं मुकति न होइ, नहिं केवल पद पाइए॥११॥

(पहले) कहा, उससे उल्टी बात अब कहते हैं। '**करम सुभासुभ दोइ, पुदगलपिंड विभाव मल, इनसौं मुकति न होइ, नहिं केवल पद पाइए।' शुभ और अशुभ दोनों कर्ममल है। शुभ और अशुभभाव...** शुभ और अशुभभाव... दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा, अव्रत पाप के परिणाम—दोनों कर्म का मैल है वह तो। वह स्वद्रव्य भगवान आत्मा का स्वभाव नहीं है। शुभ और अशुभ दोनों कर्ममल है। भगवान की भक्ति का भाव कर्ममैल है, ऐसा कहते हैं। अब कहाँ तो ऐसा आवे कि अपने तो श्रीमद् को मानो, श्रद्धा करो, मुक्ति होगी। यहाँ भगवान कहते हैं, यह बात है नहीं। क्योंकि साक्षात् तीन लोक के नाथ को माने तो भी विकल्प—राग है, वह कर्म का मैल है, ले, आहाहा! गजब बात है! ऐ सेठी! ऐसा कब तक सुनेंगे लोग!

तीन लोक के नाथ साक्षात् परमेश्वर तीर्थंकर समवसरण में विराजते हैं, लो महाविदेह में अभी (विराजते हैं)। यह उनकी भक्ति, उनका नाम स्मरण, उनकी पूजा, उनके गुणगान, कहते हैं कि वह विकल्प है, शुभराग है, कर्म का मैल है।

मुमुक्षु : उनका नाम लेना भला लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह 'नाम लेना भला' का अर्थ स्वरूप लक्ष्य करके (वीतरागता प्रगट) करे, तब उनका नाम भला व्यवहार से कहलाता है। ऐसी सब बातें हैं।

प्रवचनसार में आता है न! पहली पाँच गाथाओं में। नामस्मरण (अर्थात् जैसे) महावीर परमात्मा है, वैसा परमात्मा का स्वरूप अन्दर ज्ञात हो जाये, (तब) उस लक्ष्य से शुभ विकल्प होता है, उसे व्यवहार से भला कहा जाता है। प्रमाणज्ञान में साथ में लेने के लिये। परन्तु यहाँ निश्चयस्वभाव की दृष्टि में... कहो, भगवान... भगवान... स्मरण करना, वह तो कहते हैं कि कर्ममैल है। अरे, गजब बात, भाई!

कारण कि विकल्प उठता है, वृत्ति उठती है, वह राग है। वह आत्मा का स्वभाव नहीं। आत्मा का नहीं, इसलिए कर्म का भाव है, ऐसा कहा। वापस फिर कोई ऐसा कहे, देखो! तब कर्म के कारण राग होता है या नहीं? यह यहाँ प्रश्न नहीं है। आहाहा! गजब विवाद भाई! यहाँ तो आत्मद्रव्यस्वभाव से भिन्न वह राग आदि वह कर्ममैल है; आत्मा का निर्मल भाव (नहीं), बस इतनी बात कहनी है। आहाहा!

क्या हो ? किसके साथ यह वाद-विवाद करे। इतनी खानियाचर्चा हो गयी। तो भी अभी कहे, करो चर्चा।

मुमुक्षु : वह हमेशा चले तो भी पूरा न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका पूरा हो परन्तु ? अन्तरस्वरूप भगवान आत्मा निर्विकल्प आनन्द का धाम, उसका स्पर्श और अनुभव बिना सब समझने जैसी बातें हैं। पुण्य बँधे, परन्तु बँधे का अर्थ क्या हुआ ? वह तो आत्मा अबद्धस्वरूप अटक गया वहाँ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पचाना कठिन है। वस्तु की स्थिति ऐसी है।

'**करम सुभासुभ दोइ**' पुण्य और पाप दोनों भाव वह तो कर्म का मैल है, वह पुद्गल पिण्ड है, लो। आहाहा! एक ओर भगवान आत्मराम और एक ओर यह पुण्य-पाप के विकल्प सब पुद्गलपिण्ड है। स्वद्रव्य नहीं, ऐसा कहने से, वे परद्रव्य हैं—ऐसा सिद्ध करना है। कठिन बात! आहाहा! यह तो निश्चय की बात तुम करते हो, परन्तु अब अभी व्यवहार बीच में आता है या नहीं ? व्यवहार होता है या नहीं साधन ? अरे! साधन-फाधन कहे, वह तो उपचार से कहे हैं, सुन न! आहाहा! भगवान निराकुल आनन्द का नाथ पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु स्वयं है। उसकी दशा में अनादि से उसकी भूल है। भूल न हो तो प्रत्यक्ष आनन्दमूर्ति का स्वाद उसे आना चाहिए। उसकी दशा में—पर्याय में—हालत में भूल है। समझ में आया ?

उस भूल को टालने का कारण (-उपाय) ? कि द्रव्यस्वभाव वस्तु भगवान आत्मा अन्तर्मुख दृष्टि, ज्ञान और रमणता, वह भूल टालने का उपाय है। और वह भूल है, वह क्या कहते (-दर्शाते) हैं ? कि पुण्य और पाप के दो भाव कर्म का मैल है। राग, विकल्प उठता है, वह राग का कार्य है, वह कर्म का कार्य है अर्थात् कि चैतन्यशुद्ध का नहीं अर्थात् कि पुद्गलपिण्ड है। और **आत्मा के विभाव हैं...** आहाहा! तीन बोल तो हुए। समझ में आया ?

भगवान! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह भाव पुद्गलपिण्ड है। आहाहा! गजब बात है न! हरिभाई! समझ में आया ? कर्म का मैल, पुद्गलपिण्ड और विभाव है, वह आत्मद्रव्यस्वभाव नहीं, वह विभाव है। **इनसे मोक्ष नहीं होता। 'इनसौं मुकति न**

होइ, नहिं केवल पद पाइए' यह पुण्य—दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम से मुक्ति नहीं मिलती। **'न केवल पद पाइए'** केवलज्ञान नहीं मिलता।

यह श्रीमद् की पुस्तक वाँचनेवाले उसे ही पढ़ा करे और बस दूसरा पढ़े नहीं, (इसलिए) कुछ खबर नहीं पड़ती। बस, पूरे दिन पढ़ा करे और पाठ में से निकाल सके नहीं कुछ। ऐई! यह तो स्वयं परमात्मास्वरूप ही है। उससे विरुद्ध का विकल्प जितना उठे, पंच महाव्रत का, नामस्मरण का, भक्ति का, पूजा का, दान का, दया का—उस सबको यहाँ तो कर्म का मैल, पुद्गलपिण्ड, विभावभाव (कहा और) उससे मुक्ति नहीं होती, उससे केवल (ज्ञान) नहीं पाते। 'आतमभावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान।' परन्तु आत्मा किसे कहना, भावना किसे कहना और केवल (ज्ञान) किसे कहना—इन तीनों का अर्थ क्या? रटा करे 'आतमभावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान।'

मुमुक्षु : यह गुरु का वचन है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वचन है वह क्या? वचन में क्या आया? इसका भाव क्या है यह समझे बिना? आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, यह पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव, वह तो कर्म का मैल है, निर्मलानन्द प्रभु से भिन्न है। परमेश्वर आत्मा से (भिन्न) वह पुण्य-पाप के भाव तो अजीव पुद्गलपिण्ड है और स्वभाव से विपरीत है, इसलिए विभाव है। अब इसमें चर्चा कहाँ किसके साथ करे? अरे भगवान! चर्चा विषय कहाँ तेरा? भाई!

'इनसौं मुकति न होइ, नहिं केवल पद पाइए।' केवलज्ञान भी नहीं पा सकता है... लो। ९वाँ (कलश)। ९वाँ आया न?

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते॥९॥

इसका पद १२वाँ।

★ ★ ★

काव्य - १२

इस पर शिष्य-गुरु का प्रश्नोत्तर (सवैया इकतीसा)

कोऊ शिष्य कहै स्वामी! असुभक्रिया असुद्ध,
सुभक्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यौं न वरनी।
गुरु कहै जबलौं क्रियाके परिनाम रहैं,
तबलौं चपल उपयोग जोग धरनी।।
थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होइ,
यातैं दोऊ क्रिया मोख-पंथकी कतरनी।
बंधकी करैया दोऊ दुहूमें न भली कोऊ,
बाधक विचारि मैं निसिद्ध कीनी करनी।।१२।।

शब्दार्थः-असुभ क्रिया=पाप। सुभ क्रिया=पुण्य। क्रिया=शुभाशुभ परिणति। चपल=चंचल। उपयोग=ज्ञान दर्शन। कतरनी=कैंची। निसिद्ध=वर्जित। करनी=क्रिया।

अर्थः-कोई शिष्य पूछता है कि हे स्वामी! आपने अशुभ क्रिया को अशुद्ध और शुभ क्रिया को शुद्ध क्यों न कहा? इस पर श्रीगुरु कहते हैं कि, जब तक शुभ-अशुभ क्रिया के परिणाम रहते हैं तब तक ज्ञान-दर्शन-उपयोग और मन-वचन-काय के योग चंचल रहते हैं तथा जब तक ये स्थिर न होवें तब तक शुद्ध अनुभव नहीं होता। इससे दोनों ही क्रियाएँ मोक्षमार्ग में बाधक हैं, दोनों ही बन्ध उपजानेवाली हैं, दोनों में से कोई अच्छी नहीं है। दोनों मोक्षमार्ग में बाधक हैं, ऐसा विचार कर मैंने क्रिया का निषेध किया है।।१२।।

काव्य - १२ पर प्रवचन

कोऊ शिष्य कहै स्वामी! असुभक्रिया असुद्ध,
सुभक्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यौं न वरनी।
गुरु कहै जबलौं क्रियाके परिनाम रहैं
तबलौं चपल उपयोग जोग धरनी।।

थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होइ,
यातैं दोऊ क्रिया मोख-पंथकी कतरनी।
बंधकी करैया दोऊ दुहूमें न भली कोऊ,
बाधक विचारि मैं निसिद्ध कीनी करनी॥१२॥

गुरु उत्तर देते हैं। आहाहा! देखो न, यह ऐसी एक-एक लाईन दिगम्बर सन्तों और आगम में ऐसी पड़ी है! है कहीं सब कितने सुने होंगे तुमने? आहाहा! सनातन वीतरागमार्ग, ये वीतराग के पथानुगामी चले आये, इन्होंने यह वीतराग मार्ग की बातें की हैं। आहाहा! **'कोऊ शिष्य कहै स्वामी! असुभक्रिया असुद्ध'** शिष्य कहता है, प्रभु! हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, काम, क्रोध, मान—इस अशुभक्रिया को तो तुम अशुद्ध कहो। अशुभभाव को तो तुम अशुद्ध कहो। परन्तु **'सुभक्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यौं न वरनी?'** दया-दान-व्रत-भक्ति-नामस्मरण, आहाहा! पंच महाव्रत का पालन, ईर्यासमिति—देखकर चले, (वह) शुभभाव, भाषा—विचारकर बोले, निर्दोष आहार ले। अरे! यह ऐसा शुभभाव, उसे तुमने शुद्ध में क्यों नहीं डाला? **'तुम ऐसी क्यौं न वरनी?'** लो, यह शिष्य का प्रश्न है। अरे, गजब काम!

'गुरु कहै जबलौं क्रियाके परिनाम रहैं' भगवान आत्मा आनन्दकन्द का नाथ प्रभु, जब तक यह दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम का भाव रहे, तब तक वह परिणाम तो **'जबलौं' 'तबलौं चपल'** है उपयोग वह। आहाहा! वह शुभ उपयोग तो चपल है। **'गुरु कहै जबलौं क्रियाके परिनाम रहैं'** है न अन्दर में देखो! **तब तक ज्ञान-दर्शन उपयोग और मन-वचन-काय के योग चंचल रहते हैं।** तब तक ज्ञान, दर्शन, आनन्द में चंचलता है, आत्मा में स्थिरता नहीं होती। आहाहा!

एकान्त है, ऐसा कहते हैं (वे)। परन्तु हाँ पाड़, बापू! किसके सामने तू कहता है? यह तो सम्यक् एकान्त ही धर्म है, ऐसा कहते हैं। शुभभाव है, तब तक चंचलता है, चपलता है। ऐसा करूँ... ऐसा करूँ... ऐसा करूँ.... यह योग चपल है और (व्यवहार) ज्ञान, दर्शन, चारित्र भी चपल विकल्प में आ गये हैं वे तो, कहते हैं। आहाहा! **'तबलौं चपल उपयोग'** और **जोग** दोनों **धरनी**। कहो, समझ में आया?

'थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होइ' जब तक भगवान आत्मा में चपल

विकल्प उठे, व्रत, तप, दान, दया, भक्ति—ऐसी वृत्ति का उत्थान और वृत्ति है, तब तक आत्मा के स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता। **'थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होइ'** देखो, शुद्ध शब्द प्रयोग किया है। तुम शुभ में शुद्ध क्यों नहीं कहते? शुभ को शुद्ध क्यों नहीं कहते? तब कहते हैं कि उस शुभ में शुद्ध का अनुभव नहीं होता। वह विकल्प की वृत्ति की चंचलता, भगवान का नामस्मरण, जाप, शास्त्र पठन-पाठन—यह सब विकल्प की चंचलता है, कहते हैं। आहाहा! **'थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होइ'** उस विकल्प के जाल में से निकले बिना स्थिरता नहीं आती और शुद्ध अनुभव नहीं होता। आहाहा!

'यातैं दोउ क्रिया मोख पंथकी कतरनी' अशुभ क्रिया और शुभ का भाव—दोनों मोक्ष के पंथ—मार्ग की कैंची है, कतरनेवाली है, काटनेवाली है। चन्दुभाई! गजब, लो! **'यातैं दोउ क्रिया मोख पंथकी'** देखो, मोक्ष का पंथ, हों! मोक्ष का पंथ तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो स्वद्रव्य के आश्रय से प्रतीति, ज्ञान और रमणता—ऐसा जो मोक्षपंथ है, उसे शुभभाव तो कैंची है, काट डालता है। प्रेमचन्दभाई! है? कितने वर्ष तक टोकरी बजायी, देखो! तुम और अमीचन्दभाई दोनों। अमीचन्दभाई और यह दोनों पुराने व्यक्ति श्रीमद् के भगत, हमारे परिचित। अमीचन्दभाई के साथ तुम वहाँ गढ्डा में बहुत रहे, परन्तु बातें सब ऐसी किया करे। आहाहा!

भाई! तेरा स्वरूप है न, भगवान! ऐसे ज्ञान और प्रकाश और आनन्द का नूर प्रभु, ऐसा तेरा स्वरूप है, प्रभु! अनादि-अनन्त। आहाहा! उसमें यह पुण्य के भाव उठते हैं, यह तो आत्मा के धर्म के स्वभाव की कैंची है, काट डालता है। ऐ भीखाभाई! पहले सुने तो चिल्लाहट मचा जाये। अब तो बहुत वर्ष हो गये इसलिए... हमारे सेठी भी पहले ऐसे थे। भाई! यह बात ही ऐसी है। ऐसी यह बात चलती नहीं बाहर में। बाहर में तो यह व्रत पालन करो, भक्ति करो, अपवास करो, पूजा करो और भगवान का स्मरण करो—माला गिनो।

कहाँ वह आनुपूर्वी... नहीं आती आनुपूर्वी? णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं। णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं... उल्टे-सीधे गिने। वहाँ मन स्थिर हो।

स्थिर हो तो धर्म हो। यह तो कहते हैं कि वह विकल्प है, उसमें स्थिर होता नहीं। आहाहा! आनुपूर्वी आता है न? गिना है न तुमने? गिना ही हो न!

मुमुक्षु : पाँच पद की या नौ पद की?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ऐसे... अपने गिनी नहीं परन्तु ऐसा सुना है। उस समय बहुत वह नहीं था।

'**थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होइ**' अन्तर में आनन्दस्वरूप में स्थिरता, आनन्द का अनुभव, जब तक विकल्प की चपलाई का भाव रहे, तब तक आनन्द का अनुभव नहीं होता। सच्चिदानन्द प्रभु का आनन्द का साक्षात्कार, वह जब तक विकल्प की क्रिया की चपलता खड़ी रहे, तब तक आत्मा का अनुभव नहीं होता। आहाहा! मोक्ष पंथ की कतरनी... है न? मोक्षमार्ग की कतरनी है, बाधक है। कतरनी है न कैंची। अन्दर लिखा है। कैंची होती है न कातर... कातर। यह शुभभाव की चपलता मोक्षपंथ को काटनेवाली है। आहाहा! महाधाम प्रभु अनन्त शान्ति का सागर आत्मा है, महा सच्चिदानन्द प्रभु है, पूर्ण परमात्मा जिसका स्वरूप ही है एक-एक द्रव्य का। ऐसे द्रव्य की स्थिरता में यह विघ्न करता है। कहो, कान्तिभाई! कठिन ऐसा!

'**बंधकी करैया दोऊ दुहूमें न भली कोऊ**' दोनों बन्ध की करनेवाली है। शुभभाव की क्रिया और अशुभभाव की क्रिया (अर्थात्) राग हों, यह जड़ की क्रिया नहीं। भगवान का जाप, भक्ति, पूजा, दान, दया, व्रत, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य पालने का विकल्प—यह सब शुभ-अशुभभाव। एक शुभ और दूसरा अशुभ। '**दोऊ दुहूमें न भली कोऊ**' दोनों में एक भी भली है नहीं। आहाहा! '**बंधकी करैया दोऊ दुहूमें न भली कोऊ**' कवि है न! '**बंधकी करैया दोऊ दुहूमें न भली कोऊ**' आहाहा! अरे! कठिन बातें, भाई!

वाडावालों को तो ऐसा लगे और चोट लगे हाय.. हाय..! और वापस मन्दिर ना हो, कहे। भाई! हो, सुन न। वह तो उसके कारण से होते हैं, कहीं आत्मा के कारण से नहीं। और शुभ विकल्प आवे, तब लक्ष्य वहाँ जाये, परन्तु वह शुभ विकल्प है तो बन्ध का कारण। परन्तु पूर्ण वीतराग जब तक न हो, तब ऐसा बीच में बाधकभाव आये बिना नहीं रहता। साधक है, तब तक बाधकपना बीच में होता है। आहाहा! किसलिए यह

करना तब? करने की कहाँ बात है? बीच में यह आता है। आवे तो भी वह मोक्ष का कारण नहीं, धर्म का कारण नहीं। आहाहा! ऐ प्रकाशदासजी! आहाहा!

'**बंधकी करैया दोऊ दुहूमें न भली कोऊ, बाधक विचारी मैं निसिद्ध कीनी करनी**' गुरु-सन्त... वीतराग परमात्मा अथवा सन्त ऐसा कहते हैं, यह पुण्य और पाप दोनों विकल्प बाधक जानकर, स्वरूप के साधक में बाधक जानकर... आहाहा! '**बाधक विचारी मैं निसिद्ध कीनी करनी**' यह शुभ-अशुभभाव दोनों का निषेध किया, चल। समझ में आया?

अर्थ में भी लिया। **(दोनों) क्रियाएँ मोक्षमार्ग में बाधक हैं, दोनों ही बन्ध (उपजानेवाली) हैं। दोनों में से कोई अच्छी नहीं है, दोनों मोक्षमार्ग में बाधक हैं, ऐसा विचारकर...** देखो! ऐसा हमारे ज्ञान में आया तो ऐसी क्रिया का निषेध किया। अब सब चिल्लाहट मचाते हैं। अरे! ऐसी क्रियायें जो धर्म का कारण है, उसे तुम बन्ध का कारण कहते हो। कौन कहता है? सुन न! यह भगवान कहते हैं। कौन कहते हैं? सोनगढ़ कहता है?

मुमुक्षु : लोक के कल्याण का कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कल्याण का कारण है, धूल भी नहीं कल्याण का कारण!

मुमुक्षु : अकल्याण का....

पूज्य गुरुदेवश्री : दौर... आया नहीं था, क्या कहा? **दौर धूप। दौर धूप।** दो बार आया था। भटकने का है। अनुकूल अलग (और) यह **दौर धूप**—भटकना। आया था न! **दौर धूप** आया था। **दौर धूप**—भटकना। तीसरे में (और आठवें) पद में आया था। अन्यत्र भी आया था। दो जगह है। दौर धूप—भटकना। भटकना है, भाई!

दसवाँ कलश।

सन्न्यस्तव्य-मिदं समस्त-मपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
सन्न्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादि-निजस्वभाव-भवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्
नैष्कर्म्य-प्रतिबद्ध-मुद्धत-रसं ज्ञानं स्वयं धावति॥१०॥

आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूप चैतन्यपुंज... वह '**धावति**'—दौड़ता है परिणमन करके। आहाहा! पुण्य-पाप के विकल्प की रुचि छोड़कर, भगवान आनन्द का धाम, उसकी दृष्टि करने से, वह तो ज्ञान का पिण्ड प्रज्ञाब्रह्म आत्मा है। यह ज्ञान दौड़ता है, कहते हैं, परिणमता है, ऐसा। पुण्य-पाप का निषेध करने से स्वभाव का आश्रय करने पर वह ज्ञान परिणमन... ज्ञान परिणमनरूप से परिणमता दौड़ता है, गति करता है, कहते हैं। पर्याय में उसका परिणमन होता है। ध्रुवरूप से जो ज्ञान है, उसकी दृष्टि करने से ज्ञान दौड़ता है अर्थात् पर्याय में शुद्धता का परिणमन करता है। उसे मोक्ष का मार्ग कहा जाता है। आहाहा! यह कहते हैं, देखो! **ज्ञानमात्र मोक्षमार्ग है**। १३ वाँ पद।

★ ★ ★

काव्य - १३

ज्ञानमात्र मोक्षमार्ग है (सवैया इकतीसा)

मुकतिके साधककौं बाधक करम सब,
आतमा अनादिकौ करम मांहि लुक्यौ है।
एते पर कहै जो कि पाप बुरौ पुन्न भलौ,
सोई महा मूढ़ मोख मारगसौं चुक्यौ है।।
सम्यक सुभाउ लिये हियेमैं प्रगट्यौ ग्यान,
उरध उमंगि चल्यौ काहूपै न रुक्यौ है।
आरसीसौ उज्जल बनारसी कहत आपु,
कारन सरूप ह्वैकै कारजकौं ढुक्यौ है।।१३।।

शब्दार्थ:-साधक=सिद्धि करनेवाला। लुक्यो=छिपा। चुक्यौ (चूकौ)=भूला। उरध (ऊर्ध्व)=ऊपर। उमंगि=उत्साह पूर्वक। आरसी=दर्पण। ढुक्यौ=बढ़ा।

अर्थ:-मुक्ति के साधक आत्मा को सब कर्म बाधक हैं, आत्मा अनादि काल से कर्मों में छुपा हुआ है, इतने पर भी जो पाप को बुरा और पुण्य को भला कहता है वही महामूर्ख मोक्षमार्ग से विमुख है। जब जीव को सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान प्रगट होता है,

तब वह अनिवार्य उन्नति करता है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि वह ज्ञान दर्पण के समान उज्ज्वल स्वयं कारणस्वरूप होकर कार्य में परिणत होता है अर्थात् सिद्धपद प्राप्त करता है।

भावार्थ:-विशुद्धतापूर्वक बढ़ा हुआ ज्ञान किसी का रोका नहीं रुकता, बढ़ता ही जाता है, सो पूर्व अवस्था में जो ज्ञान उत्पन्न हुआ था वह कारणरूप था, वही कार्यरूप परिणमन करके सिद्धस्वरूप होता है।।१३।।

काव्य - १३ पर प्रवचन

मुकतिके साधककौं बाधक करम सब,
आतमा अनादिकौ करम मांहि लुक्यौ है।
एते पर कहै जो कि पाप बुरौ पुन्न भलौ,
सोई महा मूढ़ मोख मारगसौं चुक्यौ है॥
सम्यक सुभाउ लिये हियेमैं प्रगट्यौ ग्यान,
उरध उमंगि चल्यौ काहूपै न रुक्यौ है।
आरसीसौ उज्जल बनारसी कहत आपु,
कारन सरूप ह्वैकै कारजकौं ढुक्यौ है॥१३॥

आहाहा! ऐसी सादी भाषा में... हिन्दी में सादी भाषा में। संस्कृत है, उसका पद यह है। '**मुकतिके साधककौं बाधक करम सब**' पहली लाईन का अर्थ। मोक्ष का... आत्मा का स्वभाव मोक्ष आनन्द, उसकी पूर्ण प्राप्ति का जो साधकपना—स्वरूप में एकाग्रता होना, दृष्टि, ज्ञान और चारित्र की। उसमें '**बाधक करम सब**' यह व्रत और अव्रत के परिणाम सब विघ्न करनेवाले हैं। समझ में आया? पुण्य और पाप के दोनों भाव—शुभ-अशुभभाव—विभाव—विकृतभाव, वे सब मुक्ति, मोक्ष का साधकपना, उसके वे विघ्न करनेवाले हैं, बाधक हैं।

कहो, अब कहीं व्यवहाररत्नत्रय को साधक कहा, कारण कहा। छहढाला में आता है न, नियत को हेतु। ऐ पण्डितजी! छहढाला में आता है या नहीं? हाँ, नियत

सत्यार्थ है। नियत को हेतु व्यवहार है। व्यवहार कारण है, निश्चय कार्य है, लो। छहढाला में आता है। वह तो उपचार निमित्त क्या है, उसका ज्ञान कराते हैं। बहुत विवाद, अर्थ करने में विवाद।

यहाँ तो भगवान कहते हैं, आत्मा शुद्ध आनन्द का धाम प्रभु है, उसका अन्तर में स्वरूप में साधन होना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, उसमें यह दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम, वे तो विघ्न करनेवाले हैं। वे धर्म नहीं और धर्म का कारण भी नहीं। उनको विघ्न करनेवाले हैं, ऐसा कहा। अब उन्हें साधन कहना? ऐई जेठाभाई! परन्तु साधन आता है। साधक है, वह व्यवहार, निश्चय साध्य है। पंचास्तिकाय में नहीं आता?

मुमुक्षु : मूल आचार्यों ने कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : मूल आचार्यों ने कहा है। परन्तु किस कारण से कहा है? सुन न! यह तो उस भूमिका में ऐसी विकल्प की मर्यादा होती है, उतना ज्ञान कराने के लिये वह बात की है। परन्तु है तो विघ्न और बाधक करनेवाले विकल्प। '**मुकतिके साधककौं बाधक करम**' करम अर्थात् सब क्रिया। पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव। व्रत पालना, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ऐसा जो व्रत का विकल्प, वह राग और अशुभराग पाप का हिंसा, झूठ, चोरी, भोग, विषय—ऐसे दोनों भाव **करम सब बाधक हैं।**

'**आतमा अनादिकौ करम मांहि लुक्यौ है।**' कहो। यह पुण्य-पाप के भाव में यह आत्मा अनादि से ढँक गया है। अपने स्वरूप की उसे खबर नहीं। आत्मा अनादि... '**करम**' अर्थात् क्रियाकाण्ड, व्यवहार करना, ऐसा करना, ऐसा करना, ऐसे व्रत पालना और ऐसे अतिचार पालना और यह करना और वह करना, ऐसे अपवास करना और यह उपधान करना। आहाहा! '**आतमा अनादिकौ करम मांहि लुक्यौ है।**' पुण्य-पाप के विकल्प में ढंक गया है। आहाहा! यह व्रत की क्रिया, दया-दान की क्रिया और भक्ति-पूजा की क्रिया—इस राग में ढँक गया है, कहते हैं। भगवान का स्वरूप तो रागरहित है। उसे न जानकर यह क्रिया में रुक गया है, कहते हैं। ढँक गया—**छिपा हुआ,** देखो न!

'**एते पर कहै जो कि पाप बुरौ पुन्न भलौ**' ऐसा होने पर भी... शुभ और

अशुभभाव में आत्मा छिप जाता है, ढँक जाता है, आवृत्त हो जाता है। ऐसा होने पर भी, **'एते पर कहे जो कि पाप बुरौ पुन्न भलौ'** अशुभभाव खोटा और शुभभाव अच्छा। अब दुकान में धन्धा पाप का करते थे, उसकी अपेक्षा दया-दान भक्ति में बैठा हो, वह शुभभाव अच्छा है या नहीं? कहते हैं कि **'एते पर कहै जो कि पाप बुरौ पुन्न भलौ'** अशुभभाव खोटे, शुभभाव अच्छे। **'सोई महा मूढ़'**—बड़ा मूर्ख है। आहाहा! वह जैनधर्म को जानता नहीं। वीतरागमार्ग को जानता नहीं। महामूढ़ है, ऐसा कहा। **एते—**ऐसा होने पर भी पाप बुरा और पुण्य भला कहे, (वह) बड़ा मूर्ख है, कहते हैं। **महा मूढ़।**

'मोख मारगसौं चुक्यौ है' मोक्षमार्ग से तो भूला पड़ा है। आहाहा! शुभ-अशुभभाव में रुक गया। यहाँ तो शुभ की बात है अभी। शुभ अच्छा, अच्छा, बापू! अच्छा, कहते हैं। अच्छी क्रिया करते हैं न! सत् क्रिया है या नहीं? कि नहीं, नहीं, वह सत् क्रिया नहीं। वह तो राग की असत्क्रिया है। ऐई धरमचन्दभाई! **'सोई महा मूढ़'** ऐसा लिया है न। **वही महा मूर्ख...** बड़ा मूर्ख है, कहते हैं। आहाहा! मोक्षमार्ग से चूका है, मोक्षमार्ग से हट गया है, भूला पड़ गया है। मोक्षमार्ग तो अन्दर आत्मद्रव्य में आनन्द में एकाकार होना, वह मोक्षमार्ग है। यह क्रियाकाण्ड में विकल्प उठे और उसमें मोक्षमार्ग माने, महामूढ़ है। मोक्षमार्ग से चूका और भ्रष्ट हो गया है। मिथ्यात्व में आया है, कहते हैं। आहाहा!

'सम्यक सुभाउ लिये हियेमैं प्रगट्यौ ग्यान' अब सुलटा... सुलटा लेते हैं। **'सम्यक सुभाउ लिये हियेमैं प्रगट्यौ ग्यान' जब जीव को सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान प्रगट होता है तो वह अनिवार्य उन्नति करता है...** वहाँ क्या है? आत्मा पूर्णानन्द प्रभु अनन्त ज्ञानस्वरूप है, उसे जहाँ अन्तर में अनुभव और सम्यग्दर्शन हुआ; सम्यग्दर्शन अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्प से दूर होकर स्वभाव के अनुभव में प्रतीति हुई, ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर **'हियेमैं प्रगट्यौ ग्यान'** वस्तु जो ज्ञानस्वभाव है, वही ज्ञान प्रगट हुआ। वे पुण्य-पाप के विकल्प प्रगट होते हैं, वह तो बन्ध का कारण और दुःखरूप है। आहाहा! शुभभाव जहर है, ऐसा कहते हैं।

'सम्यक सुभाउ लिये हियेमैं प्रगट्यौ ग्यान' अन्तर में ज्ञान प्रगट हुआ। अरे! मैं तो आत्मा... पुण्य और पाप के विकल्प और क्रियाकाण्ड के राग से भिन्न मेरी चीज़ है।

मैं तो शुद्ध आनन्दमूर्ति हूँ। ऐसा जहाँ सम्यग्ज्ञान हृदय में प्रगट हुआ, **ऊरध उमंगि...** बस चला आता है... आगे... आगे... आगे स्वरूप में स्थिरता करते... करते... करते... '**ऊरध उमंगि**' उत्साहपूर्वक वापस, ऐसा। उमंग है न। अनिवार्य उन्नति करता है। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यदल आनन्द का धाम, राग से निष्क्रिय है, भिन्न है। राग की क्रिया जो दया-दान-व्रत की क्रिया (है, वह) राग की क्रिया से भिन्न है। ऐसे तत्त्व को जहाँ अन्तर्दृष्टि में अनुभव में लिया, वह उन्नति के पंथ में पड़ा। '**ऊरध उमंगि**' वह (पाप में) अध:-नीचे जाता था। पुण्य-पाप के भाव को धर्म मानकर नीचे दुर्गति में—चार गति में जाता था। आहाहा!

अब, बनारसीदास कहते हैं, यह उन्होंने विचारा नहीं होगा कि कहाँ रखता हूँ, किसके पास रखता हूँ? आहाहा!

मुमुक्षु : भ्रम में पड़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : भ्रम में पड़ा है। अरे! परमात्मा है, उसे तू हीन कैसे देखता है? समझ में आया? ऐसा स्वभाव समझने को... सभा में तो यही कहना, ऐसा टोडरमलजी तो कहते हैं। अध्यात्म का उपदेश देना। सभा में तो अध्यात्म का देना, तत्त्वज्ञान का (उपदेश) देना।

मुमुक्षु : मोक्षमार्ग....

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्षमार्ग तो वहाँ है। अन्यत्र तो मोक्षमार्ग नहीं और ऐसा अध्यात्म का मोक्षमार्ग न कहे तो फिर मोक्षमार्ग हो कैसे लोगों को? समझ में आया?

'**ऊरध उमंगि चल्यौ काहूपै न रुक्यौ है**' आहाहा! द्रव्यस्वभाव वस्तु को जहाँ पकड़ा अर्थात् अन्दर में शक्ति में जो केवलज्ञान आदि है, वे प्रगट हुए बिना रहेंगे नहीं। समझ में आया? दया-दान-व्रत के परिणाम तो राग है, विभाव है, दु:खरूप जहर है। छोड़ उन्हें दृष्टि में से। चैतन्य भगवान आनन्दस्वरूप की दृष्टि कर। '**ऊरध उमंगि**' उत्साह से। दु:खी होकर नहीं कि अरेरे! यह ऐसा चारित्र और यह... ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा के अमृत में रमता हुआ... अमृतस्वरूप में रमता हुआ आगे बढ़ जाता है, कहते हैं। आहाहा! अरे! इसके घर की बातें भी न सुने। 'अब हम कबहुँ न निज घर

आये' यह आता है न? '**अब हम कबहुं न निज घर आये।**' यह इसमें है। क्या कहा जाता है यह? खानियाचर्चा। ८९ पृष्ठ पर है। वहाँ बहुत बोलते थे।

हम तो कबहुं न निज घर आये,
पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये,
हम तो कबहुं न निज घर आये,
पर पद निज पद मान मगन व्है पर परिणति लिपटाये।

यह पुण्य और पाप के विकल्प, वे तो परपरिणति—विभाव में लिपट गया है, कहते हैं। '**पर पद निज पद मान**' परपद को निजपद माना... यह दया-दान के व्रत के विकल्प तो परपद—विभावपद है। उसे....

निजपद मान मगन व्है पर परिणति लिपटाये।
सुद्ध बुद्ध सुखकंद मनोहर चेतन भाव न भाए।
सुद्ध बुद्ध सुखकंद मनोहर चेतन भाव न भाए।
हम तो कबहुं न निज घर आये,
पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये,

मनुष्य हूँ, देव हूँ, पुण्य करनेवाला, दया करनेवाला, व्रत पालनेवाला—यह सब नाम—परघर के नाम तूने धारण किये हैं। भगवान ज्ञानानन्द की मूर्ति, ऐसे निजघर में तो कभी आया नहीं। परघर में व्यभिचारी होकर घूमा। आहाहा! कहो, धरमचन्दभाई! आता है न वह। हिन्दी में आता है। यह तो इतनी लाईन इसमें।

'**ऊरध उमंगि चल्यौ काहूपै न रुक्यौ है**' अब उसे आगे जाने से कोई कर्म अटकावे—रोके, ऐसा है नहीं। '**आरसीसौ उज्जल बनारसी कहत आपु**' भगवान चैतन्यस्वरूप की दृष्टि और रमणता की निर्मलता प्रगट हुई, '**आरसीसौ उज्जल बनारसी**' वह तो उज्ज्वल... उज्ज्वल दशा हुई। वह पुण्य और पाप मैली दशा थी। भगवान के ज्ञानस्वभाव को अवलम्ब कर निर्मल होने से '**कारन सरूप ह्वैकै**' वह मोक्ष के कारणरूपी आत्मा की—शुद्ध आनन्द के धाम की पर्याय प्रगटकर '**कारजकौं ढुक्यौ है**' पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रयास कर रहा है, उसे केवलज्ञान होगा। ऐसा कारण जो सेवन करे, उसे कार्य प्रगट होगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५७, चैत्र शुक्ल २, रविवार, दिनांक २८-३-१९७१
पुण्य-पाप एकत्व द्वार, पद १४, १५

यह नाटक समयसार, पुण्य-पाप अधिकार है। पुण्य-पाप एकत्व अधिकार है न! शुभ और अशुभभाव जो आत्मा में होते हैं, वे दोनों एक ही स्वरूप है, बन्ध का कारण है। पुण्य-पाप अधिकार है न! ११वाँ कलश है।

यावत्पाक-मुपैति कर्म-विरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञान-समुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्,
मोक्षाय स्थित-मेक-मेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११॥

इसका पद। **ज्ञान और शुभाशुभ कर्मों का व्यौरा। व्यौरा** अर्थात् विवेचन।

★ ★ ★

काव्य - १४

ज्ञान और शुभाशुभ कर्मों का व्यौरा (सवैया इकतीसा)

जौलौ अष्ट कर्मकौ विनास नांही सरवथा,
तौलौं अंतरातमामैं धारा दोइ बरनी।
एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा,
दुहूंकी प्रकृति न्यारी न्यारी न्यारी धरनी।।
इतनौ विसेस जु करमधारा बन्धरूप,
पराधीन सकति विविध बंध करनी।
ग्यानधारा मोखरूप मोखकी करनहार,
दोखकी हरनहार भौ-समुद्र-तरनी।।१४।।

शब्दार्थ:-सरवथा (सर्वथा)=बिलकुल। बरनी=बर्तती हैं। धरनी=सत्ता। पराधीन= दूसरे के आश्रित। विविध=भाँति भाँति के। भौ (भव)=संसार। तरनी=नौका।

अर्थ:-जब तक आठों कर्म बिलकुल नष्ट नहीं होते, तब तक सम्यग्दृष्टि में ज्ञानधारा और शुभाशुभ कर्मधारा दोनों वर्तती हैं। दोनों धाराओं का जुदा-जुदा स्वभाव और जुदी-जुदी सत्ता है। विशेष भेद इतना है कि कर्मधारा बन्धरूप है, आत्मशक्ति को पराधीन करती है तथा अनेक प्रकार बन्ध बढ़ाती है; और ज्ञानधारा मोक्षस्वरूप है, मोक्ष की दाता है, दोषों को हटाती है, तथा संसार-सागर से तारने के लिये नौका के समान है।।१४।।

काव्य - १४ पर प्रवचन

जौलौं अष्ट कर्मकौ विनास नांही सरवथा,
तौलौं अंतरातमामैं धारा दोइ बरनी।
एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा,
दुहूंकी प्रकृति न्यारी न्यारी न्यारी धरनी।।
इतनौ विसेस जु करमधारा बन्धरूप,
पराधीन सकति विविध बंध करनी।
ग्यानधारा मोखरूप मोखकी करनहार,
दोखकी हरनहार भौ-समुद्र-तरनी।।१४।।

क्या कहते हैं? क्या कहते हैं? सवेरे हिन्दी थे न वे लोग, उनके लिये। तारणस्वामी के अनुयायी। '**जौलौं अष्ट कर्मकौ विनास नांही सरवथा**' क्या कहते हैं? कि धर्मी जीव को अर्थात् कि आत्मा शुद्ध आनन्द के अनुभवी जीव को... समझ में आया? आत्मा शुद्ध चैतन्य अखण्ड अभेद, ऐसा जो आत्मा, उसके स्वभाव-सन्मुख में (और) विभाव से विमुख होकर जो धर्म दशा अनुभव की प्रगट हो, उसे जब तक आठ कर्म का नाश न (हो वहाँ तक) उसे क्या होता है, यह वर्णन करते हैं। '**जौलौं अष्ट कर्मकौ विनास नांही सरवथा, तौलौं अन्तरातमामैं धारा दोइ बरनी**' जब तक आठ कर्म का पूर्ण नाश न हो, तब तक अन्तरात्मा में... '**अंतरातमामैं**' ऐसा है न!

राग और विकल्प से भिन्न प्रभु तत्त्व, ऐसा जो अन्तरस्वभाव... बहिर्दृष्टि छोड़कर,

अन्तर्दृष्टि से आत्मा अनुभव करके जिसे आत्मज्ञान और अन्तरात्मा प्रगट हुआ है। यह अधिकार पुण्य-पाप का है। कहते (हैं कि) उसे कुछ पुण्य-पाप के परिणाम हैं या नहीं? '**तौलौं अन्तरातमामैं धारा दोइ बरनी**' कर्म का, राग का पूर्ण अभाव जब तक न हो, तब तक धर्मात्मा को—अन्तरात्मा को जो अन्दर शुभ-अशुभ भाव निषेध किये... शुभ और अशुभभाव, वह विभाव है, पुद्गलपिण्ड है, वह आत्मा नहीं। आत्मा तो अन्दर, पुण्य-पाप के शुभ-अशुभ उपयोग रहित शुद्ध उपयोगस्वभावी आत्मा है। ऐसे शुद्ध उपयोग द्वारा जिसने आत्मा की प्राप्ति और अनुभव किया है, उसे यहाँ अन्तरात्मा—धर्मी कहा जाता है। समझ में आया?

जब तक अन्तरात्मा को भी आठ कर्म का नाश न हो, तब तक उसे अन्तरात्मा में भी दो धारा कही है, भगवान ने कही है। '**वरनी**' है न। दो धारा अर्थात् क्या? एक ज्ञानधारा और एक शुभाशुभ कर्मधारा। आत्मा अखण्ड आनन्द शुद्ध चैतन्य है, ऐसा अन्तर तत्त्व का भान, प्रतीति और स्वरूप की रमणता आदि आनन्द के अंश को प्रगट किया है, वह तो उसकी ज्ञानधारा है। ज्ञान अर्थात् आत्मा के स्वभाव की एकाग्रता की धारा। समझ में आया? आत्मा तो चैतन्यदल अखण्ड अभेद है, ऐसा जहाँ अन्तर में अनुभव और भान हुआ। वहाँ उसकी दशा में भी सम्यग्ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति इत्यादि जो दशायें प्रगट हुई, उन्हें यहाँ ज्ञानधारा कहा जाता है। ज्ञानधारा अर्थात् आत्मधारा। समझ में आया?

'**अंतरातमामैं धारा दोइ बरनी**' यद्यपि अन्तरात्मा की रागधारा नहीं, परन्तु रागधारा होती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? '**एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा**' धर्मी जीव कावे... तब कहे कि भाई, यह पुण्य-पाप के भाव दोनों एक हैं, बन्ध है, तो फिर धर्मात्मा को अबन्धस्वभावी आत्मा का भान है उसे तो। अबन्धस्वरूपी ऐसा आत्मा, उसका भान है, तो उसे क्या है? उसने तो आत्मा के स्वभाव की जितनी शरण ली है, उतनी दशा उसकी आत्मधारा की अर्थात् ज्ञानधारा की कही जाती है। समझ में आया? सवेरे नहीं थे न शशीभाई? थे? कहाँ?

'**एक सुभासुभ कर्मधारा**' एक तो वस्तु चैतन्यस्वरूप का आश्रय लेकर प्रगट

हुई विशुद्ध—शुद्ध उपयोग धारा, निर्मल शुद्ध परिणति—अवस्था, वह तो उसकी चीज़ है, धर्मात्मा की वह तो उसकी चीज़ है। समझ में आया? परन्तु उस चीज़ के साथ एक शुभाशुभ विकल्प की धारा बहती है। शुभोपयोग दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा इत्यादि या अशुभराग विषयवासना, काम, क्रोध की वृत्तियाँ—ये दोनों वृत्तियाँ कर्मधारा है। कर्मधारा अर्थात् धर्मधारा नहीं। समझ में आया? एक ज्ञानधारा, एक शुभाशुभ विकारी परिणामरूप कार्यधारा। यद्यपि वह विकारी कर्म का कर्ता है, ऐसा नहीं, परन्तु वहाँ होता है। आठ कर्म का नाश नहीं, तब तक उस भूमिका में ऐसे शुभाशुभभाव होते हैं, उसे यहाँ कर्मधारा—विकारी भावरूपी कार्यधारा कहा जाता है। समझ में आया?

'**दुहूंकी प्रकृति न्यारी**' दोनों का स्वभाव भिन्न है। भगवान आत्मा अन्तर्मुख के स्वभाव को अवलम्बकर जो कुछ श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति, स्वच्छता की दशा प्रगट हुई, वह तो शुद्धस्वभाव है और पुण्य-पाप का भाव, वह अशुद्धस्वभाव है। समझ में आया? '**दुहूंकी प्रकृति न्यारी**' दोनों का स्वभाव भिन्न है। भगवान आत्मा... पुण्य और पाप के विकल्प होने पर भी आत्मा उनसे भिन्न है—पृथक् है। ऐसा अन्तर में स्व-आत्मा को ज्ञेय बनाकर ज्ञान जिसने अन्तर में प्रगट किया, उसे निर्मलधारा—ज्ञानधारा कहते हैं। और पुण्य-पाप के विकल्प भी होते हैं, ऐसा बताते हैं। निश्चय से तो पुण्य-पाप के विकल्प से सम्यग्दृष्टि—अन्तरात्मा मुक्त है। समझ में आया?

परन्तु ऐसा भाव वहाँ होता है, उस भूमिका में शुभ और अशुभभाव (होता है), इससे कहते हैं कि शुभाशुभभाव की प्रकृति मैलरूप स्वभाव है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यद्रव्य, उसका अनुभव, उसकी दृष्टि, उसका स्वभाव निर्मल है। दोनों के स्वभाव भिन्न हैं और '**न्यारी-न्यारी धरनी**' दोनों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। '**धरनी**' अर्थात् अस्तित्व। आत्मा वस्तु अखण्ड शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अनुभव की सत्ता भिन्न है और पुण्य-पाप के अस्तित्व के विकल्प की सत्ता स्वभाव से भिन्न है। वापस ला दिया यहाँ। अन्तरात्मा को दो धारा कही सही। आहाहा! समझ में आया? धर्म की बातें महँगी और मूल्यवान हैं। मूल्यवान है, भाई! कीमती चीज़ है यह! जगत के समक्ष कुछ.... यह तो जिसका मूल्य नहीं, ऐसी चीज़ है। उसे समझने के लिये तो अनन्त... अनन्त... स्वरूपसन्मुख पुरुषार्थ चाहिए। यह कहीं बेमतलब का करे और मिल जाये, दया-

दान-व्रत-भक्ति-पूजा करे और आत्मा प्राप्त हो—ऐसा वह नहीं। ऐसा उस आत्मा का स्वभाव ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि एक आत्मधारा। आत्मा तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसके सन्मुख की दशा, वह तो आत्मधारा—निर्मलधारा—स्वभावधारा है। दो का स्वभाव भिन्न है। पुण्य-पाप के (भाव) विभावधारा—मैलधारा—दुःखधारा—जहरधारा है। समझ में आया? आत्मा के चैतन्यस्वभाव की धारा, वह पवित्र है, उसकी सत्ता भिन्न है और पुण्य-पाप के विकल्प की वृत्ति उठे, उसका अस्तित्व—सत्तापना—उसकी भूमि भिन्न है। वाडीभाई! गजब मार्ग ऐसा! लोगों को ऐसा लगे... उसकी जाति की महिमा की खबर नहीं। कैसा भगवान है? यह तो बाहर की क्रियाकाण्ड को मात्र धर्म मानकर बैठे, मिथ्यात्व को पोषण करे (और मानता है कि) हम धर्मी हैं। क्या हो? और ऐसी बात जगत को सुहाये भी सही। ऐसे प्ररूपक मिले। पण्डितजी! ऐसे पण्डित मिले उसे वैसे ... यह बात बराबर। यह समयसार में तो ऐसा कहते हैं और वैसा कहते हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा-बूजा, वह धर्म नहीं। यह बात हमको बैठना कठिन।

यहाँ कहते हैं, बापू! भगवान तो महा पवित्र पुण्य-पाप के राग को स्पर्शा भी नहीं, ऐसी चीज़ है। देखो न, सत्ता भिन्न कहते हैं न! आहाहा! भाई! तुझे खबर नहीं। जैसे अजीव की सत्ता—अस्तित्व जीव की सत्ता से भिन्न चाल—गति है। उसी प्रकार भगवान आत्मा के स्वभाव की सत्ता—अस्तित्व, उससे पुण्य दया-दान-व्रत परिणाम की धारा—सत्ता, चाल—गति भिन्न है। आहाहा! समझ में आया? दोनों की प्रकृति न्यारी और दोनों की धरनी (सत्ता) न्यारी, ऐसा। धरनी अर्थात् सत्ता, धरना। यह आत्मा धारता नहीं, ऐसा निश्चय सिद्ध करते हैं, भाई! आहाहा! परन्तु होता है, वह सत्ता भिन्न। समझ में आया?

'दुहूंकी प्रकृति न्यारी न्यारी-न्यारी धरनी' दोनों की धरनी—भूमिका—सत्ता न्यारी है। यह दया-दान-व्रत-भक्ति के, पूजा के भाव का अस्तित्व—उनकी सत्ता न्यारी है। भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप का आश्रय लेकर अन्तरात्मा हुआ, उसकी ज्ञानधारा—शुद्ध वृत्ति—परिणति धारा अत्यन्त आनन्दमय (है, इसलिए) उसका स्वरूप भिन्न है। दोनों की सत्ता ही भिन्न है। ओहो! शुद्धता का होना और अशुद्धता का होना—दो सिद्ध

किये। आठ कर्म नाश न हो, तब तक ऐसी दो धारा है, परन्तु दो का स्वभाव भिन्न और सत्ता भिन्न है। समझ में आया? जैसे अजीव का अस्तित्व और स्वभाव भिन्न है, वैसे यह पुण्य और पाप के शुभ-अशुभ विकल्पों का स्वभाव और सत्ता भिन्न है। क्योंकि वह आस्रवतत्त्व है। समझ में आया?

मूल तो यहाँ '**विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः**' है न पाठ में? वह शब्द इसमें नहीं आया। पद्य में लिखा हुआ है... उसमें विवाद है। भाई! '**न क्षतिः**' है न? ऐसा कि विरोध नहीं। परन्तु दिक्कत नहीं, इसका अर्थ ऐसा करते हैं वे कि इस शुभभाव को कुछ विरोध नहीं तत्त्व के साथ। (ऐसा) कहते हैं। मूल ऐसा नहीं। भगवान! सम्यग्दर्शन-ज्ञान के भाव में जैसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान का विरोध है, अर्थात् कि (दोनों साथ में) नहीं हो सकते। ऐसा यहाँ नहीं है। अर्थात् कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान की धारा होती है और रागधारा नहीं होती, ऐसा नहीं है। इसका अर्थ 'न क्षति' कहा है न। '**न काचित्क्षतिः**' अर्थात् कि दोनों को विरोध नहीं। विरोध नहीं अर्थात् कि एक साथ रहने में दिक्कत नहीं। विरोध नहीं का अर्थ ऐसा नहीं कि शुद्धभाव और शुभभाव—दोनों एक जाति है। ऐसी वहाँ विरोध की बात नहीं। भारी बात, भाई! सर्वत्र ऐसा चलता है यह तो। सर्वत्र ऐसा चलता है।

मुमुक्षु : ऐसा ही चलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही चलता है। आहाहा!

कहते हैं, प्रभु! तेरा स्वभाव जो अन्तरात्मा को प्रगट हुआ, वह धारा है, वह पवित्र धारा है। उस धारा के साथ व्यवहार का होना, रहना, इन दोनों को क्षति नहीं अर्थात् कि यह (ज्ञानधारा) हो (तो) यह (राग) न हो, ऐसा नहीं है। वह हो। जैसे सम्यग्दर्शन हो, वहाँ मिथ्यादर्शन नहीं होता। उसी प्रकार जहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान हो, वहाँ रागधारा नहीं हो, ऐसा नहीं है। सेठीजी! आहाहा! करने की चीज़ यह है। आहाहा! अभी समझ में आवे नहीं (कि) क्या चीज़ क्या है? यहाँ तो भगवान... देखो, यहाँ तो दो पृष्ठ भरे हैं कलशटीका में। बड़े.... बात सच्ची है।

कहते हैं, कितने ही ऐसा मानते हैं कि यह पंच महाव्रत आदि यति की क्रिया

धर्म है। ऐसा नहीं है, वह धर्म नहीं है। ऐसा कि सम्यग्दृष्टि की क्रिया, वह भले अशुभ आदि हो तो ठीक, परन्तु मिथ्यादृष्टि यति की शुभ क्रिया है, वह तो धर्म है। ऐसा नहीं है। वह शुभ क्रिया दया, दान चाहे तो सम्यग्दृष्टि के हों या चाहे तो मिथ्यादृष्टि के हों, (वह धर्म नहीं है)। बसन्तलालजी! समझ में आया? आहाहा! यह तो धीरज का व्यापार है बापू! शान्ति के सागर में जाना है अन्दर, उसे बीच में अशान्ति आती है, परन्तु उसे 'विरोध नहीं' का अर्थ, स्वभाव है तो विरोध, सत्ता भिन्न कही और स्वभाव भिन्न कहा, परन्तु वह आत्मा के ज्ञान-दर्शन, शान्ति को, वह राग है, इसलिए यह शान्ति न हो—ऐसा नहीं है। पण्डितजी! आहाहा! यह पद्य है न, इसलिए सब अर्थ इसमें नहीं आते। इस पद्य का विवाद है पूरा।

'**कर्मज्ञानसमुच्चयोपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः**' ऐसा कहते हैं। विरोध नहीं। आत्मधर्म भाव और शुभभाव दोनों को विरोध नहीं, दोनों अनुकूल है। अरे भगवान! मार्ग तो भारी अलग। उल्टे अर्थ करने में भी ऐसा....

मुमुक्षु : दोनों साथ रह सकते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस इतना। परन्तु दोनों को है तो विरोध। स्वभाव और विभाव—दोनों को तो विरोध है। परन्तु साथ रहने में विरोध नहीं। जैसे सम्यग्दर्शन और मिथ्यात्व को (साथ में) रहने में विरोध है। सम्यग्दर्शन हो, वहाँ मिथ्यात्व नहीं होता। समझ में आया? इसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य आत्मा पवित्रधाम का स्पर्श हुआ अर्थात् कि अनुभव हुआ। यह अनादि का पुण्य और पाप के विकल्प का स्पर्श और अनुभव था। वह कहीं अनादि का कुछ पर को स्पर्श, अनुभव नहीं करता था। शरीर को, वाणी को, पैसे को, दाल-भात को—उसे स्पर्श नहीं करता था। वह करता था यह कि पुण्य और पाप के विकल्प की जाति के मैल का स्पर्श और अनुभव करता था। वह संसारी मिथ्यादृष्टि है। बसन्तलालजी! आहाहा!

अब धर्मी हुआ तब... धर्म कैसे हुआ? कि पुण्य और पाप के विकल्प से अन्दर भगवान की जाति भिन्न है। ऐसी चीज़ को जहाँ स्पर्श किया, अनुभव किया तो उसकी पर्याय में शुद्धतारूपी आनन्द और शान्ति की धारा पर्यायरूप हुई। उस अनुभव के काल

में भी अथवा निरन्तर शुद्ध परिणति के काल में भी दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के विकल्प की अस्ति होती है। उसे—व्यवहार को और शुद्ध परिणति को विरोध नहीं कि राग हो तो शुद्ध परिणति चली जाती है। इतनी बात है। समझ में आया? अरे! अन्तर के पंथ में जाने की इस बात को मेल करना हो इसे, तो ऐसे कहीं मेल हो? कि शुभराग से आत्मा को लाभ हो, ऐसा इसने कहा है, दो का विरोध नहीं। शुद्ध और शुभ को विरोध नहीं। शुद्ध और अशुभ को विरोध है, ऐसा (अज्ञानी) कहता है। सेठी! आहाहा!

प्रभु! तू भूला है, हों! दीवार भूला कहते हैं न! भाई! तेरी धारा तो पवित्र होनी चाहिए। वह पवित्र कैसे (हो)? कि आत्मा स्वयं वस्तु ही शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... निर्मल... निर्मल... निर्मल... है। ऐसे निर्मल आत्मा को अनुभव करने पर अर्थात् उसे अनुसरकर होनेवाले शुद्धता के आनन्द के स्वभाव को अनुसरकर दशा हो, उसे ज्ञानधारा—आत्मधारा—धर्मधारा—मोक्ष के कारणरूपी मोक्षमार्गधारा कहा जाता है। उस काल में उसे शुभाशुभ कर्मधारा होती है। शुभाशुभ कर्म शब्द से (आशय है) परिणाम। समझ में आया? धर्मी जीव को धर्म का अथवा धर्मी ऐसा आत्मा का भान होने पर धर्मदशा प्रगट होती है, उस काल में उसे पुण्य-पाप के विकल्प भी साथ में होते हैं। दोनों को साथ में रहना, वह विरोध नहीं। भाव विरोध है। समझ में आया?

'दुहूंकी प्रकृति न्यारी न्यारी-न्यारी धरनी, इतनौ विसेस जु करमधारा बंधरूप' देखो अब। सम्यग्दृष्टि जीव को भी जितने शुभ और अशुभ के भाव होते हैं, वे बन्धरूप हैं। एक ओर कहा कि सम्यग्दृष्टि को बन्ध ही नहीं। भाई! सम्यग्दृष्टि व्यवहार से मुक्त है। वह अपेक्षा बराबर है। परन्तु उसकी पर्याय में निर्बलता के कारण से होनेवाले शुभाशुभभाव (कि जो) इस (चैतन्य) सत्ता से भिन्न होने पर भी एक धारा बहती है कि जिसका फल बन्ध है। सम्यग्दृष्टि और सम्यक्ज्ञान के परिणाम का फल बन्ध है नहीं। समझ में आया? धर्मी जीव को शुद्धस्वभाव भगवान अभेद एकरूप की जो दृष्टि और ज्ञान तथा लीनता हुई, वह बन्धरूप नहीं। क्योंकि धर्मी को वह बन्धरूप भाव उसका नहीं। तथापि धारा ऐसी होती है। शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं (परन्तु) वह बन्ध है। उस ज्ञानी को वास्तव में तो बन्ध नहीं। वह तो प्रकृति का बन्ध है। वह धारा फिर अलग ली। ऐसा मिलाकर फिर कहा कि सम्यग्दृष्टि को दो धारा होती है। आहाहा!

एक ओर कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को व्यवहार से मुक्तपना है।

मुमुक्षु : उसे बन्ध ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से मुक्त है, फिर बन्ध कैसा? क्या अपेक्षा है? उसकी दृष्टि की धारा में और उसके परिणमन में बन्धभाव नहीं है। क्योंकि ध्येय जो द्रव्य है, उसका जो ध्यान, वह ध्यान ही है, वह तो निर्मल है, अबन्धपरिणामी है। वस्तु जैसे अबन्ध है, वैसे उसका भाव—परिणाम प्रगट होने पर वह तो अबन्धपरिणाम है। द्रव्य अबन्ध, गुण अबन्ध और परिणाम अबन्ध—तीनों अबन्ध परिणाम हैं। यह सम्यग्दृष्टि का सत्ता का अस्तित्व और स्वामीपना है। कहो, भीखाभाई! गजब भाई ऐसा! तथापि आठ कर्म का अभाव जब तक न हो, तब तक उसे कर्मधारा—पुण्य और पाप के विकल्प की व्यवहार विभावधारा—नहीं सुहाती परन्तु धारा—दु:खरूप धारा—नहीं रुचती ऐसी भी धारा—उसे आती है। समझ में आया?

'**इतनौ विसेस**' साथ में दो है और उसमें विशेष क्या कहते हैं? है साथ में, परन्तु विशेष क्या? स्वभाव भिन्न, सत्ता भिन्न। अन्तर क्या है तब अब? यह तो अन्तर कहा इतना। जितना दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा का विकल्प राग समकिती की भूमिका की मर्यादा में भिन्नरूप से दिखता है, वह बन्धरूप धारा है। प्रकाशदासजी! पहले सुना नहीं कभी इन्होंने। यह तो मार्ग भगवान! तेरा ही है। यह कहीं पक्ष का नहीं। यह कोई वाड़ा का मार्ग नहीं कि हमारा मार्ग ऐसा और तेरा मार्ग ऐसा। यह तो वस्तु जो आत्मा है, महा प्रभु है पूर्णानन्द कृतकृत्य परमेश्वरस्वभावी, उसे करना ऐसा कुछ नहीं वस्तु के स्वभाव में। ऐसा जो वस्तु का स्वभाव है, ऐसा भान होने पर जो परिणमन होता है, वह परिणमना—करना भी नहीं जिसे। क्योंकि परिणमता है, उसे परिणमना, ऐसा कहाँ आया? क्या कहा?

परिणमे, वह तो उसका धर्म है। वस्तु अखण्ड आनन्दस्वरूप प्रभु, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई, अब उसकी दृष्टि हुई तो परिणमना, वह तो उसका—पर्याय का स्वभाव है। परन्तु परिणमूँ और परिणमन करूँ, मोक्षमार्ग की पर्याय करूँ—यह भी उसमें नहीं रहता। तो फिर यह दया, दान के विकल्प को करूँ, वह तो कहाँ रहे? भाई! परन्तु आ

जाते हैं, होते हैं, ऐसा कहते हैं यहाँ। ऐसा मार्ग है, बापू! क्या हो? यह किसी का नहीं। तेरी जाति में ही ऐसा है धारा, समझे तब।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्बन्ध हो, एक ओर रखो। निमित्त का उदय (का) यहाँ काम नहीं। उसकी पर्याय में शुभभाव होता है, इतना।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त का यहाँ काम नहीं है, उसका काम नहीं। यहाँ तो उसकी पर्याय में निर्मलता है, वह उसकी और मलिनता (एक) दूसरी धारा है, (वह) कर्म की नहीं परन्तु अपने विकार की धारा बहती है, ऐसा कहते हैं। कर्म के अस्तित्व में नहीं, कर्म की नहीं, जड़कर्म की नहीं। आहाहा!

पुण्य और पाप का विकल्प है, होता है, धर्मी को होता है। धर्मी को होता है, ऐसा कहना, वह व्यवहारनय का कथन है। क्योंकि धर्मी को तो व्यवहार नहीं तो (विकल्प उसका) कहना... यह पूरी शैली ही ऐसी है, भाई! कथन की शैली ऐसी है शास्त्र की कि उसे समझाना हो उसकी धारा... क्या कहे? कि ज्ञानी को राग होता है। ज्ञानी को भी दया, दान का राग होता है। एक ओर ऐसा कहना कि ज्ञानी राग और व्यवहार से भिन्न पड़ा हुआ है। राग उसे होता नहीं। उसे होती है निर्मलधारा। होती है, हों! इस प्रकार से। दृष्टि की सत्ता बदल गयी। ऐसे पर्याय में रमता था, (तब) मिथ्यात्व था। वह द्रव्य में गया, (मिथ्यात्व) समाप्त हो गया। जैसे परिणमन है, वैसे परिणमन चालू है। भीखाभाई! ऐसा मार्ग है, बापू! सहजात्मस्वरूप सहजस्वरूप। आहाहा!

कहते हैं, यह कर्मधारा.... '**अंतरातमामैं धारा दोइ**' ऐसा कहा। भाषा ली है न। यह क्या कहना परन्तु? समझाना कैसे? उसके साथ सत्ता भिन्न वर्तती है। वह दूसरे की नहीं, दूसरे में नहीं, इसकी पर्याय का एक भाग वहाँ दूसरा वर्तता है। एक पर्याय निर्मलधारा की और एक वह की वह पर्याय का आधा भाग। अरे.. अरे!

मुमुक्षु : मिश्र पर्याय।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिश्र है न। आहाहा! तो भी ऐसा कहा जाता है। वास्तव में तो

निर्मल पर्याय, वही जीव की है। अन्य तो पुद्गल की है। पुद्गलपिण्ड विभाव की है। समझ में आया? कर्म अर्थात् राग, ऐसा। कर्म अर्थात् जड़धारा, ऐसा नहीं। राग। रागधारा, वह कर्मधारा कहो या अचेतनधारा कहो। वह चैतन्य ज्ञायकमूर्ति और यह चैतन्य का अंश, उसमें राग कहाँ आया? आहाहा!

छठवीं गाथा में कहा नहीं कि (आत्मा) क्यों प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं? कि शुभाशुभभाव से परिणमा नहीं, इसलिए नहीं। किस प्रकार परिणमे? वस्तु किस प्रकार (परिणमे)? शुभाशुभभाव राग में चैतन्य का अंश नहीं, वह तो अचेतन—अजागृत भाव है। जागृत ऐसा भगवान आत्मा अजागृतभाव से हो कैसे? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? इसलिए भगवान आत्मा में प्रमत्त-अप्रमत्त भाव है ही नहीं। हो, तो (भी) उसमें नहीं, ऐसा सही। नास्ति। उसमें है, ऐसा नहीं। आहाहा!

अर्थ किया है न भाई पण्डितजी ने कि शुभाशुभभाव से परिणमता नहीं अर्थात् कि ज्ञायक जड़ होता नहीं, ऐसा कोष्ठक में डाला है। कोष्ठक करके। टीका में वह नहीं है। स्पष्टीकरण किया है। यह बात बराबर है। क्योंकि आत्मा वस्तु है, वह तो ज्ञानप्रकाश का पूर है। अकेला ज्ञायक प्रकाश का सत्त्व और तत्त्व है। वह ज्ञायकतत्त्व, पुण्य और पाप के विकल्प जो अज्ञायक है, जिसमें चैतन्य का अंश नहीं, उस रूप कैसे हो वह? समझ में आया? गजब भाई ऐसा धर्म! वह तो हो-हा हो, फराफर दो-दो लाख लोग हों, पाँच लाख खर्च करे, यात्रा निकले, हो-हा... तम्बू चले, भगवान की मूर्तियाँ साथ में चले, तब तो धर्म दिखाई भी दे।

मुमुक्षु : धर्म मूर्ति में है? राग में है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे बापू! धर्म क्या है? वह तो अन्तरगम्य की सूक्ष्म में गहरे उतरने पर प्रगट होता है, वह धर्म है। यह बाहर में भटकने में धर्म था? समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, कर्मधारा तो बन्धरूप है, पराधीन है। पराधीन का अर्थ, राग पर-आधीन है, वह कहीं स्व-आधीन दशा नहीं। शुद्ध से अशुद्ध हुई, वह पराधीन दशा कहलाती है। पर उसे आधीन करता है, ऐसा नहीं। राग के आधीन हो जाये, ऐसी पराधीन

दशा है। समझ में आया? अच्छी तरह से नहीं समझ में आया, ऐसा कहते हैं। सेठिया है न। कहते हैं, पुण्य-पाप के विकल्प स्वाधीन अर्थात् स्व-आश्रय से नहीं हुए हैं, ऐसा कहते हैं। निमित्त के आधीन हुआ है। निमित्त ने किया (नहीं) या निमित्त के कारण से नहीं। निमित्त के आधीन होकर पराधीनदशा उत्पन्न होती है। समझ में आया? है तो स्वतन्त्र, यह अभी सिद्ध नहीं करना। उसकी पर्याय में षट्कारकरूप से विकार स्वतन्त्र निमित्त की अपेक्षा बिना (होता है)। समझ में आया?

पराधीनता—आस्रव आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने की चीज़ नहीं। पराश्रय से उत्पन्न होनेवाला... आश्रय क्रिया पर्याय ने, पर से नहीं। खुद की पर्याय (से)। कहो, हिम्मतभाई! ऐसा धर्म ... भारी निकला। ऐसा धर्म... इसकी अपेक्षा सामायिक-प्रौषध करते। लो, ...भाई करते, सामायिक करते, प्रतिक्रमण करते। पर्यूषण में आये थे... (संवत्) १९९१ में हीराभाई के मकान में। ऐसे सीधा-सट्ट... बारह महीने के अपवास करो.... यहाँ तो कहते हैं कि वह प्रतिक्रमण का विकल्प कर्मधारा है। वह आत्मधारा नहीं। आहाहा! सर्वत्र ऐसा ही चलता है। क्या करे? जहाँ जाति की जाति देखी नहीं, उसकी क्रीड़ा अनादि से, नौवें ग्रैवेयक गया तो भी एक समय की पर्याय में रमा था। पर्याय के पीछे कौन है, उस चीज़ के सन्मुख देखने की उसने दरकार नहीं की। मर गया महीने-महीने के अपवास, बारह-बारह महीने के अपवास (करके)।

'यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यौ, वनवास रह्यौ, मुख मौन रह्यौ, दृढ आसन पद्म लगाय रह्यौ।' परन्तु यह सब पर्याय की क्रीड़ा। वस्तु क्या है, वहाँ गर्दन रखी नहीं और वहाँ नजर की नहीं। और उस निधान की नजर बिना उसके सब अधर्म निकले अकेले। पण्डितजी! तब यह स्पष्टीकरण किया। उसे पुण्य-पाप भले हो, परन्तु धर्मी को तो आता है या नहीं? उसे कुछ लाभ है या नहीं? ऐई! व्यापार-धन्धे के अशुभ विकल्प तो भले न हो, परन्तु दया-दान-भक्ति-व्रत-वांचन-श्रवण-मनन। यह पाँच-पाँच घण्टे आठ-आठ घण्टे तक हाथ में से पुस्तक छोड़े नहीं, स्वाध्याय करे। यह अखबार में आया था, स्वाध्याय करते हुए कोई पण्डित मर गया। कुछ नाथ था। पण्डित किशोरीलाल है कोई। .... हार्टफेल।

यह समकिती... अज्ञानी फेल हो गया अनादि से ऐसा का ऐसा। आहाहा! पर्यायबुद्धि, यह पुण्य के दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वे मेरे और वह मेरा कर्तव्य, फेल हो गया। आहाहा! इस फेल की उसे खबर नहीं। वह हार्टफेल... आहाहा! पूरा मुर्दा माना है, तूने चैतन्य को, सुन न! यह विकल्प है, वह तो मुर्दा—अचेतन है। चैतन्य भगवान सच्चिदानन्द प्रभु निराला है। समझ में आया? ऐसे आत्मा को अन्तरात्मा को भी... भाषा क्या कहे? उसमें अन्तरंग धारा वर्तती है। परन्तु ... रागधारा वह आत्मा की नहीं, उससे भिन्न है न! उसमें नहीं, उसकी सत्ता में नहीं और वह उसका स्वामी (नहीं)। उसकी पर्याय में एक पर्याय (-भाग) अभी पूरा पराधीनरूप से काम करता है, उसका उसे ज्ञान कराते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....उपयोग की कमजोरी है....

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य का आश्रय पूर्ण नहीं है, इतना पर का आश्रय उसमें आ जाता है। आहाहा! समझ में आया?

'इतनौ विसेस जु करमधारा बंधरूप' यह समकिती के लिये भी है। यह अन्तरात्मा की बात है न। कोई कहे कि यह तो फलाने को बन्धरूप है। परन्तु समकिती आदि कहते हैं यहाँ। सम्यग्दृष्टि क्षायिक समकिती, तीन ज्ञान—मति, श्रुत और अवधिज्ञान की भूमिका में पड़े हो, उसे भी शुभ और अशुभ विकल्प भाव बन्धरूप हैं। आहाहा! इसमें झगड़ा और कलकलाहट और वाद-विवाद करने से पार पड़े? बापू! इसमें तो मौन हो जाने की बात है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्धरूप है। यह कहा न, आ गया न पहले कि सम्यग्दृष्टि को राग से भिन्न कहा, बन्धरहित कहा। वह द्रव्यदृष्टि के जोर की अपेक्षा से कहा। परन्तु पर्याय की दृष्टि में, निर्बलता—कमजोरी है, वह उसमें होती है, ऐसा गिनकर उसको बन्ध है, ऐसा कहा। शान्तिभाई! ऐसा मार्ग है। आहाहा! कहाँ के कहाँ रुके बेचारे जंगल में। ...में कोई सुने नहीं, पुकारे जहाँ-तहाँ राग की क्रिया और यह क्रिया और यह क्रिया। आहाहा! अरे! तेरा रास्ता इसमें नहीं, कहते हैं। उस राग की क्रिया में तेरा रास्ता

नहीं। वह राग की क्रिया का रास्ता बीच में आ जाता है, कहते हैं, परन्तु वह बन्धरूप है। '**पराधीन सकति विविध बंध करनी**' जो-जो परिणाम जिस जाति के हैं, उस-उस प्रकार के अनेक प्रकार का बन्ध उसे होता है।

'**ग्यानधारा मोखरूप मोखकी करनहार**' अब दूसरी धारा। धर्मी की ज्ञान अर्थात् आत्मधारा... वह तो ज्ञान की प्रधानता से कथन है न! ज्ञानरूपी आत्मा... वह ज्ञान अर्थात् अकेला जानपना, ऐसा नहीं। यह कहेंगे बाद में। एकान्त ज्ञान... ज्ञान... करके ज्ञान का ध्यान जिसे अन्तर में नहीं, वह शुष्कज्ञानी अज्ञानी है। यह बाद में कहेंगे। अकेली क्रिया... क्रिया... क्रिया... दया, दान, व्रत, भक्ति (वह) धर्म, यह सब पागल (पना) है, विकल मिथ्यात्वरूपी जहर है।

'**ग्यानधारा मोखरूप मोखकी करनहार**' भगवान आत्मा शुद्ध स्वभाव त्रिकाली का आश्रय होकर जो ज्ञान और शान्ति, आनन्दसहित की निर्मल दशा प्रगट हुई, वह मोक्ष को करनहार है। वह ज्ञान तो मोक्षरूप पहले कहा। वह (राग) बन्धरूप, यह मोक्षरूप। समझ में आया? जो मोक्षरूप हो वह मोक्ष का कारण होता है। जो बन्धरूप हो वह बन्ध का कारण होता है, वह मोक्ष का कारण कैसे होगा? आहाहा! अभी जिसे समझने में भी बड़ी (गड़बड़), परलक्षी समझ में अन्तर। उसे उससे होता है, उससे होता है और उससे होता है, यह (मान्यता) सब रुलने का रास्ता है, भगवान! आहाहा!

ज्ञानधारा—धर्मी की धर्मधारा, वह तो मोक्षरूप है। क्योंकि वस्तु स्वयं अबन्धस्वरूप है। इसलिए अबन्ध कहो या मुक्तस्वरूप कहो। वस्तु स्वयं शक्तिरूप मुक्त त्रिकाल है। उसका जहाँ भान हुआ सम्यग्दर्शन-ज्ञान में, तो उस पर्याय को भी मोक्षरूप कह दिया। समझ में आया? '**ग्यानधारा मोखरूप**' मोक्षरूप। उसको बन्धरूप कहा था, इसे मोक्षरूप। दोनों का बँटवारा। '**मोखकी करनहार**' वह आत्मा का स्वभाव मुक्तरूप है, मुक्त ही है त्रिकाल। ऐसे त्रिकाली मुक्त भगवान को... अबद्धस्पृष्ट को देखो, ऐसा कहो या मुक्तस्वरूप को देखो, ऐसा (कहो), बात (एक ही है), शब्द में अन्तर है। समझ में आया?

(समयसार) १४वीं-१५वीं गाथा में कहा न अबद्धस्पृष्ट। भगवान आत्मा राग और कर्म के सम्बन्ध से रहित है, अबद्ध है अर्थात् कि मुक्तस्वरूप है। उस मुक्तस्वरूप

का जहाँ अन्तर्मुख में अनुभव हुआ, कहते हैं कि अनुभवधारा तो मोक्ष की करनेवाली है। स्वयं मोक्षरूप है और मोक्ष की करनेवाली है। समझ में आया? **'दोखकी हरनहार'** देखो! यहा तो जो व्यवहार रागादि है, उस दोष को टालनेवाली है। रखनेवाली नहीं, परन्तु टालनेवाली है। यह व्यवहार से समझाते हैं न? समझाने में क्या हो? टालनेवाली भी कहाँ है? वास्तव में तो ऐसा होता है वहाँ टल जाते हैं। परन्तु यह तो शैली ऐसी ही होती है। उपदेश की ऐसी ही शैली होती है। संक्षिप्त में कहना हो तो वाणी ऐसी ही होती है। वाणी ऐसी हो न, वाणी करे कौन? समझ में आया?

'दोखकी हरनहार' भगवान आत्मा के अन्तर में शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, वह मोक्षरूप है, मोक्ष का करणहार है, दोष का हरनार है, भवजल तारणहार है। **'भौ-समुद्र-तरनी'** भवजल के चौरासी के अवतार से तारनेवाली ज्ञानधारा है।

मुमुक्षु : ....दोष उत्पन्न ही नहीं होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो कथन ऐसा है। भाषा... उपदेश की शैली तो जैसे हो, वैसे आवे। समझ में आया?

'दोखकी हरनहार' यह दोष है, इसलिए हरो—ऐसा है? ऐसी ही आवे भाषा उपदेश की शैली में मर्यादा प्रमाण आवे। दोष की हरनहार, लो। यह दोष है। दोष के ऊपर नजर है और दोष टले? वह तो पर्यायबुद्धि हुई। स्वभाव का आश्रय लेने से दोष की उत्पत्ति नहीं होती, उसे दोष की हरनहार ज्ञानधारा कहा जाता है, इसलिए यहाँ उत्पाद यह होता है, वहाँ राग का व्यय होता है, ऐसा। ध्रुव तो है, वह है। समझ में आया? **'भौ-समुद्र-तरनी'** चौरासी के अवतार तिर गया। **संसार सागर को तारने के लिये नौका के समान है।** कौन? ज्ञानधारा।

यथायोग्य कर्म और ज्ञान से मोक्ष है। ११ कलश हुए ११। ११ कलश आया। अब १२वाँ कलश।

मुमुक्षु : यथायोग्य कर्म से मोक्ष....

पूज्य गुरुदेवश्री : यथायोग्य कर्म अर्थात् यहाँ क्या है? वह कहते हैं न। यहाँ तो **'ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च।'** ऐसा कि कर्म करता नहीं और

प्रमाद के वश होता नहीं। परन्तु इस शब्द में... यथायोग्य कर्म करे परन्तु ममता न करे, ऐसी बात है। पाठ ऐसा नहीं है। यह तो समझाने के लिये ऐसी शैली से समझाया जाता है। यह 'यथायोग्य कर्म करे' का अर्थ, उस भूमिका में ऐसे विकल्प आते हैं। आहाहा! क्या करे? इसमें पकड़े। यथायोग्य कर्म करे, लो। यथायोग्य व्यवहार को करे। व्यवहार करता होगा? करे तो निश्चय और व्यवहार एक हो गया, वह तो एक हो गया। सेठी! ऐसा है। शब्द को पकड़े तो काम न आवे। उसका भाव क्या है? ....

जाना, जाना, ऐसा कहा। नहीं कहा था एक बार? एक अंग्रेज था अंग्रेज यूरोपियन। वह कहे कि गुजराती सब जानता हूँ, सब जानता हूँ। 'साहेब! हम बालक गुजराती जानते हैं, इतना तुम नहीं जानते।' बहुत कहना रहने दो। तुम्हारे अंग्रेजी की बात करो। 'अरे जानते हैं।' एक बच्चे को बुलाया, 'ऐ बच्चा यहाँ आ।' पूछा कुछ, उसका उत्तर दिया। अरे! जाना-जाना। अर्थ करो। यह गुजराती है। कहे, जाना, जाना। बालक को पूछो कि क्या कहा मैंने? कि जाना-जाना अर्थात् नहीं जाना, ऐसा कहते हैं। ओय...! जाना, जाना दो (बार कहा) तो नहीं जाना, ऐसा कहते हैं। बालक ने ऐसा कहा। ऐसी बहुत मिथ्या बड़प्पन नहीं होती गुजराती भाषा के अर्थ में। तुम किस देश के, हम किस देश के।

मुमुक्षु : जाना, यह तो प्रश्नार्थरूप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठी! जाना-जाना। लो, करो अर्थ तब। जाना, जाना, दो बार जाना-जाना आ गया। ऐ, लड़के! क्या कहा मैंने तुझे? कि कुछ जानता नहीं, ऐसा कहा मुझे। लो, यह और ऐसा कहता है वापस। ऐ पण्डितजी!

इसी प्रकार शास्त्र की देशभाषा, आत्मदेश की भाषा और पर की भाषा, उसे विवेक करके समझना चाहिए। इसी प्रकार शास्त्र में यह भाषा आयी और (कहे कि) यह देखो, यथायोग्य कर्म करते हैं। यह तो उस भूमिका में ऐसा राग आता है। आता है। होता है, ऐसा कहना वह भी एकत्वबुद्धि हो जाती है वहाँ। बतलाने के लिये भाषा ऐसी बोले। अन्तरात्मा में है, ऐसा कहा न वहाँ? आत्मा में धर्मी को विकल्प होता है। ऐसा कहना, वह तो दो की एकता हो गयी, व्यवहार की और निश्चय की। विकल्प आता है, उसे धर्मी जाननेवाला रहता है। आहाहा! ऐसा वस्तुस्वभाव... मार्ग में।

मग्नाः कर्म-नयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यत्,
मग्ना ज्ञान-नयैषिणोऽपि यदति-स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं,
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च॥१२॥

★ ★ ★

काव्य - १५

यथायोग्य कर्म और ज्ञान से मोक्ष है (सवैया इकतीसा)

समुझैं न ग्यान कहैं करम कियेसौं मोख,
ऐसे जीव विकल मिथ्यातकी गहलमैं।
ग्यान पच्छ गहैं कहैं आतमा अबंध सदा,
बरतैं सुछंद तेऊ बूड़े हैं चहलमैं।।
जथा जोग करम करैं पै ममता न धरैं,
रहैं सावधान ग्यान ध्यानकी टहलमैं।
तेई भव सागरके ऊपर ह्वै तरैं जीव,
जिन्हिकौ निवास स्यादवादके महलमैं।।१५।।

शब्दार्थ:-विकल=बेचैन। गहल=पागलपन। सुछंद=मनमाने। चहल=कीचड़। सावधान=सचेत। टहल=सेवा। महल=मन्दिर।

अर्थ:-जो ज्ञान में नहीं समझते और कर्म से ही मोक्ष मानते हैं, ऐसे क्रियावादी जीव मिथ्यात्व के झकोरों से बेचैन रहते हैं। और सांख्यवादी जो सिर्फ ज्ञान का पक्ष पकड़ के आत्मा को सदा अबन्ध कहते हैं तथा मनमाने वर्तते हैं, वे भी संसार की कीचड़ में फँसते हैं। पर जो स्याद्वाद-मन्दिर के निवासी हैं, वे अपने पदस्थ के अनुसार कर्म करते हैं और ज्ञान-ध्यान की सेवा में सावधान रहते हैं, वे ही संसार-सागर से तरते हैं।।१५।।

काव्य - १५ पर प्रवचन

समुझैं न ग्यान कहैं करम कियेसौं मोख,
ऐसे जीव विकल मिथ्यातकी गहलमैं।
ग्यान पच्छ गहैं कहैं आतमा अबंध सदा,
बरतैं सुछंद तेऊ बूड़े हैं चहलमैं॥
जथा जोग करम करैं पै ममता न धरैं,

देखो! करे, आया यह तो शब्द की—पद्य की दशा में रचना है। '**जथा जोग कर्म करैं पैं ममता न धरैं।**' व्यवहारनय में ऐसा आता है। पंच महाव्रत करे—पाले, वह सब व्यवहार के कथन की शैली ही ऐसी होती है। देखकर चलना, विचारकर बोलना। क्या आता है शास्त्र में? ऐसा बोला जाये या नहीं बोला जाता तुझसे? व्यवहार की भाषा...

'**रहैं सावधान ग्यान ध्यान की टहलमैं, तेई भवसागर के ऊपर व्है तरैं जीव, जिन्हींकौ निवास स्यादवाद के महलमैं।**' ऐसा कि स्याद्वाद अपेक्षा से समझना चाहिए। एक ओर कहे, भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य का भान हुआ, उस धर्मी को राग और व्यवहार होता नहीं। दूसरी ओर कहना कि उसे राग होता है, वह बन्ध का कारण उसमें आये बिना रहता नहीं। जिस रीति से—अपेक्षा से कहा, उस रीति से उसे समझना चाहिए। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५८, चैत्र शुक्ल ३, सोमवार, दिनांक २९-३-१९७१
पुण्य-पाप एकत्व द्वार, पद १५, १६ और सार

यह नाटक समयसार, पुण्य-पाप एकत्व अधिकार। १५वाँ पद है।

समुझैं न ग्यान कहैं करम कियेसौं मोख,
ऐसे जीव विकल मिथ्यातकी गहलमैं।

कहते हैं कि आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव को तो जानता नहीं और '**करम कियेसौं मोख**' यह क्रिया करे दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा, इससे हमारी मुक्ति होगी, वह गहल—पागल (पना) है, कहते हैं। ''**समुझैं न ग्यान कहैं करम कियेसौं मोख,**' आत्मा पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है, ऐसा अन्तर स्वभाव चैतन्य का तो जानता नहीं और उसके स्वभाव से विरुद्ध क्रियाकाण्ड दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, नामस्मरण, यात्रा आदि, ऐसी क्रिया करने से हमारी मुक्ति होगी—ऐसा माननेवाला पागल है, मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? पुण्य-पाप का अधिकार है न! पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव—दोनों एक जाति के हैं। है न ऊपर? पुण्य-पाप एकत्व द्वार। दया करे, दान करे, व्रत पालन करे, तपस्या करे, अपवास, पूजा करे, भक्ति करे तो वह राग है और शुभभाव है तथा पाप के हिंसा, झूठ, चोरी, विषयवासना ऐसे पापभाव करे, तो भी पुण्य और पाप जाति एक ही है। उसमें दोनों में कोई धर्म है नहीं।

'**ऐसे जीव विकल मिथ्यात**' मिथ्यादृष्टि पागल—गहल है। कहो। क्या बराबर यह? जेठाभाई जैसे होशियार व्यक्ति कहलावे, वह सब करता था न!

मुमुक्षु : उल्टे रास्ते चढ़ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐ सेठी! देखो, यह सेठी तो मोटा—बड़ा सेठ कहलाता है। यहाँ तो कहते हैं कि हिंसा के भाव, झूठ के, चोरी के, विषय के, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग आदि, वह पापभाव और पर की दया पालना, पर की अहिंसा पालना, झूठ नहीं बोलना, सत्य बोलना, चोरी नहीं करना, ब्रह्मचर्य शरीर द्वारा पालना—ऐसा जो विकल्प भाव, परिग्रह नहीं रखना—ऐसा जो भाव, वह भाव सब शुभ है। शुभ और अशुभ दोनों कर्म हैं, दोनों आत्मधर्म नहीं।

समुझैं न ग्यान कहैं करम कियेसौं मोख,
ऐसे जीव विकल मिथ्यातकी गहलमैं।

मिथ्यात्व के झकोरे में बेचैन है, ऐसा कहते हैं। अर्थ में कहा है। भान नहीं कुछ, यह क्या करते हैं। माने धर्म और करता हो पाप अर्थात् पुण्य। ऐ भीखाभाई! प्रसन्न-प्रसन्न होकर करता हो वापस।

मुमुक्षु : क्या प्रसन्न हो? बापू! आपके कहने से प्रसन्न....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! एक बात। यह कर्मकाण्डी क्रियावादी की बात की। जिसे, आत्मा शुभ-अशुभ के विकल्प से भिन्न है, ऐसा भान तो नहीं और मिथ्यात्व के जोर में इस पुण्य की क्रिया को धर्म मान बैठा है।

'**ग्यान पच्छ गहैं कहैं आतमा अबंध सदा**' दूसरा ऐसा कहे कि आत्मा तो अबन्ध है, शुद्ध है। फिर आत्मा में अशुद्धता कैसी? ऐसा करके स्वच्छन्दता सेवन करे। आत्मा के ज्ञान में अन्तर अनुभव करना चाहिए, वह करता नहीं और जानपना इकट्ठा करके हम तो अबन्ध हैं, शुद्ध हैं, सिद्ध समान सदा ही हैं। हमारे कुछ जो कोई वृत्ति होती हो, वह जड़ की है, हमारे कुछ है नहीं।

मुमुक्षु : शास्त्र में ऐसा आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किसके लिये? किसके लिये? जिसे आत्मा शुद्ध चैतन्य का अनुभव हुआ है, दृष्टि जहाँ आत्मा पर पड़ी है और खजाना खिल गया है। आहाहा! जिसे दया, दान आदि विकल्प की वृत्ति से एकत्वबुद्धि टल गयी है, और स्वभाव के साथ एकत्वबुद्धि हुई है, उसे अन्तर में स्वभाव सन्मुख में घोलन चलता है। उसे फिर विकल्प आदि आवे (उसका) वह ज्ञाता है और दृष्टा है, आत्मा कर्ता (नहीं)। वह उसके लिये है। यह तो आत्मा का तो भान नहीं होता, स्वभाव-सन्मुख की दृष्टि नहीं, स्वभाव-सन्मुख का प्रयत्न नहीं, स्वभाव-सन्मुख का आचरण नहीं और मात्र यह पाप के भाव करे और हमारे तो अबन्ध है और हमारे ज्ञानी को कुछ बन्ध होता नहीं—ऐसा करके स्वच्छन्द सेवन करे तो वह भी भव में डूबा हुआ है।

'**ग्यान पच्छ गहैं**' ज्ञान पक्ष गहे, वस्तु नहीं। मैं ज्ञानस्वरूप चैतन्य हूँ, शुभ और

अशुभ का राग मुझमें नहीं—ऐसा अनुभव करे, प्रयत्न करे, अन्तर में रहे, सावधान रहे, उसके लिये यह बात नहीं। यह तो आत्मा अबन्ध है, सिद्ध समान है, हम तो सिद्ध जैसे हैं, अपने को कर्म के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं—ऐसा करके स्वच्छन्द सेवन करे। विषयवासना, भोग सेवन करे और कहे कि हमारे बन्ध है नहीं। पण्डितजी! गजब बात दोनों! एक शुष्क ज्ञानी है और एक क्रियाकाण्डी है। दोनों की बात ली है। कोई क्रियाजड़... आता है न? 'कोई क्रियाजड़ हो रहे, शुष्कज्ञान में कोई; माने मारग मोक्ष का, करुणा उपजे जोई।' पहले में कोई क्रियाजड़ हो रहे हैं, वे आये। आत्मा आनन्दस्वरूप है, यह दया, दान, भक्ति के विकल्प से भिन्न है, उसका भान नहीं और उस विकल्प की क्रिया—भक्ति करो, भक्ति करो, पूजा करो और यात्रा करो सम्मेदशिखर जाओ और यह गिरनार, सिद्धगिरि की यात्रा करो।

मुमुक्षु : इसका नाम स्वच्छन्द कहलाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वच्छन्द अर्थात् उसमें कुछ भान तो नहीं कि आत्मा क्या है? आत्मा के भान बिना वह स्वच्छन्दी शुभभाव को सेवन करता है। ऐसा करते हुए अशुभ भी उसे हो तो उसे उसकी दरकार नहीं। समझ में आया? आत्मा-सन्मुख का भान नहीं, स्वभाव-सन्मुख का प्रयत्न नहीं... कहेंगे आगे। '**मन्दोद्यमा**' समझ में आया? '**मन्दोद्यमा**' है। '**स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः**' ऐसा है न? दो शब्द प्रयोग किये हैं। अहो! भोग की, वासना की मिठास है, रति उठे उसमें जिसे प्रेम है और कहता है कि आत्मा अबन्ध है, शुद्ध है, इसलिए हमारे कुछ दिक्कत नहीं। मर जायेगा, कहते हैं, ...। '**अबंध सदा, बरतैं सुछंद तेऊ बूड़े हैं चहलमैं**' वह चौरासी के कादव में डूबेगा। समझ में आया?

यहाँ सांख्यमत सर्वत्र डाला है। यहाँ तो समुच्चय ज्ञानपक्ष (की बात की है।) ज्ञानपक्ष ग्रहता है, परन्तु ज्ञान का अनुभव ग्रहता नहीं, ऐसी बात है। समस्त गुणों की बात है।

मुमुक्षु : स्वच्छन्दता.... अशुभ में प्रवृत्ति है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अशुभ में भी है और शुभ करे तो वह स्वच्छन्दी ही है। दोनों स्वच्छन्दी हैं। स्वयं को ठीक लगे, वैसे चलते हैं, वे स्वच्छन्दी हैं। वस्तु का स्वरूप

कैसा है, ऐसा अन्दर अनुभव नहीं करता और उस ओर का प्रयत्न और पुरुषार्थ भी नहीं। मात्र आत्मा अबद्ध है, हमको कुछ बन्ध नहीं। ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु कहा है, इसलिए हमारे भोग में भी कुछ नहीं। मर जायेगा ... ! ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु कहा किसे ? जिसे आत्मा का आनन्द वर्तता है, उसे कोई विकल्प आया, उसमें स्वामीपना नहीं और अधिकपना आनन्द में वर्तता है। उसे यहाँ दृष्टि के जोर से, राग आया उसे खिर जाने का कारण कहते हैं। यह तो राग को सेवन करता है। राग को सेवन करे। ज्ञानी राग को सेवन नहीं करता। आहाहा! समझ में आया ?

'ग्यान पच्छ गहैं कहैं आतमा अबंध सदा' सदा अबन्ध ही है, ऐसा। हमारे कुछ लेप-बेप है ही नहीं। बात सच्ची, परन्तु वह दृष्टि का अनुभव करे उसे। समझ में आया ? दृष्टि के अनुभव की बात की खबर नहीं होती और आत्मा अबन्ध है, सिद्ध समान है, निर्लेप है, आत्मा को कुछ है नहीं।

मुमुक्षु : अभव्य का आत्मा अबन्ध नहीं होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु तो अबन्ध है ही वस्तुरूप से, परन्तु दृष्टि में कहाँ है ? अभव्य का आत्मा अबन्ध है, मुक्तस्वरूप ही है। आत्मा तो मुक्तस्वरूप ही है, अभव्य का हो या भव्य का हो। वस्तुरूप से मुक्त ही है। पर्याय के साथ कर्म के निमित्त का सम्बन्ध है। द्रव्य के साथ और गुण के साथ कुछ सम्बन्ध है नहीं।

मुमुक्षु : तो भी सब भूल किसलिए करते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भूल की है अन्दर, अबन्ध मानता है खोटा। दृष्टि कहाँ हुई है अबन्ध पर ? दृष्टि अबन्ध पर तो है नहीं। दृष्टि राग पर है और वह स्वच्छन्द सेवन करता है, ऐसा है। समझ में आया ?

'बरतैं सुछंद तेऊ बूड़े हैं चहलमैं' बनारसीदास, यह पद है न, इसलिए फिर मेल करने के लिये जरा ऐसा करते हैं। पाठ में ऐसा नहीं है। **'ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च'** ऐसा है वहाँ, नहीं ? धर्मी तो राग को करता भी नहीं। करता नहीं, आता है, उसे जानता है, अपने में राग से भिन्न रहकर (जानता है)। राग में पड़कर जानता है, ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा! लो, यह बात है यहाँ। बसन्तलालजी! यह

छह महीने का आया था न ? वह कहे, यह छह महीने का क्या है ? प्रश्न था। छह महीने में मिले आत्मा। अजीव का अधिकार है। अन्तर्मुहूर्त में (मिले), छह महीने क्या ? एक समय। ऐसे राग के ऊपर दिशा है दशा (की), वह ऐसा डालने से एक समय में मुक्त, एक समय में मुक्त।

अबद्धस्पृष्ट एक समय में, परन्तु दृष्टि जहाँ है, वहाँ से उठाकर, जहाँ नहीं वहाँ रखनी है न ! विद्यमान है, उसे अविद्यमान किया है और अविद्यमान वस्तु रागादि उसमें नहीं, उसे विद्यमान और प्रसिद्ध किया है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ? '**जथा जोग करम करैं**' ऐसा शब्द में है। परन्तु इसका अर्थ यह कि धर्मी शुद्धस्वभाव के भान में स्थिर नहीं रह सकता, वहाँ आगे उसे शुभराग विकल्प आता है, परन्तु आने पर भी कर्तृत्वबुद्धि नहीं है। समझ में आया ? '**जथा जोग करम करैं**' अर्थात् राग आता है, उसे जानता है, ऐसा। कर्तृत्व परिणमन भले हो, परन्तु परिणमन मेरा कर्तृत्व (है और) ठीक है, ऐसी बुद्धि नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ?

'**जथा जोग करम करैं पैं ममता न धरैं**' इसका अर्थ क्या हो गया ? कि राग के विकल्प आवे, परन्तु वे मेरे हैं, ऐसा उन्हें अनुभव में ले नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा ! समझ में आया ? धर्म तो आत्मा की सम्यग्दर्शन दशा है और उस दशा का ध्येय तो ध्रुव ध्येय है। ऐसा जहाँ पकड़ा वहाँ तो पवित्र परिणमन हो गया अकेला। आनन्द, शान्ति और स्वच्छता का परिणमन वह जीव का कर्तव्य है, भेद पाड़कर कहें तो। परन्तु राग का कर्तव्य जीव का है नहीं। दया, दान, व्रत, तपस्या का विकल्प धर्मी को आता है। आता है, करता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। होता है, ऐसा स्थापित करना, वह भी एक व्यवहार है। परन्तु आता है, उसे धर्मी जानता है, स्वच्छन्दता करके उसे सेवन नहीं करता। सेवन करता है आत्मा को। देखो आयेगा। **रहै सावधान...** धर्मी जीव तो राग के काल में और अशुभ के काल में भी सावधान है। राग हुआ, वह राग टालनेयोग्य है, इसलिए फिर टाले, ऐसा नहीं। राग के काल में भी धर्मी स्वरूप के सावधान में है। आहाहा ! गजब ऐसा धर्म ! कहो, अब वह धर्म गृहस्थाश्रम में रहे और हो तथा अधर्म नग्न मुनि रहकर हो, आहाहा !

आत्मा चैतन्य भगवान सहजात्ममूर्ति प्रभु की दृष्टि का तो भान भी नहीं, अनुभव नहीं, स्पर्श नहीं, आश्रय नहीं और मात्र व्यवहार का क्रियाकाण्ड करके माने कि हम धर्म करते हैं। यह तो कते हैं, विकल हुआ मिथ्यात्व में पागल है। आहाहा! दुनिया उसे चतुर कहे। राज का छोड़े, सब छोड़े, लो। करोड़ों की दुकान चलती हो। नग्न मुनि होकर जंगल में जाये, पंच महाव्रत पालन करे। परन्तु कहते हैं कि पंच महाव्रत का विकल्प है, वह राग है; वह धर्म नहीं। आहाहा! उसे धर्म मानकर वह पागल राग में डूबा है, इससे संसार में ही डूबा हुआ है। आहाहा! जिसे राग की एकता है, वह संसार में डूबा हुआ है और जिसे राग की एकता टूटकर स्वभाव में एकता हुई है, वह स्वरूप में सावधान है। राग आवे तो एकत्वबुद्धि होती नहीं, ऐसा कहते हैं। कठिन मार्ग, भाई! ओहोहो!

'**रहैं सावधान ग्यान ध्यानकी टहलमैं**' वह ज्ञान की सेवा में रहता है, कहते हैं। राग आवे उसकी सेवा नहीं उसे। आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप आत्मा और ज्ञान चैतन्य का सागर आत्मा है, उसकी सेवा में धर्मी रहता है। राग आवे, उसकी सेवा में नहीं, उसकी पृथक्ता के ज्ञान में वह है। समझ में आया?

'**जथा जोग करम करैं पैं ममता न धरैं, रहैं सावधान ग्यान ध्यानकी टहलमैं**' दो लिये। एक तो ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा में सावधान और उसमें ध्यान—वस्तु की स्थिरता—चारित्र लिया है। उसकी सेवा, वह भगवान आत्मा की सेवा। आ गया है न पहले? जीव अधिकार में आ गया है कि ज्ञान को आत्मा तो सदा सेवन करता ही है। ज्ञान और आत्मा कहीं भिन्न नहीं है और तुम कहते हो कि ज्ञान की सेवा करो, ज्ञान की सेवा करो। १९वीं (१७-१८) गाथा में आया है। 'महाराज! तुम कहते हो न कि आत्मा जो वस्तु है, वह तो ज्ञानस्वभाव का पिण्ड है। ज्ञान और आत्मा तन्मय—तादात्म्य है—एकरूप है। फिर उसे तुम कहते हो कि ज्ञान की सेवा करो—यह क्या?'

भाई! यह ज्ञान और आत्मा तद्रूप है। परन्तु उसके सन्मुख होकर उसमें एकाग्र नहीं तो ज्ञान की सेवा करता ही नहीं। ज्ञान और आत्मा—दोनों वस्तु तो एक ही है। चैतन्य का प्रकाश और आत्मा, वह तो एक है। परन्तु एक है किसे? जिसे राग से पृथक् पड़कर ज्ञान में एकाग्रता हुई है, उसे ज्ञान में एकाग्रता और आत्मा में एकाग्रता दोनों एक

ही प्रकार है। आहाहा! समझ में आया ? परन्तु आत्मा और ज्ञान एक—तादात्मरूप होने पर भी, राग की ही क्रिया के सेवन में पड़ा है, उसे आत्मा और ज्ञान एक है, ऐसी दृष्टि कहाँ है उसे ? समझ में आया ? वह तो राग और आत्मा एक है, ऐसा मानता है। इसलिए आत्मा ने ज्ञान की सेवा कभी की नहीं। ज्ञान की सेवा की नहीं, ऐसा कहा है। यह पर की सेवा तो कभी की नहीं इसने। राग और पुण्य-पाप के विकल्पों की सेवा इसने की है। कहो, समझ में आया ?

वह सेवा छोड़कर जिसने आत्मा सहजानन्द की मूर्ति सिद्ध परमात्मा... त्रिलोकनाथ तीर्थंकर जिसे स्वभाव सम्पन्न आत्मा कहते हैं, स्वभाववान कहो या स्वभाव सम्पन्न कहो। समझ में आया ? उसकी अन्तर में एकाग्रता से जो सेवन करे, रमे, उसे आत्मा की सेवा वह ज्ञान की सेवा कही जाती है। वह आत्मा की सेवा तो निर्जरा है। आहाहा! कहो, तू कर बंदगी। क्या कहा ? 'कर साहेब की बंदगी और दु:खी को टुकड़ा दे।' भाई कहते थे... नहीं ? क्या आता है ? टुकड़ा आता है न!

मुमुक्षु : कर साहेब की बंदगी, दु:खी को अन्न दे, कहे कबीर कमाल को, दो बात सीख ले।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो बात सीख ले। कहे कबीर कमाल को... (कमाल) उसके पुत्र का नाम। दो बात सीख ले, कर परमार्थ की बंदगी और दु:खी को टुकड़ा दे।

यह भगवान को ढुंकडो। ऐसी सादी भाषा इसलिए लोगों को अच्छा लगे। दे पर को टुकड़ो, प्रभु उसे ढुंकडो। ऐसे के ऐसे गहल-पागल हैं। उस पागल में गया पहला (क्रियावादी)। आहाहा! और दूसरे में है ज्ञान की बातें करनेवाला। अबन्ध है और शुद्ध है, चैतन्य है और राग से भिन्न है। उसका भान नहीं और भान बिना राग की सेवा करता है और अबन्ध है, ऐसा मानता है। अबन्ध हुआ है और अबन्ध माने तब तो हो। है राग के बन्ध में और मानता है अबन्ध। वह स्वच्छन्दी राग आदि की क्रिया करके वह भी डूबता है।

धर्मी तो '**रहैं सावधान ग्यान ध्यानकी टहलमैं**' सेवा, देखो! अपना स्वभाव जाननस्वभाव ज्ञानप्रकाश का पूर का नूर, उसकी सेवा।

मुमुक्षु : वह तो पर्याय हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानगुण त्रिकाल की बात है यहाँ। यह ध्यान (करे) वर्तमान पर्याय, परन्तु किसका? त्रिकाल का। ज्ञान का ज्ञान करके ज्ञान में एकाग्र होना उसका नाम ध्यान है। बीच में विकल्प आवे कि मैं ऐसा, मैं ऐसा, फलाना, परन्तु वह कोई ध्यान-ब्यान नहीं। '**तेई भवसागरके ऊपर व्है तरैं जीव**' लो। जो आत्मा अपनी निज निधि आनन्द और ज्ञान के स्वभाव का निधान तत्त्व, उसका अन्तर अनुभव करके, उसे अनुसरण करके दशा करता है और स्वभाव में सावधान रहता है, राग आवे, उसे एकत्वरूप से करता नहीं। '**तेई भवसागरके ऊपर व्है**' वह भवसागर से ऊपर है। वह भव में डूबनेवाला नहीं है। '**तेई भवसागरके ऊपर व्है तरैं जीव**' लो।

'**जिन्हिकौ निवास स्यादवादके महलमैं**' देखो! अपेक्षा से जाना ज्ञान। ज्ञानस्वभाव अबन्ध हूँ, उस वस्तु की दृष्टि से अबन्ध हूँ (और) पर्याय में अशुद्धता है।—ऐसी स्याद्वाद रीति से सब जाने। एकान्त माने नहीं। लो, वे कहे पर्याय में अशुद्धता नहीं। अशुद्धता कैसी? है न एक दिल्ली का शाहदरा का। कहो, समझ में आया? 'अशुद्धता पर्याय में नहीं, वस्तु में अशुद्धता नहीं। वस्तु में शुद्धता है परन्तु अशुद्धता नहीं। पर्याय में अशुद्धता है। ....घड़ीक में हाँ और घड़ीक में ना' ऐसा कहता है। सवेरे कहे कि आत्मा में राग नहीं। दोपहर को कहे कि राग की पर्याय आत्मा में न हो तो उसे दुःख होता नहीं। क्या पकड़ना इसमें? हमारे फावाभाई कहते थे, 'सवेरे एक पकड़ें वहाँ दोपहर में दूसरा आवे। उसमें हमारे निर्णय क्या करना?' बुद्धि स्थूल। आहाहा!

भाई! वस्तु तो है वह तत्त्वदृष्टि से—वस्तुदृष्टि से तो शुद्ध ज्ञानघन ही है। परन्तु इतना आत्मा को न मानकर, (साथ में) परमाणु (-संयोग) को मानना हो तो पर्याय के—अवस्था के भेद (सहित) है, राग है, अशुद्धता है—ऐसा इसे अपेक्षा से जानना चाहिए। राग का परिणमन होता है, वह मुझमें, मेरे कारण से होता है, ऐसा ज्ञानी को जानना चाहिए।

मुमुक्षु : वह पुद्गल के परिणाम हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पुद्गल के परिणाम किसके (लिये) कहे? वह तो

जिसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव के ऊपर है, उसके (लिये) कहते हैं पुद्गल के। अथवा वस्तु की अनुभूति करने पर अनुभूति में राग साथ में नहीं आता, इसलिए वह राग पुद्गल का है, ऐसा कहा जाता है, ऐसा है।

'अनुभूति से भिन्न है' ऐसा शब्द है न। सबमें ऐसा है। बात तो ऐसी ही है न! आत्मा शुद्ध ज्ञानघन के सन्मुख होकर जहाँ अनुभव करता है, वहाँ तो राग, कर्म, शरीर-बरीर कुछ होता नहीं उसमें। इसका नहीं, इसलिए फिर इसका है ऐसा कह दिया। निकाल गये, निकल गया, इसलिए इसका नहीं ऐसा कहा। इसलिए पुद्गल का है ऐसा कहा। जिसके निमित्त से हुए, स्वभाव के लक्ष्य बिना हुए, पर के लक्ष्य से हुए और अनुभूति से भिन्न हैं, इसलिए उसे पुद्गल के परिणाम कहा है। वह कहीं परमाणु नहीं। उसमें कहीं वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं। अरे गजब!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहा जाता है या नहीं? ऐई! चौदहवाँ गुणस्थान पुद्गल का, जीव नहीं। किस अपेक्षा से? अभेद चैतन्य के अन्तर सन्मुख जाने से—अनुभूति होने से—स्वभाव को अनुसरण करने से, परलक्ष्यी भाव उसमें आता नहीं, इसलिए उसका (आत्मा का) नहीं, इसलिए उसका (पुद्गल का) है, ऐसा कहकर निकाल डालना चाहते हैं। अजीव है, ऐसा कह दिया, लो। राग, वह अजीव है, अचेतन है, जड़ है। उसकी अपेक्षा से वस्तु है, आत्मा की अपेक्षा से अवस्तु है। आत्मा अर्थात् त्रिकाली स्वभाव, हों! परन्तु जब उसे प्रमाणज्ञान करना हो....

इसलिए नय का आया न वहाँ ४७ नय में। गणधर जैसे ज्ञानी चार ज्ञान के और चौदह पूर्व के धारक (हों), परन्तु राग का कर्तृत्वपना और परिणाम का भोक्तापना पर्याय में है, इतना ज्ञान जानता है। अपने अस्तित्व में इतना है, वह पर अस्तित्व के कारण से नहीं, ऐसा ज्ञान जानता है। ज्ञान त्रिकाल को जाने और ज्ञान पर्याय को जाने—दोनों को जाने। ज्ञान सविकल्पी है। सविकल्प अर्थात् विशेष प्रकार से जानने की समार्थ्यवाला।

मुमुक्षु : आत्मा को जाने और पर्याय को जाने?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय उसमें नहीं, ऐसा जाने। राग आदि उसमें नहीं।

मुमुक्षु : ऐसा पर्याय का ज्ञान करे.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें अन्दर होता है, करना है कहाँ ?

उसमें—अनुभूति में ऐसा आया, इसलिए अनुभूति की पर्याय प्रगटी, उसमें राग की पर्याय आती नहीं। उसमें सहज राग का अभाव है, ऐसा ज्ञान उसमें आ जाता है। ऐई! गजब ऐसा धर्म भारी सूक्ष्म! एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीन्द्रिया नहीं घातना... मिच्छामिदुक्कडं कर डालना। कुछ भक्ति कर डालना भगवान के सामने।

मुमुक्षु : भक्ति तो राग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सामने बैठाया न, अन्दर में कहाँ रखा है ? भगवान की भक्ति तो, यहाँ अन्दर में आनन्दस्वरूप भगवान है, उसकी एकाग्रता, वह भगवान की भक्ति है। यह भगवान की भक्ति शुभभाव होता है, परन्तु उसकी मर्यादा कितनी ? पुण्य बँधे उतनी।

और कहे कि पुण्य है, वह बन्ध है, हेय है, दोष है; धर्म नहीं। और वापस मन्दिर बनावे, यह करे, भक्ति करे, शास्त्र बनावे। लाखों शास्त्र... सात-आठ घण्टे... गाड़ी की गाड़ी आती है और गाड़ी की गाड़ी जाती है।

मुमुक्षु : वह तो पुद्गल की पर्याय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह एक व्यक्ति नहीं ? वहाँ मिला था न। बेचारा वह यहाँ ही आता है। एक है गरीब व्यक्ति। नाम होंठ पर नहीं। वहाँ कहीं मिला था। गये थे न कहीं ईसरी। ... वह वहाँ बेचारा करता होगा यह सब। अपने थैलियाँ रखी हैं यहाँ, वह पुस्तक ले जाये, दे जाये। अब यह धन्धा... परन्तु धन्धा तो धन्धे के कारण से होता है या आत्मा के कारण से होता है ? आहाहा! आत्मा या उसका द्रव्य में हो या उसके गुण में हो या उसकी पर्याय में हो। इसके अतिरिक्त आगे तो कहीं जाता नहीं। पुण्य-पाप के विकल्प में हो, या द्रव्य-गुण-पर्याय की शुद्धता में हो, इसके अतिरिक्त कहीं उसका अस्तित्व अन्यत्र तो कहीं रजकणमात्र बदलता नहीं, बदल सकता नहीं।

कहते हैं, '**जिन्हिकौ निवास स्यादवादके महलमैं**' देखो! **स्याद्वाद-मन्दिर के निवासी हैं।** अपेक्षा से ज्ञान से जानना चाहिए। त्रिकाल ज्ञायकभाव है, वह ध्रुव है, वही

निश्चय का विषय है और वही आश्रय करके अनुभव करनेयोग्य है। परन्तु पर्याय में— अवस्था में अशुद्धता है, उस पर्याय को जानना, वह भी व्यवहारनय का विषय है। व्यवहारनय के विषय को मेचक भी कहा जाता है, मलिन कहा जाता है। आहाहा! ऐसी वाणी! है, ऐसा स्याद्वाद से दोनों जानना चाहिए। १५वाँ (पद) हुआ। १३वाँ कलश अन्तिम पुण्य-पाप (एकत्व द्वार) का। १३वाँ कलश है।

भेदोन्मादं भ्रम-रस-भरान्नाटयत्पीत-मोहं,
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि,
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण॥१३॥

मूढ़ क्रिया और विचक्षण क्रिया का वर्णन। अज्ञानी की क्रिया और ज्ञानी की क्रिया का वर्णन।

★ ★ ★

काव्य - १६

मूढ़ क्रिया तथा विचक्षण क्रिया का वर्णन (सवैयाइ कतीसा)

जैसें मतवारौ कोऊ कहै और करै और,
तैसें मूढ़ प्रानी विपरीतता धरतु है।
असुभ करम बंध कारन वखानै मानै,
मुकतिके हेतु सुभ-रीति आचरतु है।।
अंतर सुदृष्टि भई मूढ़ता बिसर गई,
ग्यानकौ उदोत भ्रम-तिमिर हरतु है।
करनीसौं भिन्न रहै आतम-सुरूप गहै,
अनुभौ अरंभि रस कौतुक करतु है।।१६।।

शब्दार्थ:-मतवारौ=नशे में उन्मत्त। मूढ़ प्रानी=अज्ञानी जीव। बखानै=कहे। मानै=श्रद्धान करे। बिसर गई=दूर हो गई। उदोत=प्रकाश।

अर्थ:-जैसे कोई पागल मनुष्य कुछ कहता और कुछ करता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव में विपरीतभाव रहता है, वह अशुभ कर्म को बन्ध का कारण समझता है और मुक्ति के लिये शुभ आचरण करता है। पर सच्चा श्रद्धान होने पर अज्ञान नष्ट होने से ज्ञान का प्रकाश मिथ्या-अन्धकार को दूर करता है और क्रिया से विरक्त होकर आत्मस्वरूप को ग्रहण करके अनुभव धारण कर परमरस में आनन्द करता है।।१६।।

काव्य - १६ पर प्रवचन

'**जैसैं मतवारौ कोऊ कहै और करै और**' जैसे कोई पागल मनुष्य कहे कुछ और करे कुछ। '**जैसैं मतवारौ कोऊ कहै और करै और, तैसैं मूढ प्रानी विपरीतता धरतु है**' विपरीत श्रद्धा धरे, विपरीत मान्यता धरे और माने कि हम धर्मी और ज्ञानी हैं। मूढ़ है, कहते हैं। आहाहा! '**असुभ करम बंध कारन बखानै मानै**' अशुभ कर्मबन्ध को तो कारण जाने। '**बखानै मानै, मुकतिके हेतु सुभ-रीति आचरतु है।**' यह मूढ़ के लक्षण। अशुभ कर्म को बन्ध कहे, परन्तु बखाने—माने '**मुकतिके हेतु सुभ-रीति आचरतु है।**' यह दया, दान, व्रत, अपवास करना, वह मुक्ति का कारण है, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! समझ में आया?

'**जैसैं मतवारौ कोऊ कहै और करै और, तैसैं मूढ प्रानी विपरीतता धरतु है। असुभ करम बंध कारन बखानै मानै, मुकतिके हेतु**' कारण तो आया न दोनों में। '**असुभ करम बंध कारन**' उसे बन्ध का कारण माने, ऐसा। अशुभभाव को कर्मबन्ध का कारण माने। परन्तु '**बखानै मानै, मुकतिके हेतु शुभ रीति**' परन्तु मोक्ष का कारण... यह दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा—यह मोक्ष का कारण माने। (वह) मूढ़ है। आहाहा! समझ में आया? अज्ञानी है। उसे वीतरागमार्ग की कुछ खबर नहीं।

'**मुकतिके हेतु सुभ-रीति आचरतु है।**' देखो, **वह अशुभकर्म को बन्ध का कारण समझता है और मुक्ति के लिये शुभ आचरण करता है।** मोक्ष के लिये हम यह सब करते हैं। एक व्यक्ति कहता था, नहीं? जूनागढ़, नेमचन्दभाई थे, वीरचन्दभाई के भाई। कहा कि यह भगवान की पूजा-भक्ति है, वह शुभभाव है, राग है। (वह) कहे,

'हमारे कहाँ राग करना है? हम तो मुक्ति के लिये करते हैं।' (संवत्) २०९५ गये थे न वहाँ गिरनार की यात्रा। उतरे थे श्वेताम्बर की धर्मशाला में, वहाँ रात्रि में चर्चा हुई। जूनागढ़ थे। कहा, भगवान की पूजा, भक्ति भी शुभभाव है, (वह) धर्म नहीं, राग है राग। 'हमारे कहाँ राग चाहिए है? हमारे तो भक्ति करके मोक्ष जाना है।' लो, ठीक। अब उसे... ऐसे राग में आदतन हो गये न!

परन्तु तू यह भगवान के सामने (देखकर) जो भक्ति करता है, वह स्वयं राग है, सुन न! तुझे मुक्ति और वीतरागता चाहिए हो तो वह वीतरागता है? बड़ी उम्र के, हों ५० वर्ष के। वीरचन्दभाई के भाई, नहीं? वीरचन्द डॉक्टर के बड़े भाई। क्रिया तपस्या में वह क्या कहलाता है? तपगच्छ में टेक कहलाये। ऐसा बोलते, लो! गये थे यात्रा में। कहा, परन्तु भगवान की पूजा, भक्ति जो है न, वह शुभराग है। उसमें धर्म जरा भी नहीं। 'परन्तु हमारे कहाँ राग करना है? हमारे कहाँ राग चाहिए है?' परन्तु राग चाहिए नहीं, वह स्वयं राग है। पण्डितजी! भगवान के सामने देखकर स्तुति करने बैठा, वह स्वयं राग है।

मुमुक्षु : यह खबर ही पड़ती नहीं कि वह राग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें कहाँ राग आया? राग तो दुकान में बैठे हों, स्त्री के पास बैठे हों, धन्धा करता हो—तो वह राग कहलाये। यहाँ तो भगवान की भक्ति करने बैठे दुकान का धन्धा छोड़कर। कहो, दुकान में बैठा है या घर में बैठा है? मन्दिर में बैठा हो।

मुमुक्षु : भले मन्दिर में भगवान के पास बैठा हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं भगवान वहाँ, सुन न! भगवान तो यहाँ अन्दर है, उसकी तो तुझे खबर नहीं। उसकी खबर हो, भान हो और फिर ऐसा शुभभाव हो। जानता है कि यह वस्तु इस काल में इसे होती है। जानता है, अन्तर आदरणीय मानता नहीं। आहाहा! व्यवहार से है, यह मानता है। कठिन काम, भाई! शास्त्र वाँचन करना, सुनना, वह शुभभाव है, लो। तो कहे कि शुभभाव कहे, (उसे) छोड़ने का कहे और शास्त्र सुनावे और शास्त्र वाँचे। परन्तु (राग) आवे, वह अलग बात है और आदरणीय है, वह अलग बात है। आहाहा! कठिन काम!

'अंतर सुदृष्टि भई मूढ़ता बिसर गई' अब सुलटा लिया। वह अज्ञानी लिया (था)। मुक्ति के लिये शुभ को हेतु मानता है। **'अंतर सुदृष्टि भई मूढ़ता बिसर गई, ग्यानकौ उदोत भ्रम-तिमिर हरतु है' पर सच्चा श्रद्धान होने पर अज्ञान नष्ट होने से... 'अंतर सुदृष्टि'** आत्मा परिपूर्ण आनन्दस्वरूप सदृश एकरूप अखण्ड परमात्मा स्वयं है, ऐसी अन्तर दृष्टि हुई। देखो, अन्तर दृष्टि, (वह) सुदृष्टि। **'अंतर सुदृष्टि',** ऐसा। अन्तर्मुख होकर सुदृष्टि हुई। **मूढ़ता बिसर गई।** 'राग और विकार मेरा है और वह मुझे लाभ है', ऐसी मूढ़ता विसर गयी। इसका स्मरण हुआ और उसका विस्मरण हुआ। **'ग्यानकौ उदोत'** ज्ञान का प्रकाश हुआ। ज्ञानस्वरूप प्रकाशमय मूर्ति प्रभु का भान हो गया अन्दर ज्ञान में और **'भ्रम तिमिर हरतु है'** उस ज्ञान का अन्तर वेदन प्रकाश, वह अज्ञानरूपी तिमिर अर्थात् भ्रमणा का नाश करता है। कोई क्रियाकाण्ड अज्ञान और मिथ्यात्व का नाश करता है, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। पुण्य-पाप अधिकार है न!

मुमुक्षु : यह क्रिया नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्रिया ज्ञान की क्रिया हुई। यह पुण्य-पाप की क्रिया कहाँ हुई? विभाविक क्रिया अलग, स्वाभाविक क्रिया अलग, जड़ की क्रिया अलग। शरीर आदि जो चले—हिले, वह जड़ की क्रिया है। आत्मा में दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के परिणाम हों, वह विभाविक क्रिया है और उससे भिन्न पड़कर आत्मा में—ज्ञान में एकाकार हो, वह स्वाभाविक क्रिया है। आहाहा! समझ में आया?

'ज्ञानको उद्योत भ्रम-तिमिर हरतु है, करनीसौं भिन्न रहै आतम सुरूप गहै' देखो, भाषा। धर्मी जीव उसे कहते हैं कि करनी के परिणाम आवे, तो भी भिन्न रहे। वह व्यवहार से विरक्त रहे, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **'करनीसौं भिन्न रहै'** पुण्य—दया-दान, व्रत के परिणाम आवे, परन्तु उनसे तो भिन्न रहे। मैं वह नहीं। मैं हूँ वहाँ वे नहीं और वे हैं वहाँ मैं नहीं। इस प्रकार करनी से धर्मी जीव पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न रहता है। **'आतम सुरूप गहै'** तो राग से भिन्न पड़कर आत्मा के स्वरूप को ग्रहे, शुद्ध स्वभाव को ग्रहे, शुद्ध का अनुभव करे, ऐसा है। कहो, समझ में आया? पद है न, इसलिए इसकी शैली से भाषा में रचा जाये न!

'आतम सुरूप गहै, अनुभौ अरंभि रस कौतुक करतु है' लो! **अनुभव धारण**

कर परमरस में आनन्द करता है... 'अनुभौ अरंभि' आनन्द के स्वरूप का अनुभव (रूप) शुरुआत की, **'रस कौतुक करतु है।'** परम रस में आनन्द करता है, ऐसा **'कौतुक'** अर्थात्। समझ में आया? यह धर्मी का—ज्ञानी का—धर्मी का यह कर्तव्य है। और कोई कहे, भाई! ज्ञानी का भले यह कर्तव्य हो, परन्तु धर्मी का दूसरा हो न। ज्ञानी सब नहीं होते, परन्तु धर्मी हो उसे तो कर्तव्य दूसरा हो न?

मुमुक्षु : ज्ञानी और धर्मी का कर्तव्य एक ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह तो ज्ञानी कहो, धर्मी कहो, एक ही है। ज्ञान अधिक हो, इसलिए ज्ञानी और ज्ञान अधिक नहीं और क्रिया करे, वह धर्मी—ऐसा नहीं है। स्वरूप जो आनन्द की मूर्ति प्रभु है, उसे राग से विरक्त होकर, जो राग में रक्त था उससे विरक्त हुआ वह धर्मी। अज्ञानी राग में रक्त है, वह अधर्मी।

'अनुभौ अरंभि रस कौतुक करतु है' परम रस में आनन्द का अनुभव करे। आहाहा! जिसका रस भगवान आत्मा का आनन्द है, उसे अनुभव करे। राग और पुण्य को करे नहीं, विरक्त रहे, वैसे भोगे नहीं। ऐसा साथ में आ गया, आ गया या नहीं इसमें? उसको करे नहीं, करनीसो भिन्न रहे। धर्मी तो पुण्य-पाप के राग से भिन्न रहे, इसलिए कर्ता नहीं हुआ। अब **'अनुभौ अरंभि'** रस-आनन्द के अनुभव को करता है अर्थात् कि राग का अनुभव करता नहीं। अध्यात्मदृष्टि की शैली में तो एक ही वस्तु होती है, दो नहीं। कि थोड़ा आनन्द और थोड़ा दुःख, ऐसी बात यहाँ अध्यात्म की एकत्व अभेददृष्टि में यह बात नहीं। समझ में आया? थोड़ी बात कल आ गयी थी। जब तक आठ कर्म न टले, तब तक दो धारा होती है। समझ में आया? कल आया था या नहीं? यह अधिकार पूरा हुआ। पुण्य-पाप अधिकार पूरा हुआ। यह चौथे अधिकार का सार।

★ ★ ★

चौथे अधिकार का सार

जिसका बन्ध विशुद्ध भावों से होता है, वह पुण्य और जिसका बन्ध संक्लिष्ट भावों से होता है, वह पाप है। प्रशस्त राग, अनुकम्पा, कलुषता रहित भाव, अरहन्त आदि पंच परमेष्ठी की भक्ति, व्रत, संयम, शील, दान, मन्दकषाय आदि विशुद्ध भाव पुण्यबन्ध के कारण हैं।

सार पर प्रवचन

'**जिसका बन्ध विशुद्धभावों से होता है वह पुण्य...** स्पष्टीकरण करते हैं। जिसका बन्धन विशुद्धभाव से हो... दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, वह विशुद्धभाव है, वह पुण्य है। **और जिसका बन्ध संक्लिष्टभावों से होता है, वह पाप है।** पाप बँधे, वह संक्लेश से—हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि। अब **प्रशस्त राग...** शुभराग, वह पुण्यबन्ध का कारण है। **अनुकम्पा...** यह जीवों की अनुकम्पा, वह शुभराग, पुण्य है। अनुकम्पा, वह धर्म नहीं। आहाहा! गजब बात! एक ओर कहे, वह समकित का लक्षण है। भाई आये नहीं? शरीर में ठीक नहीं होगा।

मुमुक्षु : बुखार आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बुखार आता है? सवेरे आये थे हिम्मतभाई। समझ में आया? क्या कहा? एक ओर अनुकम्पा, वह समकित का लक्षण है, ऐसा कहा। आता है? आत्मा का अकषायपरिणाम है, उसे ही अनुकम्पा कही है।

मुमुक्षु : अनन्तानुबन्धी का अभाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात है। वह विकल्प उठे, वह तो व्यवहार है। यहाँ तो कहते हैं कि अनुकम्पा तो शुभराग को ही कहते हैं। वह अनुकम्पा बन्ध का कारण है। पुण्यबन्ध का कारण, इसलिए उसे पुण्य कहते हैं, धर्म नहीं। आहाहा! समझ में आया?

हाथी के भव में दया पालन की, ऐसा आता है न उसमें? खरगोश की दया पालन की। मेघकुमार ने अनुकम्पा से संसारपरित किया। यहाँ इनकार करते हैं कि

अनुकम्पा वह शुभराग, उससे धर्म नहीं होता, परित संसार नहीं होता। बन्ध का कारण, परन्तु सुनते थे न तुम वहाँ मेघकुमार का? मेघकुमार का वहाँ आता है न? ज्ञातासूत्र में आता है। हाथी था। पैर ऊँचा किया, खरगोश पैर के नीचे आ गया। तीन दिन तक ऐसे रखा अद्धर। फिर सब बिखर गया। ....कच्चरघाण होता गिरे। देह छूट जाती है। देखो, अनुकम्पा की थी। ... अकेले खरगोश नहीं, हों! साथ में समुच्चय बात है। यह तो सामान्य बात। ...देखो, यह अकेली (खरगोश की दया की बात) नहीं, यह तो सब जीवों के प्रति का भाव है। समझ में आया? ....

सभी जीवों के प्रति जिसे अभी अनुकम्पा वर्तती है। परन्तु सब जीवों के प्रति (अनुकम्पा) वह शुभराग है। शुभराग से संसारपरित—नाश नहीं होता। श्वेताम्बर में ज्ञातासूत्र में लेख है। परित संसार किया हाथी के भव में। परित संसार—अल्प संसार। अपरित संसार—अनन्त संसार, ऐसा। परित और अपरित संसार, दो है। समकिती को परित संसारी कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि अपरित संसारी—अनादि अनन्त संसारी कहलाता है। यह शास्त्र में है न... यहाँ तो प्रशस्त राग, वह पुण्यबन्ध का कारण विशुद्धभाव, वह विशुद्धभाव पुण्यबन्ध का कारण। **अनुकम्पा, कलुषतारहित भाव...** कलुषता न हो, संक्लेश न हो, ऐसा भाव विशुद्ध कहलाता है।

अरहंत आदि पंच परमेष्ठी की भक्ति... लो। पंच परमेष्ठी की भक्ति, वह शुभराग। है? फिर उसमें गुरु आ गये या नहीं? पाँच परमेष्ठी में सर्वज्ञ परमगुरु आये, पश्चात् प्रश्न क्या? सर्वज्ञदेव परमगुरु की भक्ति, सिद्ध की भक्ति, आचार्य, उपाध्याय, साधु सच्चे की भक्ति, सच्चे की। वह विशुद्धभाव है, पुण्यभाव है, पुण्यबन्ध का कारण, धर्म नहीं। **व्रत...** वह व्रत का भाव शुभ है। प्रकाशदासजी! है उसमें? क्या है? ....भक्ति के पश्चात् व्रत है। व्रत, वह शुभभाव है, पुण्यबन्ध का कारण है और उसे धर्म माने, वह मिथ्यादृष्टि है। कठिन काम! यह तो व्रत तो धर्म हो पड़ा है।

मुमुक्षु : महाव्रत और अणुव्रत के तो आन्दोलन चलते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुन्दकुन्दाचार्य ने महाव्रत पालन किये थे। वह अणुव्रत का आन्दोलन किया फलाने ने। पुण्य के भाव का किया, अधर्म का आन्दोलन (किया)। ऐ चिमनभाई! क्या है (यह) भारी कठिन काम! सोनगढ़ में कोई संघ नहीं। ...संघ में रहे

तो रहने दे इसे ? उल्टे मार्ग में चढ़ गये... सुनो तो सही। ऐ वजुभाई ! पंच परमेष्ठी की भक्ति, शत्रुंजय की यात्रा, सम्मेदशिखर की यात्रा, वह सब शुभभाव है, विशुद्धभाव शुभभाव है, वह पुण्यबन्ध का कारण है; धर्म नहीं।

संयम... लो। पाँच इन्द्रियों का दमन करना, वह भी शुभभाव है, वह धर्म नहीं। आहाहा ! शील पालन करना, लो, ब्रह्मचर्य पालना। शरीर से ब्रह्मचर्य पालना मन-वचन-काया से, लो, वह भी एक शुभभाव है। आहाहा ! **दान...** लो, पाँच-पचास हजार का दान, लाखों का दान देना, वह धर्म नहीं, पुण्यबन्ध का कारण है। कौन देता था ? ऐई ! देने का कहाँ इसका अधिकार था ? रजकण तो जहाँ जानेवाले हों, वहाँ जाते हैं। दे कौन और ले कौन ? आहाहा ! दुनिया से उल्टी जाति है भाई यह तो !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : दान, वह तो पुण्य है, भाई ! वृत्ति उठती है न कि यह करूँ, यह करूँ। वह विकल्प है, पुण्यबन्ध का कारण है।

यह तो कल तो ऐसा भी आया था भाई, वह सागार धर्मामृत में। रात्रि में कहा था। कन्या को अपने साधर्मी को देना, वह पुण्य का लाभ है। ऐ शिवलालभाई ! तुम्हारे कुछ नहीं, इसलिए क्या परन्तु... यह हो, वह जहाँ-तहाँ डालते हैं न। एक व्यक्ति कहता था (कि) अन्य धर्म में कहीं डालना और कुँए में डालना—दोनों समान है। कोई ऐसा कहता था दो-तीन दिन पहले। यह शास्त्र में पाठ है, हों ! यहाँ धर्म प्राप्त हो, इस जाति का जिस जाति का है वह जाति। व्यवहार से संस्कारी हो, उसे दूसरे धर्म में डालना, वह स्वयं को—देनेवाले को धर्म की कीमत नहीं। ऐ जादवजीभाई !

मुमुक्षु : वह तो लड़कियाँ बड़ी हो जाये (पश्चात्) स्वयं स्वतन्त्र निर्णय करती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो लड़कियाँ करे, वह अलग बात है। वह किसने कहा ? कहाँ गये कालीदासभाई ? यह तो कालीदासभाई कहे, हम उलझन में हैं। सात-सात लड़कियाँ। उसमें छह का विवाह किया। उसमें कहीं लड़का अच्छा हो तो दूसरा कुछ निकाले उसमें से। महामुश्किल है करना, फिर जहाँ-तहाँ डाल दे कुँए में।

ऐसा पाठ है शास्त्र में, हों ! है न, उसमें पुण्यलाभ कहा है, हों ! क्योंकि उसका

भाव ऐसा है कि एक दूसरा व्यक्ति हो ढेड हरिजन या चाहे जो, परन्तु उसे धर्म सुनने का भाव ठीक कहलाये या नहीं? तो घर में बालक है, घर में आया है। १५-१७-१८ और २०-२० वर्ष की हुई हो। इन संस्कार को डालना कहाँ? वैष्णव में या हो गया उसकी जिन्दगी चौपट... चौपट, हों! पहले ऐसा कहे कि आने की छूट है। ऐसा सब कहे। कण्ठी बाँधकर पर का हो जानेवाला है। जैन का अन्तर में विरोधी हो जानेवाला है ५-१० वर्ष में। आहाहा! समझ में आया? ऐ जादवजीभाई! है पुस्तक? लाओ न! कहाँ है, देखो न, निकाला है कहीं तो। यह लड़कों के लिये ही निकाला है। सागार धर्मामृत है आशाधरजी का। ऐ जादवजीभाई! बात आवे तो सब आवे या नहीं? उन सेठियाओं को भी फिर... बात आवे तो यहाँ पुण्य की बात चलती है। वहाँ याद आया कि साधर्मी को देना, वह पुण्यभाव है, ऐसा कहते हैं। और दूसरे में देना, वह पापभाव है मिथ्यात्व का। यह था, कल दूसरा था।

'साधर्मी बन्धुओं के लिये कन्यादान करने का हेतु बतलाते हैं।' पुण्य की बात है। देखो यहाँ है। 'साधर्मी को सत् कन्या देने से पुण्यलाभ होता है।' ५९वाँ श्लोक है। ५९वाँ श्लोक है। सागार धर्मामृत है न। '**सत्कन्यां ददता दत्तः सत्रिवर्गो गृहाश्रमः गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुडक्कटसंहतिम्**' ऐसा कहते हैं। 'उत्तम कन्या को देनेवाला साधर्मी गृहस्थ ने साधर्मी गृहस्थ के लिये त्रिवर्ग सहित घर दिया है। क्योंकि विद्वान लोग स्त्री को ही घर कहते हैं। किन्तु दीवार आदि के समूह को घर नहीं कहते।' घर दिया न, तो उस घर में जो धर्म होगा, वह रहेगा। ऐ पोपटभाई! ५९ श्लोक है। यह तो शुभभाव की बात है, हों! वहाँ कुछ धर्म नहीं। परन्तु कन्या को वे संस्कार टिके रहे तो साधर्मी जीवो... वे लोग कम गिने। ऐ मलूकचन्दभाई! पैसावाला हो, बड़ा क्या कहलाता है? फैक्ट्रियाँ हों। फैक्ट्रियाँ क्या कहलाती हैं तुम्हारी? कारखाना हो। कुछ इंग्लैण्ड जा आया हो, जर्मन जा आया हो, फिर भले नास्तिक हो, धरम-बरम मानता न हो। दुनिया में इज्जत कहलाये न? यहाँ पण्डित आशाधरजी कहते हैं कि वह पाप में डालने जैसा है। ऐई!

यहाँ तो कहना है कि दान है, वह पुण्य का कारण है। दान में याद आया न वह।

उसका हेतु यह है कि जीव जहाँ जाये तो उसे धर्म अपना जो माना हुआ है, उस जाति के संस्कार टिके रहेंगे, ऐसा हेतु है न! वे संस्कार नहीं टिकें, बिल्कुल नहीं टिके। दो-चार-पाँच वर्ष में सब धूलधाणी, हवा-पानी। पक्का मिथ्यात्व को सेवन करेगा। समझ में आया?

मुमुक्षु : त्रिवर्ग....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तीन हुआ न। व्यवहार है न, व्यवहार। धर्म, अर्थ, काम—तीन टिके, ऐसा वहाँ है। पुण्य भी रहे वहाँ, धर्म संस्कार न रहे तो? लक्ष्मी भी उसके प्रमाण में हो। **मन्द कषाय,** लो। वह राग की मन्दता नामस्मरण भगवान का आदि वह सब पुण्य विशुद्धभाव है। **आदि विशुद्धभाव पुण्यबन्ध के कारण हैं।** धर्म नहीं। आहाहा! उससे क्या बँधता है? यह बात कहेंगे, विशेष।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५९, चैत्र शुक्ल ४, मंगलवार, दिनांक ३०-३-१९७१
पुण्य-पाप एकत्व द्वार अधिकार का सार

जिसका बन्ध विशुद्ध भावों से होता है, वह पुण्य और जिसका बन्ध संक्लिष्ट भावों से होता है, वह पाप है। प्रशस्त राग, अनुकम्पा, कलुषता रहित भाव, अरहन्त आदि पंच परमेष्ठी की भक्ति, व्रत, संयम, शील, दान, मन्दकषाय आदि विशुद्ध भाव पुण्यबन्ध के कारण हैं और साता, शुभ आयु, ऊँच गोत्र, देवगति आदि शुभ नाम पुण्यकर्म हैं। प्रमाद सहित प्रवृत्ति, चित्त की कलुषता, विषयों की लोलुपता, दूसरों को संताप देना, दूसरों का अपवाद करना, आहार, परिग्रह, भय, मैथुन, चारों संज्ञा, तीनों कुज्ञान, आर्त-रौद्र ध्यान, मिथ्यात्व, अप्रशस्त राग, द्वेष, अव्रत, असंयम, बहुत आरम्भ, दु:ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, योग वक्रता, आत्मप्रशंसा, मूढ़ता, अनायतन, तीव्र कषाय आदि संक्लिष्ट भाव हैं - पाप बन्ध के कारण हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, असाता, मोहनीय, नर्क आयु, पशु गति, अशुभ नाम, नीच गोत्र, अन्तराय आदि पापकर्म हैं।

अशुभ परिणति और शुभ परिणति दोनों आत्मा के विभाव हैं, दोनों ही आस्रव-बन्धरूप हैं, संवर-निर्जरा के कारण नहीं हैं, इसलिए दोनों ही मुक्तिमार्ग में घातक होने से पाप और पुण्य दोनों एक ही हैं। यद्यपि दोनों के कारण, रस, स्वभाव, फल में अन्तर है तथा पुण्य प्रिय और पाप अप्रिय लगता है, तो भी सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी के समान दोनों ही जीव को संसार में संसरण करानेवाले हैं। एक शुभोपयोग और दूसरा अशुभोपयोग है, शुद्धोपयोग कोई भी नहीं है, इससे मोक्षमार्ग में दोनों की सराहना नहीं है। दोनों ही हेय हैं, दोनों आत्मा के विभावभाव हैं, स्वभाव नहीं हैं, दोनों पुद्गलजनित हैं, आत्मजनित नहीं हैं, इनसे मुक्ति नहीं हो सकती और न केवलज्ञान प्रगट होता है।

आत्मा में स्वभाव, विभाव दो प्रकार की परिणति होती है, स्वभाव परिणति तो वीतरागभाव है और विभाव परिणति राग-द्वेषरूप है। इन राग और द्वेष में से द्वेष तो सर्वथा पापरूप है, परन्तु राग प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है, सो प्रशस्त राग पुण्य है और अप्रशस्त राग पाप है। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के पहले स्वभावभाव का उदय ही नहीं होता, अत: मिथ्यात्व की दशा में जीव की शुभ वा अशुभरूप विभाव परिणति ही रहती है, सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हुए पीछे कर्म का सर्वथा

अभाव होने तक स्वभाव और विभाव दोनों परिणति रहती हैं, सो स्वभाव परिणति संवर-निर्जरा और मोक्ष की जननी रहती है, और विभाव परिणति बन्ध ही को उत्पन्न करती है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि 'जावत शुद्धोपयोग पावत नहीं मनोग, तावत ही ग्रहण जोग कही पुन्न करनी' की रीति से सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनि, पाप परिणति से बचकर शुभोपयोग का अवलम्बन लेते हैं और शुभ परिणति उन्हें आस्रव ही उपजाती है। उन्हें जो गुणश्रेणीरूप निर्जरा होती है, वह शुद्धोपयोग के बल से होती है, शुभोपयोग तो आस्रव ही करता है। भाव यह कि जितने अंश राग है, उतने अंश बन्ध है और जितने अंश ज्ञान और निश्चयचारित्र है, उतने अंश बन्ध नहीं है, इसलिए पुण्य को भी पाप के समान हेय जानकर शुद्धोपयोग की शरण लेना चाहिए।

सार पर प्रवचन

नाटक समयसार। पुण्य-पाप एकत्व द्वार अधिकार चलता है। आत्मा में शुभ और अशुभभाव होते हैं, वे सब विकारीभाव हैं। दोनों एक जाति हैं, ऐसा बतलाना है। आत्मा का स्वभाव वह नहीं। पुण्य-पाप के विकल्प की वृत्तियाँ, उनसे रहित अन्तर स्वरूप चैतन्य शुद्ध आनन्द है। उसका उपयोग हो—शुद्ध उपयोग हो, वह धर्म है। पुण्य और पाप के दोनों परिणाम धर्म नहीं, ऐसा सिद्ध करते हैं। ऐसा स्वभाव जीव का है। समझ में आया? देखो, यहाँ तक आया है। विशुद्धभाव पुण्यबन्ध के कारण हैं। चौथी लाईन है। चौथे अधिकार का सार, चौथी लाईन। नहीं आया व्यवस्थित, सेठी को व्यवस्थित नहीं आया।

प्रशस्त राग, अनुकम्पा, कलुषतारहित भाव, अरहन्त आदि पंच परमेष्ठी की भक्ति, व्रत, संयम, शील, दान, मंदकषाय आदि विशुद्धभाव पुण्यबन्ध के कारण हैं। और साता, वह कर्म है, ऐसा कहते हैं। साता उसका फल है शुभभाव का। **साता, शुभ आयु, ऊँच गोत्र, देवगति आदि शुभ नाम पुण्यकर्म हैं।** वह पुण्यकर्म है। यह शुभाशुभ, वह भाव है। शुभ की बात करते हैं अभी तो।

अब पापभाव की बात करते हैं। **प्रमादसहित प्रवृत्ति...** आत्मा में प्रमादसहित प्रवृत्ति, वह अशुभभाव है। चित्त की कलुषता—मलिनता, वह अशुभभाव है। **विषयों**

की लोलुपता... पाँचों इन्द्रियों के विषयों की ओर की आसक्ति, वह पापभाव है। **दूसरों को सन्ताप देना...** दूसरे को दु:ख देने का भाव, वह पापभाव है। **दूसरों का अपवाद करना...** दूसरे की निन्दा करना, वह भी पापभाव है। **आहार, परिग्रह, भय, मैथुन चारों संज्ञा...** वह पापभाव है। समझ में आया? आहारसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा, भयसंज्ञा, विषय-मैथुन संज्ञा, वह पापभाव है। आहार तो करे मुनि, (तो) मुनि को आहारसंज्ञा नहीं? सेठी! आहारसंज्ञा नहीं। आहारसंज्ञा तो अशुभभाव है, गृद्धिभाव है। मुनि आहार करते हैं, इसलिए उन्हें आहारसंज्ञा है, ऐसा नहीं है। यह प्रश्न चर्चित हुआ है। सब चर्चित हैं। बहुतों को कठिन पड़ते हैं।

मुनि को भी आहारसंज्ञा होती है, ऐसा कहे।

मुमुक्षु : शास्त्र में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है, उसका अर्थ—अव्यक्त आहार का अभी अनाहारी हुआ नहीं, इस अपेक्षा से है। आहारसंज्ञा नहीं। संज्ञा तो पाप है। पंचास्तिकाय में यह शब्द पड़े हैं सर्वत्र। आहार करने का भाव है, वह पापभाव है। भय, परिग्रह, यह परिग्रह की गृद्धि। जड़परिग्रह वह कहीं परिग्रह नहीं। वास्तव में तो परिग्रह की गृद्धि ममता, (वह परिग्रह संज्ञा है)।

मुमुक्षु : अपना भाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भाव। कहो, समझ में आया? यह पैसे मेरे, पुत्र मेरे—ऐसा भाव, वह पापभाव है।

मुमुक्षु : अपने को अपना माने, वह पापभाव?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने कहाँ थे? धूल में? पैसा अपना मानना, वह तो मिथ्यात्व है, परन्तु उसकी आसक्ति होना, वह पाप है, ऐसा कहना है यहाँ तो।

मुमुक्षु : आहारसंज्ञा....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहारसंज्ञा गृद्धि है, गृद्धि। आहार की इच्छा, ऐसा हो, ऐसा हो। मुनि आहार करते हैं, वह वास्तव में संज्ञा नहीं है। परिग्रहसंज्ञा।

भयसंज्ञा, वह पाप है। भय पाना, डर पाना। नि:शंक और निर्भय है न एक शब्द? भाई! नि:शंकता और निर्भयता का प्रश्न हुआ था। डॉक्टर चन्दूभाई के समक्ष यह प्रश्न किया था। यह नि:शंक और निर्भय में क्या अन्तर? नि:शंकता तो स्वरूप की अपेक्षा से है और निर्भयता पर की अपेक्षा से है। वस्तु तो वह की वह है। नि:शंक है। वस्तु अखण्ड आनन्द पूर्ण शुद्धस्वरूप ही हूँ, ऐसी नि:शंकता अस्तित्व से बताते हैं। और नि:शंक हो वह निर्भय होता है। ऐसा है न वहाँ? 'नि:शंके निर्भयं...' अर्थात् फिर पर का भय उसे होता नहीं। वस्तु ऐसी है, अखण्डानन्द मूर्ति, उसमें मरण क्या? रोग क्या? दु:ख क्या? शोक क्या? ऐसा जीव का स्वभाव है। निर्भय वस्तु है। नि:शंक है और निर्भय है। उसमें भय करना, वह पाप है, ऐसा कहना है। समझ में आया? दुष्काल पड़े, शरीर में रोग आये, अकेला पड़ जाये, जंगल में रहे या रास्ता मिले नहीं। उसमें ऐसे काँटे, कंकड़ बड़े रास्ते में। दस-दस कोस के अन्दर कहीं सूझ पड़े नहीं और बबूल के काँटे बीच में आ जाये तो भय पावे। अरे! हाय... हाय! अब क्या होगा? कहाँ जाऊँगा? वह भय पाप है, कहते हैं।

वह पत्र आया, वह दिया? वह पत्र नहीं सीकर का?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ? दो तो सही इन लोगों को। अभी नहीं बाद में, ठीक। पत्र आया है सीकर से। इन्दौरवालों ने लिखा होगा? बहुत बीमार व्यक्ति है, पलंग पर पड़ा है। बहुत लिखा है। ... ऐसा कि मुझे कोई शान्ति, धर्म (मिले) अथवा फिर कोई विद्वान व्यक्ति भेजो सोनगढ़ से, मुझे समझाने, तो मैं धर्म पाऊँ। यह कुछ ऐसा है पत्र। इन्दौर के कोई इन्दौरीलालजी होंगे, उनके प्रति पत्र था। सीकर का मोतीलाल सेठी। सेठी वहाँ होंगे? दूसरे। सीकर। मोतीलाल सेठी। .....बहुत लिखा है। कोई मेरा नहीं अभी। पुत्र-पुत्र सब विरोध। बहुत लिखा दो बड़े पृष्ठ। उसने लिखा होगा, वे कोई इन्दौरीलाल होंगे इन्दौरवाले (उनके प्रति)। उन्होंने यहाँ भेजा है। ऐसा कि उसका साधन तो वास्तव में तो अभी यहाँ है। सोनगढ़ का व्यक्ति.... जो कहे न भाई, वह सुने तो लाभ हो, बाकी अभी... उसने तो ऐसा लिखा रतनलाल मुखतार को... यहाँ से

एकाध विद्वान व्यक्ति जाये तो खर्च देगा। बड़ा पत्र है। यह और याद आया इसमें, भय में। मैथुनसंज्ञा—विषयवासना, वह सब पाप है।

तीनों कुज्ञान... वह पाप है। लो, ठीक। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, वह पाप है। **आर्त-रौद्रध्यान...** वह पाप है। आर्तध्यान होना, शरीर में रोग आवे, ठीक न पड़े, चिन्ता हो, लक्ष्मी जाये, इज्जत जाये। अरे! क्या होगा इसमें? ऐसा भाव वह सब आर्तध्यान है। और रौद्रध्यान। हिंसानन्दी, चौर्यानन्दी आदि, वह रौद्रध्यान पाप है। कहो। **मिथ्यात्व** वह पाप है मूल, लो। वह मूल पाप है। वह तो बड़ा पाप है। पर्यायबुद्धि—एक अंश में ही (आत्मा) मानना, राग में धर्म मानना—वह सब मिथ्यात्व महा पाप है। **अप्रशस्त राग...** बुरा राग पाप है। **द्वेष** पाप है। **अव्रत** वह पाप है। अव्रतभाव होता है। त्यागभाव (नहीं), राग का त्याग नहीं और उतना राग है, वह पाप है। **असंयम...** राग, वह पाप है। **बहुत आरम्भ...** वह **दुःख** और **शोक...** होना अन्दर, वह पाप है। उस चीज़ के (कारण) दुःख लगे, कहीं सुख लगे या शोक हो, वह पाप है।

ताप, आक्रंदन... आकुलता का ताप हो, अन्दर आकुलता हो जाये, वह पाप है। आक्रन्द करे। **योगवक्रता...** मन, वचन और काया की कुटिलता, वह पाप है। **आत्मप्रशंसा...** स्वयं अपनी प्रशंसा करे कि मैं अच्छा हूँ और ऐसा हूँ, ऐसा हूँ और मैं ऐसा। वह सब पाप है।

मुमुक्षु : होवे और करे, उसमें क्या दिक्कत?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी करे? किसका करे? उसका काम है कहीं किसी को बतलाने का? बाहर प्रसिद्ध होकर दूसरे कहे अच्छा, तो ... इसका अर्थ कि पाप है। समझ में आया? स्वयं धर्मी हुआ—समकिती हुआ—ज्ञानी हुआ, वह दूसरे को कहना? कि ऐसा है, ऐसा है, ऐसा है। इसका काम क्या है? दुनिया, दुनिया की जाने। दुनिया माने तो उसमें उसकी महत्ता हो जाये? दुनिया तो माने बाहर से। समझ में आया? देखो, यह आत्मप्रशंसा। आहाहा!

मूढता... वह पाप है। मूढ—कुछ भान नहीं। **अनायतन...** देव, गुरु, शास्त्र हैं, वे व्यवहार आयतन हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे अनायतन कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, वह पाप

है, पाप के स्थान हैं वे सब। और **तीव्र कषाय आदि संक्लेशभाव हैं—पापबन्ध के कारण हैं।** वह पापबन्ध के कारण हैं। पापबन्ध के कारण हैं। अब उसका फल बन्ध में। **ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, असाता, मोहनीय, नरकायु, पशुगति, अशुभ नाम, नीच गोत्र, अन्तराय आदि पापकर्म हैं।** वे चार पुण्यकर्म थे। आठ वापस पापकर्म हैं। ज्ञानावरणीय पाप, दर्शनावरणीय पाप, असाता पाप, मोहनीय पाप है। चाहे तो चारित्रमोहनीय हो या (दर्शनमोहनीय हो)। नरक का आयुष्य पाप है, पशु की गति पाप है, अशुभनामकर्म पाप है, नीचगोत्र और अन्तराय पाप है। इसलिए आत्मा का स्वभाव नहीं, (इसलिए) छोड़नेयोग्य है, ऐसा कहते हैं।

अब **अशुभ परिणति और शुभ परिणति दोनों आत्मा के विभाव हैं।** चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हों या चाहे तो हिंसा, झूठ, आदि के परिणाम हों—दोनों आत्मा का विभाव है, दोनों अज्ञान है। अज्ञान अर्थात् वह आत्मा का ज्ञानस्वभाव नहीं। **शुभ परिणति...** लो, ठीक। तीर्थंकरगोत्र बँधाने का भाव, वह भी शुभपरिणति विभाव है, स्वभाव नहीं। स्वभाव अलौकिक स्वभाव, जिसमें विकल्प की गन्ध नहीं। ऐसा गहरा अन्तर अनन्त आनन्द, ज्ञानस्वभाव, उस स्वभाव की दृष्टि हुए बिना धर्म नहीं होता, ऐसा सिद्ध करना है। चाहे जैसे पुण्य की, दया, दान, व्रत की क्रिया करे, परन्तु वह धर्म नहीं है। समझ में आया? गहरे-गहरे भगवान आत्मा विभाव अर्थात् विकल्प से पार भिन्न अन्दर है। समझ में आया? जिसका स्वभाव अचिंत्य है।

अभी दृष्टान्त दिया था, नहीं? नारियल का दृष्टान्त अभी कुछ था बीच में। एक दाऊदभाई से जामनगर के। जामनगर का नहीं कोई नहीं? दाऊदभाई वोरा थे। वे कहे, एक बार हम जहाज में जा चढ़े धन्धे में। फिर आये थे, व्याख्यान में आये थे। वृद्ध थे। बहुत शान्त वोरा। एक बार जा चढ़े समुद्र में लोहचुम्बक का पर्वत अन्दर छोटा होगा। हमारा जहाज खिंच गया। अब करना क्या? वहाँ कोई व्यक्ति न मिले। कोई भोजन न मिले, दाना न मिले। (मात्र) नारियल। पानी का क्या करना? दुर्गन्धित पानी हो सड़ा हुआ। वहाँ कहाँ पानी भरा हुआ हो ताजा? परन्तु कहे, पानी डालकर हम नारियल में नीचे, ऊपर चढ़ जाये। मीठा पानी हो जाये। (पानी) नारियल में घुस जाये अन्दर।

ऐई! देखो तो स्वभाव! वहाँ पानी कहाँ ताजा भरा था?

मुमुक्षु : गोले का।

पूज्य गुरुदेवश्री : (यहाँ तो) गोले का ठण्डा करके रखा हो मटकियों में। वहाँ तो सड़ा हुआ पड़ा हो। कहे, प्यास लगी हो (और) वह समुद्र का खारा पानी, वह तो कहीं भावे नहीं। फिर वहाँ पानी हो ऐसा... डालें उसमें नारियल के मूल में। पचास हाथ ऊँचा। कहो! टोपा बाहर, अन्दर छाल, अन्दर काचली, अन्दर खोपरा। वह पानी अन्दर घुस जाये। स्वभाव क्या कहना, उसकी बात है। ऐई! सुना है या नहीं? वह कहे, ऊपर चढ़कर नारियल तोड़ें और फोड़कर पानी पीवें। पानी वहाँ कहाँ मिलता था? उसमें से पानी पीवें, नारियल खायें। दो-तीन दिन चला। फिर तो ऊपर काली ध्वजा रखी। मदद करने आये। समुद्र में जहाज निकले सही न! तीन दिन तक कुछ नहीं मिलता।

यहाँ तो कहना है कि देखो न एक स्वभाव की अचिन्त्यता कि पानी डाले नीचे गन्दा और ऊपर नारियल में घुस जाये अन्दर में, (हो जाये) एकदम निर्मल।

मुमुक्षु : स्वादिष्ट।

पूज्य गुरुदेवश्री : पोपटभाई! यह कितना सोसरवुं? कहाँ पचास-साठ हाथ ऊँची नारियली हो (और कहाँ) मूल। उसमें नारियल और उसमें ऊपर टोप और उसमें अन्दर छाल और उसमें काचली और उसमें खोपरा और उसमें पानी। सेठी! सुना है या नहीं? ऐसा आता है, गायन आता है। हमने तो बहुत पढ़ा हुआ है न! जैसे कृष्ण को करना हो, वह करे... जैसे नारियल में पानी चढ़े। नारियल में पानी चढ़े, ऐसा कि भगवान को करना हो तो क्या न हो? ऐसा। वे लोग तो इस प्रकार बोले न! परन्तु यह तो उसका स्वभाव है। वहाँ भगवान कहाँ करने आता था? आहाहा! खोपरे के अन्दर में पानी आ जाये, वह मीठा होकर खोपरा। ऐसा ही कोई स्वभाव...!

इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य का गोला ऐसा कोई स्वभाव है (कि) अन्दर में गहरे जाने पर गहरे, उसमें तो अकेला आनन्द और शान्ति का रसकन्द है। उस भाव का पता लेना, उसका नाम धर्म है। समझ में आया? ऐसी बात है। समझ में आया? वहाँ उसमें भी ऐसा आता है। हाथी कैंथ (फल) निगले, पूरा-पूरा निगले। देखा है, नजरों से देखा हुआ है। उमराला में देखा है। हाथी आये। यह तो ७० वर्ष पहले की बात है।

सब लड़के देखने गये थे। कैंथफल इतने-इतने एकदम काले। बड़ा दो-ढाई सेर का कैंथफल। कैंथफल के वृक्ष हैं नदी के किनारे। शंकर के देवालय में बड़े कैंथफल इतने। दो सेर-दो सेर का कैंथफल निगले, निकले छटांक पूरा। जठर की ही कोई इस प्रकार की (रचना है कि मात्र) रस चूस जाये। अन्दर रस नहीं होता। पूरा निकले। देखा था, मैंने नजरों से देखा था। छोटी उम्र की बात है। कैंथफल पड़ा था... तोड़े एकदम। कहो, यह टुकड़ा करे नहीं और रस निकल जाता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : समझे नहीं महाराज क्या चीज़ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में क्या नहीं आता? कहो, गुजराती समझते नहीं ऐसा कहे, इसलिए मांडी वाण्युं। यह नारियल का (दृष्टान्त) समझे या नहीं?

मुमुक्षु : हाँ, वह तो समझे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाथी है न हाथी कैंथफल निगलता है। कोठा समझते हो? कोठा नहीं समझते?

मुमुक्षु : शंकर को जो पान चढ़ाते हैं न, उस वृक्ष का फल होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा फल होता है कैंथफल। उसकी चटनी होती है, चटनी भी होती है। कैंथफल दो सेर-दो सेर का होता है। कैंथफल बहुत होता है यहाँ।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कैंथफल। वहाँ तो नदी (के किनारे) हम लड़के खेलने जाते न। वहाँ इतने-इतने बड़े कैंथफल होते नदी के किनारे। कैंथफल इतना दो सेर-दो सेर, हों! तौल (वजनदार), चिकना ऐसा। वह हाथी खा जाये और निकले ऐसा का ऐसा पूरा और रस चूस जाये। तौल में नवटांक रहे और पूरा वापस निकले। आखा समझे न? अखण्ड—टुकड़े-टुकड़े नहीं। ...नहीं। ऐसा ही स्वभाव है। स्वभाव में तर्क का अभाव है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह तो नजरों से देखा हुआ है, हों! हमारे वहाँ हाथी बहुत आवे न और बड़े कोठा उमराला में होते हैं, उसे खिलावे। महावत खिलावे और वह खाये। निकला हुआ ऐसा... पड़ा हुआ ऐसा देखा हुआ। वह वस्तु का स्वभाव... हाथी का जठर उसका रस ले लेवे और पूरा रह जाये।

इसी प्रकार भगवान आत्मा पुण्य-पाप के विकल्परहित अकेला रस अनुभव में ले और आनन्द का स्वाद आवे। आहाहा! उस स्वभाव की बात ही कोई अचिन्त्य है! यह कितना, कैसे, यह प्रश्न ही नहीं वहाँ। जिसका स्वभाव, जिसका स्वरूप ही अनादि-अनन्त बेहद जिसका ज्ञान, बेहद जिसका आनन्द—ऐसी स्वभाव की अपरिमित शक्ति, उसमें पुण्य-पाप के विकल्प की गन्ध नहीं। ऐसे स्वभाव की दृष्टि करे और अनुभव करे, उसे धर्म होता है। बाकी यह दया, दान, व्रत, भक्ति वह कहीं धर्म-बर्म नहीं है। कहो, समझ में आया? ऐसा नहीं लेना कि इतने शरीरप्रमाण ऐसा आत्मा, वह (यह) क्या कहते हैं? ऐसा नहीं, बापू! तुझे खबर नहीं। भले शरीरप्रमाण असंख्य प्रदेशी है। अरे! वह तो ठीक परन्तु निगोद का जीव, लो न! एक शरीर में अनन्त जीव। एक राई जितना आलू का टुकड़ा, (उसमें) असंख्य शरीर और एक शरीर में अनन्त जीव। एक-एक जीव ऐसे अनन्त आत्मधर्म और शान्ति से पड़ा हुआ तत्त्व है। आहाहा! पोपटभाई!

विश्वास, विश्वास ला। स्वभाव जिसका... एक राई जितना टुकड़ा बटाटा का—आलू का। वह आलू कहते हैं। सकरकन्द का, मूला, गाजर के एक राई जितने टुकड़े में असंख्य तो शरीर और एक शरीर अंगुल के असंख्यवें भाग का, उसमें अनन्त आत्मायें और उसमें एक (-एक) आत्मा में अनन्त-अनन्त आनन्द और ज्ञान के स्वभाव का पिण्ड द्रव्य पड़ा है। आहाहा! पण्डितजी! यह तर्क का प्रश्न नहीं। स्वभाव ही ऐसा है। ऐसा दिखता है न! यह दो दृष्टान्त कहे न। फिर तो विकल्प को करना हो वह करे, ऐसा वह कहे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो शक्ति का इसका स्वभाव तो देखो, ओहोहो! मनुष्य के जठर का ऐसा स्वभाव नहीं और हाथी के जठर का ऐसा स्वभाव (कि) पूरे कैंथफल का रस ले लेवे। वह तो वस्तु का स्वरूप है, भाई! स्वभाव है।

इसी प्रकार यह कहते हैं कि भाई! पुण्य-पाप छोड़ने का तुमने कहा तो अब हमारे करना क्या? ऐसा आया या नहीं? हमारे आलम्बन क्या कहलाये श्रावक और

मुनि का? जो कुछ करने का भासित हुआ, उसे तो तुम कहते हो कि वह तो बन्ध है, वह तो बन्ध है, वह तो बन्ध है। तब अब आलम्बन क्या श्रावक को और मुनि को? भाई! आलम्बन भगवान पूरा पड़ा है। तुझे खबर नहीं। आहाहा! अनन्त बेहद जिसकी शक्ति है। क्षेत्र नहीं देखो। उसका स्वभाव बेहद आनन्द, बेहद ज्ञान है। वह विकल्प में रुकता है, वह उसका स्वभाव नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उसका स्वभाव है। उससे विपरीत शुभ और अशुभ परिणति दोनों विभाव है। आहाहा! अरे! विचार तो करे कि एक निगोद का शरीर, उसमें अनन्त जीव। उसमें एक जीव को ऐसी शुभपरिणति हो कि मनुष्य हो और एक को शुभपरिणति हो परन्तु उसमें और उसी में जन्म ले वापस, निगोद में और निगोद में। देखो, यह एक अस्ति—सत् का सत्व तो क्या है! आहाहा! लोगों को ऐसा लगे कि यह क्या है? क्या नहीं, ऐसा वस्तु का स्वभाव ही है। समझ में आया?

कहो, इसकी शुभपरिणति और अशुभपरिणति दोनों अज्ञान है। यह चैतन्य द्रव्यस्वभाव जो ज्ञान है, वस्तुस्वभाव जो ज्ञान है, आनन्द है। उससे वह उल्टा भाव है और उल्टे से लाभ हो, ऐसा कहना है? शुभभाव से तुझे धर्म होगा? बड़ा शल्य है, कहते हैं। तेरे स्वभाव की तुझे खबर नहीं। वास्तव में तो स्वभाव को शुभराग की अपेक्षा भी नहीं, ऐसा है। ऐसा उसका स्वभाव है। किसका?

मुमुक्षु : आत्मा का।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा का स्वभाव ऐसा है कि यह शुभराग हो तो शुद्धता हो, ऐसा उसका स्वभाव ही नहीं। आहाहा! भाई! पहले तो विकल्प होता है या नहीं? हो, वह पहला अनादि से है। पहला कहना किसे? तथापि कहने में ऐसा आवे, है न उसमें, कि धर्मी जीव सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है। इसका अर्थ यह कि पहले विकल्प आता है कि यह ज्ञान है, आनन्द है, यह स्वभाव है। पश्चात् उस राग को भूलकर स्वभाव को अनुभव करता है। उसे राग की अपेक्षा वर्तमान में भी नहीं और पूर्व में थी इसलिए (अनुभव) हुआ, ऐसा भी नहीं। ऐसा ही उसका कोई अचिन्त्य स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया?

उसका माहात्म्य आवे नहीं और यह रतन का, हीरा का और माणिक का और पुण्यपरिणाम का और साताबन्धन का और उनके संयोग का....

मुमुक्षु : उसमें अटक गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उनका माहात्म्य इसे लगता है। आहाहा! भाई! शरीर अच्छा हो, आजीविका ठीक हो तो धर्म होता है। तेरी बात ही खोटी है। तू तत्त्व को समझता नहीं। वस्तु का स्वभाव ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो दोनों के फल बताते हैं न! पाप का फल दुर्गति, पुण्य का हेतु... परन्तु वह (शुभाशुभभाव) वस्तु है, वह कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं और उसके कारण कहीं दु:ख नहीं। समझ में आया?

अशुभ परिणति और शुभ परिणति विकृति—आत्मा का विभाव है। **दोनों ही आस्रवबन्धरूप हैं।** लो। दोनों आस्रवरूप है और बन्धरूप है। **संवर निर्जरा के कारण नहीं।** है? शुद्धता का कारण नहीं, ऐसा कहा। ऐसा कहा या नहीं इसमें? सेठी! उसमें है? संवर-निर्जरा का कारण शुभभाव नहीं। व्रत के परिणाम करते-करते अपने को शुद्धि होगी, ऐसा कहते हैं। कहे, नहीं-नहीं, मूढ़ है। तुझे तेरे स्वभाव की खबर नहीं। समझ में आया? वे कहे कि अपने शुभकषाय रखें यह व्रतादि, फिर शुद्धि का कारण होगा। तुझे वस्तु के स्वभाव की खबर नहीं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : आस्रव और बन्धतत्त्व को समझा ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य-पाप परिणाम वह आस्रव है, नया हुआ है, वह आत्मा है नहीं और अटक गया वह बन्ध है। भावबन्ध, हों! द्रव्यबन्ध एक ओर रहा। आहाहा!

संवर-निर्जरा के कारण किंचित् नहीं, ऐसा लेना। जरा शुभभाव में शुद्धता का अंश है, और ऐसा कहते हैं न? वह दूसरी बात है। यह दूसरी बात है। आता है न बनारसीदास में? वह दूसरे प्रकार की बात है। वह तो वहाँ अज्ञानी को भी होता है। उसमें क्या है? वह वस्तु की... वहाँ तो (कहना है कि) शुभभाव है, उसमें जरा चारित्र की आंशिक शुद्धता न हो तो चारित्र का अंश बढ़कर कहाँ जायेगा? अकेला अशुद्धभाव बढ़े तो अशुद्धता ही बढ़े। शुद्धता का अंश होता है तो (ही) शुद्धता बढ़े, इतना वहाँ साबित करना है। समझ में आया?

ज्ञान और आनन्द... ज्ञान बढ़कर बढ़े तो ज्ञान हो। मति बढ़कर केवल (ज्ञान) हो। परन्तु अब (पूर्ण) शुद्धता(रूप) यथाख्यातचारित्र हो, वह कहाँ से हो? अकेला अशुभ हो उसमें से बढ़कर यथाख्यात (चारित्र) होगा? परन्तु यथाख्यातचारित्र का बीज वहाँ आंशिक है। अज्ञानी को शुभभाव में अन्दर है। परन्तु सम्यग्दर्शन भान होने पर वह शुद्धस्वभाव सन्मुख जाता है।

मुमुक्षु : अंकुर फूटता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अंकुर फूटता है। आहाहा! कैसी बात की है, देखो बनारसीदास ने! वह कहाँ शास्त्र में है? ऐई! उसमें क्या? चाहे जिस ज्ञानी को अन्तर से आयी हो न्याय से (तो) वह कहे। मानना-न मानना, आचार्य का ही मानना, इसका अर्थ क्या? समझ में आया?

दोनों ही मुक्तिमार्ग में घातक होने से पाप और पुण्य दोनों एक ही हैं। वस्तु का स्वभाव, उससे विरुद्ध दोनों भाव। दुनिया को तो यह महाव्रत पालना और अणुव्रत पालना, वह सर्वस्व धर्म। जानपना भले तुमको थोड़ा हो परन्तु यह करो तो करने का था वह तुमने किया, जाओ। प्रकाशदासजी! ऐसा सुना था। तुमने कहा था न कि भाई! करना करना है, अन्त में तो धर्म करना है न? फिर जानने का कम हो, पाँच महाव्रत पालो (वह) धर्म। तीर्थंकरों को भी वह करना पड़ा था, ऐसा कहते हैं। अरे! सुन न, भाई! तुझे भान नहीं। पंच महाव्रत के परिणाम तो विकल्प और विभाव और अधर्म है। अरे! पोपटभाई! उतावली होकर पड़ी है न तुम्हारी एक भाई की पुत्री। चन्दुभाई नाम है न? आहाहा! बेचारा क्या करे? खबर नहीं होती। मात्र ऊपर भभका देखे। माल देखे नहीं कि अन्दर माल क्या है? चल निकले। यह वस्त्र बदले (छोड़े) और हो गये साधु। ऐ वजुभाई! वह बची गयी। तुम्हारी गयी और इनकी बच गयी। यह ऐसा है, भाई! यह संसार ऐसा है।

ऐसा कोई मार्ग... जिसकी जाति में स्वभाव भरा हुआ है, जिसे संसार के उदय की गन्ध नहीं, संसार जिसके स्वभाव में नहीं और अनन्त-अनन्त अचिन्त्य आनन्द और ज्ञान जिसके भाव में है—ऐसा अनुभव हुए बिना धरम-बरम कहीं है नहीं। क्या समझ में आया? यह नारियल के मूल में पानी डाले तो ऊपर चढ़े न?

मुमुक्षु : आत्मा के मूल में डाले तो चढ़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : वापस नारियल के ऊपर पानी डाले तो न चढ़े, हों! इसी प्रकार आत्मा पुण्य-पाप के विकल्परहित मूल, मोक्ष का मूल भगवान है। ऐसा शुद्धस्वभाव, उसमें एकाग्र होने से मुक्ति और धर्म होता है। बाकी सब बातें हैं। अच्छा लगे-न लगे, एकान्त लगे। है तो ऐसा ही, एकान्त ही है। ऐसा कि शुभ से भी नहीं होता और इससे ही होता है, ऐसा कहे, वह तो एकान्त हो गया। एकान्त ही है, सुन न! आहाहा! अरे! पूरा भगवान है न, कहते हैं भाई! ज्ञानस्वभाव, आनन्दस्वभाव में तो शुभ-अशुभ परिणति, वह तो अज्ञानभाव, विपरीत (भाव) है। वह मुक्तिमार्ग में घातक है। लो, जो घातक है, वह सहायक है?

मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। शुभ अन्तिम होता है, इसलिए उसका अभाव करे तो उसे नजदीक है शुद्ध उपयोग, ऐसा। इसलिए वह डालते हैं कितने ही...। आहाहा! अरे! वह तो इसका अभाव करे तब होता है, (ऐसा) इसका अर्थ है। वह शुभभाव स्वयं शुद्ध का कारण बिल्कुल नहीं है, वह तो घातक है। वह आता है वहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक में कहीं सातवें में, नहीं? जो घातक है, वही बन्ध का कारण है, ऐसी श्रद्धा करना। श्रद्धा ऐसी करना। शुभ परिणाम, वह आता है पद। इस ओर आता है सातवें अध्याय में। श्रद्धा का... राग है, वह बाधक है, घातक है—ऐसा श्रद्धान करना। घातक है, वह आत्मा को नुकसान करनेवाला है। इसलिए दोनों मुक्ति का मार्ग नहीं। इसलिए मुक्ति का मार्ग नहीं, इसलिए पुण्य-पाप एक है। एक ही है, ऐसा है न?

यद्यपि दोनों के कारण... दोनों के कारणों में अन्तर है। बन्धन के कारण में (अन्तर)। एक में शुभभाव और एक में अशुभ। रस में अन्तर, बन्धन के स्वभाव में अन्तर और फल में अन्तर है। (अन्तर) भले हो, तथापि वस्तु तो एक जाति है। और दुनिया को पुण्य प्रिय लगता है, पाप अप्रिय लगता है। मिठास लगे ऐसे। ऑफिस में बैठा हो और पाँच-पच्चीस नौकर हों। देखो, गये थे न वहाँ रामजी हंसराज। उनका बड़ा मकान है वहाँ मुम्बई में।

मुमुक्षु : कामाणी हाउस।

पूज्य गुरुदेवश्री : कामाणी हाउस। साथ में थे, मोटर में साथ में आये थे। वहाँ गये थे। सब बड़े-बड़े नौकर खड़े हो गये। घुसते ही ऐसा हो जाये कि आहा!

मुमुक्षु : आपको किसलिए ले गये थे?

पूज्य गुरुदेवश्री : चरण करने के लिये वहाँ। छाप ऐसी है न कि भाई, इन महाराज के पगलां (चरण) हो तो पैसा होगा, इज्जत बढ़ेगी, यह होगा, यह होगा। ऐसा है न? आहार करके घर से आये थे। आहार करके फिर गये थे न? मोटर में साथ में गये थे। साथ में थे स्वयं रामजीभाई। बड़े-बड़े वेतनदार हों हजार-हजार, दो-दो हजार के। बाई बड़ी बैठी थी वेतनदार।

मुमुक्षु : टाईपिस्ट।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐ वजुभाई! देखो न, यह दिखाव।

और एक भंगी के घर में गया हो और झोंपड़ा घास का व्यवस्थित न हो। मलिन घास हो, मलिन घास। उसमें तो ऊपर पर्दा पड़ा हो, ऐसे मलिन-मलिन और वस्त्र मलिन। हो भंगी। अन्दर बैठा हो। हो भले समकिती। अरे! कैसी प्रिय बात लगे, देखो! साथ में बैठने का मन हो जाये, उस अच्छे के साथ। और इसके साथ... पुण्य प्रिय और पाप अप्रिय। कहो, पोपटभाई! धूल भी नहीं, कहते हैं, मुफ्त का गहन-पागल है।

मुमुक्षु : साता प्रिय और असाता अप्रिय।

पूज्य गुरुदेवश्री : अप्रिय... किसी की महिमा करने (जैसा नहीं)। यह सच्ची बात। कहते हैं लोग, हों! असाता अप्रिय, साता (प्रिय)।

मुमुक्षु : साता प्रिय और असाता अप्रिय।

पूज्य गुरुदेवश्री : साता प्रिय।

मुमुक्षु : अथवा प्रिय कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रिय कहो या वहाली कहो। निरोगी शरीर हो सांढ़ जैसा, प्रिय लगे। धूल भी नहीं, सुन न! शरीर में रोम-रोम में, रुंवाटे-रुंवाटे रोग हो, वह कहीं अप्रिय नहीं। वह तो जगत की वस्तु-चीज़ है, ज्ञान करने का ज्ञेय है। आहाहा!

पुण्य प्रिय और पाप अप्रिय लगता है, तो भी सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी के समान दोनों ही जीव को संसार में संसरण करानेवाले हैं। वह ऐसा कहते हैं, हें! शुभभाव संसार बढ़ाने का कारण है? परन्तु यह क्या कहते हैं, सुन न! आहाहा! भगवान की भक्ति, व्रत संसार को बढ़ानेवाले? क्या है उसमें देखो। यह शुभभाव भगवान की भक्ति, दया और व्रत के भाव—वह संसार में संसरण करानेवाला है। है सेठी इसमें?

मुमुक्षु : छूटना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : छूटने के लिये तो कहते हैं। है नहीं उसमें। वह तो ऐसा कहते हैं कि कोई करेगा नहीं। सेठी ऐसा कहते हैं। कौन करता है? वह तो उसके आने के काल में आते हैं। वस्तु में कहाँ थे? आहाहा! कठिन काम! ....में यह है न जैसे।

एक तो शुभोपयोग और दूसरा अशुभोपयोग है... दोनों उपयोग एक ही प्रकार के हैं, कहते हैं। **शुद्धोपयोग कोई भी नहीं है।** दोनों में एक भी शुद्ध उपयोग है नहीं। आहाहा! **इससे मोक्षमार्ग में दोनों की सराहना नहीं है...** देखो! मोक्षमार्ग में दोनों की अनुमोदना है नहीं। यह ठीक है शुभ और अशुभ अठीक है, ऐसा वस्तु के स्वरूप में है नहीं। **दोनों हेय ही हैं।** कितना स्पष्ट किया है। दोनों हेय हैं। **दोनों आत्मा के विभावभाव हैं, स्वभावभाव नहीं हैं, दोनों पुद्गलजनित हैं।** बहुत स्पष्ट करते हैं। **दोनों पुद्गलजनित हैं।** पुद्गल से उत्पन्न हुए हैं। चाण्डालिनी के पुत्र हैं, विभाव।

आत्मजनित नहीं। आत्मा से उत्पन्न हुए नहीं। आत्मा तो आनन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति, उससे उत्पन्न हुआ भाव है? गजब काम! पण्डितजी! यह काम भारी कठिन पड़ता है लोगों को। भड़कते हैं बेचारे। सोनगढ़ की पुस्तक, सोनगढ़ की वाणी आवे, सोनगढ़ के विद्वान आवे (तो) भड़के। वह तो एकान्त है, एकान्त है। ऐसा कि वह तो एकान्त ही कहते हैं (इसलिए) मुक्ति का ही कारण कहते हैं, परन्तु बन्ध के कारण को बताते नहीं। ...बतानेवाले हैं, ऐसा किसने कहा? परन्तु बन्ध के कारण से लाभ है, ऐसा बताते नहीं, यह उन्हें खटकता है। दोनों पुद्गलजनित हैं। **इनसे मुक्ति नहीं हो सकती और न केवलज्ञान प्रगट होता है...** लो! है न?

आत्मा में स्वभाव, विभाव दो प्रकार की परिणति होती है... लो। एक भगवान

आत्मा चैतन्य शुद्ध आनन्द निर्मल की अवस्था होना और एक विकारी अवस्था होना। **स्वभाव परिणति तो वीतरागभाव है।** ज्ञान और आनन्दस्वभाव की सन्मुखता की जो परिणति, वह तो वीतरागभाव है। **विभाव परिणति राग-द्वेषरूप है।** विकारीभाव तो सब राग-द्वेषरूप है। **इन राग और द्वेष में से द्वेष तो सर्वथा पापरूप है।** यहाँ तो यह सिद्ध किया है। समझ में आया?

पंचास्तिकाय में ऐसा कहा है न? तत्प्रमाण लिया है। आत्मानुशासन में जरा (ऐसा है कि) देव-गुरु-शास्त्र के प्रति प्रेम होने से कोई गुरु को—किसी मुनि को सिंह आदि यदि मारता हो तो उसके प्रति जरा द्वेष आता है, वह पुण्य का कारण है, शुभभाव है। क्योंकि वह कहीं मारने का भाव नहीं वास्तव में।

मुमुक्षु : बचाने का।

पूज्य गुरुदेवश्री : बचाने का अर्थात् वह मात्र मुनि को बचाने का है। यहाँ से हट जाये तो वहाँ आगे मारने जाये?

मुमुक्षु : नहीं, बिल्कुल नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए सिंह मारता हो मुनि को वहाँ, तो धर्मी को ऐसा राग आवे तो उसमें द्वेष भी आ जाये अन्दर। भारी गजब बातें! आहाहा!

एक व्यक्ति ने लिखा था। रामचन्द्रजी ने उसको मारो... कैसा शम्बूक? और द्रोणाचार्य ने उसका अंगूठा काटा। उनकी विद्या सीखा था न। ऐसा हिन्दू धर्म? नहीं, छोड़ हिन्दू धर्म। अरे! सुन न... किस अपेक्षा से बात थी। ...ऐसे भी निकले, लो। अखबार में यह बात आयी थी। ऐसा हिन्दू धर्म नहीं होता। निकला होगा फटा हुआ कोई। अरे! हिन्दू धर्म अर्थात्... वे तो राजा थे। राजकाल में ऐसा कोई होता है राजा को, वह क्या है? स्वभाव में कहाँ है? और मारनेयोग्य है, ऐसा कहाँ है? यह मारने का ठीक है, ऐसा है? तो करते क्यों हैं? वह तो भाव आया और क्रिया हो गयी। वह ज्ञानी तो जाननेवाले हैं। भारी कठिन काम।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनि को न मारने का भाव है।

मुमुक्षु २ : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहा, परन्तु वह तो बात चलती है यह। वापस यह मांडी वापस। पकड़ते नहीं। यह तो मांडी कि उसका शुभभाव है और उसका मारने का भाव अशुभ है। यहाँ कहीं सिंह को मार डालने का भाव नहीं है। यह तो पहले बात हुई। पकड़ते नहीं।

उसे मुनि को बचाने का भाव है, (इसलिए) उसका शुभ है और उस सिंह को मुनि को मार डालने का भाव है। साधकपना जगत में न हो, ऐसा उसका भाव है, वह तो पापभाव है। नरक में जाये। सिंह को मारनेवाला स्वर्ग में जाये। गजब, भाई! यह तो और आया, ऐसा कैसे होता है? जरा ऐसा माने यह। भाई! समझ में आया? दरशथनन्दन ऐसा करे? और हमारे जैसे अच्छे व्यक्ति कभी किसी जीव को मारे ही नहीं, ऐसा कहे। हमारे (जैसे) सज्जन व्यक्ति.... यह क्या ईशु ख्रिस्त जैसा कहे, किसी को मारना नहीं।

मुमुक्षु : समय-समय में अपने को मारे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा जीव चाहिए। ऐ वजुभाई! भाई! तुझे खबर नहीं। शुद्धता और बीच में आनेवाला शुभ-अशुभभाव, उसकी मर्यादा कितनी है और उसका फल कितना है ज्ञानी को, उसकी तुझे खबर नहीं। समझ में आया? राग और द्वेष में से द्वेष तो सर्वथा पाप कहा यहाँ, परन्तु किसी जगह पुण्य भी कहा जाता है। आत्मानुशासन में।

परन्तु राग प्रशस्त और अप्रशस्त के भेदों से दो प्रकार का है। शुभराग और अशुभराग (ऐसे) राग के दो प्रकार हैं। देव-गुरु-शास्त्र का राग। **प्रशस्त राग पुण्य है और अप्रशस्त राग पाप है। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के पहले स्वभावभाव का उदय नहीं होता।** सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने से पहले स्वभावभाव का उदय नहीं होता। अत:.. इसलिए वे कहते हैं न कि ... स्वभाव नहीं इसलिए पहला शुभभाव होता है, वही सम्यग्दर्शन पाने का (कारण) मिथ्यात्व में। अरे सुन न! ऐसी भी गड़बड़ करते हैं। **अत: मिथ्यात्व की दशा में जीव की शुभ व अशुभरूप विभाव परिणति ही रहती है।** मिथ्यात्व—श्रद्धा उल्टी है... जिसे (ऐसा है कि) पुण्य परिणाम में धर्म होता है, पाप परिणाम में मजा पड़ता है—ऐसी मिथ्यात्व दशा में शुभ-अशुभभाव परिणाम दोनों विभाव परिणति ही होती है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हुए पीछे,... अब तीसरा बोल, **कर्म का सर्वथा अभाव होने तक...** आया था न यह। आठ कर्म का नाश न हो, तब तक दो धारा है। **स्वभाव और विभाव दोनों परिणति रहती हैं।** धर्मी जीव को आत्मा का भान हुआ तथापि, पूर्ण वीतराग न हो तो स्वभाव और विभाव दोनों होते हैं। होते हैं, इसलिए धर्म नहीं—ऐसा है नहीं। और होते हैं, इसलिए (वह) विभाव धर्म है, ऐसा भी (नहीं)। समझ में आया? गजब बातें हैं। आहाहा! जिसे जन्म-मरण का छोर—अन्त लाना हो, उसकी यह बातें हैं। आहाहा! कहीं भी यदि मिठास रह गयी राग में, हो गया, वह तो अनादि का है वह संसार। भगवान आत्मा विकल्परहित, उसकी भानदशा होने पर विभाव भी... थोड़ा बाधक (पना) है न (क्योंकि) साधक है सही न। थोड़ा बाधकपना होता है। बाधकपना होता है, इसलिए साधकपना वहाँ नहीं, ऐसा नहीं है। एक साथ साधकपना और बाधकपना हो सकता है। पहले आ गया था। सम्यग्दर्शन और मिथ्यात्व एक साथ नहीं रह सकते, परन्तु साधकपना और बाधकपना तो एक साथ रह सकता है। उसमें विरोध नहीं है। अनन्त जीवों को ऐसा हुआ है।

सो स्वभाव परिणति संवर-निर्जरा और मोक्ष की जननी रहती है... लो। मुनि को, समकिती को जितनी स्वभावदशा प्रगट हुई है, उतनी तो संवर, निर्जरा और मोक्ष की जननी—मोक्ष की उत्पत्ति है। समकिती को भी। **और विभाव परिणति बन्ध ही को उत्पन्न करती है।** आहाहा! यह तो धीर का काम है। अन्तर्मुख दृष्टि हुई होने पर भी वह बहिर्मुख का विभावभाव भी होता है। समझ में आया? आहाहा! बाहुबली और भरत दोनों लड़े। उसने चक्र मारा। कहे, ऐसा होता है? परन्तु बापू! विभाव परिणति का भाग है, भाई! उससे तो मुक्त है, तथापि होता है। लोग, यह मुक्त है, ऐसा नहीं देख सकते। सहित है, ऐसा देख सकते हैं। लो, ऐसा यह करे? ऐसा यह करे? छिलके को देखते हैं। उसमें अन्दर चावल—कस उत्पन्न हुआ है, (उसकी) खबर नहीं पड़ती। आहाहा! **विभाव परिणति बन्ध ही को उत्पन्न करती है।** किसे? समकिती को, धर्मी जीव को। चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थान में जितना स्वभाव प्रगट हुआ है, उतना संवर, निर्जरा है (और) विभाव है, वह बन्ध का कारण है।

इसका खुलासा इस प्रकार है कि 'जावत शुद्धोपयोग पावत नहीं मनोग, तावत

ही ग्रहण जोग कही पुन्न करनी।' यह डाला इन्होंने जरा। उसे होता है। मनोग शुद्ध उपयोग जब तक पूर्ण न हो, तब तक धर्मी को थोड़ा भी भाव ऐसा होता है। मनोग समझे न? थोड़ा-सा... मनोग, मनोग। ऐसे तो मनाक् है दूसरी जगह तो। थोड़ा भी (राग हो), शुद्ध उपयोग पूर्ण न हो (तब तक), ऐसा। **तावत ही ग्रहण जोग कही पुन्न करनी।** वहाँ तक उसकी... ज्ञान कराया है।

शुद्धोपयोग पावत नहीं मनोग। मन को प्रसन्न कार्य ऐसा शुद्धभाव। शुद्धभाव तो चौथे से उत्पन्न होता है, परन्तु शुद्ध उपयोग पूर्ण न हो, तब तक उसे **ग्रहण जोग कही पुन्न करनी।** शुभभाव होता है, बस इतना। भाषा तो सब कही कि पुन्न करनी ग्रहण जोग। ग्रहण जोग कहाँ थी? परन्तु व्यवहार से समझाना हो तो क्या समझावे?

मुमुक्षु : पाप से बचना।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाप से बचने का कहना, वह भी एक अपेक्षित (कथन) है। उस समय ऐसा पुण्यभाव होता ही है। उस काल में उस समय में वही भाव होता है। परन्तु फिर बोलने में ऐसा आवे कि पाप से बचने के लिये विकल्प आवे सही न कि यह पाप न हो तो ठीक, इस अपेक्षा से ऐसा। बाकी ठीक-अठीक तो कुछ है नहीं। गजब बातें!

की रीति से सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनि, पाप परिणति से बचकर... देखो! **शुभोपयोग का अवलम्बन लेते हैं।** आता है, इसका अर्थ। 'अवलम्बन' का अर्थ (कि) निमित्तरूप से होता है, ऐसा। **और शुभ परिणति उन्हें आस्रव ही उपजाती है।** वह शुभभाव तो आस्रव उपजाता है। कहो, पाँच महाव्रत के परिणाम छठवें गुणस्थान में होते हैं, परन्तु वह आस्रव उपजाते हैं। अन्दर आत्मा का जो अनुभव होकर दशा प्रगट हुई, उतनी संवर-निर्जरा है। समझ में आया? **उन्हें जो गुणश्रेणिरूप निर्जरा होती है...** धर्मी को, **वो शुद्धोपयोग के बल से होती है...** ऐसा। इस शुभभाव से कुछ होती नहीं उसे गुणश्रेणी निर्जरा। वह तो (शुभभाव तो) बन्ध का कारण है। **शुद्धोपयोग के बल से होती है, शुभ उपयोग तो आस्रव ही करता है।** आस्रव ही करता है। तब तक दो होकर निर्जरा होती है... आता है न! रतनचन्दजी। जयधवल। दो होकर निर्जरा, नहीं तो कोई उपाय नहीं। वह तो प्रमाणज्ञान कराया है, सुन न अब! ओहोहो!

भाव यह है कि जितने अंश राग है, उतने अंश बन्ध है। पुरुषार्थसिद्धि उपाय। श्लोक आ गया है। जितने अंश में समकिती को भी पंच महाव्रत आदि का विकल्प है, उतना बन्ध का कारण है और रागरहित अन्दर आत्मद्रव्य की दृष्टि हुई और रमणता हुई, उतना संवर-निर्जरा है। वह आत्मा का भान नहीं और मात्र पंच महाव्रत पालन करे, (वह) अकेले बन्धन में (है और) अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। **और जितने अंश ज्ञान और निश्चय चारित्र है, उतने अंश बन्ध नहीं है...** लो। जितने अंश में सम्यग्ज्ञान हुआ आत्मद्रव्य का और जितने अंश में स्वरूप में स्थिर होने से चारित्र हुआ, उतना बन्ध नहीं है।

इसलिए पुण्य को भी पाप के समान हेय जानकर शुद्धोपयोग की शरण लेना चाहिए... लो। पाप को भी हेय और पुण्य के परिणाम को भी हेय जानकर शुद्ध उपयोग का शरण लेना। इसका अर्थ कि शुद्ध उपयोग प्रगट करना। शरण तो द्रव्य का है। भाषा तो ऐसी आवे न। ऐसे न जा, ऐसी शरण लेना। कहो, समझ में आया? शरण लेना चाहिए। वह धर्म है, वह मांगलिक है, उत्तम है और शरण है। उससे मुक्ति है। पुण्य-पाप के दोनों विकल्प से मुक्ति कुछ है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आस्रव द्वार

प्रवचन नं. ६०, (उपलब्ध नहीं)
आस्रव द्वार पद १, २, ३, ४

काव्य - १

प्रतिज्ञा (दोहा)

पाप पुन्नकी एकता, वरनी अगम अनूप।
अब आस्रव अधिकार कछु, कहौं अध्यातम रूप।।१।।

शब्दार्थ:-अगम=गहन। अनूप=उपमा रहित।

अर्थ:-पाप-पुण्य की एकता का गहन और अनुपम अधिकार वर्णन किया, अब आस्रव अधिकार का आध्यात्मिक रीति से कुछ वर्णन करता हूँ।।१।।

★ ★ ★

काव्य - २

सम्यग्ज्ञान को नमस्कार (सवैया इकतीसा)

जेते जगवासी जीव थावर जंगमरूप,
तेते निज बस करि राखे बल तोरिकैं।
महा अभिमानी ऐसौ आस्रव अगाध जोधा,
रोपि रन-थंभ ठाड़ौ भयौ मूछ मोरिकैं।।
आयौ तिहि थानक अचानक परम धाम,
ग्यान नाम सुभट सवायौ बल फोरिकैं।
आस्रव पछार्‌यौ रन-थंभ तोरि डार्‌यौ ताहि,
निरखि बनारसी नमत कर जोरिकैं।।२।।

शब्दार्थ:-थावर (स्थावर)=एकेन्द्रिय। जंगम=द्वि इन्द्रिय आदि। अभिमानी=घमंडी। अगाध=अपरिमित। रोपि=खड़ा करके। रन-थंभ=युद्ध का झण्डा। थानक=स्थान। अचानक=अकस्मात्। सुभट=योद्धा। फोरिकैं=जाग्रत करके। निरखि=देखकर।

अर्थ:-जिसने संसार के सब त्रस-स्थावर जीवों को बलहीन करके अपने आधीन किया है, ऐसा बड़ा अभिमानी आस्त्रवरूप महायोद्धा मूछ मरोड़कर लड़ाई का झण्डा स्थापित करके खड़ा हुआ। इतने में वहाँ अचानक ही ज्ञान नाम का महायोद्धा सवाया बल स्फुरित करके आया तो उसने आस्त्रव को पछाड़ डाला और रणथंभ को तोड़ डाला। ऐसे ज्ञानरूपी योद्धा को देखकर पण्डित बनारसीदासजी हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं।।२।।

★ ★ ★

काव्य - ३

द्रव्यास्त्रव, भावास्त्रव और सम्यग्ज्ञान का लक्षण (सवैया तेईसा)

दर्वित आस्त्रव सो कहिए जहं,
पुग्गल जीवप्रदेस गरासै।
भावित आस्त्रव सो कहिए जहं,
राग विरोध विमोह विकासै।।
सम्यक पद्धति सो कहिए जहं,
दर्वित भावित आस्त्रव नासै।
ग्यान कला प्रगटै तिहि थानक,
अंतर बाहिर और न भासै।।३।।

शब्दार्थ:-दर्वित आस्त्रव=पुद्गल परमाणुओं का आगमन। गरासै=घेर लेवे। भावित आस्त्रव=द्रव्य आस्त्रव में कारणभूत आत्मा की विभाव परिणति। पद्धति=चाल। ग्यान कला=ज्ञानज्योति।

अर्थ:-आत्मप्रदेशों पर पुद्गल का आगमन सो द्रव्यास्त्रव है, जीव के राग-

द्वेष–मोहरूप परिणाम भावास्रव है, द्रव्यास्रव और भावास्रव का अभाव आत्मा का सम्यक् स्वरूप है। जहाँ ज्ञानकला प्रगट होती है वहाँ अंतरंग और बहिरंग में ज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं दिखता।।३।।

★ ★ ★

काव्य - ४

ज्ञाता निरास्रवी है (चौपाई)

जो दरवास्रव रूप न होई।
जहं भावास्रव भाव न कोई।।
जाकी दसा ग्यानमय लहिए।
सो ग्यातार निरास्रव कहिए।।४।।

शब्दार्थ:–दसा=अवस्था। ग्यातार=ज्ञानी। निरास्रव=आस्रव रहित।

अर्थ:–जो द्रव्यास्रवरूप नहीं होता और जहाँ भावास्रव भाव भी नहीं है और जिसकी अवस्था ज्ञानमय है, वही ज्ञानी आस्रव रहित कहाता है।।४।।

★ ★ ★

प्रवचन नं. ६१, चैत्र शुक्ल ६, गुरुवार, दिनांक १-४-१९७१
आस्त्रव द्वार पद ५ से १०

काव्य - ५

सम्यग्ज्ञानी निरास्रव रहता है (सवैया इकतीसा)

जेते मनगोचर प्रगट-बुद्धि-पूरवक,
तिह परिनामनकी मतता हरतु है।
मनसौं अगोचर अबुद्धि-पूरवक भाव,
तिनके विनासिवेकौं उद्दिम धरतु है।।
याही भांति पर परनतिकौ पतन करै,
मोखकौ जतन करै भौ-जल तरतु है।
ऐसे ग्यानवंत ते निरास्रव कहावैं सदा,
जिन्हिकौ सुजस सुविचच्छन करतु है।।५।।

शब्दार्थः-मनगोचर=जहाँ तक मन की पहुँच है।। मनसौं अगोचर=जहाँ मन की पहुँच नहीं है। उद्दिम=उद्योग। पतन=नाश। जतन=उपाय। भौ-जल (भवजल)=संसार-सागर। सुविचच्छन=पंडित।

अर्थः-जिन्हें मन जान सके ऐसे बुद्धिग्राही अशुद्ध परिणामों में आत्मबुद्धि नहीं करता और मन के अगोचर अर्थात् बुद्धि के अग्राह्य अशुद्ध भाव नहीं होने देने में सावधान रहता है, इस प्रकार पर-परिणति नष्ट करके और मोक्षमार्ग में प्रयत्न करके जो संसार-सागर से तरता है, वह सम्यग्ज्ञानी निरास्रवी कहलाता है, उसकी विद्वान लोग सदा प्रशंसा करते हैं।

भावार्थः-वर्तमान काल के अशुद्ध परिणामों में आत्मबुद्धि नहीं करता और भूतकाल में हुए रागादि परिणामों को अपने नहीं मानता वा आगामी काल में होनेवाले विभाव मेरे नहीं हैं, ऐसा श्रद्धान होने से ज्ञानी जीव सदा निरास्रवी रहते हैं।।५।।

काव्य - ५ पर प्रवचन

ज्ञानी निरास्रव कैसे है, उसका भावार्थ। अर्थ आ गया है। भावार्थ है न! आत्मा का ज्ञान हुआ, इसलिए वह निरास्रव है, ऐसा सिद्ध करना है। अर्थात् क्या? कि आत्मा पुण्य और पाप के विकल्पों से पर है और अपने पूर्ण शुद्ध आनन्दस्वभाव से अभेद है, ऐसा अनुभव होने पर—ऐसा आत्मा परिपूर्ण अखण्ड अभेद राग, कर्म और नोकर्म से रहित है, ऐसा अन्तर सम्यग्दर्शन होने पर—वह जीव ज्ञानी है और उसे आस्रव का बन्ध नहीं है। उसे आस्रव भी नहीं और बन्ध भी नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? क्योंकि जो यह पुण्य और पाप के विकल्प हैं राग भाग, उनसे भिन्न पड़ा, इसलिए राग के साथ एकत्व है नहीं। राग के साथ एकत्व नहीं, इसलिए राग का बन्धन और राग के परिणाम उसे है नहीं। भिन्न हो गये।

भावार्थ : **वर्तमान काल के अशुद्ध परिणामों में आत्मबुद्धि नहीं करता...** है न भावार्थ। कहाँ आया सेठी?

मुमुक्षु : यहाँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ, अच्छा। वर्तमान काल के अशुद्ध परिणामों में आत्मबुद्धि नहीं। क्योंकि जितने परिणाम पुण्य और पाप के हैं, वे अशुद्ध हैं और धर्मी जीव को तो शुद्धस्वभाव-स्वरूप का स्वामित्व है। इसलिए उसे अशुद्ध परिणाम में आत्मबुद्धि नहीं है। व्रत-दया-दान, व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प राग 'वह मेरा है'—ऐसी बुद्धि नहीं है। क्यों? कि राग से पृथक् होकर अन्तर्मुख जिसका परिणमन है। समझ में आया? स्वभाव का अन्तर्मुख परिणमन है, इसलिए राग पृथक् रह गया; इसलिए राग में ज्ञानी को आत्मबुद्धि—पोताबुद्धि—स्वबुद्धि—स्वामीबुद्धि नहीं है। कहो, राग में स्वामित्व नहीं, आत्मबुद्धि नहीं। तो फिर यह पुत्र, शरीर और कर्म मेरे हैं—ऐसा उसे होता नहीं। उसमें रहा होने पर भी होता नहीं, ऐसा कहते हैं। दुनिया देखती है कि उसमें है। वह तो अपना स्वभाव शुद्ध चैतन्य है, उसमें है। राग में नहीं तो शरीर, कर्म में भी नहीं और पर में भी नहीं। इसलिए उसे पुण्य-पाप के परिणाम में स्वपना—आत्मपना—अपनापना, (ऐसी) बुद्धि है नहीं। उसका नाम सम्यग्दर्शन और ज्ञान कहा जाता है।

भूतकाल में हुए रागादि परिणामों को अपने नहीं मानता... भाई! भूतकाल में शुभभाव हुए, उनसे पुण्य बँधा और उनसे मनुष्यदेह मिला, यह ठीक किया—ऐसा ज्ञानी को होता नहीं। समझ में आया? भूतकाल में शुभभाव हुए थे तो उसका पुण्य बँधा, उसके कारण यह सामग्री मिली, सुनने का मिला, इसलिए ठीक है—ऐसा धर्मी को होता नहीं। आहाहा! समझ में आया? **भूतकाल में हुए रागादि परिणामों को अपने नहीं मानता वा आगामी काल में होनेवाले विभाव मेरे नहीं हैं।** तीनों काल से रहित है। वर्तमान में भी आत्मा पर दृष्टि होने से राग के साथ एकत्व नहीं है। भूतकाल में हुए, उनके प्रति ममताभाव नहीं है। अपने थे, ऐसा माना नहीं। भविष्य में हो, उसमें भी अपनापन मानता नहीं। **ऐसा श्रद्धान होने से...** श्रद्धा में तो 'चैतन्य शुद्ध परिपूर्ण आनन्द हूँ' ऐसी श्रद्धा के कारण से भविष्य, भूत और वर्तमान तीनों के राग से वह रहित है। आहाहा!

ज्ञानी जीव सदा निरास्त्रवी रहते हैं। अस्थिरता का राग आदि है, उसकी एकत्वबुद्धि नहीं, इसलिए उसे निरास्त्रव कहा जाता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : अस्थिरता का राग क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अस्थिरता... अस्थिरता नहीं होती? देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग, कोई विषय-वासना का विकल्प। परन्तु उसमें स्वपना नहीं। भिन्न पड़ गया है, इसलिए अपनापन उसमें नहीं। वर्तमान में नहीं, ऐसा भूत और भविष्य में भी नहीं। भाई! भूतकाल में राग था, वह ठीक (कि) जिससे यह सब मिला। और राग अभी हो तो भविष्य में कुछ वाणी मिले, कुछ संयोग मिले अच्छे—यह भावना ज्ञानी को नहीं होती। कहो, पण्डितजी!

मुमुक्षु : तीनों काल रागरहित हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीनों काल रागरहित।

अब शिष्य का प्रश्न

सर्वस्या-मेव जीवन्त्यां द्रव्य-प्रत्यय-सन्ततौ।
कुतो निरास्त्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः॥५॥

लो, यह '**जीवन्त्यां**' आया। जीवित कर्म है न? ऐसा कहते हैं। जीवन्तस्वामी! '**जीवन्त्यां**' शब्द आया न! क्या कहा?

मुमुक्षु : जीवन्तस्वामी।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह।

मुमुक्षु : याद रखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : याद रखा। थे तुम? जीवन्तस्वामी। उनका नाम जीवता स्वामी था। 'जीवन्तस्वामी' उसमें लिखा हुआ हों, प्रतिमा के ऊपर। मलूकचन्दभाई नहीं थे। ये सब चले गये थे सामने। क्योंकि सामने जाये तो सब ठीक सा मिले न वहाँ। इन्होंने सब वहाँ लिखा। वह सब भी याद किया था तब हों! उनको वहाँ कि यह... यह लोग नहीं यहाँ। पोपटभाई चले गये थे। कहो, समझ में आया? यह मूर्ति के ऊपर लिखा हुआ है। पोपटभाई! 'जीवन्तस्वामी' ओहोहो! गजब कहा, भाई! तीर्थंकर २४ तो मोक्ष पधारे हैं। सीमन्धर भगवान तो जीवन्त हैं, इसलिए 'जीवन्तस्वामी' ऐसा लिखा है, हों! इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, जिसे कर्म तो जीवित पड़े हैं अस्तिरूप से, ज्ञानी जीव को भी।

★ ★ ★

काव्य - ६

शिष्य का प्रश्न (सवैया तेईसा)

ज्यौं जगमैं विचरै मतिमंद,
सुछंद सदा वरतै बुध तैसो।
चंचल चित्त असंजित वैन,
सरीर-सनेह जथावत जैसो।।

भोग संजोग परिग्रह संग्रह,
मोह विलास करै जहं ऐसो।
पूछत सिष्य आचारजसौं यह,
सम्यकवंत निरास्रव कैसो।।६।।

शब्दार्थ:-विचरै=वर्ताव करे। सुछंद (स्वच्छन्द)=मनमाना। बुध=ज्ञानी। वैन=वचन। सनेह (स्नेह)=मुहब्बत। संग्रह=इकट्ठे करना।

अर्थ:-शिष्य गुरु से प्रश्न करता है कि हे स्वामी! संसार में जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव स्वतन्त्र वर्तता है, वैसी ही तो सम्यग्दृष्टि जीव की हमेशा प्रवृत्ति रहती है-दोनों के चित्त की चंचलता, असंयत वचन, शरीर का स्नेह, भोग का संयोग, परिग्रह का संचय और मोह का विलास एकसा होता है। फिर सम्यग्दृष्टि जीव किस कारण से आस्रव रहित है?।।६।।

काव्य - ६ पर प्रवचन

ज्यौं जगमैं विचरै मतिमंद,
सुछंद सदा वरतै बुध तैसो।
चंचल चित्त असंजित वैन,
सरीर-सनेह जथावत जैसो॥
भोग संजोग परिग्रह संग्रह,
मोह विलास करै जहं ऐसो।
पूछत सिष्य आचारजसौं यह,
सम्यकवंत निरास्रव कैसो॥६॥

परिग्रह—संग्रह, देखो कवि है और कवि की शैली भी कैसी अलग, देखो न!

कहते हैं कि '**जगमैं विचरै मतिमंद**' **स्वामी! संसार में जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव स्वतन्त्र वर्तता है, वैसी ही सम्यग्दृष्टि जीव की हमेशा प्रवृत्ति रहती है।** वह व्यापार में दिखाई दे, धन्धे में दिखाई दे, कहो, जहाज के धन्धे में चढ़ा हो, युद्ध में हो। जैसा

मिथ्यादृष्टि को एकत्व है, (वैसे) इसे भी प्रवृत्ति है। नहीं इसे ? ऐसा कहते हैं। आहाहा! '**ज्यौं जगमैं विचरै मतिमंद**।' मतिमन्द अर्थात् अज्ञानी। '**सुछंद बरतै बुध तैसो**।' इस प्रकार समकिती भी तत्प्रमाण ही करे। अभी समकिती को पुण्य का उदय विशेष हो तो फिर अधिक संयोग में जाये। वह थोड़ा करता हो और यह बड़े-बड़े करोड़ों-अरबों रुपये के बड़े हीरा-माणिक का धन्धा हो, लो। वह सौ-दो सौ रुपये पैदा करता हो, इतनी छोटी दुकान में बैठा हो। प्रवृत्ति तो सबकी दिखती है। यह भी करते हैं और यह भी करते हैं। तो उसे तुम निरास्रव कैसे कहते हो ? उसे आस्रव नहीं ? निराला हो गया ? यह सब तो होता है न ? ऐसा शिष्य पूछता है।

चंचल चित्त... और चित्त भी चंचल है। एक जगह स्थिर होकर अन्दर में पड़ा है, ऐसा नहीं। घड़ीक में व्यापार का विकल्प आवे, घड़ीक में खाने का आवे, घड़ीक में यह आवे, यह आवे, ऐसा चंचल चित्त उसे भी है। चित्त लीन हो गया है आत्मा में, तब तो यह प्रवृत्ति होती नहीं। शिष्य का प्रश्न है। चित्त चंचल '**असंजित वैन**'—असंयत वचन बोले। कहो। ... फलाना करो, यह लड़के का विवाह करो, यह लड़की को व्यवस्थित जगह विदा करो। लो, सब बोले। कहो, मिथ्यादृष्टि बोले, वैसा यह भी बोले। अब उसमें अन्तर कहाँ रखा इसने ? और आस्रवरहित हो गया ? आहाहा!

'**असंजित वैन**' करे। लड़ाई में तो 'मारो' ऐसा भी कहे, लो। लाओ, चलो लड़ाई करने। कौन सामने आया है ? लो। भरत चक्रवर्ती, लो, समकिती। देव ने आठ दिन तक वर्षा बरसायी। यह क्या है ? ऐसी वर्षा क्या ? आठ दिन एक धारा मूसलाधार। कुदरत की वर्षा ऐसी नहीं होती। मूसलधारा बरसे उसमें कहीं अन्तर न पड़े, यह प्राकृतिक वर्षा नहीं। कहो, क्या है यह ? बोलो। देव... देव बरसाते हैं यह तो। जाओ, हटाओ। अपने दीवान (को कहा), जाओ, क्या करते हैं ? कौन है ? प्राकृतिक वर्षा ऐसी नहीं होती। प्राकृतिक कहीं रह जाये, थोड़ी पड़े, ऐसा होता है। यह तो एक मूसलधारा से बरसती है आठ दिन और सात रात। कहो, ऐसे वचन बोले और तुम कहते हो कि वह निरास्रवी। ठीक! कहो पण्डितजी! ऐसा शिष्य प्रश्न करता है।

'**सरीर-सनेह**' शरीर में राग होता है। सब्जी गर्म-गर्म न हो और ठण्डी हो गयी

(हो तो कहे), ऐसा क्यों किया? सब्जी ठण्डी हो गयी। गर्म करो फिर से। इतना अधिक राग शरीर को? वह भी ऐसा कहे, गर्म नहीं। कर लो फिर से। सब्जी ठण्डी हो गयी है। हम आवें, तब रोटी बनाना गर्म-गर्म। फिर से उसमें रखना नहीं, गरवा में रखना नहीं बनाकर। आवें तब उतरती जाये, ऐसा तैयार करना। कहो, इतना अधिक शरीर का स्नेह और फिर तुम कहते हो कि निरास्रवी है। '**यथावत जैसौ**' देखो, मिथ्यादृष्टि हो, वह ऐसा बोले। देखो! आहाहा! '**भौग संयोग परिग्रह संग्रह**' ठीक! भोग का संयोग भी हो। सम्यग्दृष्टि है, हजारों रानियाँ हों, इन्द्राणियाँ हजारों-करोड़ों हैं, देखो। भोग है, संयोग है। बड़ा संयोग हो।

उसके खाने-पीने के साधन सब सोना, हीरा-माणेक की सब थालियाँ हों। वह लोहे में नहीं खाता। क्या कहलाता है तुम्हारा यह? स्टील... स्टील। अभी कोई आया था न। हाँ, स्टील और ऐसा कुछ।

मुमुक्षु : निर्मल।

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्मल स्टील। फिर उसमें कोई कहता था, एशिया का बड़ा... बहुत स्टील आयी है बाहर से, इसलिए भाव घट गया है, ८५ का ४५। कोई कुछ कहे वहाँ इतने में दो व्यक्ति दूसरे आये। कहे, नहीं, ऐसा नहीं। तब? कहे, वह क्षय (टी.बी.) का कारण होता है। वे दो व्यक्ति आये थे। एक लड़का....

मुमुक्षु : भाव भी उतर गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव उतर गया, परन्तु इस कारण से उतरा है, कहे। वह कहे, बहुत माल आया, इसलिए उतरा। एक व्यक्ति कहे, उसमें क्षय होने का कारण है, इसलिए उतरा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु माना हो तो आवे। .....

अभी एक-दो लड़के आयुर्वेदी आये थे। अरुणभाई वैद्य को पैसे दे गये। उसमें आये थे दो व्यक्ति। ... बड़ी उम्र के थे ३०-३५। उसमें फिर बात निकली थी। बहुत

भाव घट गया लोहे का। यह हमारे पोपटभाई कहे, चिमनभाई सम्हालकर बैठे थे पहले से। हाँ, वह थोड़ा घटा दिया होगा। ऐसा कि भाव घट गया... वह ऐसी थाली में नहीं खाता, हीरा की थाली में खाता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह तो लोग कहते हैं, ऐसा यहाँ दिखता है, ऐसा कहते हैं। अज्ञानी इस प्रमाण दिखाई दे और यह भी ऐसा दिखाई दे और तुम कहो कि निरास्रवी है। गजब तुम्हारी बात कुछ! ऐसा कहे।

'**भौग संयोग परिग्रह संग्रह**' देखो! परिग्रह का संग्रह करे। ठीक! (अन्यमति) आचार्य कहते हैं न भाई, परिग्रह का संचय घटाओ तो जगत को व्यवस्थित पैसा मिले। परन्तु इन पैसेवालों ने बहुत इकट्ठा किया है, वह दूसरे को खींच पड़ती है। तो यह तो परिग्रह संचय करे, करोड़ों-अरबों रखे। ऐई! और तुम कहो कि इसे कुछ नहीं, लो। अरबों रुपये का संग्रह करे। देखो, है न। परिग्रह संग्रह करे, लो। यह उल्टा और वह यह ऐसा। अधिक परिग्रह रखते हैं न, इसलिए साधारण प्राणी को नहीं मिलता। अब यह बात ही खोटी है। रखे कौन? परन्तु इसे अधिक मिला, इसलिए उसे नहीं मिला—ऐसी बात कहाँ है?

ऐसे.... व्याख्यान फूँके न, उनको ऐसा अच्छा लगे, आहाहा! 'इसलिए बड़े गृहस्थ, उद्योगपति पैसा कम कर डाले कि जिससे साधारण गरीब व्यक्तियों को उनका भाग मिले।' वह भाग भी उनके पुण्य बिना नहीं मिलता और इसे संग्रह का हो, रहने का हो, वह पुण्य के कारण रहता है, उसमें क्या करना? इस तत्त्व को समझे बिना सब गोला मारते हैं, गोला। ऐई धीरुभाई! परिग्रह संचय समकिती करे, अरबों रुपये हों, देखो! समझ में आया? छह खण्ड का राज हो, छियानवें हजार स्त्रियाँ हों। अब इसे—इन्द्र को करोड़ों इन्द्राणियाँ हों।

'**मोह विलास करै जहं ऐसो**' यह भी बस झूले में—झूला खाता (हो)। सोने के ऐसे सरिया हो और फिर ऐसा सब करे और तुम कहते हो कि वह निरास्त्रव है। यह ऐसी बात तुमने कैसी हाँकी है? शिष्य पूछता है, लो। '**मोह विलास करै**' ठीक। **मोह का**

विकास एकसा होता है। विकास लिखा है उसमें। **'पूछत सिष्य आचारजसौं यह, सम्यकवंत निरास्त्रव कैसो ?'** ऐसे समकिती को तुम आस्रव अर्थात् विकार के परिणाम होते ही नहीं और बन्ध होता नहीं, यह किस प्रकार तुम लगाते हो ? ऐसा (शिष्य) पूछता है। नीचे छठवाँ श्लोक (कलश) हैं।

विजहति न हि सत्तां प्रत्यया: पूर्वबद्धा:,
समय-मनुसरन्तो यद्यपि द्रव्य-रूपा:।
तदपि सकल-रागद्वेष-मोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिन: कर्म-बन्ध: ॥६॥

आहाहा! वस्तु निराली जहाँ अनुभव में आयी आत्मा अखण्डानन्द चैतन्यरतन, ऐसे स्वभाव के भान में कहते हैं....

★ ★ ★

काव्य - ७

शिष्य की शंका का समाधान (सवैया इकतीसा)

पूरव अवस्था ज करम-बंध कीने अब,
तेई उदै आइ नाना भांति रस देत हैं।
केई सुभ साता केई असुभ असातारूप,
दुहूंसौं न राग न विरोध समचेत हैं।।
जथाजोग क्रिया करैं फलकी न इच्छा धरैं,
जीवन-मुकतिकौ बिरद गहि लेत हैं।
यातें ग्यानवंतकौं न आस्रव कहत कोऊ,
मुद्धतासौं न्यारे भए सुद्धता समेत हैं।।७।।

शब्दार्थ:-अवस्था=पर्याय। तथाजोग=जैसी चाहिये वैसी, अपने पद के योग्य। समचेत=समता भाव। बिरद=यश। मुद्धता=मिथ्यात्व। समेत=सहित।

अर्थ:-पूर्वकाल में अज्ञान अवस्था में जो कर्म बंध किये थे, वे अब उदय में आकर फल देते हैं, उनमें अनेक तो शुभ हैं तो सुखदायक हैं और अनेक अशुभ हैं जो दु:खदायक हैं, सो सम्यग्दृष्टि जीव इन दोनों भाँति के कर्मोदय में हर्ष-विषाद नहीं करते-समताभाव रखते हैं; वे अपने पद के योग्य क्रिया करते हैं, पर उसके फल की आशा नहीं करते, संसारी होते हुए ही मुक्त कहलाते हैं, क्योंकि सिद्धों के समान देह आदि से अलिप्त हैं, वे मिथ्यात्व से रहित अनुभवसहित हैं, इससे ज्ञानियों को कोई आस्रवसहित नहीं कहता है।।७।।

काव्य - ७ पर प्रवचन

पूरव अवस्था ज करम-बंध कीने अब,
तेई उदै आइ नाना भांति रस देत हैं।
केई सुभ साता केई असुभ असातारूप,
दुहूंसौं न राग न विरोध समचेत हैं।।
जथाजोग क्रिया करैं फलकी न इच्छा धरैं,
जीवन-मुकतिकौ बिरद गहि लेत हैं।
यातें ग्यानवंतकौं न आस्रव कहत कोऊ,
मुद्धतासौं न्यारे भए सुद्धता समेत हैं।।७।।

आहाहा! '**जथाजोग क्रिया करै**' करे, यह तो एक होती है, उसकी बात करते हैं, हों!

उत्तर : पूर्व अवस्था में जो कर्मबन्धन थे, वे अब उदय में आवे, देखे। मेरे आत्मस्वभाव में वह उदय नहीं। आहाहा! यह तो धर्म की दृष्टि बहुत ऊँची है। सम्यग्दृष्टि का माहात्म्य जगत को खबर नहीं। समझ में आया? जहाँ राग से भिन्न भगवान का अनुभव हुआ, कहते हैं कि उसे पूर्व के कर्म का बन्ध हो, जीवित पड़े हैं तो हो। उदय आवे, आवे वह क्या? पूरी दुनिया है। अपने में वह मानता नहीं। '**उदै आइ नानाभांति रस देत हैं**' नाना—अनेक प्रकार के रस आवे, कर्म के फल—अनुभाग

आवे। '**केई सुभ साता केई असुभ असाता**' धर्मी को भी शरीर में साता के उदय से अनुकूलता भी बहुत हो, किसी को असाता के उदय से प्रतिकूलता भी हो, वह तो सब कर्म के फल हैं। धर्मी उन्हें अपना मानता नहीं। आहाहा!

साता की लाख सामग्री करोड़, अरब (सामग्री) हो, तो (भी) मेरे स्वरूप में वह नहीं। मैं तो आनन्द हूँ। इस प्रकार साता-असाता की और साता... शरीर के रोम-रोम में सुई एकदम लाल करके लगावे। धर्मी को उसके प्रति का आश्रय नहीं, उसे दुःख नहीं, क्योंकि वह भिन्न चीज़ है। राग से भिन्न पड़ा है, वहाँ ऐसी क्रिया से भी वह तो भिन्न है। आहाहा! समझ में आया? साता की अनन्त सामग्री में वह 'मुझे ठीक है'—ऐसा मानता नहीं। 'मेरा स्वरूप तो आनन्द है, वह मेरा स्वरूप है।' आनन्द के वेदन में, आनन्द की शान्ति के अनुभव में साता के संयोग लाख-करोड़-अरब हों, उसमें उसे प्रीति उपजती नहीं। आहाहा!

असाता... असाता का उदय हो। सातवें नरक का नारकी, जिसे करोड़ों बिच्छू काटे, ऐसी तो वेदना शरीर में होती है। यहाँ एक बिच्छू काटे, वहाँ चिल्लाहट मचा जाता है। परन्तु वह पर में होता है, मुझे है नहीं। आहाहा! धर्मी तो क्षण में और पल में प्रतिकूलता के संयोग में भी अनन्त प्रतिकूलता हो तो उससे कहीं अन्तरस्वरूप हटता नहीं। डिगता नहीं कि मुझे ऐसा वेदन कब तक? किसे वेदन है? आत्मा में है नहीं। आहाहा! देखो, यह दृष्टि! आत्मा की शान्ति का अनुभव, उसे धर्म कहते हैं। उस शान्ति के अनुभव के समक्ष साता-असाता के ढ़ेर सब ज्ञान के ज्ञेय हैं। आहाहा! कहीं उसे ऐसा (नहीं) होता कि 'यह साधारण है और मैं बड़ा हूँ। मुझे पैसा बहुत है, मेरी इज्जत बहुत है।' ऐसा अभिप्राय में अन्दर होता नहीं।

मुमुक्षु : बाहर दिखता हो तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : दिखे, यह तो कहा पहले। शिष्य ने पूछा कि यह सब दिखता है, बोलता है, ऐसा करता है, परन्तु अन्दर में ऐसा है नहीं। इसलिए तो सिद्ध करते हैं।

उसने कहा न कि मिथ्यादृष्टि से यह और अधिक हो और सब सामग्री अधिक हो, लो। और मानो स्वच्छन्दी मिथ्यादृष्टि वर्तता हो, ऐसा ही यह वर्तता हो। समझ में

आया ? कहो, चक्रवर्ती को कैसे खाने-पीने के साधन कि जिसका एक ग्रास छियानवें करोड़ मनुष्य पचा नहीं सकते। ऐसा तो उसका भोजन का संयोग होता है।

मुमुक्षु : परन्तु उसका शरीर बहुत अच्छा होता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर अच्छा, वह तो जड़ है। वह आत्मा में कहाँ है ? उसके अपने में कहाँ मिले ? यहाँ तो (कहते) हैं, वह तो पर है। अब पर में मेरा है, वह तो है नहीं। आहाहा! इतनी सामग्री तथापि, मैं उसमें हूँ और वे मेरे हैं—यह तो है नहीं। फिर प्रतिकूलता ऐसी अनन्त हो, लो न, सातवें नरक की। यह चक्रवर्ती को अनुकूल और वह प्रतिकूल। दोनों में ज्ञानी को आत्मबुद्धि नहीं, एक (पने की) बुद्धि नहीं। स्वामीपने की बुद्धि नहीं, इसलिए वह ज्ञानी निरास्रव है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह तो मिथ्यात्व की प्रधानता का कथन है न!

'**दुहूंसौ न राग न विरोध**' यह साता के ढ़ेर हों तो प्रेम नहीं। जहाँ प्रभु का प्रेम लगा अन्दर, आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के प्रेम में उसे ऐसी साता की किसी चीज़ में प्रेम उत्पन्न होता नहीं। आहाहा! देखो, यह धर्मदृष्टि! भगवान आत्मा आनन्द का दल—कन्द है। अतीन्द्रिय आनन्द का अकेला चूसणीयां है वह। उसमें चूसे तो अतीन्द्रिय आनन्द आवे, वह आत्मा है। आहाहा! आईसक्रीम को चूसे तो क्या आवे ? उसमें से अग्नि दिखाई दे ? ठण्डा पानी आवे। यह आईसक्रीम नहीं चूसते ? कुल्फी... कुल्फी। रंग डाले कुछ और हरा और यह लड़के उसे चाटे। आहाहा! ऐसी गर्मी हो। अब थोड़ी है। आज कुछ अन्तर पड़ा है कल से। अब गर्मी पड़े और उसमें फिर वह चूसे बूँदें। आहाहा! इसी प्रकार धर्मी को अतीन्द्रिय आत्मा के चूसने के समक्ष यह साता-असाता के भाव में प्रेम-अप्रेम नहीं होता। आहाहा! समझ में आया ?

'**दुहूंसौ न राग न विरोध समचेत**' है न ? समचेत है, देखो! सम्यग्दृष्टि जीव समचेत। ज्ञाता-दृष्टारूप से ऐसी सामग्री में भी अपनेपने आत्मबुद्धि जहाँ नहीं, वहाँ अपनेपने समबुद्धि है। आहाहा! आता है न, नहीं ? निर्जरा में आता है। बिजलियाँ गिरें ऊपर से, वज्र के प्रहार पड़ें ऊपर से, समकिती वहाँ से—आत्मा में से हटता नहीं। बाहर से हट जाये, ऐसा दिखता है। प्लेग हो और चला जाये। ले! ऐई! लड़के भी बहुत हों...

भाई! निकलो अपने पहले। वह पहले निकले गाँव में से। परन्तु अन्तर के अभिप्राय में, मैं निकलूँ (नहीं) तो मुझे यह हो (जायेगा), यह बात है नहीं। गजब! कहो, समझ में आया?

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा आनन्द का धाम, ज्ञान की मूर्ति है। वह हीरा जहाँ लागू पड़ा..., उसे यह सब तुच्छ सामग्री कहीं प्रीति-अप्रीति नहीं करती। इसका नाम धर्म है। धर्म अर्थात् कहीं यह दया पालना, व्रत करना और पूजा करना, यह धर्म नहीं। यह तो विकल्प है, राग है। समझ में आया? अनन्त गुण—धर्म का धारक धर्मी ऐसा आत्मा, ऐसा जो अनुभव में आया तो अनन्त गुण की पर्याय प्रगट वेदन में आयी। उस वेदन के कारण बाहर की सामग्री में कहीं राग या विरोध होता नहीं। आहाहा! समचेत है—समभाव है। सम्यग्दृष्टि जीव समताभाव रखते हैं।

'जथायोग क्रिया करैं फलकी न इच्छा धरैं' यथाजोग रागादि क्रिया हो, ऐसा दिखे, इसलिए 'करे' ऐसा दिया है। उसकी भूमिका प्रमाण शुभ-अशुभभाव हों और देह की क्रिया भी उसकी उपयोगिता प्रमाण हो। **'फलकी न इच्छा धरैं'** वे कहते हैं न अनासक्ति से करना।

मुमुक्षु : वह कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं यहाँ। एक बार ऐसा लागू पड़ने पर... वे भाई थे न मगनलाल दफ्तरी। किशोर नहीं, मगनलाल। किशोर तो मशरूवाला। वह तो बेचारे वेदान्ती। वे तो मिले थे वहाँ (संवत्) १९९५ में। वह तो वेदान्त की लाईनवाले। और यह तो मगनभाई।

मुमुक्षु : सब ज्ञान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मगनभाई! सब यह ज्ञान ही है, सब वेदान्त है। ऐसे जैन में और उसमें कहाँ अन्तर है? अरे! कहा, अन्तर का पार नहीं। सुन तो सही! कुछ पढ़ा नया, बुद्धि का (क्षयोपशम), जरा बोलने की मिठास और उन वाईसरोय ने महिमा की। फिर मस्तिष्क हो गया कि हम कुछ हैं, हम कुछ हैं। वह कहे कि अनासक्ति ऐसी कही है, देखो इसमें। देखो, फल की आशा न रखे, इसका नाम (अनासक्ति)।

‘**फलकी न इच्छा धरैं**’ परन्तु यह दूसरी बात है। करता है और फल की इच्छा न रहे, ऐसा नहीं है। पर का कर सकता ही नहीं। दुनियादारी की क्रिया व्यापार-धन्धे की, वाणी की, यह ब्याज बटाव की। जादवजीभाई! कहाँ यह हीरा-माणेक की, सेठी की। एक हीरा ऐसे से ऐसे फिरना, वह आत्मा नहीं कर सकता। ऐसा ज्ञानी को अन्तर हृदय में पर से भिन्नता का भान हो गया है। आहाहा! समझ में आया? ‘**जथाजोग क्रिया करैं**’ भाषा है न! क्रिया करे परन्तु इच्छा न करे या फल की इच्छा न धरे, ऐसा। इसलिए इसमें से लगावे। देखो, अनासक्ति से करना।

मुमुक्षु : करना कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : करने की कहाँ बात है यहाँ? होता है, उसमें अपनापन नहीं मानता, यह बात है।

‘**जीवन-मुकतिकौ बिरद गहि लेत हैं।**’ देखो, आत्मभान हुआ, वहाँ जीवनमुक्त। जीता होने पर भी राग और पर से मुक्त है। आहाहा! वस्तु अबन्ध है न! मूल अबन्ध कहो या मुक्त कहो। ऐसा अबन्धस्वरूप का जहाँ अनुभव, अबन्धस्वभाव का जहाँ वेदन (हुआ), वह वेदन तो अबन्धपरिणाम का वेदन है। समझ में आया? धर्मी को जीवनमुक्ति का बिरद है कहते हैं। आहाहा! उसे १३वें में जीवनमुक्ति तो है, परन्तु यह तो चौथे में कहा। आहाहा! ‘**बिरद गहि लेत हैं।**’ लो। **संसारी होते हुए भी मुक्त कहलाते हैं...** है न, नीचे ऐसा लिखा है। संसारी होने पर भी मुक्त कहलाता है। एक विकल्पमात्र में अपनापन नहीं और जहाँ अपनापन है, वहाँ विकल्प नहीं। आहाहा!

वीतरागमार्ग अन्तर स्वरूप से बहुत अलौकिक बात है। यह कहीं बाहर की कोई क्रियाकाण्ड की प्रवृत्ति से हो जाये, ज्ञात हो जाये—ऐसा है नहीं। पूरा अभिप्राय गुलाँट खा गया। राग ही नहीं। शरीर की क्रियामात्र की, अनन्त द्रव्य, उनके अनन्त गुण, उनकी अनन्त पर्याय, अनन्त विभाग—प्रत्येक के ऊपर से जहाँ बुद्धि उठ गयी। और अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त शक्तिवाला तत्त्व गहरा-गहरा, अनन्त स्वभाव से भरपूर पदार्थ का जहाँ पता लिया, हीरा हाथ आया। हीरा हाथ आया। वह फिर कंकर का स्वामी नहीं होता, ऐसा कहते हैं। देखो, इसका नाम धर्मी और धर्म। समझ में आया?

'**यातें ग्यानवंतकौं न आस्रव कहत कोऊ**' यहाँ तो कहते हैं कि उस ज्ञानवन्त को आस्रव कोई कहता ही नहीं। आस्रव उसका नहीं, इसलिए आस्रव होता है उसे ऐसा कोई कहता नहीं। आहाहा! यह तो हिन्दी है। छपाया है। हो गये समाप्त? कोई कहता था कि अब यह समाप्त हो गये। हमारे चाहिए (तो) क्या करना? तुम्हारे मनसुख का था कल। जगा नहीं, अब बाद में जगे। व्यापार में पैसे का प्रवाह हो, उसमें यह सामने कहाँ देखना? तीन रखना तीन, न मिले तो एक तो मेरे लिये रखना, ऐसा आया है कल वहाँ गुलाबचन्दभाई के यहाँ। यह उसने लिखा तब खबर पड़ी, हों! हाँ, उसने कहा फिर। उसने लिखा तब माँग की। वापस अपने आप नहीं। यह तो उसने लिखा कि यह तुम... क्या कहलाता है वह? समयसार नाटक। मिला है या नहीं? लिया है या नहीं? भाई, नहीं लिया हमने। तीन रखना। न मिले तो एक (प्रति) तो मेरे लिये रखना ही वह। तीन भाईयों के लिये। परन्तु वहाँ अभी कमाने का ढ़ेर होता है, मौसम है पैसे का। अरे रे! यह वह कमाता है या यह वह लता है? आहाहा! यह पैसे अधिक हों तो गहना अधिक इकट्ठा करने का भाव हो या नहीं? फिर पहनने के लिये, लो।

पोरबन्दर में यह कहा नहीं था? दृष्टान्त नहीं दिया था एक बार? सासू-बहू—दोनों को बने नहीं और पुत्री के साथ बने। अब ऐसा हुआ कि कुछ पाँच-पचास हजार पैदा किये होंगे पुत्र ने, इसलिए उसकी माँ के पास आया कि माँ! अपने यह पचास हजार पैदा किये। पहले तो पचास हजार बहुत गिने जाते न, अभी तुम्हारे पाँच-पाँच लाख, दस लाख का बड़ा-बड़ा अंक। इसलिए मुझे कुछ गहने बनाने का भाव हुआ है बहू के लिये और बहिन के लिये। तो मैं कैसे करूँ? वह कहो। अपने पाँच हजार का बहिन के लिये बनाते हैं और पाँच हजार का बहू के लिये बनाते हैं। कुछ इतना सब नहीं, व्यवहार से हो। बहिन (-बहू) के लिये कर ना, अधिक करना हो तो। उस बहिन के लिये कम कर और इस बहू के लिये अधिक कर। यह और बहू बैठी थी, उसे ऐसा कि मेरे साथ बनता नहीं और फिर भी मेरे लिये अधिक करते हैं, यह क्या? क्योंकि बहू का गहना घर में रहेगा और पुत्री का गहना चला जायेगा यहाँ से। हाँ, ...वहाँ भी वापस स्वार्थ घुसा वहाँ।

मुमुक्षु : बहुत होशियारी....

पूज्य गुरुदेवश्री : होशियारी या मूर्खाई ? ऐई पोपटभाई ! ऐसे सास-बहू को बने नहीं आँखों (सुहावे नहीं) और पूरे दिन तकरार और वह... ऐसा कहा, पाँच-पाँच हजार का अपने दोनों को बनवाते हैं। नहीं, ऐसा रहने दे। बहिन के लिये ५००-१००० का बहुत है। बहू के लिये तू अधिक कर। वह समझ गया कि यह क्या है परन्तु ? ठीक, यह बहू के लिये कराने पर घर में रहेंगे और पुत्री के लिये कराने पर विवाह करके वहाँ ले जायेगी। ऐसे... अन्दर देखो तो सही यह सगे। ऐई मूलचन्दभाई !

मुमुक्षु : लौकिक चतुराई कहलाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी चतुराई नहीं कहलाती, मूर्खता कहलाती है। किसके लिये करता था यह ? आहाहा ! यहाँ तो कहते हैं, धर्मी को यह कुछ है ही नहीं। ऐसा कोई विकल्प आया तो भी, मैंने किया है और मेरा है, ऐसा मानता नहीं। आहाहा ! गजब बात, भाई !

'**ऐसे यातें ग्यानवंतकौं न आस्त्रव कहत कोऊ... कोऊ**' देखा ? केवली नहीं कहते, मुनि नहीं कहते, कोई नहीं कहता, जा। आहाहा ! सिद्ध को तो वाणी है ही कहाँ ? '**मुद्धतासौं न्यारे**' वह मूढ़ता—मिथ्यात्व से तो न्यारा हो गया है, कहते हैं। समझ में आया ? यह दया-दान-व्रत के विकल्पमात्र मेरे हैं, उनसे न्यारा हो गया है। है ही नहीं मेरे, मुझमें वे हैं नहीं, मेरी चीज़ है नहीं। '**मुद्धता**' अर्थात् मिथ्यात्व से न्यारा, **शुद्धता समेत** है, वह तो पवित्रतासहित है। धर्मी तो पवित्रतासहित है, अपवित्रसहित नहीं। वह अपवित्र—आस्त्रवसहित है ही नहीं। अपवित्रसहित नहीं अर्थात् अपवित्रता उसे है, ऐसा कहना उचित नहीं, ऐसा कहते हैं। यह तो सब अलौकिक बातें हैं ! आहाहा !

क्योंकि सिद्धों के समान देह आदि से अलिप्त है... ऐसा कहते हैं। जैसे सिद्ध को देह मेरा है, ऐसा नहीं, उसी प्रकार समकिती को भी देह मेरा है, ऐसा है नहीं। आहाहा ! कहो, समझ में आया ? भारी बड़ी बातें ! देह मेरा है, शरीर मेरा है, यह मेरा है, स्त्री मेरी है, परिवार मेरा है—ऐसे असंख्य तो वचन तो बोले, तथापि उसे आस्त्रवरहित कहना ? बापू ! उसके अभिप्राय में यह बात है नहीं। आहाहा ! '**मुद्धतासौं न्यारे, शुद्धता...**' यह आत्मा के आनन्द के अनुभवसहित है। आहाहा ! पवित्रता शुद्ध के अनुभव सहित है।

क्योंकि आत्मा ही अकेला पवित्र का धाम है, अकेली शुद्धता का पिण्ड है। उसका जहाँ अनुभव हुआ, इससे वह आनन्द के (अनुभव) सहित, वह तो आनन्दसहित है। रागसहित या पक्षसहित नहीं। आहाहा! इसका नाम ज्ञानी और उसे आस्त्रव होता नहीं। आहाहा!

आठवाँ (पद)। नीचे सातवाँ (कलश)।

राग-द्वेष-विमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम्॥७॥

★ ★ ★

काव्य - ८

राग–द्वेष–मोह और ज्ञान का लक्षण (दोहा)

जो हितभाव सु राग है, अनहितभाव विरोध।
भ्रामिक भाव विमोह है, निरमल भाव सु बोध॥८॥

शब्दार्थ:–भ्रामिक=पर द्रव्य में अहंबुद्धि। निर्मल=विकार रहित। बोध=ज्ञान।

अर्थ:–प्रेम का भाव राग, घृणा का भाव द्वेष, परद्रव्य में अहंबुद्धि का भाव मोह और तीनों से रहित निर्विकारभाव सम्यग्ज्ञान है॥८॥

काव्य - ८ पर प्रवचन

जो हितभाव सु राग है, अनहितभाव विरोध।
भ्रामिक भाव विमोह है, निरमल भाव सु बोध॥८॥

चार व्याख्या। '**जो हितभाव**' कुछ भी विकल्प और पर में प्रेमभाव, वह राग है। ज्ञानी को वह है नहीं। आहाहा! सर्व द्रव्य के मध्य में पड़ा ज्ञानी, (परन्तु) उनसे निराला है। सर्व द्रव्य के मध्य में पड़ा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अपनेरूप मानता है। '**जो हितभाव सु राग**' परपदार्थ के प्रति प्रेम का भाव, वह राग है। पर के प्रति राग धर्मी को होता नहीं।

आहाहा! और '**अनहितभाव**' विरोध। अणहित—घृणा। यह नहीं... यह नहीं, इसका नाम द्वेष। यह दोनों ज्ञानी को होते नहीं। आहाहा! और '**भ्रामिक भाव विमोह है**' परद्रव्य में अहंपना, पुण्य के भाव में, शरीर के भाव में सबमें अहंपना, गहरे-गहरे उसमें अपनापना, वह भ्रमणा, अज्ञान है। इन तीनों से रहित '**निरमल भाव सु बोध**।' लो। तीनों से रहित धर्मी को तो निर्विकारभाव सम्यग्ज्ञान है। अरे! धर्मी ने आत्मा को पवित्र माना है, अनुभव किया है, जाना है। इसलिए उसे तो राग-द्वेष और मोह से रहित बोध के निर्मलभाव हैं, वे उसके हैं। आहाहा!

इसमें और विवाद वापस। समकिती को यह नहीं होता। हाथी पानी ले और नहाये और फिर धूल... मुनि को ऐसी निर्जरा होती है। यह विवाद अब ऐसे में। समकिती को ऐसा कि क्रिया यह सब उपवास, तप आदि की और हाथी के स्नान बीच में... हाथी नहावे और फिर धूल में वापस लिपट जाये। आता है न? परन्तु वह तो चारित्र का जोर देने को (बात है)। यहाँ सम्यग्दर्शन... उसकी बात है यहाँ। वह आचारशास्त्र में... ऐसी रमणता है वहाँ। वीतराग... वीतराग... मुनिदशा, आहाहा! जिन्हें कुछ पड़ी नहीं।

मुमुक्षु : मूलचन्दभाई यह बारम्बार याद करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या? गजस्नान, हाँ। यह रतनजी बहुत लिखे। गजस्नान। परन्तु इसका अर्थ क्या? वह तो चारित्र का बहुत जोर बहुत वीतरागता प्रगट हुई जो मुनि को, उसकी अपेक्षा से बात है। परन्तु यहाँ दर्शन की अपेक्षा की बात में समकिती तो निर्मल ही है। आहाहा! उसके बीच की बात है यह तो। यह तो चारित्र और अव्रती के बीच की बात है। आहाहा!

मुनिदशा (अर्थात्) भगवान हो गया वह। आत्मा के आनन्द का अनुभव अतीन्द्रिय आनन्द का प्रसंग प्रचुर स्वसंवेदन। आहाहा! वह दृष्टान्त दिया है न? तरंगिणी। क्या कहते हैं उसे?

मुमुक्षु : तत्त्वज्ञान....

पूज्य गुरुदेवश्री : तत्त्वज्ञान नहीं, यह नहीं। उस सुदृष्टि तरंगिणी में। एक गुफा में

छह साधु बैठे हैं, ऐसा कहे। एक गुफा का दृष्टान्त दिया है। सुदृष्टि तरंगिणी है। पण्डित टेकचन्दजी हो गये हैं। जैसे टोडरमलजी हो गये हैं न, ऐसे वह... ऐसे तो नहीं परन्तु एक विद्वानरूप से। ऐसे अन्तर बहुत है। ऐसी टेकचन्दजी की एक सुदृष्टि तरंगिणी है। उसमें ऐसा लिखा है कि भाई, इस एक गुफा में छह साधु वीतरागी हों वीतरागी उन्हें, कब यहाँ से उठना और कैसे बोलना, किसी की उन्हें पड़ी नहीं कि इन पाँच को पूछकर उठूँ। छह में कोई किसी के सामने देखता नहीं। वे छह व्यक्ति.... वह कल कहा था न!

गुफा में छह व्यक्ति हों। मुनि वीतराग... वीतराग... परन्तु हमारे चलना है तो भाई तुम आओगे भाग्यशाली? यह भी पड़ी नहीं जिसे। वीतरागी मुनि है। बैठे तब तक बैठे, उठे तो उठे, वह क्रिया सब जड़ की है। कोई किसी को कुछ सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार गुफा की भाँति इस चौदह ब्रह्माण्ड के अन्दर छह द्रव्य पड़े हैं, ऐसा कहते हैं। छह द्रव्य। किसी की किसी को पड़ी नहीं। अपना द्रव्य अपने से परिणति कर रहा है। किसी के सामने देखता नहीं कि यह ऐसा करे तो मैं ऐसा करूँ और ऐसा करे तो ऐसा करूँ। छह द्रव्य—अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु (आदि) अपना-अपना काम अपने से कर रहे हैं। किसी की किसी को कुछ पड़ी नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को, जगत में रहा होने पर भी किसी की कुछ उसे पड़ी नहीं है। समझ में आया?

'निरमल भाव सु बोध।' देखो। **तीनों से रहित निर्विकारभाव सम्यग्ज्ञान है।** उसे ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान में अतीन्द्रिय आनन्द आया हो, जिस ज्ञान में अनन्त गुण की पर्याय प्रगट हुई हो, उसे ज्ञान और ज्ञानी कहते हैं। समझ में आया? मात्र ज्ञान का उघाड़, उसे वह ज्ञानगुण कहा ही नहीं जाता। उसे **'निरमल भाव सु बोध।'** तीन से रहित—राग-द्वेष और भ्रान्ति से रहित, ऐसा भगवान आत्मा का शुद्धस्वरूप, उसका स्वसंवेदन, वह निर्मल है, उसे ज्ञानी कहा जाता है। मलिनता के परिणाम में एकता नहीं करता। आहाहा! समझ में आया? निर्विकारभाव सम्यग्ज्ञान है। नीचे कलश (पद) है न! राग-द्वेष-मोह ही आस्रव है, ऐसा कहते हैं, देखो।

★ ★ ★

काव्य - ९

राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं (दोहा)

राग विरोध विमोह मल, एई आस्रवमूल।
एई करम बढ़ाईकैं, करैं धरमकी भूल।।९।।

अर्थः-राग-द्वेष-मोह ये तीनों आत्मा के विकार हैं, आस्रव के कारण हैं और कर्मबंध करके आत्मा के स्वरूप को भुलाने वाले हैं।।९।।

काव्य - ९ पर प्रवचन

राग विरोध विमोह मल, एई आस्रवमूल।
एई करम बढ़ाईकैं, करैं धरमकी भूल॥९॥

आत्मा के अतिरिक्त राग में भी प्रेम होना अथवा अनुकूल चीज़ को देखकर राग होना, वह ज्ञानी को होता नहीं। यहाँ तो ज्ञानी को राग-द्वेष-मोह होता नहीं, यह सिद्ध करना है। राग तो दसवें गुणस्थान तक होता है। होता है, वह क्या है? सब हो, उसके घर में रहा। आत्मा में कहाँ है वह? राग, विरोध अर्थात् द्वेष और भ्रान्ति, यह तीनों मल है। '**एई आस्रवमूल**' उस आस्रव का मूल तो यह है। बाहर की क्रिया, वह कुछ नहीं। परिणाम जो हुए, वही आस्रव है। समझ में आया? '**एई करम बढ़ाईकैं**' राग-द्वेष और भ्रान्ति, वह कर्म बढ़ाने का निमित्त है।

और '**करैं धरमकी भूल**' आत्मा के स्वरूप को भुलावे। कहो। '**करैं धरमकी भूल**' आत्मा निरावरण निर्लेप आनन्दधाम को यह राग-द्वेष और मोह भुला डालते हैं। 'मैं ऐसा हूँ, मैंने ऐसा किया, मैंने ऐसा किया, मैंने दया पालन की, मैं व्रती हूँ, मैंने भक्ति की, मैंने फलाना किया'—ऐसे मोह और राग-द्वेष, वे जीव के स्वरूप को भुलाते हैं। वह जीव का स्वरूप है नहीं। कहो, समझ में आया? धर्मी को वह आस्रव नहीं, ऐसा कहना है न यहाँ तो? निरास्रव बताना है न? और विशेष कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव निरास्रव है।

★ ★ ★

काव्य - १०

सम्यग्दृष्टि जीव निरास्रव है (दोहा)

जहां न रागादिक दसा, सो सम्यक परिनाम।
यातें सम्यकवंतकौ, कह्यौ निरास्रव नाम।।१०।।

अर्थ:-जहाँ राग-द्वेष-मोह नहीं हैं वह सम्यक्त्वभाव है, इसी से सम्यग्दृष्टि को आस्रव रहित कहा है।।१०।।

काव्य - १० पर प्रवचन

जहां न रागादिक दसा, सो सम्यक परिनाम।
यातें सम्यकवंतकौ, कह्यौ निरास्रव नाम॥१०॥

चैतन्यवस्तु अकेली अनाकुल शान्तरस का कन्द, ऐसे महाअस्तित्व पर अनुभव आया, भान हुआ, कहते हैं, वहाँ राग-द्वेष-मोह नहीं है। वहाँ राग और द्वेष, मिथ्यात्व नहीं है। '**सो सम्यक परिनाम**' उसे सम्यक्‌भाव कहते हैं। जिस भाव में राग-द्वेष और मिथ्यात्व नहीं, उस भाव को सम्यक्‌भाव कहते हैं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि की पर्याय में राग-द्वेष-मोह नहीं। द्रव्य-गुण में नहीं तथा पर्याय में भी नहीं। अज्ञानी बाहर से छोड़कर बैठा हो, सब पाँच व्रत पालता हो, परन्तु अन्दर में अभिप्राय (है कि) 'राग वह मैं, कर्तव्य मेरा है, महाव्रत के विकल्प, वे मेरे हैं और मैं पालन करता हूँ,' यह मिथ्यादृष्टि मैलवाला है। आहाहा! समझ में आया?

निर्मोही, आता है न रत्नकरण्डश्रावकाचार में। पण्डितजी! वह रत्नकरण्ड-श्रावकाचार। निर्मोही।

मुमुक्षु : .... **मोक्षमारग सो निर्मोही, नहीं मोहमारग....**

पूज्य गुरुदेवश्री : यह। अणगार नाम धरावे, परन्तु राग मेरा है, विकल्प मेरा है, (ऐसी मान्यता है) तो मोही मिथ्यादृष्टि है। और गृहस्थाश्रम में होने पर भी, 'राग-द्वेष मेरी चीज़ ही नहीं, मेरी महाचीज़ भिन्न है', ऐसे अनुभव में वह मोक्षमार्गी है। गृहस्थाश्रम में रहा होने पर भी वह मोक्षमार्गी है। वह नग्न मुनि हुआ होने पर भी वह मोही मिथ्यादृष्टि

है। आहाहा! संसारमार्गी। गजब यह तो! इसमें बाह्यत्याग का माहात्म्य घट जाता है, ऐसा और लिखे।

मुमुक्षु : बाह्यत्याग का माहात्म्य था कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बेचारा बाह्यत्याग करे न... ऐसे। कितना मान था? यह निकलने के बाद सब मान घट जाता है।

मुमुक्षु : बाह्यत्याग का मान हो या अन्तरशुद्धि का मान हो? महिमा किसकी?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बाहर बहुत बात आयी न! एक व्यक्ति को कहते थे कल एक साधु। अब वहाँ वह कहे, ऐसा नहीं होता। हाँ भाई! पुस्तकें प्रकाशित हुईं, अब पोल चले ऐसा नहीं है, कहते हैं। पुस्तकें तो इतनी सब बाहर आयी है यहाँ, अब साधारण की पोल चल नहीं सकती। जहाँ-तहाँ मनवा देते न, बाहर की क्रिया, वह हमारा साधुपना है और पाँच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण, वह हमारा साधुपना है। यह देवी और देवला को माने क्षेत्रपाल और पद्मावती को, तो भी कोई पूछता नहीं। अब तो पूछते हैं। पूछते हैं कि यह क्षेत्रपाल क्या तुम्हारे? साधु होकर पद्मावती देवी के साथ घूमना यह क्या? उसे तो धर्म का कुछ भान भी नहीं। पद्मावती और क्षेत्रपाल को देव माने।

यहाँ तो अखण्ड परमात्मा स्वयं देव का देव है। देवाधिदेव को पहिचाननेवाला और आत्मा को पहिचाननेवाला, वह तो स्वयं देव है। ऐसे देव में, कहते हैं, '**जहां न रागादिक दसा, सो सम्यक परिनाम, यातें सम्यकवंतकौ, कह्यौ निरास्रव नाम।**' लो। इससे उसे निरास्रव कहा गया है। सम्यग्दृष्टि के सत्त्व का विषय तो अकेला आत्मा ही है और इससे उसकी दृष्टि में, (उसके) विषय में या उसकी पर्याय में राग-द्वेष एकपने नहीं। इसलिए ज्ञानी को निरास्रव कहा जाता है। यह बात रखकर, फिर अस्थिरता जो है, उसे टालने के लिये स्वरूप का पुरुषार्थ करता है क्षायिक। समझ में आया?

सातवाँ कलश हुआ, अब आठवाँ।

अध्यास्य शुद्धनय-मुद्धत-बोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादि-मुक्त-मनसः सततं भवन्तः
पश्यन्ति बन्ध-विधुरं समयस्य सारम्॥८॥

आहा! धर्मी तो बन्ध से रंडवा है, कहते हैं। विधुर है विधुर। आहाहा! यहाँ स्त्री मर जाये उसे विधुर कहते हैं न! उस स्त्री को विधवा कहते हैं और वह विधुर हुआ। आत्मा राग के परिणाम के बन्ध से विधुर है। आहाहा! उसका स्वभाव ही ऐसा है। '**निरास्त्रवी जीवों का आनंद**' लो, आनन्द... आनन्द। जिसे आत्मा का भान है, आस्रव और बन्धरहित है, वह आनन्दसहित है, ऐसा सिद्ध करते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन के समक्ष उसमें दूसरी चीज़ है नहीं। ऐसी बात है! मूल बात विस्मृत हो गयी। बाहर की यह प्रवृत्ति रह गयी, यह किया और यह किया। आहाहा! कहो, समझ में आया?

कहो, धीरुभाई! वे आये थे सब। देखो, तुम्हारा मार्ग गलत है। गलती है। धीरुभाई थे वहाँ। बैठे थे। वापस ऐसा मार्ग है। लोगों का कल्याण रुक जाता है। कुकर्म अकल्याण के करता है तू, (उसकी) तुझे खबर नहीं। राग की क्रिया मैंने की और उससे लाभ (है, वह) महामिथ्यात्व को पोसता है, निगोद की गति में जानेवाला है। और फिर कहे, गलती है। अब सुन, कहा, यह एक ही मार्ग है, बाकी सब गलत है। परन्तु उनका भाई बेचारा बहुत। हिम्मतभाई सज्जन बहुत। मीठा... मीठा। महाराज कहते हैं कि अब हमारे कुछ चर्चा नहीं करनी, फिर तुमने बात रखी। बात तो रखी है न अब दूसरी किसलिए लगाते हो? इनका भाई अपना... ...ऐसा तूफानी! आहाहा!

राग की क्रिया, व्रत, दया, दान यह सब मेरे हैं और मुझे कल्याण है, वह महामिथ्यात्व को पोसता है। निगोद की दशा के सन्मुख हो गया है। समझ में आया? वह निगोद में वास करेगा वास्तु (करेगा) और धर्मी राग से भिन्न भानवाला सिद्ध में वास करेगा, ऐसा कहते हैं। उसे आस्रव और बन्ध है नहीं। आहाहा! समझ में आया? वह तो बन्ध की क्रिया को धर्म (कहे) और (फिर कहे कि) तुम उसे धर्म नहीं कहते, (इसलिए) लोगों का कल्याण रुकता है। ठीक! ऐई इन्द्रलालजी! आहाहा!

मुमुक्षु : राग है कहाँ जो अटकेगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : है ही नहीं और वहाँ अटके कहाँ से फिर? अभी कल्याण का मार्ग क्या है, इसकी खबर नहीं। समझ में आया? यह बाद में आठवें कलश में कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६२, चैत्र शुक्ल ७, शुक्रवार, दिनांक २-४-१९७१
आस्त्रव द्वार पद ११, १२, १३ (प्रवचन 47 मिनिट का है।)

काव्य - ११

निरास्त्रवी जीवों का आनन्द (सवैया इकतीसा)

जे केई निकटभव्यरासी जगवासी जीव,
मिथ्यामत भेदि ग्यान भाव परिनए हैं।
जिन्हिकी सुदृष्टिमैं न राग द्वेष मोह कहूं,
विमल विलोकनिमैं तीनौं जीति लए हैं।।
तजि परमाद घट सोधि जे निरोधि जोग,
सुद्ध उपयोगकी दसामैं मिलि गए हैं।
तेई बंधपद्धति विदारि परसंग डारि,
आपमैं मगन ह्वैकै आपरूप भए हैं।।११।।

शब्दार्थ:-सुदृष्टि=सच्चा श्रद्धान। विमल=उज्ज्वल। विलोकनि=श्रद्धान। परमाद= असावधानी। घट=हृदय। सोधि=शुद्ध करके। सुद्ध उपयोग=वीतराग-परणति। विदारि= हटाकर।

अर्थ:-जो कोई निकट भव्यराशि संसारी जीव मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यग्भाव ग्रहण करते हैं, जिन्होंने निर्मल श्रद्धान से राग-द्वेष-मोह तीनों को जीत लिया है और जो प्रमाद को हटाकर, चित्त को शुद्ध करके, योगों का निग्रह कर शुद्धउपयोग में लीन हो जाते हैं, वे ही बन्ध-परम्परा के नष्ट करके परवस्तु का सम्बन्ध छोड़कर अपने रूप में मग्न होकर निज-स्वरूप को प्राप्त होते हैं अर्थात् सिद्ध होते हैं।।११।।

काव्य - ११ पर प्रवचन

....परिणमता था वह तो मिथ्यात्वभाव था। उसे छेदकर, ज्ञानस्वरूप आत्मा शुद्धभावरूप से परिणमता है।'**जिन्हिकी सुदृष्टिमैं न राग द्वेष मोह कहूं**' जिसकी दृष्टि में

पुण्य–पाप के विकल्प या भ्रान्ति कुछ है नहीं। **'जिन्हिकी सुदृष्टिमैं... ग्यानभाव परिनए हैं'** उसकी दृष्टि में ज्ञानभाव परिणमता है, ऐसा लिया न पहले। धर्मात्मा उसे कहते हैं कि जो ज्ञानस्वभावभाव शुद्धभाव, उसरूप हो—परिणमे, इससे उसकी दृष्टि में राग-द्वेष, मोह कुछ होते नहीं। धर्मी की दृष्टि में तो आत्मा पूर्ण आनन्दकन्द वह दृष्टि में होता है। इसलिए उसे ज्ञान और आनन्द का परिणमन होता है। गजब!

'जिन्हिकी सुदृष्टिमैं न राग द्वेष मोह कहूं, विमल विलोकनिमैं तीनौं जीति लए हैं। विमल विलोकनिमैं' आत्मा निर्मल आनन्द-ज्ञानस्वरूप आनन्द है, ऐसे अन्तरविलोकन अर्थात् अवलोकन से—शुद्ध स्वभाव, वह पवित्र आनन्द और शान्ति है, ऐसे निर्मल स्वभाव के अवलोकन से—तीनों जीते हैं। **'मिथ्यामतभेदि'** कहा था न? छेदा, परन्तु कैसे छेदा गया? कि विमल भगवान आत्मा के विलोकन—निर्मल श्रद्धान से, ऐसा करके अर्थ ऐसा किया है। यह निर्मल विलोकन—अनुभव।

मुमुक्षु : विमल–निर्मल।

पूज्य गुरुदेवश्री : विमल—निर्मल श्रद्धान। **'विमल विलोकनिमैं'** निर्मल श्रद्धा... वस्तुस्वरूप शुद्ध ज्ञान, आनन्द के अवलोकन में, उसकी श्रद्धा में, उसे अपना मानने में, उसके अनुभव में **'तीनौं जीति लए हैं।'** राग–द्वेष मोह उसकी दशा में है नहीं, उसने तीनों को जीता है, ऐसा कहा (जाता है)। कहो, समझ में आया? फिर आगे बढ़ते हैं अब।

'तजि परमाद घट सोधि जे निरोधि जोग' प्रमाद को छोड़कर स्वरूप में निष्प्रमादरूप से रमता है। **'तजि परमाद' चित्त को शुद्ध करके...** ऐसा लिखा है। **'घट सोधि जे निरोधि जोग' योगों का निग्रह कर...** मन, वचन और काया के अशुद्ध परिणाम... भाई! कम्पन का निग्रह करके, (अर्थात्) अशुद्ध जो शुभ–अशुभ परिणाम उन्हें रोककर, जिसने शुद्ध उपयोग उत्पन्न किया है, वह मोक्षगामी मोक्ष के सन्मुख हो गया है। कहो, ऐसा मार्ग! आहाहा! सुनते हुए लोग कहे, यह वह किस प्रकार का मार्ग! अपवास करना, कन्दमूल नहीं खाना, अब यह तो सूझ पड़े। भगवान की भक्ति करना, पूजा करना, यात्रा करना, लो! उसमें यह वस्तु, यह विकल्प के पार वस्तु है। उस विकल्प को जीतनेवाला भगवान अन्दर बैठा है। उस ज्ञानस्वभाव के अवलोकन की

श्रद्धा द्वारा, अनुभव द्वारा जिसने राग का अनुभव (रूप) उत्पाद नाश किया है। राग का अनुभवरूपी उत्पाद का नाश किया है। आहाहा! और ज्ञान का अनुभव जिसने किया है, ऐसा कहते हैं। स्वयं चैतन्य ज्ञानमय-आनन्दमय है, उसका जिसने वेदन किया है।

अज्ञान में जो राग और द्वेष का विकारी वेदन मिथ्यात्वभाव में था, वह स्वभावभाव के श्रद्धा-ज्ञान के अनुभव द्वारा, यह तीन—राग-द्वेष मोह की उत्पत्ति जिसे नहीं होती (अर्थात् कि) उसे जीत लिया है। और '**तजि परमाद घट सोधि जे निरोधि जोग**' '**तजि परमाद घट सोधि जे निरोधि**' वापस ऐसा। अन्तर में आनन्द को शोधकर और आस्रव को रोककर, ऐसा कहते हैं। समझाने की शैली तो ऐसी आवे न। '**सुद्ध उपयोगकी दसामैं मिलि गए हैं**' भगवान शुद्धस्वरूप पवित्र अनाकुल आनन्द के शुद्ध व्यापाररूप से जिसका उपयोग हो गया है। आहाहा! वह जीव, भव्य जीवराशि मोक्ष अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति के अत्यन्त निकट—नजदीक है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

'**सुद्ध उपयोगकी दसा**' भूमिका प्रगट हो गयी है, उसमें लीन हुए हैं। '**तेई बंधपद्धति विदारि**' वही बन्ध की परम्परा को छेदकर, '**परसंग डारि**' परवस्तु का संग भी छोड़कर, '**आपमैं मगन ह्वैकै आपरूप भए हैं।**' अपना निजस्वभाव शुद्ध आनन्द, वह आपरूप होकर—मग्न होकर '**आपरूप भए हैं।**' अपने में मग्न होकर आपरूप हुए हैं। समझ में आया? अथवा सिद्ध होते हैं अन्त में। प्रथम तो स्वरूप के अनुभव द्वारा राग-द्वेष, मोह की एकता जिसे टूट गयी है, जिसका प्रमाद गया है, जिसने योग का निरोध किया है, शुद्ध उपयोग का जिसका उग्ररूप से परिणमन है, वह अल्प काल में बन्ध की परम्परा और परसंग को छेदकर अपने में मग्न होकर आपरूप हो गया है। सिद्धरूप आत्मस्वरूप वह हो जाता है। उसे यह सिद्ध होने की पद्धति है। अरे! नाम सुनना भी कठिन पड़े। क्या होगा यह?

मुमुक्षु : भगवान का मार्ग।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा मार्ग? अता-पता हाथ आवे नहीं कुछ।

खबर नहीं होती कि मैं कौन हूँ अन्दर? पूर्णानन्द का नाथ ज्ञानानन्दस्वभाव का सागर, इस जगत में मैं ही हूँ। राग आदि मुझमें नहीं। मेरी अपेक्षा से तो राग-द्वेष, मोह

नहीं। मुझमें नहीं अर्थात् मेरी अपेक्षा से वह वस्तु नहीं। आहाहा! मेरा सत्ता स्वभाव भगवान आत्मा, वह भिन्न तत्त्व है, उसका अनुभव करके राग-द्वेष, मोह को जीता है अर्थात् कि उसकी दशा में वे उत्पन्न नहीं होते, ऐसा कहते हैं। गजब बातें, भाई! उसे यहाँ धर्म कहा जाता है। उसका नाम जैनधर्म। यह जैन की संस्कृति। जैन की जीतने की यह संस्कृति।

मुमुक्षु : जीत ले।

पूज्य गुरुदेवश्री : जीत ले न! जैन अर्थात् जिसने राग-द्वेष और भ्रान्ति की जिसने उत्पत्ति की नहीं और शुद्धभाव की उत्पत्ति की है, उसे जैन कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

यह तो पंच महाव्रत और बाहर की क्रिया और देखकर चलना और आहार लेना—यह सब क्रिया मानो धर्म की हो, ऐसा अज्ञानी ने माना है। इसलिए जिसे अपना माना, उससे पृथक् मैं हूँ, (ऐसा) वह कैसे जाने? आहाहा! जिसे पुत्र कमाऊ माने, उसे अलग कैसे करे? दुश्मन जाने तब तो (अलग) करे (क्यों) कि यह तो घर खाली करता है...। इसी प्रकार राग आदि तो लाभदायक है, उसके अस्तित्व में ही मेरा अस्तित्व है, वह राग हो तो मैं होऊँ। आहाहा! रागरहित मेरी चीज़ है, ऐसी चीज़ की अस्ति के स्वभाव के स्वीकार में राग की अस्ति की उत्पत्ति ही नहीं होती। समझ में आया? आहाहा! कठिन मार्ग, भाई! अब हमारे गृहस्थाश्रम में रहकर धर्म कैसे करना?

मुमुक्षु : यह तो पहले आ गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहा था। समझ में आया?

अर्थ है न पहले?

मुमुक्षु : पृष्ठ ११२ और ११३।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रावक और सब आया था छठवें में। सातवें में उसका उत्तर दिया था। मार्ग ऐसा है कि पर की अपेक्षारहित निरपेक्ष चैतन्यस्वरूप है। आहाहा! जब तक उसे आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त कोई भी शुभ-अशुभराग में या संयोग में वीर्य उत्साहित होता है, तब तक वह मिथ्यात्वभाव है। कहा न, मिथ्यात्वपने परिणमता तब

तक। समझ में आया? आहाहा! स्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान-अवलोकन करने से उसकी सत्ता के स्वभाव में तो आनन्द और शान्ति है। वह अपनी अस्ति का भावस्वरूप है। राग आदि, पुण्य आदि मैं नहीं। तो शरीर, वाणी, मन, वे कहाँ रहे? समझ में आया? इतना अन्दर अन्तर भेदज्ञान का पड़ना चाहिए। वरना वह एकत्वपना नहीं टलता। वह बात है यह। कठिन धर्म भाई ऐसा! यह ११वाँ (पद) हुआ। नवाँ श्लोक।

प्रच्युत्य शुद्ध-नयतः पुनरेव ये तु,
रागादियोग-मुपयान्ति विमुक्त-बोधाः।
ते कर्म-बन्ध-मिह बिभ्रति पूर्व-बद्ध-
द्रव्यास्त्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम्॥९॥

निरास्रव की बात की। अब सास्रव अज्ञानी की बात करते हैं। यह मगनभाई के प्रश्न। मगनभाई का प्रश्न था इसमें। **उपशम तथा क्षयोपशम भावों की अस्थिरता।**

★ ★ ★

काव्य - १२

उपशम तथा क्षयोपशम भावों की अस्थिरता (सवैया इकतीसा)

जेते जीव पंडित खयोपसमी उपसमी,
तिन्हकी अवस्था ज्यौं लुहारकी संडासी है।
खिन आगमांहि खिन पानीमांहि तैसैं एऊ,
खिनमैं मिथ्यात खिन ग्यानकला भासी है॥
जौलौं ग्यान रहै तौलौं सिथिल चरन मोह,
जैसैं कीले नागकी सकति गति नासी है।
आवत मिथ्यात तब नानारूप बंध करै,
ज्यौं उकीले नागकी सकति परगासी है॥१२॥

शब्दार्थः-पंडित=सम्यग्दृष्टि। खयोपसमी=क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि। उपसमी=उपशम

सम्यग्दृष्टि। एऊ=बे। खिन (क्षण)=यहाँ क्षण से अन्तर्मुहूर्त का प्रयोजन है। सिथिल= कमजोर। कीले=मंत्र वा जड़ी से बाँधे हुए। नाग=सर्प। उकीले=मंत्र-बंधन से मुक्त। सकति (शक्ति)=बल। परगासी (प्रकाशी)=प्रगट की।

अर्थ:-जिस प्रकार लुहार की सँडासी कभी अग्नि में तप्त और कभी पानी में शीतल होती है, उसी प्रकार क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीवों की दशा है अर्थात् कभी मिथ्यात्वभाव प्रगट होता है और कभी ज्ञान की ज्योति जगमगाती है। जब तक ज्ञान रहता है, तब तक चारित्रमोहनीय की शक्ति और गति कीले हुए सर्प के समान शिथिल रहती है, और जब मिथ्यात्व रस देता है, तब वह उकीले हुए सर्प की प्रगट हुई शक्ति और गति के समान अनन्त कर्मों का बन्ध बढ़ाता है।

विशेष :- [१]उपशम सम्यक्त्व का उत्कृष्ट व जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और [२]क्षयोपशम सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल [३]छियासठ सागर और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। ये दोनों सम्यक्त्व नियम से नष्ट ही होते हैं, सो जब तक सम्यक्त्वभाव रहता है, तब तक आत्मा एक विलक्षण शान्ति और आनन्द का अनुभव करता है और जब सम्यक्त्वभाव नष्ट होने से मिथ्यात्व का उदय होता है, तब आत्मा अपने स्वरूप से चिगकर कर्म-परम्परा को बढ़ाता है।।१२।।

काव्य - १२ पर प्रवचन

जेते जीव पंडित खयोपसमी उपसमी,
तिन्हकी अवस्था ज्यौं लुहारकी संडासी है।
खिन आगमांहि खिन पानीमांहि तैसैं एऊ,
खिनमैं मिथ्यात खिन ग्यानकला भासी है॥

१. अनन्तानुबन्धी की चार और दर्शनमोहनीय की तीन, इन सात प्रकृतियों का उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व होता है।

२. अनन्तानुबन्धी चौकड़ी और मिथ्यात्व तथा सम्यक्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों का अनोदय और सम्यक् प्रकृति का उदय रहते क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है।

३. अनन्त संसार की अपेक्षा यह काल भी थोड़ा है।

जौलौं ग्यान रहै तौलौं सिथिल चरन मोह,
जैसैं कीले नागकी सकति गति नासी है।
आवत मिथ्यात तब नानारूप बंध करै,
ज्यौं उकीले नागकी सकति परगासी है॥१२॥

'**जेते जीव पंडित**' अर्थात् समकिती। यहाँ समकिती को ही पण्डित कहा है। पण्डितजी!

मुमुक्षु : बराबर है महाराज! बात तो ऐसी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

मुमुक्षु : अर्थ भी यही है महाराज!....

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो यही है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा! बात तो यही है। आहाहा! जिसने आत्मा को राग के विकल्प से भी भिन्न अनुभव किया है, उसे यहाँ समकिती और पण्डित कहा जाता है। आहाहा! बड़ा पण्डित। जानपना विशेष—कम हो, न हो, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। आहाहा! जिसने दृष्टि में से राग का, विकल्प का ध्येयपना छोड़कर जिसने स्वभाव के ध्येय से आत्मा के अनुभव की दशा प्रगट की है, वह पण्डित, वह धर्मी, वह क्षयोपशमी और उपशमी। इस ओर है नीचे। ११७ पृष्ठ पर नीचे।

अनन्तानुबन्धी की चार और दर्शनमोहनीय की तीन—इन सात प्रकृतियों का उपशम होने से उपशम समकित कहते हैं। अनन्तानुबन्धी की चौकड़ी और मिथ्यात्व तथा समकितमिथ्या—छह प्रकृतियों का अनुदय (अर्थात्) उदय नहीं। सम्यक् प्रकृति का उदय, उसे क्षयोपशम कहा। यह क्षयोपशम की व्याख्या नहीं। परन्तु क्षयोपशम से गिर जाये, उसकी व्याख्या है। भाषा तो ऐसी है।

मुमुक्षु : शुद्धनय से शुद्ध होता है और....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी बात है। और कितने ही कहे, भाई! यह क्षयोपशम की

व्याख्या है? घड़ीक में... जैसे यह लुहार की छैनी होती है न। टीपे अर्थात् पानी पिलाये। पानी पिलाये घड़ीक में, घड़ीक में अग्नि में डाले, घड़ीक में पानी में डाले। इसी प्रकार धर्मी जीव की—क्षयोपशमी और उपशमी (सम्यग्दृष्टि) की.... उपशम (सम्यग्दर्शन की) तो अन्तर्मुहूर्त की स्थिति है, वह और अलग। परन्तु (प्रत्येक) क्षयोपशम समकिती घड़ीक में मिथ्यात्व पावे और घड़ीक में समकित पावे, ऐसा नहीं है। यहाँ यह व्याख्या नहीं है। मात्र क्षयोपशमवाला गिर जाता है, उसकी व्याख्या है। समझ में आया?

यह प्रश्न आया था न अभी मगनभाई का। श्रीमद् में आता है न एक? क्षयोपशमी किसे कहना? घड़ीक में स्मरण, घड़ीक में विस्मरण समकित का (हो), उसे क्षयोपशम (समकित कहा जाता है), ऐसी व्याख्या है। यह सन्तवाणी... अमृतवाणी आयी थी न? उसमें यह शब्द है। इसलिए उसने यह पढ़ा और कहे, यह क्या? क्षयोपशम समकिती की यह व्याख्या है? क्षयोपशम समकिती की व्याख्या... क्षयोपशम समकिती गिर जाये उसे (समकित) गिरे—आवे, गिरे—आवे, उसकी व्याख्या है। क्षयोपशम समकित तो ६६ सागर तक रहता है। उस अवधि में कहीं यह गिरे और (आवे), ऐसा है नहीं। समझ में आया? अर्थ यह आया देखो, यह पाठ में।

'जेते जीव पंडित खयोपसमी उपसमी, तिन्हकी अवस्था ज्यौं लुहारकी संडासी है।' यह क्षयोपशमवाला... संडासी होती है न, उसकी संडासी। गर्म करे न! अग्नि में डाले ऐसे, और पानी में डाले। धार चढ़ाने को। इसी प्रकार धर्मी जीव क्षयोपशमवाला, गिरे तो उसकी अवस्था कैसी होती है? कि लुहार की संडासी जैसी। घड़ीक में राग में प्रेम हो जाये और घड़ीक में फिर से आनन्द में प्रेम हो जाये। यह क्षयोपशम की गिरने की अपेक्षा से बात है। समझ में आया? श्रीमद् में यह व्याख्या है। क्षयोपशम अर्थात् इस प्रमाण लेना। ऐसा प्रश्न था मगनभाई को कि इसमें श्रीमद् ने कैसे लिखा है? क्षयोपशम समकित की व्याख्या। क्षयोपशम में रहे तो गिरे और फिर वापस आवे। परन्तु वह तो असंख्य बार आये-जाये, ऐसी अपेक्षा की बात है। क्षयोपशम कायम रहे तो उसमें घड़ीक में मिथ्यात्व और घड़ीक में (समकित), ऐसा है नहीं। ऐसा होता नहीं। समझ में आया?

वह पद कहा था इन्होंने कि यह एक भी.... परन्तु विचार में पड़ गये वे। यह क्या? ऐसा कहाँ लिखा है? तो फिर कहे, हमारे विश्वास कैसे करना?

मुमुक्षु : हर क्षण में गिर नहीं जाता, ऐसा पूछते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा प्रश्न किया। कान्तिभाई! भाई! यह तो कोईक गिरे, उसकी बात है। न गिरे, उसकी यह बात है (नहीं) यह तो कोई गिरे, ऐसी अपेक्षा ली है। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य ने ली न (बात) पहली शुरुआत में। मुनि है, वे कोई स्वर्ग में जाये और कोई भवनपति में जाये, ऐसा लिया है, इस अपेक्षा से। भवनपति में तो मिथ्यादृष्टि हो, वह जाये। समकिती कहीं भवनपति में नहीं जाता, लो। एक ओर स्वयं कहे कि सम्यग्दृष्टि, वह भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, स्त्री, नपुंसक, नारकी में अवतरित नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव तो वैमानिक स्वर्ग में ही जाता है। पण्डितजी!

और वापस ऐसा लिखा, स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मुनि है, वह कदाचित् वैमानिक स्वर्ग में भी जाये, वहाँ से मोक्ष जाये। कोई असुरकुमार में जाकर वहाँ से निकलकर मोक्ष जाये। आता है प्रवचनसार में।

मुमुक्षु : शुरुआत में ही आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुरुआत में पहली (पाँच) गाथाओं में। वह किसी जीव को सूक्ष्म भ्रमणा अन्दर हो जाये, और उसमें आयुष्य बँध जाये तो भवनपति में जाये, ऐसा इस अपेक्षा से लिया है। समझ में आया? ऐसा है, इसलिए कितने ही मनुष्य डर जाते हैं, इसके लिये नहीं कहा। यह तो उसे चेताने के लिये कहा है। समझ में आया? कि भाई! क्षयोपशम समकित अनुभव होने पर भी उसे गिरने का, वहाँ न रहे तो गिरने का संभव है। और गिरे तो उसे क्षण में मिथ्यात्व हो जाता है। समझ में आया?

'**खिन आगमांहि खिन पानीमांहि तैसैं एऊ**' लो। क्षण में पानी में और क्षण में आग में। संडासी होती है न संडासी, वह होती है न लोहे की। संडासी में पकड़ा हुआ हो न कुछ लोहा। छैनी गर्म करनी हो न गर्म, वह ऐसे गर्म करे, फिर पानी में डाले। धार चढ़ाने को। फिर अग्नि में। इसी प्रकार जिसे आत्मज्ञान—आतमभान है, परन्तु उसमें से गहरे-गहरे राग की प्रीति—रुचि में जो गया हो, मिथ्यात्व हो जाये। अग्नि में गया वह। क्या है सेठी!

मुमुक्षु : क्षयोपशम....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्षयोपशम समकित में (से) गिरने की बात है। क्षयोपशम में रहे, उसकी बात नहीं।

मुमुक्षु : उपशम में तो गिरता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपशम (की स्थिति) तो अन्तर्मुहूर्त है। वह बात निकाल दी, (वह तो) पहले बात की है।

मुमुक्षु : क्षयोपशम में से भी....

पूज्य गुरुदेवश्री : गिर जाते हैं, असंख्य बार आ जाते हैं, गिरते हैं। यह बात बहुत कहते हैं... कोई (प्रसंग) ऐसा बनता है, (उसकी) बात है। परन्तु उसमें ऐसा (संशय) नहीं करना कि यह पड़ जाये तो? पड़े क्या? यहाँ तो जब तक आत्मज्ञान और आत्मदृष्टि है, तब तक वह आस्रववाला नहीं, परन्तु अनुभववाला है। शुद्धतावाला है, ऐसा सिद्ध करना है। परन्तु जब शुद्धता के भाव से भ्रष्ट होता है और अकेली अशुद्धता के अनुभव में आता है, तब वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : सावधानी रखने को कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : सावधानी इतनी न रही। समझ में आया?

'**खिनमैं मिथ्यात खिन ग्यानकला भासी है।**' अर्थात् किसी जीव को क्षयोपशम समकित में से '**खिनमैं मिथ्यात्व**' विकल्प की एकतारूप मिथ्यात्व हो जाये और क्षण में '**ग्यानकला**' राग से भिन्न पड़कर चैतन्य की जागृति का भान रहे। ऐसी स्थिति होना सम्भव है, इस अपेक्षा से बात की है। यह क्षयोपशम समकित की व्याख्या नहीं है। श्रीमद् में भी ऐसा है, एक पत्र में इस प्रकार से (है)। क्षयोपशम (समकित) में घड़ीक में स्मरण, घड़ीक में विस्मरण... परन्तु वह तो इस शैली से बात की है। समझ में आया?

मुमुक्षु : नियम से....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन? नियम से भ्रष्ट नहीं होता। यह तो उसका काल इतना है और रहे (नहीं और) गिरे तो, ऐसा। नियम से नहीं। यह नियम से नष्ट होता है (ऐसा)

लिखा है इन्होंने। परन्तु नष्ट होता है, उस बार की व्याख्या ली है। क्षयोपशमवाला सदा रहे, उसकी यह व्याख्या नहीं। इसलिए तो यह... समझ में आया?

यह श्रीमद् में ऐसा आता है। उस पुस्तक में आता है न कुछ विस्मरण... श्रीमद् में आता है कहीं यह। पीछे व्याख्या आती है, हों! क्षयोपशम की व्याख्या है। अब यह तो किस प्रकार खबर पड़े? यह तो उसमें होगा कहीं। हाथ आता है कुछ? यह है एक क्षयोपशम की व्याख्या, एक पत्र में है। वह क्षयोपशम समकित का स्वरूप है। वह रहे तो ६६ सागर तक ऐसा का ऐसा रहता है। उसकी स्थिति ६६ सागरोपम।

मुमुक्षु : ....इतना अनुभव।

पूज्य गुरुदेवश्री : इतना ६६ सागर तक रहे।

मुमुक्षु : तो फिर गिर जाता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : गिरना पड़े, उसकी तो व्याख्या करते हैं। कोई ६६ सागर (रहे अथवा) गिर जाये या क्षायिक हो जाये... यहाँ गिरने की बात करते हैं।

मुमुक्षु : क्षायिक सीधा होता है या यहाँ से ....है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हो, सीधा होता है क्षायिक। परन्तु पंचम काल में क्षायिक नहीं (होता), तो उस कारण से जरा वर्णन किया है (कि) किसी को... अटपटी (बात है)। पीछे है इसमें देखो, होगा कहीं। एक पत्र नहीं पीछे? वहाँ लम्बा पत्र है।

मुमुक्षु : वह यहाँ बतलाया महाराज! कि उपशम के समान ही पतनशील है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पतनशील, परन्तु क्षयोपशम है, तब तक पतनशील नहीं कहलाये न!

मुमुक्षु : हाँ, प्रथम तो नहीं....

पूज्य गुरुदेवश्री : गिर जाये तो उसे... यहाँ तो क्षण में आग और क्षण में पानी, ऐसा लिया है न। यह बात क्षयोपशम को लागू नहीं पड़ती।

मुमुक्षु : तो ६६ सागरोपम किस प्रकार....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ।

मुमुक्षु : और फिर क्षायिक समकित हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुरन्त क्षायिक हो जाये।

मुमुक्षु : तो उसे किस प्रकार लागू पड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे यह लागू नहीं पड़ता।

मुमुक्षु : यहाँ से क्षायिक तुम कहो तो फिर नियम से नहीं हो सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नियम से नहीं होता। यह बात है, परन्तु ऐसा पहले जानना चाहिए न।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें है कहीं विस्मरण। पहले पत्र में लिखा होगा। मेरी (पुस्तक) है? लाओ। पहले पत्र में लिखा होगा। यह गिरने की अपेक्षा से बात है। क्या कहते हैं पण्डित? समझ में आया? गिरते हैं न, (तब) क्षयोपशमभाव असंख्य बार आता है, समकित असंख्य बार। वह तो गिरने की अपेक्षा से असंख्य बार (कहा) है। न गिरे तो क्षयोपशम समकित ६६ सागर रहकर क्षायिक होकर केवलज्ञान ले लेवे। यह (टिकने की) अपेक्षा से यह बात है नहीं।

'**खिनमैं मिथ्यात खिन ग्यानकला भासी है।**' लो। क्षण में मिथ्यात्व, क्षण में आनन्द। '**ग्यानकला भासी**' ज्ञानस्वरूप चिदानन्द ज्ञाता ऐसा साक्षीपना अनुभव में आवे। क्षण में कोई राग आदि के सूक्ष्म भाव की एकत्वबुद्धि हो जाये (तो) मिथ्यात्वभाव हो जाये, ऐसा कहते हैं। '**जौलौं ग्यान रहै तौलौं सिथिल चरन मोह**' यह भाषा देखो! जब तक आत्मा का भान है, ज्ञान और आनन्द हूँ, ऐसा अनुभव रहे, तब तक '**सिथिल चरन मोह**' चारित्रमोह शिथिल हो जाये। उसका बन्धन उसे होता नहीं। यदि वह बन्धन हो, उसकी गिनती गिनने में आयी नहीं। कहो, समझ में आया? किसकी भाँति? '**जैसैं कीले नागकी सकति गति नासी है।**' नाग होता है न, नाग।

मुमुक्षु : कीला हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : कीला हुआ। कीला हुआ अर्थात् क्या? बाँधा हुआ।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : और पानी डाले ठण्डा।

हमारे पालेज में बना था न। बखारी थी न पीछे। कुँवरजीभाई की दुकान के पीछे बखारी थी। बड़ा सर्प। अब वह नीचे गिर गया। वह एक ऊँची लकड़ी थी जरा। अब उसे निकालना कैसे ? ऊपर सब माल भारी। फिर फिर कोई कहे, पानी छिड़को उसको वहाँ, हिले तो नहीं, फिर पकड़ में आयेगा। पहले ठण्डा पानी छिड़का। बड़ा सर्प। ठण्डा पानी फेंका, स्थिर हो गया वहाँ। फिर संडासी से ले। निकले, नहीं तो निकालना कैसे वहाँ से ? पूरी पेटी खाली हुए (बिना)। पेटी में माल था ऐसे सब ऊपर। अब पेटी खाली करना खड़े-खड़े, सर्प वहाँ (घुस हुआ), करना किस प्रकार ? खाली किये बिना फिरे, ऐसी पेटी नहीं थी। यह तो बहुत वर्ष की बात है, हों! बहुत वर्ष हो गये होंगे यह तो।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहते हैं ? यह वह तो ठण्डा हो गया न। ठण्डा पानी डाला। वहाँ वह हिले नहीं, हिला नहीं। ऐसे गुत्थी मारकर पड़ा है। वह सब देखा है। अभी दिखता है ऐसा कि उस समय ऐसा था... पीछे बखारी में।

यह तो बहुत वर्ष की बात है। ५५-६० वर्ष हुए होंगे। इन लोगों को याद नहीं होगा। यह सब व्यापार में लवलीन थे न। मुझे तो बराबर याद है। बड़ा सर्प निकला अब... और पेटी खाली करने ऐसे खड़े तो वहाँ रहना पड़े न। पेटी खाली करनी हो तो माल... वह खड़े रहने में डर। बड़ा सर्प। पानी पहले छिड़का ऊपर से ठण्डा-ठण्डा बर्फ का लाये, फिर पकड़ा। इसी प्रकार जब तक आत्मा का भान रहे, वहाँ चारित्रमोह ऐसा ढीला पड़ जाता है। जैसे सर्प ठण्डा पड़े, वैसे ढीला पड़ जाता है। उसकी शक्ति नहीं रहती। बन्ध करने की शक्ति नहीं रहती, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

निरास्रव सिद्ध करना है न यहाँ। ओहो ! उसमें आया, नहीं ? उसमें है तो सही न ! उसमें है, हों ! नहीं ? नहीं, नहीं, परन्तु कहीं... इसमें नहीं होगा। और एक यह... 'तथारूप प्रतीतिपने परिणमे, वह समकित है। निरन्तर प्रतीति वर्ता करे, वह क्षायिक समकित है। क्वचित् मन्द, क्वचित् तीव्र, क्वचित् विस्मरण, क्वचित् स्मरणरूप—ऐसी

प्रतीति रहे, उसे क्षयोपशम समकित कहते हैं।' यह व्याख्या उसकी है। वरना वास्तव में यह क्षयोपशम समकित की व्याख्या नहीं। भाई ने प्रश्न किया था न मगनभाई ने। वाँचे और विचार करे, उसे प्रश्न होते हैं न? ऐई!

अपने वढवाणवाले मगनभाई यह (प्रश्न) लाये थे कि क्वचित् विस्मरण और क्वचित् स्मरण कैसे? समकित है न, फिर क्वचित् विस्मरण कैसे? परन्तु उसकी पड़ने की स्थिति की अपेक्षावाला एक प्रकार है, ऐसा वर्णन किया है। इसलिए विस्मरण हो ही जाये ऐसा है नहीं। देखो, ऐसी प्रतीति रहे उसे क्षयोपशम समकित कहते हैं। पृष्ठ ७२०, उस बड़ी पुस्तक में है। इसमें नहीं। बड़ी पुस्तक है। कहो, समझ में आया इसमें? क्या अपेक्षा है, यह जानना चाहिए न!

'जौलौं ग्यान रहै तौलौं सिथिल चरन मोह, जैसें कीले नागकी सकति गति नासी है।' बैठा रहे। गया नहीं, परन्तु पड़ा रहा है ऐसा का ऐसा। सर्दी लगी और पड़ा रहा है, ऐसा गोला होकर। इसी प्रकार आत्मा का भान, आनन्द और शुद्ध चैतन्य का अनुभव है, भले उपयोग में विकल्प में हो, परन्तु उसका लब्धरूप भान है, तब तक चारित्रमोह का बन्धन उसे ढीला पड़ गया है। जैसे सर्प बाहर फूँफकार नहीं मारता, उसी प्रकार चारित्रमोह का बन्ध नहीं होता, ऐसा कहते हैं। अल्पबन्ध होता है, उसकी गिनती गिनी नहीं है।

'आवत मिथ्यात तब नानारूप बंध करै' यहाँ तो यह स्पष्टीकरण करना है न! परन्तु जब आत्म अनुभव से भ्रष्ट होकर, 'राग और पुण्य की क्रिया मेरी, मुझे लाभदायी होती है'—ऐसा अभिप्राय अन्तर में हो जाये, **'तब नानारूप बंध करै'** अनेक प्रकार के बन्ध करे। आठों कर्म बाँधे, सात बाँधे, इत्यादि। ज्ञानी को निरास्त्रव और अज्ञानी को आस्त्रव, ऐसे दो सिद्ध करना हैं यहाँ। समझ में आया? **'आवत मिथ्यात तब नानारूप बंध करै, ज्यौं उकीले नागकी सकति परगासी है।'** लो ठीक। जैसे वह सर्प की प्रगट हुई शक्ति.... **उकीलै** (अर्थात्) बाहर निकला... अनन्त कर्मों का बन्ध बढ़ाता है, लो।

'रागादियोगमुपयान्ति' ऐसा शब्द है न पाठ में। **'प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु**

रागादियोगमुपयान्ति।' राग के साथ जुड़ान हो जाये, ऐसा कहना है। राग-विकल्प जो पुण्य का है, उसके साथ एकत्व हो जाये, वह मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? ऐ प्रकाशदासजी! यह भी ऐसी बात कैसी? महाव्रत के परिणाम हों राग, परन्तु यदि एकत्वबुद्धि हुई तो, कहते हैं, मिथ्यादृष्टि है। अनन्त कर्म बाँधेगा। पाठ में ऐसा है, देखो न! '**रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः**' ज्ञानानन्दस्वभाव को छोड़कर राग के साथ एकता हुई, राग का सम्बन्ध किया—योग किया। राग का योग किया और स्वभाव का योग छूट गया। आहाहा! कहो, बसन्तलालजी! बहुत व्याख्या!

महाव्रत ऐसे के ऐसे टालते हों, ऐसी क्रिया खड़ी हो सब, परन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हुआ और राग से सम्बन्ध किया, हो गया, कहते हैं, जा। मिथ्यादृष्टि अनन्त संसार का फल बाँधता है और गृहस्थाश्रम में रहा हुआ समकिती राग के एकत्व में नहीं है, स्वभाव की एकता में है, वह निरास्रवी और उसे अबन्ध कहा जाता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ समकिती है (तो) निरास्रवी अबन्ध है। आहाहा! त्यागी हुआ, नग्न मुनि रहा, पंच महाव्रत, २८ मूलगुण (पाले), परन्तु उस राग के साथ योग जोड़ा, भ्रष्ट हो गया, वह मिथ्यादृष्टि। समझ में आया? '**ज्यौं उकीले नागकी**' उसमें **कीले** है और यह **उकीले** है इतना। '**नागकी सकति परकासी।**' इसी प्रकार उसे चारित्रमोह का बन्ध होने में... मिथ्यात्व का बन्ध हुआ, फिर चारित्रमोह का बन्ध इकट्ठा होता ही है, ऐसा कहते हैं। विशेष : देखो।

मुमुक्षु : चारित्रमोह का तो विशेष बन्ध होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ इनकार करते हैं। वह तो बात करते हैं, देखो! जैसे सर्प को पानी से ठण्डा कर दिया, (फिर) ऐसी गति-बति नहीं होती, गति नहीं कर सकता। उसी प्रकार ज्ञानी को चारित्रमोह मन्द हो गया है अथवा चारित्रमोह से भिन्न हो गया है। भिन्न हो गया तो उसका बन्ध उसको है नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब मार्ग! समझ में आया? विशेष इस ओर है ११७ पृष्ठ पर।

उपशम सम्यक्त्व का उत्कृष्ट व जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट और जघन्य

(काल) थोड़ा—अन्तर्मुहूर्त ही है। **क्षयोपशम सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल छियासठ सागर और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। ये दोनों समकित नियम से नष्ट ही होते हैं।** 'नष्ट होता है' का अर्थ कि क्षयोपशम नहीं रहता। न रहे उसे। लम्बा काल रहे, उसकी यह व्याख्या है नहीं। दोनों समकित। **सो जब तक सम्यक्त्वभाव रहता है, तब तक आत्मा एक विलक्षण शान्ति और आनन्द का अनुभव करता है।** कहो, राग से, विकल्प से—आस्त्रवभावरूपी विकल्प से भिन्न पड़ा आत्मा, इसलिए समकिती आनन्द का और विलक्षण (अर्थात् कि) जगत से भिन्न जाति की शान्ति का अनुभव करता है। शान्त... शान्त... कहो, समझ में आया? **विलक्षण शान्ति और आनन्द का अनुभव करता है। जब सम्यक्त्वभाव नष्ट होने से मिथ्यात्व का उदय होता है,...** बस यही बात ली है, **तब आत्मा अपने स्वरूप से चिगकर कर्म-परम्परा को बढ़ाता है...** लो।

अब शास्त्र का सार। दसवाँ कलश।

इद-मेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्ध-नयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बन्ध एव हि॥१०॥

बहुत संक्षिप्त सार। **अशुद्धनय से बन्ध और शुद्धनय से मुक्ति।**

★ ★ ★

काव्य - १३

अशुद्ध नय से बन्ध और शुद्ध नय से मुक्ति है (दोहा)

यह निचोर या ग्रंथकौ, यहै परम रसपोख।
तजै सुद्धनय बंध है, गहै सुद्धनय मोख।।१३।।

शब्दार्थ:-निचोर=सार। पोख=पोषक। गहै=ग्रहण करने से। मोख=मोक्ष।

अर्थ:-इस शास्त्र में सार बात यही है और यही परम तत्त्व की पोषक है कि शुद्धनय की रीति छोड़ने से बन्ध और शुद्धनय की रीति ग्रहण करने से मोक्ष होता है।।१३।।

काव्य - १३ पर प्रवचन

यह निचोर या ग्रंथकौ, यहै परम रसपोख।
तजै सुद्धनय बंध है, गहै सुद्धनय मोख॥१३॥

इस शास्त्र का निचोड़—सार यह है कि **परमतत्त्व की पोषक है कि शुद्धनय की रीति छोड़ने से...** क्या कहते हैं? यह राग की एकता टूटी है, उसे राग की एकता नहीं करना। जब तक शुद्धनय की रीति है, तत्त्व की पोषक है। वह शुद्धनय प्राप्ति छोड़ने से बन्ध है। अनुभव आत्मा का, राग से भिन्न ऐसे अनुभव को छोड़ने से बन्ध है। **परमतत्त्व की पोषक है कि शुद्धनय की रीति छोड़ने से बन्ध...** अर्थात् आत्मा का अनुभव छोड़ने से राग का अनुभव करने से बन्धन है, ऐसा कहते हैं। अरे, भारी सूक्ष्म! चाहे तो दया-दान-व्रत के परिणाम हो परन्तु उस परिणाम का अनुभव वह शुद्धनय से भ्रष्ट है। कहो, धरमचन्दजी! फिर यह पढ़ा है या नहीं यह? नहीं पढ़ा? '**इदम् एव तात्पर्यम्**' इस पूरे समयसार का रहस्य है कि... रहस्य है कि... है नीचे? '**यहै परम रसपोख**' और परमतत्त्व का पोषक यह शुद्धनय है। राग और विकल्प से रहित ऐसा शुद्धस्वभाव, उसका अनुभव, वह तत्त्व के रस का पोषक है। वह तत्त्व के रस का वहाँ अनुभव है। आत्मा आनन्द का अनुभव है। इसलिए वह शुद्धनय छोड़नेयोग्य नहीं है।

'**नास्ति बन्ध तत् अत्यागात्, त्यागात् बन्ध**' लो। लो, यह त्याग और अत्याग की व्याख्या। आहाहा! अन्तर स्वरूप शुद्ध आनन्दस्वरूप, उसका अनुभव का त्याग नहीं, वहाँ तक उसे बन्ध नहीं। उसका—अनुभव का त्याग करके राग का अनुभव हुआ, उस शुद्धनय को छोड़ा, उसे बन्ध है। देखो, यह जैनदर्शन और समयसार का यह मक्खन! समझ में आया? '**नास्ति बन्ध अत्यागात्,**' ऐसा। उसे न छोड़े तो बन्ध है नहीं। शुद्धनय अर्थात् अनुभव। फिर उसमें अपने दो अर्थ किये हैं। उपयोगरूप अनुभव और दूसरी दो बातें की हैं। नीचे अर्थ में समयसार में। अब यहाँ तो इतनी बात है।

शुद्ध स्वरूप आत्मा आनन्दस्वरूप का अनुभव, दृष्टि, एकता (और) राग की पृथक्ता, वह शुद्धनय, उसे छोड़ने से बन्ध है। और राग की एकता (और) स्वभाव को

पृथक् करना—ऐसी बुद्धि, वह शुद्धनय से भ्रष्ट है, उसे बन्ध है। आहाहा! कहो, ऐसी क्रिया हिंसा की करे और फलानी करे, वह बन्ध है, ऐसी यहाँ बात ली ही नहीं। सेठी! कि इतना परिग्रह रखे और इतनी पर की हिंसा करे और फलाना करे बाहर का तो उसे बन्ध होता है, ऐसा तो यहाँ लिया नहीं इसमें। यह है ही नहीं। बाहर की क्रिया बन्ध का कारण है ही नहीं। राग के साथ एकताबुद्धि और स्वभाव के अनुभव का त्याग, बस वह बन्ध का कारण है।

मुमुक्षु : राग का लक्ष्य रखना या नहीं रखना...

पूज्य गुरुदेवश्री : मूल बात यह है। कहो, समझ में आया? अनुभव का त्याग, राग का ग्रहण, वह बन्ध का कारण।

अनुभव का त्याग, राग का अत्याग। समझ में आया? अनुभव का अत्याग और राग का त्याग, वह सम्यक्। वह बन्ध का अकारण, उसे बन्धन है नहीं। ऐसा सूक्ष्म है, ऐ जगजीवनभाई! यहाँ मिलान खाये ऐसा नहीं वाड़ा के साथ—सम्प्रदाय के साथ कहीं। मकनभाई के पुत्र है। कहो, समझ में आया? हसमुखभाई! यह तो तुम्हारे अधिक परिचय से समझ में आये ऐसा है, हों! यह एकदम समझ में आये ऐसा नहीं यह। आज का तो ऐसा माल था। कोई परिचय से समझ में आये ऐसा...

मुमुक्षु : समझ में आये ऐसा ही है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आये ऐसा ही है, परन्तु बहुत परिचय से (समझ में आये), ऐसा कहा। न समझ में आये ऐसी बात है ही नहीं यहाँ। समझ में आया? विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६३, चैत्र शुक्ल ८, शनिवार, दिनांक ३-४-१९७१
आस्रव द्वार पद १४, १५ तथा सार

नाटक समयसार, आस्रव अधिकार। नीचे है, नीचे।

धीरोदार-महिम्न्यनादि-निधने बोधे निबध्नन्धृतिं,
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम्।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः,
पूर्णं ज्ञान-घनौघ-मेक-मचलं पश्यन्ति शान्तं महः॥११॥

इसका पद। **जीव की बाह्य तथा अन्तरंग अवस्था।**

★ ★ ★

काव्य - १४

जीव की बाह्य तथा अंतरंग अवस्था (सवैया इकतीसा)

करमके चक्रमैं फिरत जगवासी जीव,
ह्वै रह्यौ बहिरमुख व्यापत विषमता।
अंतर सुमति आई विमल बड़ाई पाई,
पुदगलसौं प्रीति टूटी छूटी माया मतता।।
सुद्धनै निवास कीनौ अनुभौ अभ्यास लीनौ,
भ्रमभाव छांड़ि दीनौ भीनौ चित्त समता।
अनादि अनंत अविकलप अचल ऐसौ,
पद अवलंबि अवलोकै राम रमता।।१४।।

शब्दार्थः-बहिरमुख=शरीर विषय भोग आदि बाह्य वस्तुओं का ग्राहक। विषमता=अशुद्धता। सुमति=सम्यग्ज्ञान। भीनौ=लीन।

अर्थः-संसारी जीव कर्म के चक्कर में भटकता हुआ मिथ्यात्वी हो रहा है और उसे

अशुद्धता ने घेर रक्खा है। जब अन्तरंग में ज्ञान उपजा, निर्मल प्रभुता प्राप्त हुई, शरीर आदि से स्नेह हटा, राग-द्वेष-मोह छूटा, समता-रस का स्वाद मिला, शुद्धनय का सहारा लिया, अनुभव का अभ्यास हुआ, पर्याय में अहंबुद्धि नष्ट हुई, तब अपने आत्मा का अनादि, अनन्त, निर्विकल्प, नित्यपद अवलम्बन करके आत्मस्वरूप को देखता है।।१४।।

काव्य - १४ पर प्रवचन

करमके चक्रमैं फिरत जगवासी जीव,
ह्वै रह्यौ बहिरमुख व्यापत विषमता।
अंतर सुमति आई विमल बड़ाई पाई,
पुदगलसौं प्रीति टूटी छूटी माया ममता॥

ममता है न?

मुमुक्षु : ममता हो तो टाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं तो कहाँ से? दोनों टाली। क्योंकि एक... ऐसा नहीं चाहिए। पहले आ गया है। ममता चाहिए। आगे आयेगा। जड़ है भाई वह तो।

मुमुक्षु : पुद्‌गल का परिणमन होनेवाला हो....

सुद्धनै निवास कीनौ अनुभौ अभ्यास लीनौ,
भ्रमभाव छांड़ि दीनौ भीनौ चित्त समता।
अनादि अनंत अविकलप अचल ऐसौ,
पद अवलंबि अवलोकै राम रमता॥१४॥

आहाहा! सब शब्दार्थ नहीं आते। वरना यह '**कृतिभिः**' समकित है। '**कृतिभिः**' का अर्थ वहाँ सम्यक्—निर्मल ऐसा पद है न! '**कृतिभिः**' है न (इसका अर्थ) समकिती है। अनादि... '**कृतिभिः**' बीच में है न यह समकिती का... है। यह सब पद है न इसलिए शब्दार्थ पृथक् नहीं पड़ते। अनादि का आत्मा, देह में सत्ता—अस्तिपने पदार्थ होने पर भी अपने अन्दर आनन्द और शुद्धता के भान बिना '**करमके चक्रमैं फिरत**

जगवासी जीव' पुण्य और पाप के भाव जो कर्म के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले ऐसे कर्मचक्र, पुण्य और पाप, पुण्य और पाप—चक्र है वह। आस्रव अधिकार है न! हिंसा, झूठ, चोरी, विषय भोगवासना वह पापकर्म है पापभाव। दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा आदि पुण्यभाव—दोनों कर्मचक्र है। व्रत-पूजा-दया आदि....

'**करमके चक्रमैं फिरत**' स्वयं अपने स्वभाव को भूलकर, आनन्द और ज्ञान का स्वरूप जिसका है, ऐसा भगवान आत्मा अनादि से अपने निज परमात्मा को भूलकर कर्म के चक्र में जगवासी जीव घूमता है। व्रत पालना, भक्ति करना, पूजा करना, वह मेरा कर्तव्य है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, काम, क्रोध में मुझे मजा आता है। ऐसे पुण्य और पाप के चक्र में... चक्र क्यों कहा? दो चक्की के पड होते हैं न। घण्टी समझते हो?

मुमुक्षु : चक्की आटा पीसने की।

पूज्य गुरुदेवश्री : चक्की। थोड़ी-थोड़ी गुजराती समझ लेना अब। चक्की में दो पाट होते हैं न दो पाट। वैसे पुण्य और पाप—दो भाव का कर्मचक्र है। समझ में आया? उस कर्मचक्र में आत्मा की शान्ति पिस जाती है। आहाहा! कहो, वसन्तलालजी!

कहते हैं कि भाई! शुभभाव कुछ ठीक है—अच्छा है और अशुभभाव ठीक नहीं। यहाँ तो दोनों को कर्मचक्र कहा। हो, परन्तु वह है दु:खरूप और कर्मचक्र। अस्तिपने हो, विकल्प आते हैं। समझे? परन्तु है दु:खरूप। पुण्य और पाप दोनों चक्र है, देखा! कर्मचक्र है। आस्रव है न? या पापभाव करे, या पुण्यभाव करे। दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा-यात्रा-परोपकार, ऐसे भाव और या हिंसा-झूठ-चोरी-विषय-भोगवासना—परन्तु दोनों कर्मचक्र है, दोनों आस्रव है, बन्ध का कारण है। कहो, समझ में आया?

'**करमके चक्रमैं फिरत जगवासी जीव**' भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का धाम ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव से भरपूर, उसे अनादि से भूलकर शुभ और अशुभभाव (होते हैं), वह कर्मचक्र है, वह आस्रव है, वह दु:खरूप है। राग आग... यह आता है न? ऐई!

मुमुक्षु : राग आग दहै सदा।

पूज्य गुरुदेवश्री : छहढाला में आता है। राग, वह आग है। चाहे तो शुभ हो या अशुभ हो। आहाहा! भारी कठिन काम!

अपना शान्त अविकारी—अकषायस्वभाव, उससे उल्टा शुभ और अशुभ दोनों विकल्प की जाति है। उसमें ही उसकी रुचि अनादि से (पड़ी है)। जग में बसनेवाले एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय, नौवें ग्रैवेयक से नीचे सातवें नरक के या सातवें नरक से नौवें ग्रैवेयक। जगत के प्राणी अपने स्वभाव की अन्तर्मुख दृष्टि किये बिना बहिर्मुख पुण्य और पाप के चक्र में फँसे हुए हैं। भाव में, हों! जड़ में नहीं, कर्म में नहीं। वह जड़कर्म तो परचीज़ है।

करमके चक्रमैं.... पाप बदलकर पुण्य हुआ, वहाँ उसे ऐसा हो गया (कि) कुछ अपने धर्म किया। वह धर्म नहीं। समझ में आया? वह तो कर्मचक्र है। सेठी! अब तो कहीं इनकार किया जाये ऐसा है? अब तो कहीं... आहाहा! शान्त स्वरूप अपना तो अविकारी वीतरागी स्वरूप है। उसमें आस्रव उत्पन्न होना, वह तो दु:ख है, कर्मचक्र है, आत्मा को अहितकर है। परन्तु जगवासी जीव फिरत उसमें। '**ह्वै रह्यौ बहिरमुख व्यापत विषमता**' इतने शब्द प्रयोग किये हैं। **बहिरमुख...** यह पुण्य और पाप के विकल्प, शुभ-अशुभभाव, वह बहिर्मुख है। आत्मा की शान्ति के स्वभाव से बहिर्मुख है। अन्तर्मुख वह स्वभाव है नहीं। आहाहा!

कहो, यह तो सब भक्ति और भगवान की पूजा, यह परोपकार के भाव और यह दया-दान-व्रत के और तपस्या के और अपवास के सब, कहते हैं कि वह भाव सब बहिर्मुख भाव है, विकल्प—राग है। भारी कठिन पड़े लोगों को, हों! बेचारे धर्म मानते हों न उसमें। दुकान में बैठे हों तो पाप करे, परन्तु उपाश्रय या मन्दिर में बैठे हों तो पाप हो वहाँ?

मुमुक्षु : मिथ्यात्व का बड़ा पाप हो वहाँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ भगवान की भक्ति होती हो, लो, यह मजीरा बजता हो यह। भाई! परन्तु उस भगवान की भक्ति के ऊपर तेरा लक्ष्य है न, वह सब शुभराग है, वह कर्मचक्र की जाति है, वह आत्मा की जाति नहीं। आहाहा!

'ह्वै रह्यौ बहिरमुख' भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है। उसमें यह इन्द्रियजन्य विकल्प सब बहिर्मुख है। कहो, समझ में आया? यह दया पालने का भाव और अपवास का भाव और रात्रि में चारों आहार नहीं करना—ऐसा जो भाव, वह सब विकल्प बहिर्मुख भाव है, ऐसा कहते हैं। ऐई ....भाई! यह तुम्हारे ग्वालिया परिवार में सब मुश्किल पड़े।

मुमुक्षु : उसमें धर्म मनाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो दोनों चक्र है, बापू! तू फिरा है। पाप का चक्र पलटकर पुण्य में, परन्तु है तो कर्म की जाति। वह कोई धर्म की जाति नहीं है। आहाहा! भारी कठिन काम परन्तु हों लोगों को!

फिर प्रश्न उठे न किसी समय। भगवान के ऊपर लक्ष्य जाता है, वहाँ कहाँ कषाय है? ऐसे परमात्मा विराजता हों त्रिलोकनाथ तीर्थंकर समवसरण में, लो। अब किसी का आया है किसी का, कहाँ का होगा किसे खबर है? कुछ है सही। उसमें कोई पत्र आया है। कौन पढ़नेवाला है यह? उसमें कहीं कल... अपने सब, ऐसा कहे, तुम और हम सब महावीर (भगवान के) समवसरण में इकट्ठे थे। फलाना था, ढींकणा था, ऐसा लिखा है। वह किसी का समुच्चयरूप से लिखा होगा। सफेद है एक सफेद पृष्ठ। यहाँ था सही एक किसी का। लोगों को अभी इकट्ठा करने के लिये कुछ का कुछ लगाते हैं। कोई पृष्ठ था उसमें, हों! उसमें होगा। वह था, देखो। यह पृष्ठ एक डाला है किसी ने। किसने? क्या है? भाई पढ़ना।

पत्र है कहीं का। 'आपको विश्वास करता हूँ, आप और मैं भगवान महावीरस्वामी के समवसरण में रह चुके हैं।' ऐसा कहकर भगवान का यह होनेवाला है, ऐसा।

मुमुक्षु : यह आता है न अब।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहा कुछ। ...डालते हैं। यह पत्र में है। भाई! ऐसे समवसरण में अनन्त बार रहा है, ले। कहे। भगवान के समवसरण में अनन्त बार गया और भगवान की वाणी भी सुनी अनन्त बार, परन्तु वह तो सब शुभ विकल्प राग था।

मुमुक्षु : उसमें ज्ञान कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : सहजात्म को छोड़कर वह सब यह भगवान की वाणी और उससे मुझे लाभ होगा। भगवान केवली तीन लोक के नाथ मिले, आहाहा! भगवान की भेंट। परन्तु यह भगवान या वह भगवान?

मुमुक्षु : वे भगवान कहाँ थे? वे उनके भगवान थे। तेरे भगवान....

पूज्य गुरुदेवश्री : समवसरण में अनन्त बार गया।

उसे तो ऐसा कुछ कहना है। अब भी कौन वाँच लम्बा एकसरीखा। कुछ यह २५०० वर्ष का होगा। यह सबको कुछ करना है। परन्तु क्या है कुछ खबर पड़ती नहीं। ऐसा कुछ लगे। अलग पत्र दिया है। सबको लिखा है बहुतों को। कहो, भगवान के समवसरण में थे या नहीं, कहते हैं, कितनी बार? अनन्त बार। परमात्मप्रकाश में लिखा है—'भवोभव जिनवर पूजिया।' भवोभव बहुत—अनन्त भव में समवसरण में परमात्मा जिनवर की पूजा, मणिरत्न के दीपक, कल्पवृक्ष के फूल और हीरा बड़े करोड़-करोड़ के हीरा। ऐई!

मुमुक्षु : यह हीरालाल....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ गये हीरालाल? इसके लिये याद किये न इसके काका को। कहो, समझ में आया? बाप तो मरे या न मरे, उसका चाहे जैसा हो, परन्तु ... सम्बन्ध किया, उसे तो अपने पैसे दो पहले, वहाँ करो उसका व्यवस्थित। यह तो मरेगा या नहीं मरे। जीवे तो क्या? वह तो मरनेवाला मरे ही सही।

मुमुक्षु : धर्म करने आये तो मरे ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहो, समझ में आया?

'**ह्वै रह्यौ बहिरमुख**' यह समवसरण में गया तो भी शुभभाव बहिर्मुख है।

मुमुक्षु : समवसरण बहिर् है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कान्तिभाई! आहा! यह विमलचन्दभाई को ठीक नहीं भाई! ऐसे बेचारा कितना बुद्धिवाला व्यक्ति क्षयोपशम बहुत। कुछ हो गयी है हालत। सर्वत्र अब एक के बाद एक कुछ हुआ ही करता है। ...काम ऐसे हैं न। आहाहा! भगवान आत्मा... कहते हैं, वह समवसरण में भी गया, भाई! परन्तु वह भाव बहिर्मुख शुभ था,

चैतन्य का वह अन्तर्मुख भाव नहीं। आहाहा! भगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि सुनी, परन्तु वह वाणी सुनने में लक्ष्य तो शुभराग था।

मुमुक्षु : जहाँ जाये सुनने को, तो वहाँ यह कुछ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सुनाया कि हमारा उपदेश सुनते हो, यह तुम्हारा शुभराग है। ऐसा आया उसमें।

मुमुक्षु : धर्म है, ऐसा नहीं सुनाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहो। ऐई भीखाभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : आप कहते हो, उसमें क्या कमी? भगवान!

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

'करमके चक्रमैं फिरत जगवासी जीव, ह्वै रह्यौ बहिरमुख व्यापत विषमता' देखो! यह शुभ और अशुभ दोनों भाव विषमभाव है, विषमभाव है। आहाहा! भगवान के समवसरण में अनन्त बार गया और रहा। परन्तु कहते हैं कि वह भी शुभभाव, विषमभाव है। ऐई बसन्तलालजी! गजब बातें, भाई! आज रामजीभाई पर प्रश्न आया था कहीं से। शुभभाव को भट्ठी कैसे कहते हो? लो। ऐसा दो-तीन बार आया था। फिर यहाँ आया था। प्रश्न हुए थोड़े, आये तब। बापू! शान्तस्वभाव भगवान आत्मा में जितनी वृत्तियाँ उठें, वे सब कषाय अग्नि है, भाई! आहाहा! समझ में आया? '**ह्वै रह्यौ बहिरमुख व्यापत विषमता**' ऐसा कहा है न! विषमता व्यापी है। विषमता अर्थात् मिथ्यादृष्टिरूप से अशुद्ध हो रहा है। आहाहा! समझ में आया? बहिर्मुख मिथ्यादृष्टि हुई, विषमता—अशुद्धता हो गयी है। आहाहा!

भगवान की साक्षात् वाणी सुनी, समवसरण में रहा। समझ में आया?

मुमुक्षु : भगवान भी पर और वाणी भी पर।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! वे भगवान तो पर हैं, कहीं यह आत्मा नहीं। भगवान तो भगवान के हैं, (अपने) आत्मा से पर है। उनके ऊपर जितना लक्ष्य जाये, वह सब शुभभाव है, विषमता है, समता से विरुद्धभाव है। अरे, कठिन बातें, भाई!

मुमुक्षु : फिर दृष्टि हो जाये और अन्तर की ओर ढले।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ढले, (वह) उससे ढलता नहीं। उस विषमता से समता नहीं आती। वह तो हो गया। उससे नहीं हुआ। ऐई हीराभाई! बहिर्मुखभाव से अन्तर्मुख भाव होता है? आहाहा! भगवान अन्दर आनन्दमूर्ति प्रभु सच्चिदानन्दस्वरूप सिद्धस्वरूप है। आत्मा, जैसे सिद्ध परमात्मा हैं '**णमो सिद्धाणं**' वैसा ही इसका स्वरूप है। सिद्ध में राग-द्वेष हों तो आत्मा में हों। आहाहा! कहो, यह विषमता आया या नहीं? शुभभाव और अशुभभाव दोनों विषम हैं, अशुद्ध हैं। बहिर्मुख व्यापत मिथ्यात्व में व्यापते हैं। तब वह परिणमता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

'**अंतर सुमति आई**' यह आया भाई '**कृतिभिः**' '**अंतर सुमति आई विमल बड़ाई पाई।**' यह पुण्य-पाप के विकल्पों के भाव से मैं भिन्न हूँ। चैतन्यचमत्कार आनन्द की मूर्ति आत्मा हूँ, ऐसा अन्दर भान हुआ। '**सुमति आई**' '**अंतर सुमति आई**' देखो! '**अंतर सुमति आई**' वह बहिर् था, यह अन्तर। आहाहा! भगवान आत्मा अन्तर में शुद्ध चैतन्यमूर्ति निर्मलानन्द सहजानन्द की मूर्ति आत्मा है। उसकी जहाँ '**अंतर सुमति आई**' (अर्थात् कि) सम्यग्दर्शन हुआ, स्वसन्मुख होकर मति में समुतिपना ज्ञान हो गया। अशुद्धता को अपनी जो मानता था, पलटकर 'शुद्ध है वह मैं हूँ', ऐसा मानने लगा और अनुभव करने लगा। आहाहा! '**अंतर सुमति आई विमल बड़ाई पाई**' ओहो! यह परमात्मा तो निर्मलानन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, ऐसा सम्यग्ज्ञान में भान हुआ। अन्तर्मुख होने पर ऐसा भान हुआ, उसका नाम धर्म कहा जाता है। भारी कठिन काम, भाई!

लोगों को तो बाहर से यह सेवा करते हैं और परोपकार करते हैं और देशसेवा करते हैं और मन्दिर बना देते हैं (तो) सबसे धर्म होगा। धूल में भी धर्म नहीं, सुन न! वह तो सब कर्मचक्र है। अरे, अरे! १०-१० लाख के, १५-१५- लाख के, बीस लाख के मन्दिर, लो। ओहोहो! क्या धर्म! क्या धर्म! बापू! धर्म कहाँ है? भाई! परद्रव्य के ऊपर का लक्ष्य है, वह बहिर्मुखवृत्ति है, वह अशुद्धता है, वह विषमता है; समता का उसमें अभाव है। न्याय समझ में आये ऐसा है यह। ऐसा अन्दर ज्ञानानन्दस्वरूप है। यह तो सब हड्डियाँ जड़-मिट्टी-धूल है। यह तो अन्दर के शुभाशुभ परिणाम के आस्रव की अपेक्षा से बात चलती है। आस्रवरूप से परिणमता है, कहते हैं कि वह बहिर्मुखदृष्टि मिथ्यादृष्टि है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

'अंतर सुमति आई विमल बड़ाई पाई' अपनी निर्मलता, वह बड़ी महत्ता है। निर्मलता, प्रभुता प्राप्त हुई, लो। अन्तर में ज्ञान उत्पन्न हुआ। निर्मल प्रभुता। मेरी प्रभुता राग से अधिक—भिन्न है। पुण्य-पाप के विकल्प के चक्र से मेरी अधिकता—प्रभुता भिन्न है, ऐसा अन्दर भान होने पर वह धर्मी हुआ। तब धर्मी होता है। आहाहा! **'विमल बड़ाई पाई'** निर्मल के कारण से प्रभुता प्रगट हुई। निर्मल, वह मेरी अधिकाई—बड़ाई है।

'पुद्गलसौं प्रीति टूटी छूटी माया ममता' आहाहा! भगवान चैतन्य के ज्ञान, भान से, पुद्गल अर्थात् आत्मा से विरुद्ध अजीवतत्त्व से प्रीति टूटी, प्रेम नाश हुआ। **'छूटी माया ममता'** वह मेरी चीज़ है, मैं उसका हूँ—ऐसी जो एक माया अथवा ममता (थी वह) छूट गयी। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। त्रिकाल एक ज्ञायकभाव से रहा हुआ हूँ। कभी मैं शुभ-अशुभभाव से हुआ नहीं। आहाहा! समझ में आया? मैं हुआ नहीं। पर्याय हुई थी, तो मैं तो नहीं था उसमें।

मुमुक्षु : पर्याय है ही कहाँ परन्तु तेरी?

पूज्य गुरुदेवश्री : यही। आहाहा! देखो, **'पुद्गलसौं प्रीति टूटी छूटी माया ममता।'**

'सुद्धनै निवास कीनौ' बहिर्मुख वृत्ति छूटकर अन्दर शुद्धनय अर्थात् स्वरूप शुद्ध आनन्द धाम में वास किया। अनादि से पुण्य और पाप के विकल्प में वास था। लो, यह वास की (-रहने की) वस्तु। आहाहा! अनादि से भगवान अपने आनन्द और ज्ञान स्वरूप को भूला और अज्ञान में उसका वास पुण्य-पाप के विकल्प में था। मकान-फकान में, कर्म में नहीं था। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....पुण्य-पाप में।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य-पाप में? यह सब मकान इतने बनाओगे उनमें (नहीं)?

मुमुक्षु : मकान कहाँ इसका था?

पूज्य गुरुदेवश्री : अब भाई, अभी पैसे खर्च किये। ३६ हजार की तो जमीन ली है।

मुमुक्षु : जमीन जमीन में रही, पैसा पैसे में रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो तो बँगले बनायेंगे लड़के सब।

मुमुक्षु : लड़के आवें। हसमुखभाई के लिये चाहिए न!

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे किसका?

मुमुक्षु : तीन बनायेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन-तीन। छह के तीन डाले हैं। छह नहीं बनाये, क्योंकि तीन नम्बर से आवे न। वहाँ तीन व्यापार करे। मलूकचन्दभाई!

मुमुक्षु : अपने तो तीन... हमारे तो तीन बनाये हैं, यह भाव करते हैं न।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बनाता है? यहाँ तो रजकण लगनेवाले होंगे वे, लगेंगे। उसका भाव बनाने का है। वह भाव उसके पास रहा। वह बाहर की चीज़ कहीं भाव के कारण बनती है?

मुमुक्षु : यह आप निकाल डालो तो शुभ समाचार....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो चलता है। आहाहा!

'**सुद्धनै निवास कीनौ अनुभौ अभ्यास लीनौ**' शुद्ध चैतन्य, पुण्य-पाप के राग—आस्रव से अनास्रवी चीज़ अत्यन्त भिन्न है। ऐसा भान होने पर शुद्धनय में बसा। शुद्धनय कहो या शुद्धभाव द्रव्यस्वभाव त्रिकाल (कहो)। उसमें दृष्टि स्थापित हुई। '**अनुभौ अभ्यास लीनौ**' आनन्द का स्वाद लिया। कहो, समझ में आया? आहाहा! जो कर्म को अनुसरकर पुण्य-पाप के चक्र को सेवन कर रहता था। वह भगवान आत्मा अखण्ड आनन्दमूर्ति है, ऐसा उसे अनुसरकर उसमें रहने लगा, तो आनन्द का निवास हुआ। आनन्द का स्वाद आया, (वह) अनुभव। आहाहा! गजब! यह आनन्द तुझमें है, उसमें से आया, (ऐसा कहते हैं)। उसका नाम समकित और धर्म कहा जाता है। आहाहा! कठिन काम भाई! प्रकाशदासजी! क्या है? परन्तु यह तो ऐसा कठिन।

मुमुक्षु : यह तो प्रकाश के दास हैं न, यह कहीं अन्धकार के दास थोड़े हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : लो, '**सुद्धनै निवास कीनौ अनुभौ अभ्यास**' अभ्यास, हों। अभ्यास, यह अन्तर में अनुभव का अभ्यास। वह अनादि का राग का अभ्यास था, वह गया और अब आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा है सच्चिदानन्द—सत्-शाश्वत्, चिद्-ज्ञान और आनन्द, उसे अनुसरकर होनेवाली दशा हो, उसे अनुभव कहा जाता है। '**भ्रमभाव**

छांडि दीनौ' लो। अहंबुद्धि छोड़ दी—छूट गयी। राग और विकल्प में अहंबुद्धि थी। व्यवहार का राग आदि शुभराग में अहंबुद्धि थी, वह छूट गयी। आहाहा! जो स्वभाव में अहंबुद्धि नहीं थी और दया-दान-व्रत आदि के विकल्प करता था, उसमें अहंबुद्धि थी, वह छूट गयी। '**भ्रमभाव छांडि दीनौ भीनौ चित्त समता**' परन्तु आत्मा की शान्ति में भीनो हो गया—शान्त अनुभव के अभ्यास में। कहो, समझ में आया? चित्त में समता आयी, वीतरागता आयी। स्वभाव वीतरागस्वरूप है, उसमें स्थिर होने से वीतरागी पर्याय आयी, वह अनास्रवी दशा हुई। यह मार्ग है। आहाहा!

'**भीनौ चित्त समता**' समता से रंग गया, कहते हैं। अनादि से राग में रंग गया था, पुण्य-पाप के राग में—विकार में—बहिर्मुखभाव में रंग चढ़ गया था, वह अन्तर्मुखदृष्टि करने से आत्मा के आनन्द का रंग चढ़ गया। '**भीनौ**'—भींग गया, आनन्द से भींग गया, कहते हैं। राग और पुण्य-पाप के मैल से भींगता था। आहाहा! धर्म की पद्धति ही सुनने को मिलती नहीं, हों! इसलिए लोग बेचारे भटकाभटक। मानो पालीताणा जायें, मानो सम्मेदशिखर जायें, कुछ यह करें और फलाना करें, लो। पुस्तक सोने की और चाँदी की बनाना, लो। उसमें धर्म होगा या नहीं?

मुमुक्षु : नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं!

मुमुक्षु : बने तो सही बहुत मन्दिर। इन्होंने बनाये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बनावे? वह तो है, कहा। वह करनेवाले का भाव हो, वह शुभ विकल्प है, वह भी राग है, कर्मचक्र है। ...गजब!

जेठाभाई! यह तो सब उल्टा निकला, कहते हैं। अभी तक....

मुमुक्षु : वह उल्टा (था), यह तो सुलटा निकला।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहते हैं कि यह सब उल्टा निकाला...। अभी तक अपनी परम्परा जो थी, परम्परा थी, वह सब तो तोड़ी डाली। परम्परा तो सत्य यह थी।

मुमुक्षु : यह परम्परा है....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहते हैं लेख में, हों! अपनी आचार्यों की परम्परा,

अनादि से तो व्रत पालना, तपस्या करना, भक्ति करना, वह परम्परा थी। और वह तो तोड़ दी परम्परा, कहते हैं। अरे! वह परम्परा नहीं थी। आहाहा! आहाहा! समझ में आया? यह तो आत्मा की परम्परा शुरु हुई।

कहते हैं न देखो! समता में भींग गया और '**अनादि अनंत अविकलप अचल ऐसौ**' उसे अवलम्बन किया। आहा! राग और विकल्प को अनादि से अवलम्बकर घिर गया था राग से। राग की बुद्धि में—विकार की बुद्धि में घिर गया था। पूरा चक्र धर्म का घेर डाला था। छूट गया, कहते हैं। अन्तर स्वरूप अनादि-अनन्त ऐसा भगवान आत्मा **अविकलप...** निर्दोष, निर्विकल्प अर्थात् अभेद, **अचल**—नित्यपद। ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव नित्य भगवान नित्य... नित्य... नित्य... नित्य ऐसे पद को अवलम्बता हुआ, '**अवलोकै राम रमता**' आहाहा! आत्मा आनन्दराम—उस आनन्द में रमता राम आत्मा—उसे पहचान जा, ऐसा कहते हैं। भारी काम, भाई!

है न, **अवलम्बन करके आत्मस्वरूप को देखता है। अवलोकै राम रमता...** आतम राम। राग में रमता, वह आत्मा में रमने लगा, वह आतमराम। राग में रमता, वह जड़राम। जड़ में रमता वह अनात्मा। आहाहा! व्यवहार का तो भुक्का उड़ाया है इसमें। साधन है, हेतु है। यह सब विवाद, हों! अरे भगवान! यह विवाद तू किसके साथ करता है? तेरे साथ करता है। तेरा भाव तुझे सुहाता नहीं। राग को रुचि में लेकर अन्तर्मुख होने का प्रयत्न करता नहीं। **अनादि, अनन्त, निर्विकल्प, नित्यपद अवलम्बन करके...** आत्मा को अवलोकता है अर्थात् आत्मा का अनुभव करता है। आत्मा के आनन्द का अनुभव करे, यह उसका नाम धर्मी और समकिती कहा जाता है।

अब, **शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन है**। आस्त्रव (अधिकार) का अन्तिम श्लोक।

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्त्रवाणां,
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु सम्पश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकान्तादचल-मतुलं ज्ञान-मुन्मग्न-मेतत्॥१२॥

आहाहा! एक-एक कलश ऐसा बनाया है!

मुमुक्षु : एक में पूरा।

★ ★ ★

काव्य - १५

शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन है (सवैया इकतीसा)

जाके परगासमैं न दीसैं राग द्वेष मोह,
आस्रव मिटत नहि बंधकौ तरस है।
तिहूं काल जामैं प्रतिबिंबित अनंतरूप,
आपहूं अनंत सत्ता नंततैं सरस है।।
भावश्रुत ग्यान परवान जो विचारि वस्तु,
अनुभौ करै न जहाँ वानीकौ परस है।
अतुल अखंड अविचल अविनासी धाम,
चिदानंद नाम ऐसौ सम्यक दरस है।।१५।।

शब्दार्थ:-परगास=प्रकाश, उजेला। तरस (त्रास)=कष्ट। प्रतिबिंबित=झलकते हैं। ज्ञानी=वचन। परस (स्पर्श)=पहुँच। अतुल=अनुपम।

अर्थ:-जिसके उजाले में राग-द्वेष-मोह नहीं रहते, आस्रव का अभाव होता है, बन्ध का त्रास मिट जाता है, जिसमें समस्त पदार्थों के त्रैकाल्यवर्ती अनन्त गुण-पर्याय प्रतिबिम्बित होते हैं और जो आप स्वयं अनन्तानन्त गुण-पर्यायों की सत्ता सहित है; ऐसा अनुपम, अखंड, अचल, नित्य, ज्ञान का निधान चिदानन्द ही सम्यग्दर्शन है। भावश्रुतज्ञानप्रमाण से पदार्थ विचारा जावे तो वह अनुभवगम्य है और द्रव्यश्रुत अर्थात् शब्द-शास्त्र से विचारा जावे तो वचन से कहा नहीं जा सकता।।१५।।

काव्य - १५ पर प्रवचन

'जाके परगासमैं न दीसैं राग द्वेष मोह' भगवान ज्ञानस्वरूप प्रभु में उसका भान होने पर, **'जाके परगासमैं न दीसैं राग द्वेष मोह, आस्त्रव मिटत नहि बंधकौ तरस है।'** बन्ध का त्रास नहीं। **'तिहूं काल जामैं प्रतिबिंबित अनंतरूप, आपहूं अनंत सत्ता नंततैं सरस है। भावश्रुत ग्यान परवान जो विचारि वस्तु, अनुभौ करै न जहाँ वानीकौ परस है।'** वाणी का स्पर्श नहीं। जहाँ वाणी छूती नहीं। आहाहा! **'अतुल अखंड अविचल**

अविनासी धाम, अतुल अखंड अविचल अविनासी धाम, चिदानंद नाम ऐसौ सम्यक दरस है।' चिदानंद नाम ऐसौ सम्यक दरस है। आहाहा!

'**जाके परगासमैं न दीसैं राग द्वेष मोह**' आस्त्रव की व्याख्या है न! पुण्य, पाप और मोह तो आस्त्रव परिणाम है। भगवान आत्मा के ज्ञानप्रकाश के पूर में जहाँ नजर पड़ी, कहते हैं कि राग-द्वेष, मोह वहाँ दिखते नहीं। आहाहा! '**जाके परगासमैं न दीसैं राग द्वेष मोह, आस्त्रव मिटत नहि बंधकौ तरस है।**' ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि होने पर, उसका शरण मिलने पर, उसे पुण्य-पाप और राग-द्वेष भाव नहीं होते। इसलिए आस्त्रव मिट जाता है। नये कर्म आने का कारण ऐसे पुण्य-पाप के भाव उसे उत्पन्न नहीं होते। इसलिए **बंधकौ तरस** नहीं। बन्ध का त्रास उसे (होता नहीं)। कष्ट नहीं, ऐसा। आहाहा! धर्मी हुआ वहाँ बन्ध नहीं। आहाहा! यह ऐसी बात है।

भगवान आत्मा, वह तो आनन्द और ज्ञान का पूर, अनन्त-अनन्त बेहद जिसका जानने का, देखने का, वीर्य का, आनन्द का स्वभाव ऐसे नूर—तेज में जहाँ पड़ा। राग के अन्धकार में पड़ा था, वह तो संसार का त्रास है, कहते हैं। उसे तो नये बन्ध का भी त्रास है। ऐसा भगवान आत्मा अन्तर्मुख देखने से जिसे राग-द्वेष और मोह टल जाते हैं और उसे आस्त्रव टलने पर बन्ध का कष्ट नहीं होता अर्थात् बन्ध नहीं होता। समझ में आया? क्योंकि आत्मा स्वयं अबन्धस्वरूपी, अबन्धस्वभावी है। पुण्य-पाप के विकल्प उसमें है नहीं।

ऐसा अबन्ध भगवान... आता है न! '**जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं**' (समयसार गाथा १४)। इसका अर्थ यह कि राग और कर्म के साथ बन्ध—सम्बन्ध है ही नहीं उसे, ऐसी वह चीज़ है। आहाहा! ऐसा भगवान ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा अपने स्वरूप को जानने से, बन्ध का कारण आस्त्रव है, तो वह आस्त्रव होता नहीं तो बन्ध भी होता नहीं। '**तिहूं काल जामैं प्रतिबिंबित अनंतरूप,**' भावश्रुतज्ञान में अर्थात् नीचे छद्मस्थदशा में ऐसा भासित हुआ कि आत्मा तो अनन्त-अनन्त पदार्थ को जाननेवाला-देखनेवाला है। किसी पदार्थ को मेरा मानकर इकट्ठा रखे ऐसा वह स्वभाव नहीं। आहाहा। समझ में आया? राग को इकट्ठा रखकर... राग रखे आत्मा, ऐसा उसका स्वभाव नहीं। वह तो राग और पूरी दुनिया का जाननेवाला—देखनेवाला है। आहाहा! समझ में आया?

'तिहूं काल जामैं' अनन्त गुणपर्याय प्रतिबिम्बित होते हैं... अर्थात् कि सम्यग्ज्ञान में ऐसा भासित हुआ कि यह आत्मा तो तीन काल, तीन लोक के द्रव्य-गुण-पर्याय को, उसमें स्वयं भी आया, जाननेवाला-देखनेवाला है। पुण्य-पाप के राग का करनेवाला और परिणमनेवाला यह आत्मा नहीं। आहाहा! निश्चय बात लगे लोगों को, हों! निश्चय अर्थात् एकान्त लगे। यह सम्यक् निश्चय, यही एकान्त धर्म है। आहाहा! समझ में आया? उसमें भी विवाद। सम्यक् नियत... यह नियत नहीं, ऐसा है और ऐसा है और फलाना है। अरे भगवान! भूलता है बापू, हों!

मुमुक्षु : नियतपने सत्ता में छूट जाता है और कर्ता में रह जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ नहीं किसे करे? राग को करे, वह कहाँ वस्तु है? आहाहा! ज्ञान, वह राग को करे या ज्ञान, वह ज्ञान को करे? समझ में आया? **'तिहूं काल जामैं प्रतिबिंबित अनंतरूप,'** यह समझाने को तो ऐसा समझावे न कि लोकालोक प्रतिबिम्ब होता है। प्रतिबिम्बित अर्थात् कि उसका यहाँ ज्ञान होता है। समझ में आया? **अनंतरूप...** तीन काल के अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय जिसके ज्ञान में ज्ञात हो जाते हैं।

'आपहूं अनंत सत्ता नंततैं सरस है।' लो। कहते हैं, **आप स्वयं अनन्तान्त गुण -पर्यायों की सत्ता सहित है।** स्वयं भी अनन्त गुणसहित है। अनन्त को जाने, तीन काल को जाने तो भी स्वयं भी अनन्त गुणसहित है। **'आपहूं अनंत सत्ता नंततैं सरस है।'** लो। सब अनन्त से उसका अखण्ड अलग है। **अनन्तान्त गुण-पर्यायों की सत्तासहित है।** आहाहा! ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि अनन्त-अनन्त शक्तियाँ, जो ४७ कही, ऐसी अनन्त शक्तियाँसहित है। रागरहित हुआ तो अनन्त ज्ञानसहितपना जाता है, ऐसा नहीं है। वह तो उनसे सहित होता है। आस्रव की दृष्टि छोड़ने से अनन्त गुणसहित ऐसे आत्मा को अनुभव करता है। ऐसी उसकी सत्ता अनन्त गुणवाली है।

'भावश्रुत ग्यान परवान जो विचारि वस्तु,' अन्तर में शुद्ध उपयोग (रूप) भावश्रुतज्ञान से जीव को खोजकर **'विचारि वस्तु'** अन्तर में ढला। भावश्रुतज्ञान, वही जैनशासन है। उसमें आत्मा का पता लिया उसमें से। भावश्रुत अर्थात् यह अकेली वाणी नहीं, (परन्तु) अन्दर भाव (श्रुत) ज्ञान। ज्ञान द्वारा आत्मा को—ज्ञेय को पकड़ा। जिस अन्तरज्ञान से आत्मा को पकड़ा, उस ज्ञान को यहाँ भावश्रुत कहा जाता है। द्रव्यश्रुत से

प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? अपना आत्मा भावश्रुतज्ञान द्वारा ज्ञेय हो सकता है।

'**भावश्रुत ग्यान परवान जो विचारि वस्तु,**' लो। उसमें अर्थ किया है। भाई! द्रव्यश्रुत से विचारे तो वह कुछ शब्द से पार पड़े, ऐसा नहीं है। शब्द से कहा नहीं जा सकता। शब्द में कुछ कहा (नहीं) जा सकता। किस प्रकार कहा जाता है? अनन्त गुण हों, उन्हें शब्द से कैसे (कहे)? जड़ की दशा एक-एक को क्रम से कहे, वह पूर्ण स्वरूप को समझाने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। द्रव्यश्रुत **(अर्थात् शब्दशास्त्र से) विचारा जावे तो वचन से कहा नहीं जा सकता।** ऐसा कहते हैं।

'**अनुभौ करै न जहाँ वानीकौ परस है।**' लो! अनुभव करे आत्मा अपनी दशा में। आनन्द का स्वादिया तो आनन्द को स्वादे। आहाहा! सूकर विष्टा को चाटते हैं, (उसी प्रकार) अज्ञानी राग-द्वेष को चाटता है। जो निकाल देने योग्य चीज़ राग-द्वेष, आहाहा! उसे अनुभवता है। ज्ञानी तो '**अनुभौ करै न जहाँ वानीकौ परस है।**' वाणी कहीं छूती नहीं। विचार क्या करे? वाणी कहाँ स्पर्शे? वचनातीत, विकल्पातीत वस्तु भगवान अन्तर चैतन्य के तेज से भरपूर प्रभु, उसे वाणी और विकल्प छूता नहीं। भारी बातें भाई ऐसी! परन्तु कोई कहे कि भाई! परन्तु अब इसका कुछ साधन होगा? अब क्या करना, यह साधन। बसन्तलालजी! यह बहुत पूछते हैं उनकी ओर। क्योंकि.... यह अन्तर में समझना स्व को, वही उसका साधन है। राग आदि का विकल्प, वह साधन है नहीं। आस्रव साधन होगा? कठिन काम।

बहुत प्रथा पूरी ऐसी बदल गयी न! बड़े-बड़े साधु नाम धरानेवाले नग्न या यह वस्त्रवाले नाम धरानेवाले, हों! आहाहा! भारी धमाधम, इसलिए यह बात लगे कि यह तो ... निश्चय का कुछ सोनगढ़ का धर्म कोई अलग स्थापित करना चाहते हैं। और ऐसा कहे। परन्तु इस सोनगढ़ की पुस्तक है यह?

मुमुक्षु : बहुतों ने तो सुना भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुना नहीं, इसलिए उन्हें खबर नहीं। यह शास्त्र किसका है? देखो, यह तो बनारसीदास का बनाया हुआ है, वह भी कलश है अमृतचन्द्राचार्य के,

उनका अर्थ राजमलजी ने किया, उसमें से यह निकाला है। उसमें यह है, लो। बहुत से ऐसा कहते हैं कि सोनगढ़ का धर्म....

मुमुक्षु : राजमल्ल के अर्थ में अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी अन्तर नहीं। उन्हें भान नहीं होता। सुलटे अर्थ करना चाहते हैं। वह बीच में करते थे। वह वहाँ गप्प ही गप्प मारी है। आहाहा! क्या हो?

उपादान की योग्यता अनेक प्रकार की, जैसा निमित्त मिले, वैसा कार्य हो। कहो, ऐसा आत्मा... वह तो निमित्त ने ही कार्य किया इसमें, इसने तो कुछ काम किया ही नहीं। आत्मा के उपादान की कार्य करने की योग्यता अनेक प्रकार की है।

मुमुक्षु : अब वह तो द्रव्य की योग्यता है। यहाँ तो पर्याय की योग्यता ली है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो पर्याय की योग्यता में यह अनेक प्रकार है (ऐसा वे) कहते हैं। जैसे निमित्त सामने मिले.... पानी में योग्यता गर्म होने की, जलने की, टलने की सब है। अग्नि आवे तो गर्म होता है और ढोल दे तो गारा हो जाता है।

मुमुक्षु : एक ही प्रकार की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ....इसी प्रकार बापू... एक वस्तु की एक समय की जो पर्याय, उसकी योग्यता एक ही प्रकार की है। दूसरे निमित्त आवे, इसलिए उसमें (योग्यता) पलटे? क्या हो? लुटाया है वह। और उसे लूटनेवाले ऐसे मिले वापस। कहते हैं, '**भावश्रुत ग्यान... अनुभौ करै न जहाँ वानीकौ परस है।**' वाणी छूती नहीं। आहाहा!

'**अतुल अखंड अविचल अविनासी धाम,**'—जिसकी उपमा नहीं। भगवान आत्मा को उपमा क्या? ज्ञान के स्वभाव से भरपूर वस्तु, आनन्द और ज्ञान के स्वभाव से परिपूर्ण अनन्त सत् स्वभाव का साहेबा, उसे उपमा किसकी देना? तुलना किसकी करना? कहते हैं। अखण्ड वस्तु है। वस्तु है न स्वयं। शरीर में राग से भिन्न अखण्ड वस्तु है। एक वस्तु है, वह अखण्ड है। आहाहा! **अविचल** है। अपने ध्रुवधाम से कभी च्युत नहीं हुई। आहाहा! अब इसमें तो कहा न (कि) पर्याय में भी आयी नहीं। वह अर्थ हुआ था न वह (कि) नित्य है, वह अनित्य में नहीं आया। वह भाव बराबर है। परन्तु वहाँ शब्द का अर्थ ऐसा रखा। भगवान अनादि-अनन्त ध्रुव, वह कभी निगोद की

और सिद्ध की पर्याय में आता ही नहीं। अनित्य पर्याय और स्वयं नित्य त्रिकाल। आहाहा!

उसके बदले राग में और घर में और स्त्री-पुत्र के पास जाये.... आहाहा! परन्तु अब वहाँ दुकान में जाये तो सही या नहीं? आहाहा!

मुमुक्षु : कौन दुकान में जाये बापू?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु अब हीराभाई थोड़ा-सा सम्हालेंगे और दो घण्टे सम्हालने जाना। यह सम्हालने जाये। क्या करते हैं? यह भानेज क्या करता है, उसके ऊपर।

मुमुक्षु : यह तो भ्रम हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आमदनी अधिक हो तो उत्साह आवे, हर्ष आवे, लो। आहाहा! एक दिन में सौ-सौ रुपये की आमदनी...

मुमुक्षु : किसे आयी?

पूज्य गुरुदेवश्री : हीराभाई को आवे। यह तो हीराभाई इनका पुत्र है या नहीं?

मुमुक्षु : हीराभाई को भी न आवे और हीराभाई के पिताजी को भी न आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा होगा मलूकचन्दभाई? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, राग के साथ सम्बन्ध नहीं। आस्त्रव के विकल्प के सम्बन्धरहित चीज़ है तू। किसका सम्बन्धवाला तुझे कहना? आहाहा! इस प्रकार मोक्ष के लिये धर्म के दरवाजे खोलने की कला बहुत सूक्ष्म है। भरा है अन्दर भगवार पूरा, परन्तु उसे खोलने की कला, अन्तर्मुख की दृष्टि किये बिना वह कला हाथ आवे, ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया?

'अतुल अखंड अविचल अविनासी धाम, चिदानंद नाम ऐसौ' **'चिदानंद नाम ऐसौ**। **'चिद्'** अर्थात् ज्ञान और आनन्द। जिसका ज्ञान और आनन्द स्वभाव—स्वरूप **'ऐसौ सम्यक दरस है।'** है। उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। कहो, समझ में आया? ऐसा अखण्ड आत्मा, उसका अन्तर अनुभव होकर प्रतीति होना, उस सम्यग्दर्शनप्रमाण

आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? क्षेत्र की अपेक्षा से। यह सम्यग्दर्शन तो पूरे द्रव्य में व्याप्त है न! भाव की अपेक्षा से त्रिकाली में व्याप्त नहीं। परन्तु इतना अभी इतनी बात है न यहाँ! सम्यग्दर्शन जितना आत्मा है, ऐसा। वह राग जितना और विकल्प जितना नहीं, इतना कहने (के लिये)। '**अतुल अखंड अविचल अविनासी धाम**' प्रभु में दृष्टि देने से जो दर्शन हो, वह दर्शन आत्मा जितना दर्शन है। क्योंकि पूर्ण को प्रतीति करनेवाला वह पूर्ण स्वरूप ही है। प्रतीति भी पूर्ण स्वरूप है। आहाहा! गजब बात भाई ऐसी!

'**ज्ञानमुन्मग्नमेतत्**' लो, चिदानन्द है न! '**उन्मग्नम्.. उन्मग्नम्**' बाहर आया। डूबता था अन्दर, वह बाहर आया। उन्मग्नम्, निमग्नम्। आहाहा! आता है, दो नदियाँ आती है न! उन्मग्नजला, निमग्नजला।

मुमुक्षु : प्रवचनसार में।

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है उस वैताढ्य पर्वत में दो नदियाँ आती हैं। चक्रवर्ती जाये न साधने वे तीन खण्ड साधने जाये। बीच में दो नदियाँ आती हैं, पुल बाँधे। दो नदी में एक नदी ऐसी कि जो कुछ पानी के अन्दर पत्ता गिरे, मनुष्य गिरे तो उसे गहरे ले जाये और एक नदी ऐसी है कि जो कुछ गिरे, वह ऊँचा आवे। उस नदी के पानी का स्वभाव ही ऐसा है।

दो नदियाँ हैं। उन्मग्नजला और निमग्नजला। उन्मग्नजला, निमग्नजला। वैताढ्य पर्वत में है। चक्रवर्ती तीन खण्ड साधने जाता है न, तब बीच में वह आती है। दरवाजा बन्द हो न करोड़ों-अरबों वर्षों से, (उसे) खोले। एक हजार देव सेवा करते हों, ऐसा एक दण्ड हाथ में हो। हजार देव सेवा करे ऐसा घोड़ा हो। घोड़े के ऊपर बैठकर मारे। दरवाजा खुले तो उसमें से अग्नि निकले। वहाँ से वापस घोड़ा उछालता है। बारह योजन दूर ले जाता है। वरना अग्नि में जल जाये। ऐसी अग्नि अन्दर। बन्द हो न अरबों वर्षों से। उसमें फिर रास्ता करे उस ओर जाने का। उसमें बीच में दो नदियाँ आती हैं। समझ में आया?

इसी प्रकार आत्मा अज्ञानभाव से भटकता है, वह निमग्न नदी है, गहरा-गहरा ले जाये। यह उन्मग्न है। उन्मग्न है न।

मुमुक्षु : उन्मग्न का अर्थ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उछाला। है न उन्मग्न का अर्थ, यह है मूल तो। उस पद में तो अमुक आवे न! चिदानन्द है, ऐसा नाम, ऐसा। सम्यग्दर्शन... यह तो शब्दार्थ हो, तब अलग अर्थ हो न। उन्मग्न—उछाला मारता है अन्दर से। ज्ञान और आनन्द का जोर उठाता है। पर्याय में आत्मा का भान होने पर पर्याय में आनन्द और ज्ञान का उछाला आता है। प्रवचनसमुद्र में बिन्दू में उछल आवे, वह आता है न। आहाहा! यह आस्रव अधिकार के पद पूरे हुए।

★ ★ ★

पाँचवें अधिकार का सार

राग-द्वेष-मोह तो भाव-आस्रव हैं, और अशुद्ध आत्मा के द्वारा कार्मणवर्गणारूप पुद्‌गल प्रदेशों का आकर्षित होना द्रव्य-आस्रव है। तथा इन द्रव्य-आस्रव और भाव-आस्रव से रहित सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन का उदय होते ही जीव का मौजूद ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है, इस सम्यग्ज्ञान की दशा में आस्रव का अभाव है। सम्यग्ज्ञानी अव्रती भी क्यों न हों, तो भी उन्हें आस्रव नहीं होता, इसका कारण यह है कि अन्तरंग में सम्यग्दर्शन का उदय होने से वे शरीर आदि में अहंबुद्धि नहीं रखते और विषय आदि में तल्लीन नहीं होते।

पाँचवें अधिकार के सार पर प्रवचन

पाँचवें अधिकार का सार। राग-द्वेष-मोह तो भाव आस्रव हैं। उस राग में फिर दया-दान-व्रत-पूजा-भक्ति आ गये या नहीं? राग-द्वेष, मोह तो भावास्रव है, विकारी परिणाम है। भावास्रव अर्थात् विकारीदशा है। **और अशुद्ध आत्मा के द्वारा...** और उस अशुद्ध परिणाम द्वारा **कार्मणवर्गणारूप पुद्‌गल प्रदेशों का आकर्षित होना द्रव्य आस्रव है।** उन अशुद्ध परिणाम—पुण्य और पाप के मलिन परिणाम द्वारा कर्म का आना...

मलिन परिणाम, वह भाव आस्रव है और कर्म का आना—रजकण, वह द्रव्य आस्रव। जड़ के रजकण आवे। आकर्षित होने का अर्थ आना। **तथा इन द्रव्यास्रव और भावास्रव से रहित सम्यग्ज्ञान है।** आत्मा का स्वभाव सम्यग्ज्ञान तो द्रव्य—जड़ (आस्रव) से और भावास्रव से भिन्न है। **द्रव्यास्रव और भावास्रव से रहित...** यह पुण्य के-पाप के विकल्प और रजकण से रहित ऐसा भगवान आत्मा, उसका ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन का उदय होते ही जीव का मौजूदा ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। क्या कहते हैं? अन्तर आत्मा का भान सम्यग्दर्शन—प्रतीति होने पर वह उदय होता है। **जीव का मौजूदा ज्ञान...** है जीव में जो ज्ञान, वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। ज्ञान की पर्याय को भी, सम्यग्दर्शन हो तब सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। समझ में आया? **इस सम्यग्ज्ञान की दशा में आस्रव का अभाव है।** सम्यग्ज्ञान दशा में आस्रव है नहीं। वस्तु में पुण्य-पाप आस्रव नहीं, उसके गुण में नहीं और उसका भान होने पर उसकी पर्याय में भी नहीं, ऐसा सिद्ध करना है यहाँ। वस्तु जो आत्मा द्रव्य—वस्तु है त्रिकाली, उसमें भी पुण्य-पाप नहीं। गुण—शक्तियाँ अनन्त हैं, उनमें भी नहीं और उनके ओर की दृष्टि और अनुभव का ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की पर्याय में भी पुण्य-पाप विकल्प नहीं। आहाहा!

सम्यग्ज्ञान की दशा में आस्रव का अभाव है। वह ज्ञान में आस्रव होता नहीं। **सम्यग्ज्ञानी अव्रती भी क्यों न हो...** देखो, वह धर्मी कदाचित् अव्रती हो तो भी उन्हें आस्रव नहीं होता। चौथे गुणस्थान में अव्रती हो, राजा हो, चक्रवर्ती हो।

मुमुक्षु : नारकी हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : नारकी, सातवें नरक का नारकी हो। आहाहा! देव हो, देवी हो, उसमें क्या है? स्त्री में चाण्डालिनी हो, छिपकली हो समकिती। छिपकली मनुष्य नहीं, यह होता है न वह जानवर क्या कहलाता है? (गुजराती में) ढेडगरोळी कहलाता है। क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : छिपकली।

पूज्य गुरुदेवश्री : छिपकली। पण्डितजी! क्या? छिपकली होती है न, वह भी सम्यग्दर्शन पावे। आत्मा है या नहीं? आहाहा!

कहते हैं, **सम्यग्ज्ञानी अव्रती भी क्यों न हो...** व्रत न हो। ऐई प्रकाशदासजी! व्रत न हो और ज्ञानी? व्रत ले, त्याग करे पश्चात....

मुमुक्षु : व्रत तो राग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! वहाँ तो अकेले व्रत पालना, वह सब जैनदर्शन का सार था। यहाँ तो अव्रती हो—व्रत न हो, अव्रतभाव हो तो भी उसे आस्रव नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। क्योंकि अव्रत है, वह तो राग का भाग है। उससे तो रहित आत्मा का भान हुआ, उसे अव्रत-बव्रत है नहीं। ले। समझ में आया? **सम्यग्ज्ञानी अव्रती भी क्यों न हो, तो भी उन्हें आस्रव नहीं होता, इसका कारण यह है कि अन्तरंग में सम्यग्दर्शन का उदय होने से शरीर आदि में अहंबुद्धि नहीं,...** लो। अन्तर में राग में और शरीर में अपनेपने की बुद्धि नहीं, अपनेपने की बुद्धि शुद्ध आनन्द और ज्ञान में है। इसलिए अव्रती ज्ञानी को भी आस्रव नहीं होता। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६४, चैत्र शुक्ल ९, रविवार, दिनांक ४-४-१९७१
आस्रव अधिकार का सार

पाँचवें अधिकार का सार

राग-द्वेष-मोह तो भाव-आस्रव हैं, और अशुद्ध आत्मा के द्वारा कार्माणवर्गणारूप पुद्गल प्रदेशों का आकर्षित होना द्रव्य-आस्रव है। तथा इन द्रव्य-आस्रव और भाव-आस्रव से रहित सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन का उदय होते ही जीव का मौजूद ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है, इस सम्यग्ज्ञान की दशा में आस्रव का अभाव है। सम्यग्ज्ञानी अव्रती भी क्यों न हों, तो भी उन्हें आस्रव नहीं होता, इसका कारण यह है कि अन्तरंग में सम्यग्दर्शन का उदय होने से वे शरीर आदि में अहंबुद्धि नहीं रखते और विषय आदि में तल्लीन नहीं होते। यद्यपि बाह्यदृष्टि से लोगों के देखने में मिथ्यादृष्टि जीवों और अव्रती सम्यग्दृष्टियों के विषय-भोग परिग्रह-संग्रह आदि की प्रवृत्ति एकसी दिखती है परन्तु दोनों के परिणामों में बड़ा अन्तर होता है, अज्ञानियों की शुभ-अशुभ क्रिया फल की अभिलाषा सहित होती है और ज्ञानी जीवों की शुभाशुभ क्रिया फल की अभिलाषा से शून्य रहती है, इसीलिए अज्ञानियों की क्रिया आस्रव के लिये और ज्ञानियों की क्रिया निर्जरा के लिये होती है, ज्ञान-वैराग्य की ऐसी ही महिमा है। जिस प्रकार रोगी अभिरुचि नहीं रहते हुए भी औषधि सेवन करता है और बहुत से लोग शौक के लिये शर्बत, मुरब्बे आदि चखते हैं, इसी प्रकार ज्ञानियों के उदय की बलजोरी में आसक्तता रहित भोगे हुए भोगों में और मौज के लिये गृद्धता सहित अज्ञानियों के भोगों में बड़ा अन्तर है।

आस्रव की दौड़ तेरहवें गुणस्थान तक योगों की प्रवृत्ति होने से रहती है और चौथे गुणस्थान में तो सत्तर प्रकृतियों का बन्ध कहा है, फिर सम्यग्दृष्टि जीवों को अव्रत की दशा में जो निरास्रव कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि अनन्त संसार का मूल कारण मिथ्यात्व है और उसके साथ अनुबन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का उदय सम्यक्त्व की दशा में नहीं रहता, इसलिए मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीजनित इकतालीस प्रकृतियों का तो संवर ही रहता है, शेष प्रकृतियों का बहुत ही कम अनुभाग व स्थिति में बन्ध होता है और गुणश्रेणी निर्जरा शुरु होती है इसलिए अज्ञानी के सत्तर

क्रोड़ाक्रोड़ी सागर–प्रमाण और तीव्रतम अनुभाग के समक्ष ज्ञानी का यह बन्ध किसी गिनती में नहीं है, इसलिए ज्ञानियों का निरास्रव कहा है। वास्तव में मिथ्यात्व ही आस्रव है और वह सम्यक्त्व के उदय में नहीं रहता। आस्रव विभाव–परिणति है, पुद्गलमय है, पुद्गल–जनित है, आत्मा का निज–स्वभाव नहीं है, ऐसा जानकर ज्ञानी लोग अपने स्वरूप में विश्राम लेते हैं और अतुल, अखण्ड, अविचल, अविनाशी, चिदानन्दरूप सम्यग्दर्शन को निर्मल करते हैं।

आस्रव अधिकार के सार पर प्रवचन

आस्रव अधिकार। आस्रव अर्थात् कि आत्मा जो आनन्द और शुद्धस्वरूप है, उससे विपरीत पुण्य और पाप के कषाय, अज्ञान, राग-द्वेष आदि परिणाम, वे सब आस्रव हैं। आस्रव अर्थात् जीव को नये आवरण आते हैं। यह आस्रव अनादि से अज्ञानी को निरन्तर हुआ करते हैं। आत्मा वस्तु क्या है? चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्दघन, ऐसे स्वभाव सन्मुख की दृष्टि के अभाव के कारण, राग आदि, पुण्य आदि के परिणाम हैं, वे मेरे हैं—ऐसे अस्तित्व का स्वीकार करके, उसे मिथ्यात्व आदि परिणाम होकर बहुत आवरण आते हैं, ऐसा आस्रव होता है। ज्ञानी को होता नहीं, यह बात चलती है। यहाँ चलती है, देखो!

सम्यग्ज्ञानी अव्रती भी क्यों न हो... पाँचवीं लाईन है। पाँचवाँ अधिकार। सम्यग्ज्ञानी अर्थात्? आत्मा शुद्ध आनन्द का जहाँ अनुभव वर्तता है, उसे अनुसरकर ज्ञान और आनन्द की दशा जिसे है। वह भले अव्रती जीव हो, कहते हैं, **तो भी उन्हें आस्रव नहीं होता**। आहाहा! चैतन्य भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द का धाम, ऐसा जहाँ अनुभव में आया, कहते हैं कि फिर उसे भले अव्रत (हो अर्थात् कि) स्थिरता में हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोगवासना का उसे स्थिरता में त्याग न हो, अस्थिरता के ऐसे परिणाम हों, तथापि उसे आस्रव नहीं है, ऐसा कहा जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : आस्रव नहीं या आस्रव नहीं, ऐसा कहा जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं (ऐसा) कहा जाता है। क्योंकि (आस्रव) है, तथापि

अन्तर्दृष्टि के जोर के कारण शुद्ध परिणमन है, (इसलिए) उसे अशुद्ध परिणमन नहीं, ऐसा कहा जाता है। अशुद्ध परिणमन है तो सही। समझ में आया? पोपटभाई! देखो, यहाँ आया न!

सम्यग्ज्ञानी अर्थात् कि आत्मा अखण्ड आनन्द है, सच्चिदानन्द प्रभु है। मेरा आनन्द मुझमें है। मेरा आनन्द कहीं अन्यत्र (नहीं है)। शरीर में नहीं, लक्ष्मी में नहीं, कुटुम्ब-कबीला, स्त्री, पैसा, लक्ष्मी, कीर्ति आदि में कहीं सुख नहीं। तथा मेरा सुख इस पुण्य-पाप के राग में भी नहीं और मेरा पूरा सुख तो एक समय की पर्याय में भी नहीं। पूर्ण सुख का सागर मैं आत्मा हूँ। आत्मा का स्वरूप ही यह है। आनन्दस्वरूप प्रभु ऐसा जहाँ अन्तर में जैसा है, वैसा अनुभव हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, इससे अव्रती परिणाम होने पर भी उसे आस्रव है, ऐसा नहीं कहा जाता। थोड़े अव्रत हैं, ऐसा तो कहा। अव्रती है। समझ में आया? परन्तु उसे अव्रत के परिणाम से दृष्टि में विरक्तता वर्तती है। अरे, गजब!

क्या कहते हैं, देखो! **तो भी उन्हें आस्रव नहीं होता। इसका कारण यह है कि अन्तरंग में सम्यग्दर्शन का उदय होने से...** भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य प्रभु है आत्मा। ऐसे चैतन्यसूर्य की अन्तर जागृतदशा हुई है। पश्चात् भले आठ वर्ष का बालक हो शरीर से या आठ वर्ष की बालिका हो या मेंढ़क हो, शरीर, हों! अन्तर में आत्मा आनन्द और ज्ञान का स्वरूप ऐसा तत्त्व अनुभव में (आया अर्थात् कि) राग और पुण्य से और विकल्प से भिन्न पड़कर स्वभाव का भान हुआ, पश्चात्, कहते हैं कि भले वह गृहस्थाश्रम में दिखाई दे, हजारों रानियों में बैठा दिखाई दे, अन्तर में मेरा कोई है नहीं, मैं हूँ आनन्द। इससे उसे सम्यग्दर्शन का अन्तरंग में उदय हुआ है। अन्तरंग में—अन्तर अंग अन्दर में शुद्धस्वरूप हूँ, पवित्र हूँ, ऐसा अनुभव—स्वभाव के आनन्द का अनुभव—वस्तु तत्त्व का अनुभव हुआ है, उसे **सम्यग्दर्शन का उदय होने से...** ऐसा कहा। सम्यक् अनुभव प्रगट हुआ है।

वे शरीर आदि में अहंबुद्धि नहीं रखते। शरीर आदि तो जड़ है। पुण्य-पाप के वे परिणाम भी विकारी हैं। उस शरीर आदि में अहंबुद्धि नहीं। **विषय आदि में तल्लीन नहीं होते।** विषयभोग की वासना का विकल्प हो, परन्तु उसमें धर्मी तल्लीन नहीं होता। क्योंकि आत्मा का आनन्द जहाँ अनुभव किया है, वह आनन्द तो कोई विकल्प के

विषय में है नहीं। समझ में आया? **शरीर आदि में अहंबुद्धि नहीं...** और **विषय आदि में तल्लीन नहीं...** ऐसे दो। शरीर आदि में अहंपना नहीं और विषय आदि की वासना है, कहते हैं, परन्तु उसमें तल्लीन नहीं।

मेरा स्वरूप तो आनन्द है, मैं आत्मा ही आनन्द की मूर्ति हूँ। आहाहा! यह धर्म का रूप है। ऐसा जहाँ धर्मरूप स्वरूप जहाँ भान में आया, कहते हैं कि भले अव्रती दिखाई दे, बाह्य में त्यागी नहीं, परन्तु अन्तरंग में उसे परवस्तु का अभिमान नहीं और विषयवासना आदि में तल्लीन नहीं। आहाहा! यह कमाने आदि के काम के व्यापार में दिखाई दे, परन्तु उसका विकल्प जो उठे, उसमें एकमेक नहीं। समझ में आया? वस्तु पूरी भगवान चैतन्यब्रह्म आनन्दकन्द ऐसा अनादि-अनन्त है, उसका जहाँ भान हुआ, कहते हैं (कि) उसे विकल्प आदि आवे, परन्तु उनमें एकता नहीं रहती, एकता (नहीं) होती, इसका नाम धर्म है, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। इसलिए उसे आस्त्रव नहीं होते। आहाहा! कठिन काम!

देखो, **यद्यपि बाह्यदृष्टि से लोगों के देखने में मिथ्यादृष्टि जीवों और अव्रती सम्यग्दृष्टियों के विषय-भोग परिग्रह-संग्रह आदि की प्रवृत्ति एक सी दिखती है।** अन्दर में राग के भाग के साथ एकताबुद्धिवाला मिथ्यादृष्टि और विकल्प से भिन्न दृष्टिवाला सम्यग्दृष्टि—ऐसे दो की ऐसी प्रवृत्ति—क्रिया एक दिखाई दे। राजपाट करता हो, खाता-पीता हो, ऐसा जाने। समझ में आया? क्या कहते हैं? उन दोनों की **विषय-भोग परिग्रह-संग्रह...** लो। यह पाँच-पचास लाख पैसे (रुपये) हों और ऐसे संग्रह में विकल्प हो, ऐसा हो, ऐसा दिखाई दे।

मुमुक्षु : छह खण्ड का राज हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इतना तो अभी दिखता नहीं, (इसलिए) नहीं कहा। यह पैसेवाले दिखाई दे। ऐई पोपटभाई!

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि में अन्तर क्या? कि मिथ्या—झूठी दृष्टिवाला आत्मा में आनन्द है, ऐसा न मानकर, पुण्य-पाप के भाव में, शरीर में (या) जो चीज़ उसमें नहीं, उसमें आनन्द है, ऐसा मानता है। इससे वह मिथ्या अर्थात् झूठी दृष्टि, अज्ञानदृष्टि

(वाले को) उसकी प्रवृत्ति ऐसे देखो तो सब ऐसी लगे। अरे! मिथ्यादृष्टि हो और साधु हुआ दिखाई दे, बाह्य से नग्न मुनि हो, लो और समकिती की प्रवृत्ति इतनी अधिक लगे। कहो, बसन्तलालजी! कहते हैं, दोनों में अन्दर में अन्तर है। बिल्ली चूहे को पकड़े और बिल्ली उसके बच्चे को पकड़े एक घर से दूसरे घर ले जाने के लिये, (परन्तु) पकड़-पकड़ में अन्तर है। बिल्ली-बिल्ली। चूहे को पकड़े तो ऐसे जोर से और उसके बच्चे को पकड़े एक से दूसरे घर ले जाने के लिये (तो) वह ऐसे सम्हालकर ले जाये। उसके दाँत उसे लगे नहीं और दाँत में रखे। दूसरा तो कहाँ उसे साधन है? पैर में पकड़े तो चलना कैसे?

मुमुक्षु : उसे (बच्चे को) बचाने का भाव है, उसे (चूहे को) मारने का भाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बचाने के भाव में उसकी क्रिया का बहुत अन्तर है। उसे परिणाम में अन्तर है। इसी प्रकार अज्ञानी के परिणाम में अन्तर है। वह जहाँ-तहाँ पकड़ा जाता है और धर्मी कहीं पकड़ाता नहीं। आहाहा! इन्द्राणी के विषय में और सुख की सामग्री हो, पकड़ाता नहीं। यह नहीं रे नहीं, यह तो जहर की वासना के अणु हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो सब जानता है न, फिर करता किसलिए है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ करता है? यही कहते हैं। अन्दर मिठास नहीं, उड़ गयी है। परन्तु कर्म के निमित्त में जुडने से ऐसे परिणाम आते हैं, (क्योंकि) वह किसी (प्रकार से) समाधान नहीं होता। ऐसा लगता है कि अरे! यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं। तथापि ऐसे परिणाम होते हैं। तथापि उनमें तल्लीन नहीं है। आहाहा! यह बहुत अन्तर है।

मुमुक्षु : परन्तु साधुपना दे देना चाहिए न!

पूज्य गुरुदेवश्री : साधुपना तो कुछ आता होगा किस प्रकार से? ऐई सेठी!

यह हमारे कहते थे (संवत्) १९७७ के वर्ष में। ७७ में यह वच्छराजभाई आये थे। भाई अपने गुजर गये न शरदभाई।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मोहनलाल और एक दूसरे कोई, नहीं अफ्रीका में है? कैसे वे ध्रोळ के ठाकरसीभाई। उसे अफ्रीका में है कुछ कहीं। ठाकरसी भाई ध्रोळ के, वे आये। ७७ के वर्ष की बात है। कितने वर्ष हुए?

मुमुक्षु : पचास वर्ष।

पूज्य गुरुदेवश्री : पचास वर्ष हुए। बोटाद आये हुए बोटाद। उसमें यह सब वीरचन्द भूरा और अपूर्व अवसर गाते थे। वह हमारे मूलचन्दजी को सहन नहीं होता। 'उन्हें किस मूर्ख ने कहा था कि संसार न छोड़े। संसार रखकर अपूर्व अवसर ऐसा कब आयेगा... आयेगा... त्यागी होना था न। साधु हो जाना था न उन्हें? कौन रोकता था उन्हें?' अब ऐसा बोले लो।

मुमुक्षु : विचारनेयोग्य है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, बिल्कुल विचारनेयोग्य नहीं।

मैंने कहा। फिर कहा, शास्त्र में लेख नहीं? ठाणांग में तीसरे ठाणे में। पाँचवें गुणस्थानवाला दो भावना भाता है (कि) कब मैं बहुत या अल्प परिग्रह छोड़ूँ? कब मैं मुनि होऊँ? कब मैं सब शास्त्रों का ज्ञान करूँ? ऐसा मनोरथ नहीं? मनोरथ का कहा, नीचे कहा, उन्हें नहीं कहा जाता। वे तो महा कषायी थे। परन्तु वे उजमशीभाई हैं न?

मुमुक्षु : हीरजीभाई।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, उजमशीभाई। हीरजीभाई तो गुजर गये थे। उनके पुत्र सब पैसेवाले हैं। यह तो वह बीड़ियाँ... उनके घर में भी ऐसा शास्त्र चलता है न, यह क्या कहते हैं? कहा। शास्त्र में तो ऐसा आवे।

यह पचास वर्ष पहले की बात है यह तो। शास्त्र में नहीं आता? श्रावक हो और अरबों रुपये हों उसके पास। पुत्र-पुत्री, कुटुम्ब-परिवार, राज हो। विचारता है, 'ओहोहो! यह चीज़ कब मैं छोड़ूँ राग को और राग के निमित्त कब छूटे? मेरी भावना तो अन्तर वीतराग आनन्द में रहने की है।' ऐसी भावना हो, वे मूर्ख हैं? वे छोड़ दे तो उनकी भावना अच्छी या सच्ची है, ऐसा कहलाता है? तब बात हुई थी।

मुमुक्षु : निर्णय करने योग्य तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या निर्णय करना है ? यह तो पचास वर्ष पहले बोटाद में बात हुई थी, लो। ऐसा नहीं होता, बापू!

मुमुक्षु : यह बात तो बाद की न....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा मार्ग है, भाई!

प्रभु! आत्मा अन्दर है न। वह तो अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद से भरा पड़ा है। सच्चिदानन्द है वह आत्मा तो। सत्—शाश्वत्, ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। लोगों को खबर नहीं (कि) हम कौन ? पामर हैं और यह शरीरवाले हैं और रागवाले है, ऐसा नहीं है, भगवान! तेरी जाति तो अन्दर ऐसी है, अनादि अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप है तेरा। ऐसा जहाँ अन्तर में आनन्द के भान में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि और धर्मी कहा जाता है। फिर उसकी क्रियाएँ—प्रवृत्ति तो मिथ्यादृष्टि जिसे भी दिखाई दे, परन्तु अन्तर में पकड़-पकड़ में अन्तर है। आहाहा!

इन लोगों को बाह्य त्याग के ऊपर बहुत वजन चला गया है न। बाह्य त्याग करो, त्याग करो बाह्य। परन्तु किसका त्याग ? सुन न! बाहर का तो त्याग ही है। अन्दर से राग की एकता का त्याग जब तक नहीं, तब तक वह मिथ्यादृष्टि पूरा अत्यागी है। समझ में आया ? आहाहा! मार्ग ऐसा अलग है, भाई! यद्यपि बाह्यदृष्टि से लोगों के देखने में ऐसा आवे कि समकिती और मिथ्यादृष्टि की विषय-भोग, परिग्रह-संग्रह, ठीक! आदि की प्रवृत्ति एक-सी दिखती है। एक-सी दिखती है, लो। दो सगे भाई हों, एक हो समकिती और एक हो मिथ्यादृष्टि। दोनों व्यापार में दुकान में साथ बैठते हों, लो, खाने का साथ में खाते हों। समझ में आया ?

परन्तु दोनों के परिणामों में बड़ा अन्तर होता है। दोनों के परिणाम में अन्तर है। आहा! एक (ओर) माँ को देखता है और एक (ओर) स्त्री को देखता है। दोनों के देखने में अन्तर है या नहीं ? है तो दोनों स्त्रियाँ। भाव अलग हैं। टकटकी लगाकर माँ को देखे और स्त्री को भी टकटकी लगाकर देखे, (परन्तु) देखने-देखने में अन्तर है, भाई! यह तो मेरी जननी है, जिसके गर्भ में सवा नौ महीने रहा हूँ। मेरी माँ है, उसे मैं

देखता हूँ तो वह कैसी कोमल और क्या है, वह बात है। उसके परिणाम में बहुत अन्तर है। तथा स्त्री को और उसके अवयवों को देखता है, (वहाँ) उसके परिणाम में अन्तर है। आहाहा! इसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी आत्मा में बड़ा अन्तर है। आहाहा! समझ में आया?

आदि की प्रवृत्ति एक सी दिखती है, परन्तु दोनों के परिणामों में बड़ा अन्तर है, अज्ञानियों की शुभ-अशुभ क्रिया फल की अभिलाषासहित... देखो! अज्ञानी को जो शुभ और अशुभभाव होते हैं, उसमें उसे मिठास है और उसका फल चाहता है। आहाहा!

मुमुक्षु : फल में एकताबुद्धि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकताबुद्धि है। शुभ-अशुभ में एकताबुद्धि का अर्थ ही (यह कि) उसका कुछ फल आओ। मुझे कुछ फल हो आनन्द का, वह (भाव) नहीं। आहाहा!

उसे दया-दान-व्रत आदि के विकल्प हों। समझ में आया? फल की अभिलाषा। यह कर्ता... फिर ऐसा नहीं हो कि अनासक्ति से करना और फल की अभिलाषा नहीं रखना। ऐसा नहीं है। यहाँ करने की बात नहीं है। खास दिखाई दे, ऐसी क्रिया ज्ञानी को। अज्ञानी को भी ऐसी दिखाई दे। परन्तु अज्ञानी को शुभ-अशुभभाव में फल की अभिलाषा अर्थात् कि वही मैं हूँ, ऐसा मानता है, अर्थात् उसके फल में मुझे कुछ ठीक पड़ता है, ऐसा वह मानता है। आहाहा! समझ में आया? बहुत अन्तर अन्दर में।

मुमुक्षु : ....का भाव .... कैसा होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं न!

और ज्ञानी जीवों की शुभाशुभ क्रिया फल की अभिलाषा से शून्य रहती है। शुभ-अशुभ परिणाम ही मेरी चीज़ नहीं, फिर उसका फल हो और मिठास हो, यह तो होता नहीं। बहुत कठिन बात है, भाई! समझ में आया?

मुमुक्षु : इतनी सी....

पूज्य गुरुदेवश्री : इतने में समझ में नहीं आता। **ज्ञानी जीवों की शुभाशुभ क्रिया...** (अर्थात्) परिणाम... परिणाम... उसकी अभिलाषा नहीं—भावना नहीं। उसका तो ज्ञानी ज्ञाता-दृष्टा है। आहाहा!

जो चीज़ अपनी नहीं मानी, उसकी उसे भावना कैसे हो कि यह बढ़े और रहे? बढ़े, टिके और रहे—ऐसी भावना होगी? क्या कहा? धर्मी जीव का तो आत्मा के ऊपर प्रेम और रस लगा है। उसे शुभाशुभ परिणाम रहो, होओ, टिको, बढ़ो—ऐसा है नहीं। उसे तो आत्मा अन्तर आनन्दस्वरूप हूँ उसमें मैं बढ़ूँ, अन्दर एकाग्र विशेष होऊँ, ऐसी भावना होती है। समझ में आया?

ज्ञानी जीवों की शुभाशुभ क्रिया फल की अभिलाषा से शून्य रहती है, इसलिए अज्ञानियों की क्रिया आस्रव के लिए... देखो। आहाहा! शुभ और अशुभ विकार—विभाव जो अपना—भगवान आत्मा का निज स्वभाव नहीं। शुभ और अशुभभाव, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। स्वभाव तो वीतराग आनन्दस्वरूप प्रभु है, ज्ञान का सूर्य है। उस ज्ञान के सूर्य में शुभाशुभभाव कहाँ आये? धर्मी को शुभाशुभभाव में अभिलाषा नहीं। अज्ञानी, वह शुभाशुभभाव ही मैं हूँ—ऐसा मानता है। इसलिए उसे आस्रव लिये... उसे आस्रव होता है। नये आवरण आते हैं। यह तो अन्तर्दृष्टि का विषय है, भाई! **ज्ञानियों की क्रिया निर्जरा के लिए होती है...** देखो अन्तर। धर्मी को ऐसा शुभ-अशुभ विकल्प हो, परन्तु खिर जाता है। एकता नहीं, एकता नहीं, पृथक्ता रखकर होता है। समझ में आया? शुभ और अशुभभाव धर्मी को पृथक्पने होते हैं। समझ में आया?

क्या कहते हैं? नोखाली... नोखाली... क्या कहा?

मुमुक्षु : नोआखली।

पूज्य गुरुदेवश्री : नोआखली में नहीं बना था? खबर है? मुसलमानों का हिन्दुओं पर बहुत जोर।

मुमुक्षु : अत्याचार बहुत।

पूज्य गुरुदेवश्री : अत्याचार। माता और बहिन, जनेता और सहोदरी—एक उदर में रहे हुए। उसकी बहिन को खड़ी रखे मुसलमान। नग्न रखे, स्वयं को (भाई को) नग्न करे नग्न। दोनों को भीड़ करे। अन्दर से, अररर! प्रभु! क्या है यह? पृथ्वी मार्ग दे तो समा जायें, ऐसा उन्हें भाव है। इतना भाव है। इसी प्रकार माता-जनेता हो ४० वर्ष की उम्र, पुत्र २० वर्ष का। दोनों को नग्न करे और दोनों ओर ऐसे दोनों ओर भीड करे,

इकट्ठे करे। अररर! प्रभु! प्रभु! आँख में से आँसू धारा बहती हो। उन दोनों के शरीर छुए हुए दिखाई दे ऐसे इकट्ठे, (परन्तु) परिणाम में अन्तर है।

उसी प्रकार धर्मी को रागादि के परिणाम की एकताबुद्धि अन्दर से टूट गयी है। उसके साथ प्रेम रहा नहीं। आहाहा! अज्ञानी को राग के विकल्प के साथ प्रेम पड़ा है। वह एकता करके बैठा है अन्दर राग से। विकल्प से, राग से पृथक् है तथापि वह पृथक् अनुभवता नहीं, एकपने अनुभवता है। उसे नये आस्रव होकर बन्धन होता है। ज्ञानी को वह राग आदि आवे, (परन्तु) एकता नहीं। यह व्यभिचार है, मेरा स्वरूप नहीं। मेरे भगवान चैतन्य के आनन्द में यह राग तो जहर है। शुभराग भी जहर जैसा लगता है। आहाहा!

यह कषाय अग्नि की भट्टी (है, ऐसा) बाहर आया उसकी जरा खलबलाहट हो गयी थी न! सोगानी ने शुभभाव खुल्ला कर डाला उन्होंने। यह राग है। मछली पानी में पड़ी हो तो दु:खी नहीं। अग्नि में आवे तो बहुत दु:ख हो। पत्थर में आवे तो भी दु:ख हो। इतने से वह खुल्ला न पड़े उसे। परन्तु वह शुभभाव भट्ठी है, (ऐसा) जहाँ आया, लोग चिल्लाहट मचा गये। ऐई! अपना शान्त अविकारी निर्मलस्वभाव प्रभु है, उसमें वृत्ति उठे, वह सब ज्वाला है। किसके साथ? किसकी अपेक्षा से? अपना शान्त अविकारीस्वरूप है, उसकी अपेक्षा से तो (राग) ज्वाला है। परन्तु उस अपेक्षा दूसरी भिन्न पड़ी, उसे ज्वाला लगे। जिसे भिन्न पड़ी नहीं, उसे तो वह एकता लगे, इसलिए वही मैं हूँ, (ऐसा माने)। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, ज्ञानियों की क्रिया निर्जरा का हेतु है। आहाहा! अरे! यह परिणाम आवे, परन्तु जहाँ एकता नहीं, मिठास नहीं, प्रेम नहीं, रुचि नहीं, (तो) वे चले जाते हैं। ज्ञानी को वे परिणाम खिर जाते हैं। अज्ञानी को आसक्ति है। आहाहा! समझ में आया? अच्छा लड़का पका, स्त्री अच्छी हुई, लड़की पढ़कर बहुत आगे बढ़ी। (ऐसा) सुने वहाँ उसे ऐसा रस लग जाता है अज्ञानी को।

मुमुक्षु : दु:ख होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : दु:ख है, परन्तु मानता नहीं मूर्ख। उसे दु:ख होता है।

मुमुक्षु : ज्ञानी कैसे कहता है कि मेरी पुत्र ऐसे पास हुई ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बोले, परन्तु बोले क्या ? कहा न, भाषा तो ऐसी होती है, परन्तु विकल्प की अन्दर में एकता टूट गयी है। अब उस टूटी हुई गाँठ को कौन देखे ? समझ में आया ? यह राग की वृत्ति ही टूट गयी है। मेरी चीज़ में यह वस्तु नहीं। तीन काल में थी नहीं, है नहीं। कहो, पण्डितजी ! आहाहा ! ऐसा मार्ग। ऐसा उसका स्वरूप है। उसका घर देखे बिना उसे पुण्य और पाप में प्रेम हुए बिना रहता नहीं। आहाहा ! समझ में आया ?

ज्ञान-वैराग्य की ऐसी ही महिमा है... आहाहा ! देखो, ज्ञान और वैराग्य। स्वरूप का भान और राग से उदासीन।

मुमुक्षु : दोनों साथ नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान अस्ति है उसका ज्ञान, राग का अभाव, उसका नाम वैराग्य। समझ में आया ? वस्तु अखण्ड अभेद की प्रतीति का ज्ञान और यहाँ राग के अभाव की नास्ति, राग का अभाव अर्थात् वह वैराग्य। वैराग्य दूसरा कोई नहीं। पुण्य-पाप के विकल्प से अभावरूप परिणमन, वह वैराग्य। आहाहा ! समझ में आया ?

जिस प्रकार रोगी अभिरुचि नहीं रहते हुए भी औषधि सेवन करे। रोगी को रोग हुआ और चिरायता पीवे, गळो पीवे गळो। गळो बहुत कड़वी आती है इस नीम की, बहुत कड़वी। पानी पीता हो, वैसे पीवे, परन्तु पीने में अन्तर है। तृषा लगी हो और मौसम्बी पीता हो और रोग में पीता हो **गळो**। पीलिया की एक दवा आती है। पीलिया होता है न पीलिया शरीर में। ऐसी एक दवा आती है क जिसकी कुत्ते की विष्टा जैसी गन्ध। देशी... देशी दवा, हों। वह तो कुत्ते की विष्टा जैसी गन्ध मारे। ऐसी गन्ध मारे। उसे वह पीलिया हो न, उस रोग की उसे भावना है (कि रोग) रहना ? और यह पीने का प्रतिदिन रहना। कटोरी भरकर रखो घर में, ऐसी भावना होती है ? भाई ! पीलिया का एक रोग होता है। यह पीलिया होता है न ? सब पीला पड़ जाता है। फिर उसमें से कमळी हो जाये तब तो हो गया। ऐसे हो गया, निपट जाये। यह पीलिया।

वह बेचारा एक लड़का मर गया न अभी। कुण्डलावाला १८ वर्ष की (उम्र)।

परीक्षा शुरुआत होने की तैयारी थी और पीलिया का रोग। इसलिए कमजोरी लगी और मन में उलझन में आ गया। कल आये थे न उसके पिता और कुण्डलावाले। भाई रहते हैं वहाँ राजकोट।

मुमुक्षु : सावरकुण्डला।

पूज्य गुरुदेवश्री : किरीट। लड़का १८ वर्ष का, उलझन में आ गया। वह यह, क्या कहलाता है? खटमल की दवा।

मुमुक्षु : खटमल मारने की।

पूज्य गुरुदेवश्री : खटमल मारने की दवा होती है न, वह पी ली। फिर उल्टी हो गयी, तब खबर पड़ी कि यह कुछ पी लगती है। दसेक तो इंजेक्शन दिये। दो-तीन-चार दिन रहा, मर गया। उलझन में आ गया कि पीलिया है, शरीर निर्बल, उसमें यह परीक्षा आयी। क्योंकि मस्तिष्क साधरण हो, बहुत न हो, मेट्रिक में पास होना भारी कठिन लगे न।

मुमुक्षु : जंग में जाने जैसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : जंग में जाने जैसा। देखो न, यह लड़के अभी परीक्षा का इतना पढ़ते हैं पूरे दिन। रात और दिन, जिसे याद कम रहता हो, उसे पढ़ना बहुत भारी।

यहाँ तो कहते हैं कि जैसे उस रोग की दवा रखे—पीवे, परन्तु उसकी भावना नहीं होती, कहो। **रोगी अभिरुचि नहीं रहते हुए भी औषधि सेवन करे।** आहाहा! गळो पीवे, चिरायता पीवे। **और बहुत से लोग शौक के लिए शरबत-मुरब्बे आदि चखते हैं...** लो। यह शौक। शरबत-मुरब्बा। लाओ तो सही भाई चखें थोड़ा-सा (कि) कैसा है। लाओ। शौक के कारण।

मुमुक्षु : गर्मी में देश में तो शरबत चाहिए न?

पूज्य गुरुदेवश्री : गर्मी में, धूल में गर्मी में गये। मर गया वहाँ। अनन्त उष्णता नरक में थी, परन्तु भूल गया... आहाहा!

मुमुक्षु : तब सहन करने की शक्ति थी। अभी....

पूज्य गुरुदेवश्री : सहन करने की शक्ति तो सब थी, वह अनादि की पड़ी नहीं ? वह उल्टी रीति से सहनशक्ति की।

यहाँ अकेला पड़ा हो और कोई न हो, क्या, लो ? पोरबन्दर में चातुर्मास था। वह एक महिला साढ़े तीन वर्ष से बेचारी ऐसे उल्टे पड़कर सोये। पीड़ा, ऐसी पीड़ा कोई पेट की, ऐसे सोये, हों ! आहार लेने गये और उसमें कहे, महाराज ! साढ़े तीन वर्ष से मैं नरक में हूँ। कुछ किसकी... ? ऐसे सोये तो भी ऐसी पीड़ा। पेट में दर्द कुछ ऐसा... बापू ! यह पीड़ा एकता की मानी हुई है। पीड़ा की अवस्था आत्मा को कहाँ है ? शरीर की दशा ऐसी होना, वह आत्मा में कहाँ है ? परन्तु मानी है कि मेरी है, इससे उसे दु:ख होता है। ऐसा औषध सेवन में वह रोगी सेवन करे, परन्तु सेवन का भाव नहीं (कि) रहे या रहना।

इस प्रकार ज्ञानियों के उदय की बरजोरी में आसक्तता रहित भोगे... जरा अन्तर की बातें हैं, हों ! अन्तर में चैन नहीं पड़ता किसी प्रकार से आत्मा के अतिरिक्त, तथापि वह (निर्बलता के) परिणाम ऐसे आते हैं कि उसे किसी प्रकार से समाधान नहीं होता। इसलिए परिणाम में जुड़ता है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु वास्तव में जुड़ता नहीं। आहाहा ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इस जहर का अर्थ कि स्वयं को प्रेम नहीं, रुचि नहीं—ऐसा। परन्तु परिणाम ऐसे निर्बलता के आवे, उसका नाम कर्म की बलजोरी। रुचि नहीं, रस नहीं, परन्तु निर्बलता की भूमिका प्रमाण ऐसे परिणाम आते हैं। समझ में आया ?

आसक्तिरहित है, मजा नहीं आता, तथापि भोगता है, ऐसा बाहर में दिखता है। आहाहा ! अब यह अन्तर वह किस प्रकार करे ? बलजोरी, उदय की बलजोरी का अर्थ कि अपने पुरुषार्थ की वहाँ कमी है और राग का उल्टा पुरुषार्थ बढ़ गया है। धर्मी को भी, हों ! आहाहा ! चारित्रमोहन की बात है न यह। रस नहीं, रोम-रोम में रस नहीं राग में। परन्तु ऐसा राग आवे तो ऐसा दिखाई दे। **भोगों में और मौज के लिए गृद्धता सहित अज्ञानियों के भोगों में बड़ा अन्तर है।** वह औषधि खाये और वह मौज से शरबत और मुरब्बा चखे। दोनों के परिणाम में बड़ा अन्तर है। कहो, समझ में आया ?

आस्त्रव की दौड़... अर्थात् पुण्य-पाप के भाव अथवा आवरण आने के भाव, वह **तेरहवें गुणस्थान तक योगों की प्रवृत्ति होने से रहती है।** केवली को भी थोड़ा आस्त्रव होता है, सर्वज्ञ हों उन्हें। **चौथे गुणस्थान में तो सत्तर प्रकृतियों का बन्ध कहा है।** सत्तर। सित्तेर हमारी भाषा में। सत्तर कहे न तुम्हारे सित्तेर को। सित्तेर—सत्तर। हमारे सत्तर (१७) एक और सात को सत्तर कहे। तुम्हारे हिन्दी में ७० को सत्तर कहे।

मुमुक्षु : सात और शून्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सत्तर लिखा है, देखो! सत्तर प्रकृतियाँ। सत्तर अर्थात् सित्तेर। आत्मा का ज्ञान हो, आत्मा में आनन्द का भान हो, आत्मा क्या है, ऐसा अनुभव हो, तथापि उसे ७० प्रकृति का बन्ध पड़ता है।

मुमुक्षु : ७०।

पूज्य गुरुदेवश्री : ७७।

मुमुक्षु : ७०।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, ७०। सत्तर क्या सित्तेर। समझ में आया?

फिर सम्यग्दृष्टि जीवों को अव्रत की दशा में जो निरास्त्रव कहा है। लो। ७० प्रकृति का बन्ध पड़ता है आत्मज्ञानी को भी, तथापि उसे अव्रत की दशा में निरास्त्रव कहा है। **उसका अभिप्राय यह है कि अनन्त संसार का मूल कारण मिथ्यात्व है...** लो। यह राग का विकल्प शुभ और अशुभ, उसकी एकताबुद्धि महामिथ्यात्व और महापाप है। समझ में आया? आया था न अपने, नहीं राग योग? ऐसा आया था न। आस्त्रव में आया था, नहीं? राग नहीं आया था? हाँ, नौ कलश।

'रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः' नौवाँ कलश है न! अन्तर कितना है कि आत्मा का भान होनेवाले को राग का योग होने पर भी राग के साथ एकता नहीं है। अज्ञानी को बाह्य त्याग होने पर भी अन्दर में राग के साथ एकताबुद्धि है। राग के योग को पाता है, ऐसा है न उसमें! राग के सम्बन्ध को पाता है, वह मिथ्यादृष्टि है। राग के सम्बन्ध को तोड़े और पृथक् रहता है, वह समकिती है। अरे सूक्ष्म पड़े, भाई! समझ में आया?

उसका अभिप्राय.... अनन्त संसार का मूल कारण मिथ्यात्व है। चारित्र का दोष है, वह कहीं अनन्त संसार का कारण नहीं और वह मूल संसार भी नहीं। मूल संसार मिथ्यात्व है। भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसके स्वभाव का स्वीकार नहीं और पुण्य-पाप के विकल्प का स्वीकार और वह मैं, वे मेरे—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वही वास्तव में संसार है। कहो, समझ में आया? उसमें स्त्री-पुत्र तो कहीं रह गये। हीराभाई तो कहीं रह गये उसमें।

मुमुक्षु : वे .... पहुँच गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुम्बई रह गये। अभी तो यहाँ हैं न।

मुमुक्षु : अभी यहाँ ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! परन्तु एक लड़का हो तो बहुत राग, वहाँ ही हो फिर। वे चार-पाँच-छह हों और राग विभाजित हो जाये। पोपटभाई! पोपटभाई को छह लड़के हैं, लो!

मुमुक्षु : राग कम हो न?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग बंट जाये, इसलिए अकेला एकाकार राग एक में हो, उसकी अपेक्षा राग उसमें एकाकार, उसमें एकाकार, थोड़ा अन्तर पड़ जाये।

मुमुक्षु : सर्वत्र होता है एकाकार।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वत्र एकाकार....

मुमुक्षु : परन्तु बादल कम हो गये, ऐसा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कि यहाँ थोड़ा हुआ, यहाँ थोड़ा हुआ, ऐसा।

मुमुक्षु : यहाँ २० प्रतिशत, यहाँ २० प्रतिशत।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, सब एकाकार के भाव पुद्गल के। यह नहीं... आहाहा! ऐसे लड़के जगे हैं आकाश के स्तम्भ जैसे।

मुमुक्षु : स्तम्भ देख लो न।

पूज्य गुरुदेवश्री : आकाश के स्तम्भ, देखो ऐसे बड़े हुए। हमारी भी दरकार

नहीं, हमको भी पूछते नहीं और पैदा करे। लोगों को ऐसा हो जाये न। किसके पुत्र और किसके माँ-बाप और... बापू! कहाँ है, भाई? आहाहा!

कहते हैं, अन्दर का प्रेम अज्ञानी को इतना होता है कि राग के साथ एकताबुद्धि करके बैठा है। धर्मी को अनन्त संसार का कारण ऐसी एकताबुद्धि टूट गयी है। अर्थात् संसार का मूल कारण तो मिथ्यात्व है। तब यह कहे, भाई! बाहर स्त्री, पुत्र संसार का कारण है, इसलिए छोड़ो... छोड़ो। अब बेचारे वे कहाँ घुस गये थे तुझमें? वे तो बाहर हैं। मिथ्यात्व घुस गया है, उसे तो छोड़ अब पहले, वह तो छोड़ने की खबर नहीं होती।

मुमुक्षु : वह दिखता नहीं और यह दिखता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या दिखता है? भान भी नहीं कुछ इसे। आहाहा! स्त्री-पुत्र छोड़ो। धन्धा छोड़ो, बस। ऐसा उपदेश दे। ऐई चेतनजी! कि द्वेष करो। ऐसा उपदेश करो कि कभी उनके प्रति प्रेम न हो। तब यह द्वेष कर, यह तो वह का वही है।

यह साधु ऐसा उपदेश देते हैं, साधु होने के लिये। कहो, तुम्हारे संसार अच्छा लगता है? ऐसा पूछे। यदि अच्छा न लगे तो आ जा यहाँ हमारे पास। ठीक, यह संसार छूटा है उसे। बड़ा संसार पड़ा है मिथ्यात्व का। आहाहा! समझ में आया? बहुत कठिन बात! अरे! संसार का विकल्पमात्र, बाह्य चीज़ तो नहीं, परन्तु संसाररूपी उदयभाव जो है, वह आत्मा में नहीं है। ऐसा पृथक् पड़े, तब संसार मिथ्यात्व का छोड़ा, ऐसा कहने में आता है।

मुमुक्षु : क्या फरमाया?

पूज्य गुरुदेवश्री : लो, क्या फरमाया। ध्यान रखना था न, क्या फरमाया वह। यह फिर कुछ आवे? याद होता है कुछ? ऐई!

मुमुक्षु : उदयभाव छोड़ने का....

पूज्य गुरुदेवश्री : उदयभाव, वह संसार है।

मुमुक्षु : वह स्वभाव में नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह संसार है, पहले यही बात आयी।

राग आदि उदयभाव वह संसार है। उसे छोड़े बिना संसार छोड़ा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। बाहर से बाबा अनन्त बार हुआ।

मुमुक्षु : बाबा ही है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : साधु हुआ, नग्न दिगम्बर मुनि हुआ, एक लंगोटी का धागा भी न रखे। परन्तु अन्दर में राग का विकल्प (कि जो) संसार है, उसकी एकताबुद्धि टालता नहीं। आहाहा! जिससे पृथक् होना चाहिए, उससे पृथक् होता नहीं और दूसरे से तो पृथक् है, तथापि पृथक् होऊँ, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। (जिससे) पृथक् है, उससे पृथक होऊँ, इसका अर्थ क्या हुआ?

मुमुक्षु : वह अनादि से एक मानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, संसार का मूल कारण तो मिथ्यात्व है। आहाहा! विपरीत श्रद्धा—रागभाव में मिठास, शरीर आदि में अस्तित्व—होनापना, स्त्री, पुत्र, पैसे, कीर्ति, मकान में यह मेरे—ऐसा जो अन्दर का मिथ्यात्वभाव, वही संसार का मूल कारण है।

उसके साथ अनुबन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का उदय सम्यक्त्व की दशा में नहीं रहता.... लो। उसके साथ अनन्तानुबन्धी कषाय है। सम्यग्दर्शन होने पर वह रहती नहीं। अनन्तानुबन्धी अनन्त संसार का कारण समकित की दशा में नहीं रहती है। **इसलिए मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीजनित इकतालीस प्रकृतियों का तो संवर ही रहता है...** लो! आहाहा! दृष्टि, राग से उठकर सारे (—पूर्ण) आनन्द के ऊपर पड़ी है। धर्मी की दृष्टि अथवा ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय पूरा आत्मा पड़ा है ज्ञेय में। राग आदि ज्ञानी को स्वज्ञेय नहीं।

इससे उसे, कहते हैं कि आत्मा का भान हुआ और क्रियायें सब ऐसी दिखाई दे, तथापि उसे ४१ प्रकृतियों का तो सदा ही निरन्तर संवर धर्म है। ४१ प्रकृति तो उसे बन्ध पड़ती नहीं।

मुमुक्षु : और वही सब संसार का कारण....

पूज्य गुरुदेवश्री : वही संसार का कारण है, छूट गयी है।

मुमुक्षु : ४१ कौन सी ऐसी?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहो... मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्ध (अर्थात्) अनन्त संसार का कारण ऐसा क्रोध-मान-माया (-लोभ) अथवा मिथ्यात्व का सम्बन्ध करनेवाली—अनन्त ऐसा मिथ्यात्व, उसे अनुबन्ध करनेवाली—क्रोध-मान-माया-लोभ का तो उसे—ज्ञानी को अभाव होता है, संवर होता है, कहो। आहाहा!

युद्ध में खड़ा हो समकिती तो भी उसे ४१ प्रकृतियों का तो अभाव—संवर है वहाँ। अज्ञानी ध्यान में बैठा हो ऐसे। परन्तु विकल्प के साथ जहाँ एकता है, वह पूरी प्रकृतियों का बन्ध सब ही है। स्त्री-पुत्र छोड़कर, व्यापार-धन्धा छोड़कर वन में—जंगल में रहे। परन्तु अन्दर में संयोगीभाव, जो चीज़ पर है, उस संयोगीभाव के साथ एकता है, वह धर्म का त्यागी है, राग का भोगी है। आहाहा! और जिसे आत्मदर्शन-ज्ञान हुआ, राग से विरक्त हुआ है, उसे धर्म है और राग का त्याग है। समझ में आया? राग होने पर भी राग का त्याग है। ऐसे परिणाम के कारण उसे ४१ प्रकृतियों का बन्ध नहीं है।

(२) शेष प्रकृतियों का बहुत ही कम अनुभाग वा कम स्थितिबन्ध होता है। ४१ के अतिरिक्त... कर्म की १४८ प्रकृतियाँ हैं। आठ कर्म हैं, उनके अन्तर्भेद १४८ (प्रकृतियाँ)। उनमें समकिती को जो थोड़ी बँधती है, उनकी स्थिति थोड़ी और रस थोड़ा, रस थोड़ा। अनुभाग अर्थात् रस। अनुभाग, कम अनुभाग और कम स्थिति। मर्यादा में—मर्यादित स्थिति हो थोड़ी। **और गुणश्रेणी निर्जरा शुरु होती है...** लो। यहाँ गुणश्रेणी....

मुमुक्षु : कायम रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें पाँचवें-छठवें में.... कहो, समझ में आया?

गुणश्रेणी शुरु होती है। गुणश्रेणी अर्थात् गुणधारा—शुद्ध परिणति धारा बहती है, ऐसा कहते हैं। शुद्ध परिणति चालू हो गयी धारावाही। जैसे पर्वत में से पानी झरे, वैसे शुद्धता के द्रव्य में से शुद्धता झरती है। वह शुद्धता तो उसकी किसी समय जाती नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया? **इसलिए अज्ञानी के सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागर प्रमाण...** लों। सत्तर अर्थात् सित्तेर। उसको सत्तर प्रकृति का बन्ध नहीं और इसे सत्तर कोड़ाकोड़ी

का बन्ध है, ऐसा। उसको सत्तर प्रकृति का बन्ध नहीं चौथे में। इसे सत्तर कोड़ाकोड़ी का बन्ध।

मुमुक्षु : दोनों सत्तर हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों सत्तर हुए।

वस्तु भगवान आत्मा निर्मलानन्द प्रभु है। ऐसे निर्मलानन्द के साथ राग के छोटे में छोटे में कण को मिलावटवाला करके एकत्व होना, कहते हैं कि उसे सत्तर कोड़ाकोड़ी ऐसी कर्म की दीर्घ स्थिति बँधती है, भले साधु हो। आहाहा! समझ में आया? **...तीव्रतम अनुभाग के समक्ष ज्ञानी का यह बन्ध किसी गिनती में नहीं है।** ऐसे कर्म के बन्ध के समक्ष, ज्ञानी को अल्प बन्ध पड़े, उसकी गिनती गिनने में नहीं आती। देखो, यह मिथ्यात्व का माहात्म्य और समकित का माहात्म्य। कहो, अब वह मिथ्यात्व और समकित दोनों में अन्तर क्या है, इसकी खबर नहीं होती। बाहर में छोड़ा और रखा और त्यागा। इसका अन्तर किया कि देखो, इसने छोड़ा, देखो, यह त्यागी हुआ।

मुमुक्षु : तो धन्धा छोड़े उसका कुछ लाभ नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने छोड़ा? कब करता था वह? भाव करता था, वहाँ धन्धा करता था? समझ में आया?

मुमुक्षु : यह वकालत छोड़कर यहाँ आकर बैठे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वकालत कहाँ धूल छोड़ी थी? वकालत करते थे कब वहाँ? भाव करते थे भाव। यह वकालत छोड़कर बैठे हैं तीस वर्ष से। कहते हैं, तो भी कुछ नहीं। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : यह सब ही पानी में?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा! था कब? परन्तु करते कब थे? उसका भाव करते थे। वह भाव मेरा मानकर करते थे तो वह है। उस भाव का त्याग स्वभाव का आश्रय लिये बिना होता नहीं। आहाहा! कहो, जेठाभाई! लोगों को यह कठिन ऐसा एकान्त है... एकान्त लगे, हों! एकान्त है, एकान्त। परन्तु यह एकान्त ही है। एकान्त अर्थात् एक धर्म का निश्चयस्वभाव, वह यह ही है, लो।

इसलिए ज्ञानियों को निरास्त्रव कहा है... लो। इसका स्पष्टीकरण किया। इस कारण से धर्मी को बन्धन के कारणों के परिणाम का अभाव कहा है। अबन्धस्वरूपी भगवान आत्मा जो राग से बँधा हुआ ही नहीं, तथापि राग से बँधा हुआ मानता है, उस मिथ्यादृष्टि को ७० कोड़ाकोड़ी स्थिति का उत्कृष्ट बन्ध पड़ता है, स्थिति। आहाहा! और राग से दृष्टि उठाकर स्वभाव पर दृष्टि गई, वहाँ राग का अभाव होकर परिणमन हुआ, उसे अल्प राग आदि कोई होता है, उसका अल्प स्थिति, रस आदि का कर्म (बन्ध) पड़े, उसकी कुछ गिनती है नहीं। **वास्तव में मिथ्यात्व ही आस्त्रव है।** लो। वास्तव में तो राग मेरा है, उसकी एकता ही, वही आस्त्रव है। है? यह लिखनेवाले ने ऐसा लिखा है, देखो स्पष्टीकरण।

वास्तव में **मिथ्यात्व ही आस्त्रव है।** भगवान आत्मा वीतरागी आनन्द की मूर्ति, उसमें पुण्य-पाप के विकल्प की एकता, वह मिथ्यात्वभाव, वही आस्त्रव है। आस्त्रव अर्थात् वही परिणाम नये बन्ध का कारण है।

मुमुक्षु : इसलिए ऐसा हुआ न (कि) यह सब व्यवहार से बन्ध है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहारबन्ध, यह अभूतार्थ है, वास्तविक नहीं निश्चय से। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा ही है ऐसे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही है न, गिनती कहाँ है? व्यवहार का अर्थ अभूतार्थ (अर्थात्) है ही नहीं उसे। उसे राग के सम्बन्ध में टला नहीं कुछ, कहते हैं। यहाँ तो देखो न, दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम, वह धर्म है, उसका अर्थ कि वे मेरे हैं, आहाहा! वह महामिथ्यात्व संसार का कारण है। वह मिथ्यात्व ही आस्त्रव है। **(वह) सम्यक्त्व के उदय में नहीं रहता।** वह मिथ्यात्व आस्त्रव आत्मज्ञानी की दृष्टि में रहता नहीं।

आस्त्रव विभाव परिणति है... अब विशिष्टता करते हैं, देखो! यह पुण्य और पाप के भाव होते हैं संयोगी, वह विभाव—विकारी दशा है। बराबर है?

मुमुक्षु : ऐसा ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा-महाव्रत—यह सब विभाव परिणति

है। अरे... अरे... गजब! यह कहते हैं कि धर्म है और यह कहे विभाव। ऐई! महाव्रत पालन करो, अणुव्रत पालन करो, अपने कर-करके यही करना है न!

मुमुक्षु : करने का कब था?

पूज्य गुरुदेवश्री : लो, आहाहा! मार डाला जगत को, बिना मौत मारा।

मुमुक्षु : व्यवहारधर्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहारधर्म है, वह झूठा है। यह तो निश्चय का भान हो, तब राग की मन्दता के भाव में व्यवहारधर्म का आरोप आता है।

मुमुक्षु : वह व्यवहारधर्म है, इतना तो साथ दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किसे?

मुमुक्षु : उसका क्या काम है? व्यवहारधर्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार तो जहाँ राग से भिन्न पड़कर निश्चय भान हुआ है, उसे राग की मन्दता के आरोप से, वह भी आरोप से व्यवहारधर्म कहा जाता है। वास्तव में तो पुण्यबन्ध का ही कारण है। समझ में आया? आहाहा!

आस्रव विभाव परिणति है, पुद्गलमय है... वह तो। ठीक।

मुमुक्षु : पुद्गल के आश्रय से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म के लक्ष्य से, जड़ के लक्ष्य से पुण्य-पाप के भाव (होते हैं), उन्हें यहाँ जड़ कहा गया है। वे तो पुद्गलमय हैं। पुद्गलजनित हैं दूसरी भाषा से। आत्मजनित नहीं। पुण्य-पाप कहीं आत्मा की अन्दर खान में नहीं कि प्रगट हो। उसकी खान में तो अतीन्द्रिय आनन्द और निर्दोष दशा वीतरागभाव पड़ा है। शुभ और अशुभभाव पुद्गल-जड़जनित है।

आत्मा का निज स्वभाव नहीं। कहो, व्रत के परिणाम, दया-दान के, भक्ति के, वह आत्मा का निजस्वभाव नहीं। अरे.. अरे! **ऐसा जानकर... ऐसा जानकर, ज्ञानी लोग अपने स्वरूप में विश्राम लेते हैं।** धर्मी तो, बारम्बार विकल्प आने पर भी स्वरूप में स्थिरता की ही उसकी भावना होती है। राग करने की भावना नहीं, ऐसा

कहते हैं मूल। परन्तु वह भक्ति भगवान की और उसमें राग है, वह बात बैठना कठिन पड़े।

मुमुक्षु : उसमें लक्ष्य क्या हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत प्रश्न उठा है न, देखो न! ऐसा कहे, भगवान के पास ऐसा हमारा ध्यान है, वहाँ कहाँ राग आया?

यह (संवत्) १९९५ में ऐसा कहा था। एक नेमचन्दभाई थे। जूनागढ़। वीरचन्द नाथू के एक बड़े भाई थे। वे कहे कि 'परन्तु इस भगवान की भक्ति में तुम राग कहते हो। हमारे कहाँ राग चाहिए है, हमारे तो वीतरागता चाहिए है।' कहो। (संवत्) १९९५ में यह प्रश्न हुआ था जूनागढ़। अन्तिम मकान है न, वह श्वेताम्बर की धर्मशाला। भाई! शान्त समुद्र प्रभु, वह जब विकल्प में आता है, तब वह एक कषाय है बाहर, वह कषाय का भाव है। कहे कि हमारे राग चाहिए नहीं। परन्तु वह स्वयं राग है। चाहिए नहीं या चाहिए, इसका कहाँ प्रश्न है? आहाहा! भगवान की भक्ति—स्तवन—स्तुति का जो विकल्प है, वह तो स्वयं रागस्वरूप ही है। आहाहा! ज्ञानी तो राग से रहित अपने स्वरूप में विश्राम लेते हैं।

और अतुल, अखण्ड, अविचल, अविनाशी, चिदानन्दरूप सम्यग्दर्शन को निर्मल करते हैं... लो। **अतुल** था न यहाँ? १२वें श्लोक में। '**नालोकान्तादचलमतुलं**'

मुमुक्षु : हिन्दी में भी है और संस्कृत में भी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न पाठ में है। कैसा है भगवान आत्मा अन्दर? अरे! परन्तु कभी इसने सुना न हो, इसलिए आत्मा और क्या होगा अब यह? बापू! यह एक बाहर की जड़ चीज़—पदार्थ है तो तुझे ऐसा लगता है कि आहाहा! यह श्रीखण्ड और यह बर्फी और यह मौसम्बी... तो यह एक महापदार्थ प्रभु है अन्दर, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द का रसिया आत्मा है। आहाहा! उसका भान होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का रसिक हो जाता है वह। राग का रस उसे छूट जाता है। हो, राग हो सही, (परन्तु) रस छूट जाता है रस, ऐसा कहते हैं।

अतुल—जिसकी कोई तुलना नहीं, लो। उपमा नहीं। किसकी उपमा देना उसे?

जिसका अन्तर स्वभाव त्रिकाल शुद्ध आनन्द, उसे किसकी उपमा देना? **अखण्ड—** वह तो अखण्ड वस्तु है महापदार्थ प्रभु आत्मा। **अविचल—**अपने स्वभाव से कभी चलित नहीं हुआ। भगवान ध्रुव कभी राग में आया नहीं, पर्याय में आया नहीं, ऐसा अचल है। **अविनाशी—**नाश न हो, ऐसा तत्त्व है वह तो। **चिदानन्दरूप,** लो। वह ज्ञान के आनन्दरूप **सम्यग्दर्शन को निर्मल करते हैं।** ऐसा। ज्ञान और आनन्द का स्वरूप है आत्मा, उसमें एकाकार होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि निर्मल प्रगट करता है, उसे आस्रव नहीं होता। उसे धर्म होता है, निर्जरा होती है, ऐसा कहा जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

संवर द्वार

प्रवचन नं. ६५, चैत्र शुक्ल १०, सोमवार, दिनांक ५-४-१९७१
संवर द्वार, पद १, २, ३

नाटक समयसार, संवर अधिकार। संवर द्वार है न।

काव्य - १

प्रतिज्ञा (दोहा)

आस्रवकौ अधिकार यह, कह्यौ जथावत जेम।
अब संवर वरनन करौं, सुनहु भविक धरि प्रेम।।१।।

शब्दार्थः-आस्रव=बन्ध का कारण। जथावत=जैसा चाहिये वैसा। संवर=आस्रव का निरोध। वरनन=कथन। भविक=संसारी।

अर्थः-आस्रव का अधिकार यथार्थ वर्णन किया, अब संवर का स्वरूप कहता हूँ, सो हे भव्यो! तुम प्रेमपूर्वक सुनो।।१।।

काव्य - १ पर प्रवचन

आस्रवकौ अधिकार यह, कह्यौ जथावत जेम।
अब संवर वरनन करौं, सुनहु भविक धरि प्रेम॥१॥

क्या कहते हैं? कि आस्रव का अधिकार अर्थात् आत्मा का स्वभाव शुद्ध आनन्द और ज्ञान है, उससे विपरीत मिथ्यात्वभाव, राग और द्वेष आदि भाव को यहाँ आस्रव कहते हैं। उस आस्रव का अधिकार कहा—कहने में आया है। '**कह्यौ जथावत**' जैसा है वैसा। यह दुःखदायक आत्मभ्रान्ति (कि) पुण्य-पाप के परिणाम में सुखबुद्धि, पर में सुखबुद्धि—हितबुद्धि—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव और इष्ट-अनिष्ट के राग-द्वेष का उत्पन्न होना, उस भाव को यहाँ आस्रव-दुःखदायक भाव कहा जाता है।

मुमुक्षु : कहने में आया, है या नहीं है?

पूज्य गुरुदेवश्री : है, कहने में आया अर्थात् ऐसा कहते हैं कि बात यह है। समझ में आया?

मुमुक्षु : लोगों को तो सुखदायक लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुखदायक लाभ धूल में है नहीं। सुखदायक कहाँ आया? ये पैसे-बैसे में सुख लगता है मूढ़ को। मूढ़ है, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। अपने स्वभाव में सुख है, इसकी दृष्टि छोड़कर, शरीर, बाह्य पदार्थ और पुण्य-पाप का भाव होता है, उसमें ठीक है (ऐसी) हितबुद्धि—सुखबुद्धि, वही मिथ्यात्व का भाव प्रसिद्ध होता है। वह अज्ञानभाव है। आहाहा! समझ में आया?

'आस्त्रवकौ अधिकार कह्यौ जथावत जेम।' जैसी है, ऐसी बात कही। वह विशेष आयेगा। **'अब संवर वरनन करौ।'** संवर अर्थात् आत्मा में विकार की उत्पत्ति का रुकना अथवा अनुत्पत्ति होना और अपना शुद्ध आत्मा, उसके आश्रय से शान्ति, श्रद्धा, ज्ञान और वीतरागी पर्याय का होना, उसका नाम संवर कहते हैं। **'सुनहु भविक धरि प्रेम।'** हे भव्य जीवो! प्रेम से सुनो, ऐसा कहा। नीचे श्लोक है पहला। संस्कृत है। आचार्यकृत, अमृतचन्द्राचार्य मुनि दिगम्बर सन्त वनवासी थे। नीचे है न श्लोक १। (पहला) श्लोक है।

आसन्सार-विरोधि-सम्वर-जयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्ध-नित्य-विजयं सम्पादयत्सम्वरम्।
व्यावृत्तं पर-रूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपेस्फुर-
ज्योतिश्चिन्मय-मुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते।।१।।

इसका पद है अब। यह है संस्कृत (कलश), इसका (पद) बनारसीदास कवि हुए हैं महाज्ञानी। पहले व्यभिचारी (शृंगारी) थे, पश्चात् हुए आत्मज्ञानी। वे आत्मज्ञानी होने के बाद यह बनाया है। समयसार के टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य ने बनाये कलश और कलश की टीका बनायी राजमल्लजी (कृत) कलशटीका है। उसमें से यह बनाया पद्य। **ज्ञानस्वरूप संवर को नमस्कार।**

★ ★ ★

काव्य - २

ज्ञानरूप संवर को नमस्कार (सवैया इकतीसा)

आतमकौ अहित अध्यातमरहित ऐसौ,
आस्रव महातम अखंड अंडवत है।
ताकौ विसतार गिलिबेकौं परगट भयौ,
ब्रहमंडकौ विकासी ब्रहमंडवत है।।
जामैं सब रूप जो सबमैं सबरूपसौ पै,
सबिनसौं अलिप्त आकास-खंडवत है।
सोहै ग्यानभान सुद्ध संवरकौ भेष धरै,
ताकी रुचि-रेखकौं हमारी दंडवत है।।२।।

शब्दार्थ:-अहित=बुराई करनेवाला। अध्यातम=आत्म-अनुभव। महातम=घोर अंधकार। अखंड=पूरा। अंडवत=अंडाकार। विस्तार=फैलाव। गिलिबेकौं=निगलने के लिये। ब्रहमंड (ब्रह्मांड)=त्रैलोक्य। विकास=उजेला। अलिप्त=अलग। आकास-खंड= आकाश का प्रदेश। भान (भानु)=सूर्य। रुचि-रेख=किरणरेखा, प्रकाश। दंडवत=प्रणाम।

अर्थ:-जो आत्मा का घातक है और आत्म-अनुभव से रहित है, ऐसा आस्रवरूप महा अन्धकार अखण्ड अण्डा के समान जगत के सब जीवों को घेरे हुए है। उसको नष्ट करने के लिये त्रिजगत विकासी सूर्य के समान जिसका प्रकाश है और जिसमें सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं तथा आप उन सब पदार्थ के आकार रूप होता है[1], तो भी आकाश के प्रदेश के समान उनसे अलिप्त रहता है, वह ज्ञानरूपी सूर्य शुद्ध संवर के भेष में है, उसकी प्रभा को हमारा प्रणाम है।।२।।

काव्य - २ पर प्रवचन

आतमकौ अहित अध्यातमरहित ऐसौ,
आस्त्रव महातम अखंड अंडवत है।

---

१. 'ज्ञायक ज्ञेयाकार अथवा ज्ञेयाकार ज्ञान की परिणति' यह व्यवहार-वचन है।

ताकौ विसतार गिलिबेकौं परगट भयौ,
ब्रहमंडकौ विकासी ब्रहमंडवत है॥
जामैं सब रूप जो सबमैं सबरूपसौ पै,
सबिनसौं अलिप्त आकास-खंडवत है।
सोहै ग्यानभान सुद्ध संवरकौ भेष धरै,
ताकी रुचि-रेखकौं हमारी दंडवत है॥२॥

मंगलाचरण में धर्म-अधर्म के स्वरूप दोनों ही बताये हैं। क्या कहते हैं, देखो। '**आतमकौ अहित**' जो मिथ्यात्व और शुभ-अशुभभाव है, वह आत्मा का अहित करनेवाला है। आस्रव है न, आस्रव। हिंसा-झूठ-चोरी-विषय-भोगवासना, वह पापास्रव है—पापभाव है और दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा-भगवन्तस्मरण....

मुमुक्षु : शास्त्रवांचन

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्रवांचन, सुनना, कहना—यह सब विकल्प पुण्यास्रव—शुभभाव हैं। दोनों '**आतमकौ अहित।**' आस्रवभाव है। आ-स्रव। आ—मर्यादित, स्रवना। जिस परिणाम से नये आवरण आते हैं, ऐसे भाव को आस्रव कहा जाता है। तो वह आस्रव जो है मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष, शुभ-अशुभभाव, वह '**आतमकौ अहित है।**'

'**अध्यातमरहित...**' अहित है (क्योंकि) वह आत्मा के अनुभव से रहित है। भगवान आत्मा तो आनन्दमूर्ति ज्ञानस्वभाव, उसके अनुभव में तो आनन्द और शान्ति और वीतरागदशा होती है, उसका नाम आत्म-अनुभव है। वह (आस्रव) आत्म-अनुभव से—अध्यात्म से रहित है। यह पुण्य-पाप का भाव और मिथ्यात्वभाव, वह अध्यात्म अनुभव से रहित है। आत्मा की अनुभवदशा से वह भाव रहित है। आहाहा! समझ में आया? '**आतमकौ अहित।**' भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप (अर्थात्) सत्—शाश्वत, चिद्—ज्ञान, और आनन्द जिसका रूप, ऐसे आत्मा में जो यह पुण्य-पाप, शुभ-अशुभभाव... मिथ्यात्वभाव है, वह भी अशुभभाव है और दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा-नामस्मरण परमात्मा का, वह सब भाव पुण्यरूपी आस्रव रागभाव है। वह आत्मा के स्वभाव से भिन्न चीज़ है। आहाहा! अहित है। पण्डितजी!

'**अध्यातमरहित...**' पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव में आत्मा के अनुभव का अभाव है, यह तो विकार का अनुभव है। आहाहा! समझ में आया? पर्याय की बात चलती है। द्रव्य तो त्रिकाली ज्ञायकभाव शुद्ध आनन्दकन्द है। परन्तु उसके भान बिना राग और द्वेष और मिथ्याभाव के कारण (आस्रव हुआ), वह अहितभाव है और उसमें अनुभव का अभाव है। समझ में आया? भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप चैतन्यपुंज है और अनाकुल अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाव से पूरा भरा है। ऐसे भगवान आत्मा से यह शुभ-अशुभ की विकल्प की वृत्तियाँ उठती हैं—उठती हैं, वह अहितकर है और अपने (आत्म) अनुभव से रहित है।

'**ऐसौ आस्रव महातम...**' महा अज्ञान अन्धकाररूप है। आहाहा!

मुमुक्षु : अखण्ड।

पूज्य गुरुदेवश्री : पीछे, अखण्ड पद बाद में लिया। अभी एक शब्द तो ले। '**महातम।**' भगवान आत्मा प्रकाश का पुंज है तो ये आस्रव—विकारीभाव महा अज्ञानभाव है। आहाहा! समझ में आया? शुभ-अशुभ दो प्रकार की विकल्प वृत्ति उठती है। वृत्ति—राग। दोनों ही अज्ञान है, अपने स्वरूप की चीज़ से विपरीत है। आहाहा! समझ में आया? '**आस्रव महातम...**' पहला तो यह आस्रव है, वह अज्ञान है, ऐसा कहते हैं। पुण्य-पाप का भाव और मिथ्यात्वभाव अज्ञान है। अज्ञान (अर्थात्) अपने ज्ञानप्रकाश से वह विरुद्ध है। आहाहा!

'**अखंड अंडवत है।**' अनादि से, पुण्य-पाप की एकता अनादि से अखण्ड (रूप) अज्ञानी में है। कभी अज्ञान में खण्ड पड़ा नहीं। क्या कहते हैं, समझ में आया? '**अंड**'—अण्डा होता है न अण्डा। अखण्ड अण्डा। अखण्ड अण्डा। वैसे अज्ञानभाव अखण्ड है, कभी खण्ड अर्थात् अल्प हुआ ही नहीं। मन्द-तीव्र का प्रश्न करते हैं न। ऐई!

मुमुक्षु : सच्चा है, दरार पड़ी ही नहीं कभी।

पूज्य गुरुदेवश्री : भीखाभाई! क्या मन्द-मन्द-मन्द। ...वे कुछ पूछते थे न क्या? यहाँ तो कहते हैं कि भगवान आत्मा चैतन्यज्योति सत् शाश्वत् अनाकुल आनन्द का छलाछल भरा हुआ तत्त्व है। इस आत्मा में पुण्य-पाप का और मिथ्यात्व का

भाव अखण्ड अज्ञानमय है। यह खण्ड अर्थात् अज्ञान में जरा दरार पड़ी नहीं। तड़, क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : तड़ा, तिराड।

पूज्य गुरुदेवश्री : तिराड (दरार) जरा पड़ी नहीं, ऐसा कहते हैं। मन्द है तो भी अखण्ड है, ऐसा कहते हैं। आहा! समझ में आया?

मार्ग भाई! यह तो वीतराग का मार्ग है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने जो प्रगट किया, ऐसा फरमाया। (है) तो अपनी पर्याय में—अवस्था में, हों! वस्तु तो ध्रुव त्रिकाल है नित्यानन्द। परन्तु अवस्था अर्थात् हालत में—वर्तमान दशा में जो पुण्य और पाप और मिथ्यात्वभाव है, वह अनादि से अखण्ड है अज्ञानी को। आहाहा! समझ में आया? नौवें ग्रैवेयक तक गया जैन मुनि होकर। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' यह तो अखण्ड अज्ञानधाम में आया, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा शुभभाव (कि) दूसरे देवलोक की इन्द्राणी डिगावे तो डिगे नहीं, ऐसा ब्रह्मचर्य का शुभभाव हो, तो भी परिणाम तो मिथ्यात्व है। वह विकल्प—राग है न, दया-दान-व्रत का, उसमें एकत्वबुद्धि है तो '**महातम अखंड अंडवत है**।' आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

अनन्त स्वरूप भगवान आत्मा की पर्याय में क्या है और वस्तु में क्या है, उसकी उसको खबर नहीं। आहाहा! यदि उसकी दशा में ऐसा अज्ञान न हो, तो अन्तर दशा में आनन्द का वेदन—अतीन्द्रिय आनन्द आना चाहिए। पोपटभाई! आहाहा! '**अखंड अंडवत है**।' अण्डा जैसे अखण्ड है अण्डा। वैसे मिथ्यात्व और पुण्य-पाप का भाव अखण्ड है, वहाँ जरा भी दरार पड़ी नहीं, तिराड पड़ी नहीं, छेद हुआ नहीं, भंग हुआ नहीं। आहाहा! कहो, चेतनजी! क्या बराबर है? परन्तु राग मन्द किया इतना उसको तो...

मुमुक्षु : निश्चय का पक्ष...

पूज्य गुरुदेवश्री : लो भाई! रामजीभाई कहते हैं, वह शुद्धनय का पक्ष तो आया न उसमें थोड़ा। नहीं आया है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

सहजानन्द निर्मलानन्द प्रभु आत्मा तो है। वस्तु में आनन्द और अकेला ज्ञान ही

पड़ा है प्रभु में। उससे विरुद्ध एक संकल्प-विकल्प भी थोड़ा राग का हो और उसके साथ एकत्वबुद्धि हो, तो कहते हैं कि वह अज्ञान अखण्ड है, मिथ्यात्व अखण्ड है। जैसे अण्डा अखण्ड है, वैसे अखण्ड अज्ञान है। आहाहा! मन्द नहीं किया, ऐसा कहते हैं, खण्ड नहीं किया। ऐसा का ऐसा अखण्ड भाव अनादि से अनन्त बार (किया)। व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह राग मेरा है और उससे मुझे लाभ होगा—ऐसा मिथ्यात्वभाव अज्ञान '**महातम अखंड अंडवत है।**' उसको संसार अखण्ड पड़ा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भारी काम! जगत को साधारण प्राणी को यह मार्ग बैठना (कठिन है)। बैठे, उसकी चीज़ ही ऐसी है। उस चीज़ में आस्रव है ही नहीं। आहाहा!

यह कहते हैं, देखो। '**ताकौ विसतार गिलिबेकौ परगट भयौ।**' ऐसा जो अज्ञानभाव, शुभ-अशुभभाव, मिथ्यात्वभाव एकरूप अनादि से अखण्ड पड़ा है, उसे '**गिलिबेकौ...**' विस्तार, जो अज्ञान का विस्तार अनन्त है अन्दर अज्ञानभाव। थोड़ा राग हो तो ठीक है, विकल्प है ठीक है—ऐसा अज्ञान का विस्तार है, मिथ्याभ्रम का जो विस्तार है, '**उसे गिलिबेकौ प्रगट भयौ...**' खा जाने को—निगल जाने को संवर प्रगट हुआ। देखो, '**गिलिबेकौ**' (कहा), वहाँ बड़ा हुआ, संवरदशा बड़ी हुई, ऐसा। समझ में आया?

'**महातम अखंड अंडवत...**' **जगत के सब जीवों को घेरे हुए है...** ऐसा। अण्डवत है न, इसका अर्थ किया है। सर्व जीवों को घेर रखा है। आहाहा! साधु हो, नग्न मुनि हो, मुनि होता है। तो भी अन्तर में, महाव्रत का परिणाम है, दया-दान का परिणाम है, उसमें एकत्वबुद्धि है तो उसको अखण्ड संसार पड़ा है। आहाहा! समझ में आया?

'**ताकौ विसतार गिलिबेकौ परगट भयौ...**' यह आस्रव का नाश करने को भगवान चैतन्यसूर्य अपने स्वभाव-सन्मुख होकर—जो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानरूपी त्रिजगत को प्रकाशनेवाला प्रकाश भगवान अपने चैतन्य से सन्मुख होकर—जो प्रकाश प्रगट हुआ, '**ब्रहमंडकौ विकासी...**' चौदह ब्रह्माण्ड और तीन काल को जानने की शक्ति से विकास हुआ। बस, जानने का विकास (हुआ)। राग नहीं, विकल्प नहीं, वह चीज़ मेरी नहीं। समझ में आया? '**ब्रहमंडकौ विकासी ब्रहमंडवत है...**' त्रिकाल ज्ञायक सूर्यवत् है। वह तो चैतन्यसूर्य—विकल्प-राग आदि से भिन्न होकर भेदज्ञानरूपी सूर्य—

प्रगट हुआ, वह संवर है, वह धर्म है। उस संवर ने आस्रव का नाश कर दिया। अरे! भारी सूक्ष्म बात, भाई!

'अखंड अंडवत है' उसके सामने कहा न, **'ब्रहमंडकौ विकासी ब्रहमंडवत है...'** त्रिकाल... त्रिकाल सूर्य। **त्रिजगत विकासी सूर्य के समान जिसका प्रकाश है,...** लो! चैतन्य प्रकाश अपना स्वभाव उस ओर का झुकाव हुआ (तो) पुण्य-पाप के विकल्प-परिणाम (ऐसे) आस्रव-बन्ध से भिन्न हुआ, ऐसा अपना त्रिजगत प्रकाशी सूर्य प्रगट हुआ। समझ में आया? यह अपनी दशा में भी... वस्तु तो त्रिजगत प्रकाशक शक्ति (रूप) है ही, परन्तु पर्याय में राग से भिन्न होकर भेदज्ञान हुआ, यह तो सबको प्रकाशनेवाला प्रगट हुआ। राग आदि हो, (वह) अपने में नहीं, परन्तु उसका प्रकाश करनेवाला मैं हूँ। जाननेवाला मैं, ऐसा प्रगट हुआ। आहा! भाषा भी कठिन।

'ब्रहमंडकौ विकासी' तीन लोक को जाननेवाला। बस, एक ओर सब ज्ञेय तथा एक ओर ज्ञान। अपने ज्ञानस्वभाव में, पुण्य-पाप के राग से (भिन्न) अपना अस्तित्व चैतन्यज्योत का जहाँ अनुभव और प्रतीति हुई तो त्रिजगत को—**'ब्रहमंडकौ विकासी'** तीन काल-तीन लोक को जानने की शक्ति का विकास हुआ। भले पर्याय हो।

मुमुक्षु : पर्याय में प्रगट।

पूज्य गुरुदेवश्री : संवर पर्याय है न! आहाहा!

पर्याय अर्थात् अवस्था। पर्याय अखण्ड दशा। वस्तु तो त्रिकाली अखण्डानन्द प्रभु ध्रुव है, परन्तु ध्रुव के अवलम्बन से जो शान्ति का उत्पाद हुआ, सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि का हुआ, वह भी तीन जगत को देखने के विकासवाली शक्ति है। त्रिजगत अनादि-अनन्त दूसरी चीज़ वह अपनी है, ऐसा मानता था, तो उसमें तीन जगत को जानने की अनादि-अनन्त शक्ति रुंध गयी थी, अटक—रुक गयी थी। जहाँ सम्यक्त्व हुआ, तीन जगत को जानने की शक्ति का विकास हुआ। कोई विकल्प आदि मेरा है, ऐसा नहीं, परन्तु विकल्प आदि हो उसका, अपने में रहकर अपना ज्ञान करने से पर का ज्ञान उसमें आ जाता है। अरे, अरे गजब!

'ब्रहमंडकौ विकासी ब्रहमंडवत् है...' वह ब्रह्ममंडवत् सूर्यसमान है, अकेला

चैतन्यसूर्य। जानना-देखना वही मेरी चीज़ है। मैं जानने-देखने की क्रिया में रमूं, वह मेरी चीज़ है। पुण्य-पाप में रमना, वह मेरी चीज़ नहीं। समझ में आया? '**गिलिबेकौ परगट भयौ...**' पूरा... जैसे अजगर है न अजगर। अजगर का अर्थ, अज अर्थात् बकरा, गर अर्थात् निगल जाये। अजगर होता है न! अजगर नहीं होता है? क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : बड़ा साँप।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा अजगर। उसका नाम अजगर है। अज अर्थात् बकरा है, उसे निगल जाये तो अजगर कहते हैं। ऐ पोपटभाई! बड़ा अजगर होता है न। वह अभी नहीं आया था थोड़े वर्ष पहले?

एक बड़ा अजगर निकला था जंगल में। तब सिंह निकला, सिंह। अजगर ने सिंह को भरडा लिया—पकड़ लिया। सिंह का पेट, हों! अजगर बड़ा था। ऐसे पकड़ लिया तो चारों पैर ऐसे हो गये। ऐसे के ऐसे रह गये पैर। (सिंह) अजगर को तो कुछ कर सका नहीं, क्योंकि ऐसे पैर रह गये, ऐसे पैर। कितने दिन? दूसरे दिन सवेरे तक। दोनों की लड़ाई हुई। लड़ाई अर्थात् सिंह छूटने के लिये प्रयत्न ऐसे (करे), परन्तु पैरे ही ऐसे हो गये, पकड़े कहाँ से? अजगर ने ऐसा भींच लिया। सैकड़ों व्यक्ति देखते थे। (पुल के ऊपर से) रेल निकलती है न रेल, उसके नीचे हुआ था। फिर दो, तीन दिन रहा। सिंह मर गया।

मुमुक्षु : यहाँ आस्रव है वह मर गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कस लिया। निगल गया, (ऐसा) कहा न। इस निगलने के ऊपर से अजगर का ख्याल आया। अजगर है न! सिंह को मार डाला। लोगों के देखते-देखते, हों! दो दिन लड़ाई। गड्डा पड़ गया नीचे खड्डा। सिंह ऐसा पैर जोर करे, इस ओर तो चले नहीं। मुँह ऐसा ले लिया। मुँह ऐसा हो गया, पैर ऐसा हो गया। कस लिया तो मुख से पकड़ न सके अजगर को। मुख रह गया ऐसा, पैर रह गये ऐसे चार।

इसी प्रकार भगवान आत्मा, पुण्य-पाप का जो भाव है, उसको निगलने को तैयार हो गया अन्दर से। आहाहा! 'शुभाशुभ परिणाम, वह मैं नहीं; मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप का अनुभव करनेवाला हूँ। मैं तो अनुभव (रूप) आनन्द का रसीला आत्मा

हूँ। अतीन्द्रिय आनन्द का रसीला मैं आत्मा हूँ। मैं पुण्य-पाप का अनुभव करनेवाला आत्मा नहीं।' आहाहा! सेठी! आहा! गजब काम, भाई! बसन्तलालजी!

'**जामैं सब रूप जो सबमैं सबरूपसौ पै।**' ऐसा ज्ञानप्रकाश हुआ कि सर्व (ज्ञेय) की ज्ञेयपरिणति अपने ज्ञान में आ गयी। जितने ज्ञेय हैं, उसका ज्ञानरूपभाव अपने में ज्ञेयाकार हुआ। परन्तु वह (ज्ञान) ज्ञेयरूप नहीं हुआ। समझ में आया? राग है, शरीर है तो उसको जानने से शरीर और राग का ज्ञान हुआ, ज्ञेयाकार ज्ञान हुआ अपना, परन्तु वह राग और शरीररूप आत्मा नहीं हुआ। उसका नाम संवर और धर्म और भेदज्ञान है। आहाहा! अरे! समझ में आया?

यह तो मक्खन की बात चलती है। आहाहा! उसका नाम धर्म है। धर्म कोई साधारण चीज़ नहीं है। टीका-तिलक कर दिया और भगवान... भगवान भजन कर लिया, ऐसा करके... समझ में आया? आँखें बन्द करके ओम... ओम... ओम... ओम... ओम करे, यह सब विकल्प आस्रव हैं, राग हैं। उन सबको नाश करने में—निगलने में तैयार हुआ। ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप मैं अपने से प्रत्यक्ष होनेवाला (हूँ)। राग का ज्ञान होता है, परन्तु राग का ज्ञान होने पर भी रागरूप ज्ञान नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

'**जामैं सब रूप जो सबमैं सबरूपसौ पै।**' जिसके अन्दर में ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा चैतन्यप्रकाश का पुंज ऐसा जहाँ अनुभव—सम्यक् धर्म हुआ, तो कहते हैं कि सब चीज़ को जानने से चीज़ (ज्ञान में) प्रगट हो गयी, परन्तु सब चीज़रूप होना, वह हुआ नहीं। आहाहा! पण्डितजी! क्या कहते हैं यह? अभी तो ऐसी बात चलती है कि यह बात तो उसको ऐसी लगे कि यह क्या कहते हैं?

यहाँ तो संवर उसको कहते हैं। धर्मदशा कहो, संवरदशा कहो, अनास्रवीदशा कहो, मोक्ष के मार्ग की दशा कहो, वह यह है। त्रिकाल चैतन्यप्रकाश सूर्य प्रभु, उसमें अन्तर पुण्य-पाप के, मिथ्यात्व के विकल्परूपी मैल—आस्रव से भिन्न होकर भेदज्ञानरूपी सूर्य जहाँ प्रकाश हुआ, कहते हैं कि सबको जानने पर भी किसीरूप होवे नहीं। अपना रूप छोड़कर राग—व्यवहाररूप भी होता नहीं। धर्मी को व्यवहार दया-दान विकल्प होता है, ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। आहाहा!

धर्मी को ज्ञानस्वरूप भगवान पूर्ण अस्ति पूर्णानन्द महानन्द कन्द प्रभु आत्मा, ऐसा जहाँ अनुभव में, प्रतीति में, ज्ञान में ज्ञेय होकर आया तो वह ज्ञान सबको जाने, (परन्तु) सब रूप होवे नहीं। अरे, गजब बात ऐसी! पूनमचन्दजी! क्या है यह? ऐसा धर्म? यह तो एकान्त हो जायेगा।

मुमुक्षु : होने दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठी! सेठी को यह घर में बात... जयपुर। एकान्त है रे एकान्त है। सोनगढ़ का एकान्त है। अरे भगवान! सुन तो सही।

मुमुक्षु : ....का एकान्त है, उसको क्या मालूम है?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा! प्रभु! तेरे पक्ष में चढ़ने की बात है। वह राग और पुण्य के पडखे... पडखुं समझते हैं? उस ओर का झुकाव, वह छोड़कर भगवान आत्मा के पक्ष में... पडखे क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : पक्ष।

पूज्य गुरुदेवश्री : पक्ष नहीं।

मुमुक्षु : बाजू।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाजू। बाजू कहते हैं। आत्मा के बाजू। राग के बाजू है, वह दूसरे बाजू में अनादि से पड़ा है। आहाहा! कठिन मार्ग भाई ऐसा!

लोगों को सुनते हुए एक बार में पाठ मुश्किल-मुश्किल से पकड़ में आये। पूछे कि क्या सुनकर आये? ऐसा कुछ कहते थे कि ऐसे भिन्न है और यह ऐसा है और यह ऐसा है और ऐसा।

मुमुक्षु : महाराज बहुत अच्छा....

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा, वह क्या अच्छा कहते हैं। अन्दर समझे बिना...

मुमुक्षु : बहुत मीठा लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मीठा तो वाणी जरा वह वैराग्य की आवे, ऐसी दिखाई दे, वह मीठा लगे मानो। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा! कहते हैं कि

पुण्य-पाप का अखण्ड आस्रव अण्डेवत् जो अखण्ड था, उसको अखण्ड स्वरूप के आश्रय से अखण्ड (आस्रव) का नाश कर दिया। अखण्ड का खण्ड नहीं, परन्तु नाश कर दिया। आहाहा! अखण्ड नहीं आता उसमें? सोगानी (कहते हैं)।

कहते हैं भाई! चक्रवर्ती छह खण्ड साधता है। कहे, नहीं, वह तो अखण्ड साधता है। उस समय एक ऐसा शब्द निकल गया। ऐई भीखाभाई! चक्रवर्ती छह खण्ड को साधने जाते हैं। छह खण्ड है न, तीन अन्दर और तीन बाह्य। कहे, नहीं, नहीं। वह छह खण्ड साधते नहीं, वे तो अखण्ड को साधते थे। उसमें है सोगानी में। समझ में आया? ऐई प्रकाशदासजी! यह भगवान प्रकाश की बात चलती है। आहाहा! परन्तु ... ऐसा हो गया है न। इतना बड़ा मैं? अरे! इतना बड़ा आत्मा है (और) वह संवर की पर्याय है, वह तो अनन्तवें भाग में है। वह तो भगवान को वेश है, वह तो एक वेश है, वस्तु पूरी नहीं। आगे कहेंगे।

'संवरकौ भेष धरै...' देखो न! वह तो वेश है। एक समय में तीन काल-तीन लोक को जानने की ज्ञानशक्ति प्रगट हुई। श्रुतज्ञान भले हो। और पर को जानना-देखना यह (तो) अपनी पर्याय में अपने से पर को छुए बिना (होता है)। अपनी पर्याय में अपने से अपने को छूकर, राग और पर को छुए बिना पर का ज्ञान अपने से होता है। परन्तु पररूप वह ज्ञान होता नहीं, ऐसा भिन्न पड़ गया अन्दर में। आहाहा! समझ में आया? कहो, हीराभाई! आहाहा!

'सबनिसौं अलिप्त...' देखो भाषा। **'आकास-खंडवत...'** आकाश है, उसमें चाहे जितने चित्राम करो... आकाश अरूपी सर्वव्यापक अरूपी। चित्राम और बादल हो, तो क्या आकाश में लेप होता है उसका? (नहीं)। आकाश अरूपी सर्वव्यापक है, अरूपी सर्वव्यापक लोक-अलोक। यह लोक है १४ ब्रह्माण्ड और खाली भाग अलोक है। लोकालोक, यह जो सृष्टि जितनी दिखती है, वह तो असंख्य योजन में है। वह कहीं अनन्त योजन में नहीं। खाली... खाली... खाली... खाली... भाग अनन्त है। तो खाली अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... खाली दसों दिशा में। बीच में इतना परमाणु जितना चौदह ब्रह्माण्ड है।

तो कहते हैं कि लोक और अलोक, आहाहा! ऐसा आकाश जो सर्वव्यापक है, उसमें चाहे जितने चित्राम, कोयले उड़े, धुँआ निकले, अग्नि जले, वह आकाश को छूते हैं? (नहीं) समझ में आया? इसी प्रकार भगवान आत्मा, इतने (तीन काल तीन लोक को जानता) है, परन्तु उससे अनन्तगुना काल और चीज़ हो, तो भी जानने की शक्ति रखता है। छद्मस्थ श्रुतज्ञान में हों, ऐसा कहते हैं यहाँ। आहाहा! स्वभाव की महिमा, आहाहा! समझ में आया?

'**सबनिसौं अलिप्त आकास-खंडवत है...**' सबरूपसो... सबरूप होता है अर्थात् कि ज्ञेयाकाररूप ज्ञान होता है—होता है, परन्तु ज्ञेयरूप होता नहीं। समझ में आया? '**सबनिसौं अलिप्त आकास-खंडवत है...**' जैसे आकाश अलिप्त पड़ा है। लोकाकाश के अतिरिक्त आकाश तो (खाली)—वस्तु के संग्रह बिना की चीज़ है। यह तो एक इतना खण्ड छोटा, देखो, उसमें सारा लोक है, तो भी आकाश के खण्ड में उसका कुछ असर है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

सारा आकाश है अरूपी अस्ति स्वभाववाला, अवगाहन देने की शक्तिवाला, निश्चय से अपना अवगाहन अपने में ही रखता है। ऐसा आकाश, उसका एक खण्ड-भाग ब्रह्माण्ड है, वह चौदह राजु। उसमें चौदह राजु में चाहे जो बनो, कसाईखाना बने, ऐसा बने, पापी हो, गृहीत मिथ्यादृष्टि हो, निगोद हो, परन्तु उस आकाश में कुछ होता नहीं। आहाहा! समझ में आया? अरे गजब!

'**सबनिसौं अलिप्त आकास-खंडवत है...**' '**खंडवत**' का अर्थ ऐसा किया। थोड़ा है न इतना यह। चौदह ब्रह्माण्ड में क्या थोड़ा... पूरा आकाश है, उसमें यह है, यह है; इसलिए उसे कुछ लेप है? लोक को लेप है उसमें?

मुमुक्षु : जरा भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! ऐसे आत्मा अनन्त बेहद ज्ञानस्वरूप, जैसे अलोक है, ऐसा द्रव्य है। परन्तु उसकी पर्याय में तो थोड़ा भाग आया, उसमें भी सारी विचित्रता देखने में आती है, तथापि ज्ञान की पर्याय रागरूप होती नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! उसका नाम भेदज्ञान, उसका नाम संवर, उसका नाम धर्म। गजब धर्म, भाई! अहिंसा पाले तो धर्म, दया पाले तो धर्म, भक्ति करे तो....

'सोहै ग्यानभान सुद्ध संवरकौ भेष धरै...' **'सोहै ग्यानभान...'** चैतन्यसूर्य भगवान... भानु—ज्ञान का भानु प्रभु चैतन्यसूर्य अनादि-अनन्त ध्रुव। वह **'ग्यानभान सुद्ध संवरकौ भेष धरै...'** राग से भिन्न, विकल्प से भिन्न ऐसी दशा में संवर अर्थात् वीतरागीदशा का वेश द्रव्य ने धारा है। पर्याय है न, यह संवर। आहाहा! समझ में आया? ओहोहो! कहते हैं कि इतना ज्ञानस्वभाव है उसका, समझ में आया? (जैसे) आकाश का अन्त नहीं, वैसे वर्तमान पर्याय में अन्तहीन ज्ञान हुआ तो उस ज्ञान की पर्याय में सब जानने में आया। ऐसा ज्ञान की निर्मल संवरपर्याय का द्रव्यस्वभाव त्रिकाली ने वेश धारण किया है। समझ में आया?

यह संवर कायम रहनेवाली चीज़ नहीं, क्योंकि उसका अभाव होकर केवलज्ञान हो जायेगा, सिद्ध (दशा) हो जायेगी। क्योंकि केवलज्ञान भी द्रव्य का वेश है। आहाहा! केवलज्ञान, सिद्धपद—परमात्मपद की पर्याय प्रगट हो, वह भी त्रिकाली द्रव्य में तो एक वेश है। सादि-अनन्त वेश है। समझ में आया? आहाहा! **'सोहै ग्यानभान सुद्ध संवरकौ भेष धरै...'** शुद्ध संवर को वेश। देखो, आस्रव का वेश धारण किया था, आस्रव का वेश धारण किया था अज्ञानभाव। राग से कल्याण है, राग मेरी चीज़ है और पुण्य से मुझे लाभ है, व्यवहार क्रिया करते-करते मुझे धर्म होगा—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव था, वह भी एक मलिन वेश था। उसका नाश करके **'संवरकौ भेष धरै, ताकि रुचि-रेखकौं हमारी दंडवत है।'** आहाहा! देखो।

कहते हैं, **वह ज्ञानरूपी सूर्य शुद्ध संवर के भेष में है, उसकी प्रभा को हमारा प्रणाम है।** जिसकी रुचि रेखा, आहाहा! सम्यग्दर्शन की रुचि और उसमें ज्ञान की रेखा निकली, उसे हमारा दण्डवत है, उसको हमारा दण्डवत है, उसको हम नमन करते हैं। आहाहा! राग आदि, पुण्य आदि को नमन नहीं करते। हमारा भगवान पूर्णानन्द प्रभु चैतन्यसूर्य ध्रुव में से जो विकास हुआ शान्ति और आनन्द की दशा, भेदज्ञान की दशा प्रगट हुई, उसके साथ में एक ऐसे अंश को भी मैं नमन करता हूँ, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? देखो, **'हमारी दंडवत है।'** यह संवर का मंगलाचरण किया।

वह है न अध्यात्मसंग्रह। क्या कहलाता है? 'अध्यात्मतरंगिणी'। उसमें तो इस

संवर अधिकार (की शुरुआत) में ॐ शब्द पड़ा है। दूसरे में ऐसा शब्द नहीं लिया है। ॐ शब्द। भेदज्ञान नया करना है न। ॐ ऐसा शब्द है न। संवर। उसमें है देखो। '**ॐ नमः अथ संवरं सूचयति**' ऐसा वहाँ शुरु किया है। अथ शब्द है न। अथ आया है वहाँ। ॐ नमः करके शुरु किया है। ॐ नमः पूर्णानन्दस्वरूप भगवान मेरा, उसको मैं नमन करता हूँ। उसकी स्थिति में मेरा झुकाव है, वही संवर है। वस्तुस्वभाव में झुकाव हुआ, वही धर्म और संवर है। अरे, गजब बात ऐसी।

'**पररूपतः**' है न। संवर। नित्य विजय हुआ। हाँ, इतना रह गया है इसमें, हों! वह आस्रव की विजय थी, वह अनादि की थी, परन्तु वह तो नाश हो गया और संवर की तो '**नित्यविजयं।**' ऐसा है न भाई अन्दर। यह है न '**ब्रहमंडवत**' में। संस्कृत में है न! यह शब्दार्थ हो, तब अधिक जरा... परन्तु यह तो पद है न इसलिए अमुक शैली (आवे)। यह आ गया। '**ब्रहमंडकौ विकासी ब्रहमंडवत है।**' नित्य जिसकी विजय हुई। हुई (सो) हुई, ऐसा कहते हैं। राग, मन से, तन से भिन्न होकर भगवान आत्मा संवर में आया, शुद्धता की दशा प्रगट हुई, ऐसे संवर की ही नित्य विजय ही है। उसकी ही विजय है। राग और पुण्य की विजय थी, उसका झण्डा तोड़ डाला। सेठी! यह राजा होते हैं न, तो उसका झण्डा हो न झण्डा। नीचे गिरे तो समझ लेना कि व्यक्ति (राजा) मर गया। राजा मर गया उसमें। ऐसा था न राणपुर में।

मुमुक्षु : आस्रवयोद्धा का नाश कर दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : योद्ध के चिह्न का नाश कर दिया।

मैं आत्मा आनन्द हूँ, विकल्प से रहित हूँ। पुण्य-पाप से मेरी चीज़ लिप्त नहीं—पुण्य-पाप के विकल्प से भी मैं लिपटा नहीं। ऐसी चीज़ है भगवान। ऐई पोपटभाई! आहाहा! लोगों ने सत्य सुना नहीं इसलिए ऐं... ऐं... ऐं करे। पामरता करके बाहर में।

मुमुक्षु : यह किस देश की बात है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मा के देश की। 'हम परदेशी पंखी साधु, हम परदेशी पंखी साधु। इस देश के नाहिं रे। हम परदेशी पंखी साधु। इस देश के नाहिं रे। यह राग और भरतक्षेत्र के हम नहीं हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? हमारा देश तो आनन्द

का धाम भगवान विराजमान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ वह हमारा धाम, वह हमारा देश है। यह देश नहीं। आहाहा! समझ में आया? ...पद भी कैसे रचे हैं, देखो न! वह थोड़ा उसमें से ले न राजमल्लजी टीका में से। विजय हुई।

'सम्पादयत्संवरम् व्यावृत्तं पररूपतो इति'

मुमुक्षु : पररूप हुआ नहीं। व्यावृत हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यावृत हुआ। उसमें तो यह अर्थ किया है कि ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञान ज्ञेयाकार (रूप) हुआ नहीं। वह पररूप ऐसा। पररूप अर्थात् वह। उसमें अब थोड़ासा लिया। आस्रव नहीं हुआ। '**नियमितं सम्यक्स्वरूपे स्फुरज्जोतिश्चिन्मय-मुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृन्मभते।**' आहाहा! अनन्त-अनन्त जहाँ ज्ञान का तेज प्रगट हुआ, उसका भार प्राग्भार—महा बोझा है। वह बोझा राग सहन नहीं कर सकता। ज्ञान सहन कर सकता है। लो, यह ज्ञानभानु। भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य ने अपनी शक्ति से संवर प्रगट किया और धर्म प्रगट किया तो उसकी धर्म की यह दशा है। आहाहा! कठिन काम भाई! समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि तीन लोक के नाथ भगवान परमेश्वर वीतराग केवली एक समय में तीन काल जाने, वे भी मेरे भगवान नहीं। मेरा भगवान तो मेरे पास पूर्ण पड़ा है बस। मेरे भगवान की अपेक्षा से वह तो पररूप है। अरे! गजब बात, भाई! समझ में आया? **तिन्नाण तारयाणं**' आता है न। यह सब व्यवहार के शब्द ऐसे होते हैं, व्यवहार के कथन। '**तिन्नाण तारयाणं**' स्वयं तिरे और अपने को तारे। आहाहा! ऐसा अन्तर ज्ञानभानु, पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न होकर जहाँ स्वरूप का भान हुआ, ऐसा हमारा दण्डवत है। उसको मैं नमस्कार करता हूँ, लो। ऐसी गुणदशा को मेरा नमस्कार है। बाहर का वेश है साधु का और विकल्प का और पंच महाव्रत का, उसको मेरा नमस्कार नहीं—ऐसा कहते हैं। पर को तो नहीं, परन्तु मुझे मेरा ज्ञान प्रगट हुआ, उसको मेरा नमस्कार है, ऐसा कहते हैं।

लो, एक श्लोक हुआ। तीसरा (पद)। पद तीसरा और कलश दूसरा। कलश है न इस ओर।

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुण-दारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञान-मुदेति निर्मल-मिदं मोदध्व-मध्यासिताः
शुद्ध-ज्ञान-घनौघ-मेक-मधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ।।२।।

आहाहा! इसका पद है। यह कलश है, उसका पद है।

★ ★ ★

काव्य - ३

भेदविज्ञान का महत्व (सवैया तेईसा)

सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित,
भेद-विग्यान सुतीछन आरा।
अंतरभेद सुभाव विभाऊ,
करै जड़-चेतनरूप दुफारा।।
सो जिन्हके उरमैं उपज्यौ,
न रुचै तिन्हकौं परसंग-सहारा।
आतमको अनुभौ करि ते,
हरखैं परखैं परमातम-धारा।।३।।

शब्दार्थः-सुद्ध (शुद्ध)=निर्विकार। सुछंद (स्वछंद)=स्वतंत्र। अभेद=भेद रहित-एक। अबाधित=बाधा रहित। सुतीछन (सुतीक्ष्ण)=अतिशय पैना। आरा=करौंत। दुफारा=दो हिस्से।

अर्थः-शुद्ध, स्वतंत्र, एकरूप, निराबाध, भेदविज्ञानरूप तीक्ष्ण करौंत भीतर प्रवेश करके स्वभाव-विभाव और जड़-चेतन को जुदे जुदे कर देता है। वह भेद-विज्ञान जिनके हृदय में उपजा है, उन्हें शरीर आदि पर वस्तु का आश्रय नहीं सुहाता, वे आत्म-अनुभव करके प्रसन्न होते हैं और परमात्मा का स्वरूप पहचानते हैं।

भावार्थः-ज्ञान, परभाव से रहित है; इसलिए शुद्ध है, निज-पर का स्वरूप बतलाता है; इसलिए स्वच्छन्द है, इसमें कोई परवस्तु का मेल नहीं है; इसलिए एक है, नय-प्रमाण की इसमें बाधा नहीं है; इसलिए अबाधित है। सो इस भेदविज्ञान की पैनी करौंत जब अंतर में प्रवेश करती है, तब स्वभाव-विभाव का पृथक्करण कर देती है और जड़-चेतन का भेद बतलाती है। इससे भेदविज्ञानियों की रुचि परद्रव्य से हट जाती है। वे धन परिग्रह आदि में रहें तो भी बड़े हर्ष से परम तत्त्व की परीक्षा करके आत्मीकरस का आनन्द लेते हैं।।३।।

काव्य - ३ पर प्रवचन

सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित,
भेद-विग्यान सुतीछन आरा।
अंतरभेद सुभाव विभाऊ,
करै जड़-चेतनरूप दुफारा॥
सो जिन्हके उरमैं उपज्यौ,
न रुचै तिन्हकौं परसंग-सहारा।
आतमको अनुभौ करि ते,
हरखैं परखैं परमातम-धारा॥३॥

ऐसी हिन्दी है। कितने वर्ष से पड़ी है पुस्तक। यहाँ तो २५०० छपी, समाप्त हो गयी। यह अभी बाहर आयी, वहाँ तो समाप्त हो गयी। कोई व्यक्ति कोई कहता था ? .... नाटक भाई यह वह। दुलीचन्दजी... तुम कहते थे न, (समयसार) नाटक तीन लाने को बोला था। एक तो वहाँ पहुँच गया न। एक तो पहुँच गया है। दुलीचन्दजी के पास। एक पुस्तक गयी है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक वहाँ है, अच्छा।

कहते हैं, '**सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित, भेद-विग्यान सुतीछन आरा...**' देखो।

आहाहा! पुण्य-पाप का विकल्प जो राग है, उससे भिन्न पड़नेवाला भेदज्ञान, है तो पर्याय—है तो दशा... जैसे राग आदि भाव मलिनदशा है, वैसे राग से भिन्न अन्तर्मुख होकर जो भेदज्ञान की दशा प्रगट हुई, (वह भी) है तो दशा—अवस्था—पर्याय—हालत। त्रिकाली की अपेक्षा से अंश है, परन्तु है शुद्ध। यह ज्ञान शुद्ध है। अपने स्वभावसन्मुख होकर, राग से विमुख होकर... विकल्प की जाल जो है, भक्ति आदि के परिणाम, वह भी विकल्पजाल है।

कहो, यह सम्मेदशिखर का एक बार दर्शन करे तो... नहीं आता? क्या है? एक बार दर्शन करे तो क्या?

मुमुक्षु : एक बार वंदे.....

पूज्य गुरुदेवश्री : एक बार वंदे जो कोई, पशु नरक न होई। उसमें क्या आया? वह तो शुभभाव हो तो एकाध भव में पशु या नरक न हो। परन्तु वह कोई धर्म की चीज़ नहीं।

मुमुक्षु : दूसरा सम्मेदशिखर खोजो।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्मेदशिखर यह है। सम्मेदशिखर तो, यहाँ अनन्त-अनन्त पर्याय में मुक्ति पानेवाला भगवान आत्मा है, वह सम्मेदशिखर है। आहाहा! अहो! भगवान! कैसा है भेदज्ञान? राग और विकल्प से भिन्न (होकर) आत्मा का आश्रय लिया, ऐसा जो सम्यग्ज्ञान, वह शुद्ध है, वह स्वच्छन्द है। स्वतन्त्र—स्वच्छन्द है। यह ज्ञान स्वच्छन्दी है। अपने ज्ञान के आश्रय से ज्ञान परिणमता है, राग का आश्रय लेता नहीं। आहाहा! पर का सहारा नहीं। समझ में आया?

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु में विकल्प से भिन्न होकर अपना भेदज्ञान हुआ, वह ज्ञान संवर है। आस्रव अर्थात् मलिन परिणाम की उत्पत्ति नहीं होने देता। वह भेदज्ञान जो है, वही स्वतन्त्र और स्वच्छन्दी है। सुलटा आत्मा स्वच्छन्दी है। यह (बाह्य) ज्ञान की पर्याय की तो गिनती नहीं। जिस बात से तीर्थंकरगोत्र बँधे (उसकी) भी गिनती नहीं। नहीं, तुम भी आस्रव हो। कहो, समझ में आया?

लोग तो प्रसन्न हो जाये कि आहाहा! तीर्थंकरगोत्र बाँधे तीर्थंकर हो। बड़े सौ इन्द्र

पूजे। समवसरण के अन्दर में केवली परमात्मा हो। धर्म की सभा। परन्तु उसमें आत्मा को क्या हुआ? आहाहा!

मुमुक्षु : अलौकिक बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लौकिक में से निकलने की बात अलौकिक ही होती है न! आहाहा! कहते हैं कि भेदज्ञान कैसा है? वह शुद्ध है, स्वच्छन्दी है—स्वतन्त्र है। अपने शुद्ध के अवलम्बन से जो संवर प्रगट होता है, उसमें व्यवहार और निमित्त की कुछ अपेक्षा नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

'सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित...' अभेद का अर्थ एकरूप है। जो अनेकरूप आस्रव विकल्प होते थे न, भगवान आत्मा ध्रुवस्वरूप प्रभु का आश्रय लेने से एकरूप शुद्ध दशा उत्पन्न होती है। समझ में आया? अभेद में वह शुद्धता के अंश भले बढ़ें, परन्तु वह शुद्धता की दशा एकरूप है। विकल्प में अनेकरूपता थी, वह है नहीं। अरे! यह तो सब भाषा भी मानो अटपटी जैसी लगे। **'अभेद'**—भेद नहीं। वह राग से भेद पड़ता था न, वह स्वभाव के सन्मुख होकर पर्याय अभेद हुई। अभेद का अर्थ कि एकरूप रहती है। शुद्धरूप रहे एकरूप। चाहे तो (शुद्धता) बढ़े तो भी एकरूप रहती है, खण्ड होता नहीं। आहाहा! **'अबाधित...'** उसको बाधा—विघ्न करनेवाली चीज़ कोई है नहीं दुनिया में। आहाहा!

कहते हैं कि भाई! कर्म ऐसा आवे न कर्म... अरे! कर्म आवे, परन्तु तुझमें तो कर्म है नहीं। वह कर्म की पर्याय भी तुझमें है नहीं। कहाँ से आवे? तुझमें तो आनन्द और ज्ञान है। तो फिर ऐसा माने कि कर्म ऐसे आते हैं न, तो... परन्तु अब क्या लगायी है तूने? आत्मा तू नहीं, ऐसी लगायी है यह तो। कर्म है और मैं नहीं। कर्म है, मैं नहीं। यहाँ तो मैं हूँ और कर्म मुझमें नहीं तीन काल में। पोपटभाई! पोपट उड़े तो फिर उसे कुछ... भूंगली में चिपकावे न ऐसे। किसी ने पकड़ा नहीं। ऐसे छोड़े तो ऐसे का ऐसा उड़ जाये वापस सीधा। ऐसी भूंगली होती है न भूंगली। पोपट पकड़े, वह ऐसे हो जाये, यह मुझे किसी ने पकड़ा है। किसी ने पकड़ा नहीं, सुन न!

यह विकल्प तूने पकड़ा है तेरी मान्यता में। विकल्परूप हुआ ही नहीं कभी तीन

काल में। मान रखा है कि 'मैं विकल्प हूँ, मैला हूँ, मैं अशुद्ध हूँ।' वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! '**अबाधित**'—उसको विघ्न करनेवाली कोई चीज़ नहीं। ऐसा '**भेद-विग्यान सुतीछन आरा...**' चक्रधारा। रथ चले न, पहिया पूरा सोने का हो और रत्न का, खळ... खळ... खळ... चले तीक्ष्ण। ऐसा भेदविज्ञान, पुण्य-पाप के आस्रव से भिन्न ऐसी अपनी चीज़ के अवलम्बन से, पुष्टि से निर्मल दशा हुई, वह सुतीक्ष्ण धारा है। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६६, चैत्र शुक्ल ११, मंगलवार, दिनांक ६-४-१९७१
संवर द्वार, पद ३, ४

तीसरा पद है।

सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित,
भेद-विग्यान सुतीछन आरा।
अंतरभेद सुभाव विभाऊ,
करै जड़-चेतनरूप दुफारा॥
सो जिन्हके उरमैं उपज्यौ,
न रुचै तिन्हकौं परसंग-सहारा।
आतमको अनुभौ करि ते,
हरखैं परखैं परमातम-धारा॥३॥

क्या कहते हैं? वास्तविक आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है और पुण्य-पाप के शुभ-अशुभराग, वह विकार जड़—अचेतन है—ऐसा जिसे अन्तर में भेद अर्थात् दो की भिन्नता अनुभव में आयी... यह चलता है तीसरा पद। यह भेदविज्ञान। भेदविज्ञान का अर्थ... यह शरीर, वाणी, मन तो जड़ अजीव है, परन्तु अन्दर पुण्य-पाप विकल्प उठते हैं, वह भी विकार—दोष—अपराध है। उससे भिन्न चैतन्य शुद्ध आनन्द का धाम अकेला ज्ञानरस है, ऐसा जिसे राग और स्वभाव से भिन्न करके धर्म का भान हुआ है, वह भेदविज्ञान शुद्ध स्वरूप है। वह राग से, पुण्य-पाप से भिन्न है, ऐसा भान होने पर वह भान शुद्ध है। शुभभाव, वह राग है, उससे भिन्न पड़ा हुआ भान, वह शुद्ध है—ऐसा कहते हैं। धर्म की पहली शुरुआत।

'**सुछंद**' है। सुछन्द है। यह राग और विकल्प से भिन्न चैतन्य प्रभु भान में आने पर वह स्वच्छन्द है। वह राग और निमित्त का सहारा लेता नहीं। '**अभेद**' है। है न अन्दर? भेद रहित एक है, ऐसा। अर्थात् कि शुभ-अशुभराग है, विकल्प है, वह तो अनेक है। उससे अन्तर में स्वभाव का भान होने पर जो अभेद अर्थात् एकरूप शुद्ध ज्ञान प्रगट हुआ, वह एकरूप दशा रहती है। उसमें अनेकता, विविधता, विकार होता नहीं।

सूक्ष्म बात है! समझ में आया? धर्म अर्थात् आत्मा की शान्ति के पंथ में पड़ता हुआ, मुक्ति अर्थात् पूर्ण शुद्धता के मार्ग में जाता हुआ, ऐसा भेदविज्ञानी—धर्मी जीव, भले गृहस्थाश्रम में हो, राजपाट में दिखाई दे, तथापि अपने शुद्धस्वरूप में एकाकार दृष्टि है, उसमें उसे भंग—भेद पड़ता नहीं। अरे, अरे! '**अबाधित**' है। अन्तर स्वरूप भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य के भान में उसे विघ्न करे, ऐसी कोई चीज़ है नहीं।

'**भेदविज्ञान सुतीछन आरा...**' यहाँ तक आया था। जैसे गन्ना होता है न, गन्ना, गन्ना। (गुजराती में) शेरड़ी। उसका छिलका और रस भिन्न करे, तब उसे रस का स्वाद आवे। इसी प्रकार पुण्य और पाप, शुभ-अशुभ विकल्प राग... पाठ है न '**चैद्रूप्यं जड़रूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो।**' संस्कृत है, इसका अर्थ है। सूक्ष्म बात है, भाई! लोग धर्म मानते हैं न, ऐसा धर्म का रूप नहीं है। समझ में आया? भक्ति करना, भगवान की पूजा करना या दया पालना, व्रत पालना, अपवास करना—यह कोई धर्म नहीं। यह तो एक शुभविकल्प है, राग है।

मुमुक्षु : धर्म का कारण तो होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कारण-फारण (नहीं), राग, वह कारण होगा? भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है, शुद्ध ध्रुव चैतन्यपिण्ड है। उसे राग से पृथक् करके भान हो, वह शुद्ध, स्वच्छन्द—स्वतन्त्र, एक ओर तीक्ष्णधारा ज्ञान की (कि) जो चैतन्य और जड़ दोनों को भिन्न अनुभव करे। सूक्ष्म बात है! समझ में आया?

'**भेदविग्यान सुतीछन आरा...**' तीक्ष्ण आरा। आरा है न करवत। करौंत, करौंत, करवत होती है न! जैसे लकड़ी के ऊपर करवत रखने से दो भाग पड़ जाते हैं, उसी प्रकार चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव और पुण्य-पाप का विकल्प जो उठे वृत्ति-राग, दोनों को भिन्न करना, वह भेदविज्ञानरूपी करौंत है—करवत है। आहाहा! समझ में आया? '**अंतरभेद सुभाव विभाऊ...**' अन्तर में धर्मी जीव को विभाव और स्वभाव की भिन्नता भासित होती है। आहाहा! आत्मा आनन्दस्वरूप है, वह स्वभाव है, ऐसा आनन्द का भान हो, स्वाद आवे और विभाव जो विकल्प उठता है, विकार—दोनों का अन्दर में भेद पड़ता है। धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जिसे राग स्वभाव से अन्दर में भिन्न भासित

हो। राग की वृत्ति उठे, भक्ति-दया-दान, यह कहना-सुनना, ऐसी रागवृत्ति होती है, परन्तु राग से चैतन्यस्वभाव भिन्न भासित हो और चैतन्यस्वभाव से राग भिन्न भासित हो। आहाहा! उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, भेदज्ञान और उसे धर्म कहा जाता है।

'अंतरभेद सुभाव विभाऊ करै जड़ चेतनरूप दुफारा...' ऐसे दो फाड़ करे, दो टुकड़े करे टुकड़े। **'दुफारा'** है न? दुफारा का क्या अर्थ किया है? दो हिस्से, दो भाग। एक ज्ञानानन्द का भाग और एक राग का विकल्प का भाग। आहाहा! क्योंकि राग और विकार तो अनादि का है इसकी दशा में; (यदि) न हो तो इसे संसार हो ही नहीं भटकने का। यह पुण्य और पाप का राग और भगवान आत्मा, दोनों को दुफारा—दो हिस्से भिन्न करे। आनन्द का हिस्सा अनुभव करे और राग के हिस्से को छोड़ दे। गजब भाई! समझ में आया? जैसे चूरमा खाये, लड्डू खाये, उसमें कंकरी आवे। कंकरी ऐसे जीभ द्वारा छोड़ देते हैं न? कंकरी, पथरी। और माल-माल खा जाते हैं अन्दर चूरमा या श्रीखण्ड। कंकरी निकाल दे। इसी प्रकार धर्मी जीव अपने आनन्दस्वरूप को अनुभव करता है और कंकरी—पुण्य-पाप के विकल्प कंकरी को दूर करता है। दूर हो जाते हैं, यह तो उपदेश तो ऐसा ही दिया जाता है न! आहाहा! ऐसा कठिन धर्म, भाई!

करना क्या यह सब? 'करना, धरना कुछ नहीं और बहुत आनन्द है, हों!', एक व्यक्ति कहे।

मुमुक्षु : आगरा में से।

पूज्य गुरुदेवश्री : आगरा में। दो वर्ष पहले गये थे न आगरा। आगरा में एक पण्डित थे पण्डित। चैत्र शुक्ल बारस थी। आज क्या है? ग्यारस है, लो। चैत्र शुक्ल बारस थी। तेरस को तो फिर वहाँ व्याख्यान दिया। बहुत लोग... बहुत लोग आते थे। व्याख्यान सुना। वह पाटनी बड़े हैं न... नेमीचन्द पाटनी का मकान है वहाँ। उसके साथ में थे। व्याख्यान था। लोग बहुत लोग थे। दो-तीन हजार लोग। उसमें एक पण्डित थे लम्बे कोई, (व्याख्यान) सुना (पश्चात्) कहे, बहुत आनन्द, करना-धरना कुछ नहीं। ऐसा कि यह कुछ करना, ऐसा करना ऐसा। भगवान! करना क्या? करना, विकल्प

करना, वह तो मरना है। ऐसा कहकर मस्करी की। ठीक, बापू! दूसरा क्या हो? मार्ग तो यह है।

अन्तर चैतन्य भगवान सच्चिदानन्दस्वरूप स्वयं परमात्मास्वरूपी स्वयं परमात्मा है। दूसरे परमात्मा उनके रहे, वे (बाहर के) परमात्मा यहाँ कहाँ आते हैं? आहाहा! परमात्मा कहीं आत्मा को करते नहीं, धरते नहीं, आत्मा को देते नहीं। यह परमात्मा... कहेंगे अन्त में, '**हरखैं परखैं परमातम-धारा...**' शुद्ध चैतन्य आनन्द का धाम ध्रुवधाम, उसे अनुभव करे और जड़ को तथा विभाव को भिन्न करे। दो भाग—हिस्सा कर डाले। '**सो जिन्हकै उरमैं उपज्यौ...**' **तो जिनके उरमैं उपज्यौ...** राग का विकल्प और भगवान निर्विकल्पस्वरूप, दो का अन्तर्भेद जहाँ अन्तर में उत्पन्न हुआ। '**न रुचै तिन्हकौ परसंग सहारा...**' उसे पुण्य-पाप के विकल्प का संग और संयोग नहीं रुचते। आहाहा!

'**सो जिन्हकै उरमैं उपज्यौ...**' कैसे उपजा? भेदविज्ञान। '**न रुचै तिन्हकौं परसंग सहारा...**' शुभ-अशुभराग का संग—परिचय उसे सुहाता नहीं—रुचता नहीं। आहाहा! जहाँ भगवान अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव, उसका जहाँ भान और रुचि धर्मी को हुई, उस आनन्द के समक्ष पुण्य-पाप के विकल्प को जहर जानता (होने से) उसे रुचते नहीं। आहाहा! '**न रुचै तिन्हकौं परसंग सहारा...**' **वह भेदविज्ञान जिनके हृदय में उपजा है, उन्हें शरीर आदि परवस्तु का आश्रय नहीं सुहाता।** सुहाता नहीं। शरीर का आश्रय तो सुहाता नहीं, परन्तु राग—पुण्य-पाप के भाव का आश्रय सुहाता नहीं। आहाहा! गजब धर्म!

'**आतमको अनुभौ करि ते...**' वह भेदज्ञानी—धर्मी भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप ज्ञानस्वरूप प्रभु का अनुभव करके '**हरखैं**'—आनन्द को वेदे। '**परखैं परमातम-धारा...**' निज शुद्ध ध्रुवस्वरूप को परमात्मारूप से जानकर परखे कि 'यह शुद्ध चैतन्य ध्रुव, वह मैं हूँ।' गजब काम भाई ऐसा! ऐ बसन्तलालजी! यह सम्प्रदाय में तो ऐसा कुछ चले नहीं। वे कहे, व्रत करो, तपस्या करो, सम्मेदशिखर की यात्रा करो, लो। वह होता है, परन्तु वह भाव शुभ है, पुण्यभाव है। वह आत्मभाव—धर्मभाव नहीं। आहाहा!

कहो, भगवान की पूजा...

मुमुक्षु : नहीं करते थे, यहाँ आकर करने लगे और आप कहते हो धर्म नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पहले से नहीं मानते थे, इसलिए यहाँ फिर धर्म नहीं, ऐसा मानने लगे, ऐसा कहते हैं। ऐई! पहले से मानते नहीं थे, स्थानकवासी में थे तब से। वह तो पहले से नहीं, वह के वह संस्कार रहे हैं इनके, और ऐसा कहते हैं। अरे भगवान! तू भी सही! ऐसा कहे, स्थानकवासी में थे तब मूर्ति को मानते नहीं थे। वह के वह संस्कार (के कारण) मूर्ति में धर्म मानते नहीं। ऐ जेठालालभाई! तुम तो पहले से मानते थे।

मुमुक्षु : वे धर्म मानते थे, अब बदल गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे धर्म मानते थे पहले। अरे गजब! भगवान त्रिलोकनाथ हो या साक्षात् प्रतिमा हो या प्रभु हो, उनकी ओर का भक्ति का भाव उठता है, वह सब राग है, शुभराग है, पुण्य है, आत्मा नहीं, आत्मा का स्वभाव नहीं। आहाहा! समझ में आया?

'आतमको अनुभौ करि ते हरखैं...' आत्म-अनुभव में प्रसन्न रहे। आहाहा! उसकी—धर्मी की प्रसन्नता आत्मा के आनन्द की है। **'परखैं'** आत्मधारा—**'परमातम धारा।'** परमस्वरूप... यह सवेरे कहा था न ध्यान। ध्रुवस्वरूप परम स्वभाव जो शुद्धभाव त्रिकाल, उसे परखे—उसकी परीक्षा करे (कि) यही आत्मा (और) रागादि आत्मा (नहीं)। कठिन काम, भाई!

मुमुक्षु : ध्रुव के ऊपर लक्ष्य जाये तो आनन्द (आवे) या पर्याय के ऊपर?

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्रुव के ऊपर। ध्रुव के ऊपर लक्ष्य जाये, वह आनन्द। लक्ष्य जाये, ऐसा कहना... पर्याय को ध्रुव के ऊपर झुकाना, यह करने से ध्रुव के ऊपर जाती है, उस पर्याय को (ध्रुव के ऊपर) गई, ऐसा कहा जाता है। वेदन में आनन्द का ख्याल है।

मुमुक्षु : उपयोगपूर्वक?

पूज्य गुरुदेवश्री : उपयोग में और उपयोग न हो तो भी आनन्द तो सदा ही लब्ध में होता ही है।

मुमुक्षु : निर्विकल्प में उपयोग....

पूज्य गुरुदेवश्री : उपयोग है। और यह उपयोग नहीं, विकल्प में हो (तो भी) लब्ध (रूप से) 'यह आनन्द है' ऐसा भान सदा ही निरन्तर चौबीसों घण्टे रहता है।

मुमुक्षु : ध्रुव के ऊपर और आनन्दपर्याय के ऊपर, दोनों के ऊपर उपयोग होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : उपयोग तो एक के ही ऊपर होता है, स्व के ऊपर। उपयोग राग के ऊपर होगा? भले ऐसा प्रश्न किया। भेद किया तब राग के ऊपर उपयोग है ही नहीं, वास्तव में अन्दर लब्ध में ही उसकी दृष्टि पड़ी है। वस्तु के ऊपर दृष्टि है, राग के ऊपर दृष्टि नहीं। राग को जाने, ऐसा व्यवहार से भले कहा जाये, (परन्तु राग) ज्ञात हो जाता है। राग को जानना नहीं, राग ज्ञात हो जाता है। यह तो अन्तर में एकाकार होकर अनुभव करता है।

मुमुक्षु : ज्ञात हो जाता है अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञात हो जाता है का अर्थ क्या? कि ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, इससे राग वहाँ ज्ञात हुआ, ऐसा कहा जाता है। ऐसे राग जानू, ऐसा नहीं। यह राग जानू, ऐसा नहीं। राग जानू, वह तो पर के ऊपर लक्ष्य जाता है। अब बात तो सूक्ष्म है भाई! यह तो मार्ग ऐसा है।

अन्तर्मुख होने से उस ज्ञान की स्व-पर परिणति में, राग का अस्तित्व पर है, ऐसा भी जिसे ज्ञान में नहीं। ज्ञान के अस्तित्व में स्व और पर का ज्ञान रहता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : अभेदरूप ज्ञान?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान अभेद हुआ न, द्रव्य के साथ अभेद हुआ। अभेद का अर्थ—ध्रुव और पर्याय एक हुई। जैसा शुद्ध ध्रुव था, ऐसी पर्याय शुद्ध हुई। बाकी एक कहने, ध्रुव और पर्याय एक नहीं हो जाती, दो भाग हैं बीच में। भारी सूक्ष्म बात, भाई! वस्तुस्थिति ऐसी सूक्ष्म है। यहाँ तो कहते हैं कि अनुभवरस वेदे '**परखैं परमातम-धारा...**' यह तो कथन तो ऐसा ही आवे न, क्या आवे? यह परमात्मा है, ऐसा। 'यह परमात्मा है अर्थात् मैं आत्मा हूँ', ऐसा विकल्प है न वहाँ। आहाहा! यहाँ तो अनुभव करता है और परमात्मा वहाँ ज्ञात होता है, ऐसा इतना। परमात्मा अर्थात् पूर्ण शुद्धस्वरूप की ओर झुकाव है, इसलिए परमात्मा स्वयं है, ऐसा अनुभव में आता है, बस। मेरा परमात्मा कोई दूसरा नहीं। मुझे कोई कर्ता ईश्वर है और ईश्वर ने मुझे बनाया है और मैं हूँ—यह सब भ्रान्ति अज्ञानियों की है। समझ में आया?

मेरी पर्याय का कर्ता वास्तव में मैं नहीं, परन्तु आता है अर्थात् कि परिणमता है, इसलिए पर्याय का कर्ता उसे कहा जाता है, ऐसी बात है। बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! धर्म की जाति ऐसी है। वस्तु अत्यन्त निराली। पुण्य-पाप के विकल्प से निराली। शरीर-कर्म वे तो अजीवपने परिणमते, उस अजीव में हैं, उनसे तो निराली है ही। यहाँ तो कहते हैं, भेदज्ञान समझाना है न! राग से भिन्न पड़ने से अपना परमात्मा 'यह ध्रुव है' उसका अनुभव रहता है और राग भिन्नरूप से ज्ञात हो जाता है। यह तो सम्यग्दर्शन होने पर यह होता है, ऐसा कहते हैं। चौथे गुणस्थान में आने पर। श्रावक की दशा, वह तो उससे कहीं ऊँची रही और मुनि की दशा तो कहीं ऊँची दशा! यह सम्प्रदाय के माने हुए की बात नहीं। वाडा में खरबूजा हो, वहाँ कहीं साटा हो? साटा किसे कहा जाता है? वाडा में साटा तले जाये? साटा समझे न, क्या कहते हैं? साटा को क्या कहते हैं। खाजा। वह मीठा खाजा नहीं होता है? चीभडा होता है न। चीभडा समझते हो? खरबूजा... खरबूजा। ठीक। खरबूजा। एक साकरटेटी होती है, एक खरबूजा होता है। वाडा में तो वह हो, भाई!

भगवान आत्मा... सम्प्रदाय की दृष्टि से पार दूसरी चीज़ है। आहाहा! यह कहते हैं, परमात्मधारा को परखे। परमात्मा अर्थात् ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव। उसके ऊपर उसकी दृष्टि होती है। कहो, सेठी! ऐसा सूक्ष्म तत्त्व अब उसमें कहाँ... ? यह कोई कुछ कहता हो और पैसे मिल जायें, पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़, लो। जाओ, ऐसा करना, तुमको पैसा मिलेगा, लाओ ... आहाहा! बाहर में अच्छा भी लगे। पैसा हो दो करोड़-पाँच करोड़, परन्तु प्रकाशदासजी कहे, अब करोड़पति तो वेश्या भी होती है। बात सच्ची है। वेश्या-वेश्या... करोड़पति नहीं? वह अमेरिका का है न कत्लखाना। करोड़ों (रुपये), मनुष्य अरबोंपति। बहुत करोड़। डेढ़ मील में तो उसका कारखाना है पशु काटने का, डेढ़ मील। बड़ी चाँदी की कुर्सी पर बैठनेवाला (और) मरकर नरक में जानेवाला। अभी तो बाहर में यह कुर्सी दिखती है। हा-हो दिखता है। आहाहा!

अरे! करोड़ अर्थात् क्या? करोड़पति अर्थात् क्या? प्रकाशदासजी कहे, वह तो वेश्या को भी करोड़ रुपये होते हैं। यह बात सच्ची है। ऐई मलूकचन्दभाई! वेश्या को

भी करोड़ रुपये होते हैं। बहुत बड़े... वह बड़ा नहीं आया था मुम्बई में? पोप, क्या कहलाता है? पोप। मुम्बई में नहीं आया था? पोप बड़ा ओहोहो! कितने करोड़ों रुपये खर्च हो गये। कितने लोग, घोड़े और कितने... ? एक तो बड़ी मोटर थी, दो-चार-पाँच लाख की। पूरी आगबोट भर गया। भेंट मिली भेंट। इतनी भेंट मिली उसे। आया था न, अखबार में आया था। कोई ५०० रखे, और कोई १००० रखे और कोई चाँदी का वह रखे और कोई कुछ रखे। पूरी आगबोट भर गयी। कितनी कीमत की कितने करोड़ की। परन्तु क्या है उसमें? धूल में भी नहीं। उसमें है क्या? वह तो मिट्टी-धूल है। ऐई! उससे वह बड़ा गुरु कहलाता है।

यहाँ तो कहते हैं कि वह चीज़ तो कहीं रह गयी। वह मेरी है, (ऐसा) माननेवाला मूढ़, पाडा जैसा, पाडा (भैंसा) जैसा जड़ है। आहाहा! यहाँ तो राग का भाग एक दया-दान-व्रत-भक्ति का उठे, वह राग मुझे कल्याण करेगा और राग मुझे सहायक होगा अन्तर शान्ति में, (ऐसा माननेवाला) मूढ़ है, दीन है, दु:खी है, भिखारी है, पापी है। ऐ पोपटभाई! ऐसा है यहाँ तो। गजब भाई! वहाँ मुम्बई जाये, वहाँ खम्मा-खम्मा हो। सेठ आओ, सेठसाहेब आये हैं, सेठसाहेब आये हैं। यहाँ कहते हैं, लो, धूल में कुछ नहीं। धूल में नहीं, परन्तु उसे जो भाव वर्तमान पुण्य का हो, शुभ विभाव, उसमें भी कुछ नहीं, वह तू नहीं और तुझे लाभदायक (नहीं)। आहाहा! उससे भिन्न हो औ भिन्न है। वह स्वतन्त्र होकर परमात्मा को पहिचाने। भावार्थ, लो। अर्थ है न अर्थ, यह अर्थ आ गया।

भावार्थ : ज्ञान परभाव से रहित है। इस ओर १२३ (पृष्ठ)। ज्ञान अर्थात् भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु, वह तो प्रकाश—ज्ञानप्रकाश का पुंज प्रभु आत्मा है। वह परभाव से रहित है। पुण्य-पाप के राग से वह ज्ञानस्वभाव भिन्न-रहित है। आहाहा! **इसलिए शुद्ध है।** शुद्ध की व्याख्या की। पहला बोल है न शुद्ध। आहाहा! **निज-पर का स्वरूप बतलाता है, इसलिए स्वच्छन्द है।** स्वतन्त्र-स्वतन्त्र। अपने को और पर को जानने में वह स्वतन्त्र है। अर्थात् कि राग है, शरीर है, इसलिए उसका यहाँ ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है। ज्ञान का भाव है, इसलिए स्व-पर का ज्ञान होता है। समझ में आया?

यह शरीर ज्ञेय है और इससे ज्ञान उस ज्ञेय को जाने, इससे ज्ञेय को जानने में ज्ञान में ज्ञेय की कुछ सहायता है। कहेते हैं, नहीं। वह तो स्व और पर को जानने की स्वतन्त्र सामर्थ्य रखता है। इसलिए उसे स्वतन्त्रता है, पर की अपेक्षा की परतन्त्रता है नहीं। समझ में आया? कठिन बातें भाई यह!

इसमें कोई परवस्तु का मेल नहीं है, इसलिए एक है। एक की व्याख्या की। पहले अभेद की (व्याख्या की)। एकरूप है। राग के अंश का भी जिसमें मेल नहीं—मिलावट नहीं। ऐसी चैतन्य चीज़ भगवान आत्मा अन्तर में निराली है, उसे धर्मी ने पहिचानकर अनुभव की है, उसे भेदज्ञानी कहा जाता है। आहाहा! भेदज्ञान में तो बहुत स्वीकार हुआ कि पहले विकार था, विकार (के समय) लक्ष्य करने की निमित्त दूसरी चीज़ें भी थीं। क्योंकि विकार अपने लक्ष्य से नहीं होता। स्वयं तो शुद्ध है। विकार तो परलक्ष्य से (होता है)। तो परवस्तु भी है। विकार है। वह विकार पर्याय अर्थात् अवस्था है। वह उत्पन्न होती है, इसीलिए नाश हो सकती है। आत्मा के गुण और आत्मा से उत्पन्न हुआ नहीं है। वह है, है और है; इसलिए उसका उत्पन्न होना और नाश होना आत्मा में (नहीं है)। आहाहा! समझ में आया?

परन्तु उसे समझनेवाली जो दशा है, वह दशा अनादि की नहीं थी और उत्पन्न होती है और पूर्व की दशा नाश होती है, ऐसा है। परन्तु वह उत्पाद-व्यय जो होता है, वह अन्तर में—ध्रुव में नहीं। क्योंकि यह (उत्पाद-व्यय) विसदृश है, वह (ध्रुव) एकरूप सदृश है। इस प्रकार ही वस्तु की स्थिति है, इस प्रकार जब तक इसके ख्याल में न आवे, तब तक आत्मा की ओर का झुकाव इसका अन्तर में यथार्थरूप से नहीं होता। समझ में आया?

इसमें कोई परवस्तु की मिलावट नहीं, इसलिए मेल नहीं, इसलिए एक है। **नय प्रमाण की इसमें बाधा नहीं है।** कि नय और प्रमाण के विकल्प से जाना पहले आत्मा, इसलिए अब उसकी इसमें सहायता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? निश्चयनय से ध्रुव शुद्ध है, पर्याय से वर्तमान में अशुद्ध है। व्यवहार से अशुद्ध है, निश्चय से शुद्ध है। अशुद्ध पर्याय निश्चयनय से... अशुद्ध पर्याय से (आत्मा) अशुद्ध

है, निश्चय से त्रिकाली शुद्ध है। ऐसा जो नय और प्रमाण के विकल्प से निर्णय किया था, वह विकल्प यहाँ विघ्न नहीं करता। ...छोड़कर स्वरूप का अनुभव करे, उसमें यहाँ विकल्प का सहारा नहीं। समझ में आया?

सो इस भेदविज्ञान की पैनी करौंत जब अन्तर में प्रवेश करती है। भेदविज्ञान की पैनी करौंत—तीक्ष्ण करवत। तीक्ष्ण आरा है न। तीक्ष्ण—**पैनी करौंत जब अन्तर में प्रवेश करती है।...** अन्तर में जाती है। **तब स्वभाव-विभाव का पृथक्करण कर देती है।** हंस की चोंच जैसे पानी (मिश्रित) दूध में पड़ने से दूध और पानी दोनों भिन्न पड़ जाते हैं। चोंच में खटास है। हंस होता है न हंस। अधमण दूध और दस सेर पानी हो। चोंच डालने से दूध का लोचा हो जाता है और पानी (पृथक् पड़ जाता है)। इसी प्रकार धर्मी जीव की भेदज्ञान की ऐसी तीक्ष्णता है, आहाहा! कि स्वभाव-विभाव का पृथक्करण करता है। जैसे हंस पानी और दूध को पृथक्करण करता है, उसी प्रकार यह अन्तर जीव रागभाव—विभाव और चैतन्य, दोनों को पृथक् कर डालता है। समझ में आया? यह क्रिया है, लो! भेदज्ञान की यह क्रिया। इस क्रिया की सूझ पड़ती नहीं, फिर दूसरी क्रिया में लग पड़े हैं।

इससे भेदविज्ञानियों की रुचि परद्रव्य से हट जाती है। 'न रुचै परसंग' आया न! राग और परद्रव्य का प्रेम हट जाता है। हजारों रानियाँ आदि का संयोग दिखाई दे, अन्दर में उनके प्रति की रुचि हट गयी है। धर्मी को आनन्द की रुचि का भाव हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द परमात्मा स्वयं है, ऐसा अनुभव हुआ, पर के संग की रुचि अब होती नहीं। **रुचि परद्रव्य से हट जाती है। धन परिग्रह आदि में रहे...** दिखाई दे लक्ष्मी में, **तो भी बड़े हर्ष से परम तत्त्व की परीक्षा करके...** देखो, यह **'परखैं'** आया। **आत्मरस का आनन्द लेते हैं। 'हरखैं'**—आत्मा का अनुभव करता है। अपनी चीज़ निराली-भिन्न है, उसे बाहर परिग्रह में दिखता होने पर भी उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! अपना निज प्रभु पूर्णानन्द का नाथ, उसका अनुभव करता है, उसका आनन्द लेता है। दूसरे कलश का तीसरा पद हुआ।

सम्यक्त्व से सम्यग्ज्ञान और आत्मस्वरूप की प्राप्ति। तीसरा कलश नीचे।

संस्कृत नीचे। यह श्लोक इन्हें प्रिय था, नहीं? गुलाबराय नागर। रेल के अधिकारी थे एक। जूनागढ़। गुलाबराय करके... उनकी पुत्री को क्षय (टी.बी.) हुआ, बड़ी थी। यहाँ आ गये हैं। इस मकान में रहते थे। अभी खीमचन्दभाई रहते हैं न, यह चन्दुभाई के मकान में रहते थे। लड़की को बहुत वर्ष हो गये। तुरन्त तैयारी में ९४-९५ में तुम्हारे मकान में रहते थे। जवान महिला थी। लड़की विधवा थी। क्षय हो गया था। उसका बाप गुलाबराय नागर, वह इस श्लोक को बहुत पसन्द करता था। यहाँ सुनने आता था न। ओहो! यह क्या... है! ऐसे तो वेदान्त को माननेवाला। परन्तु संस्कृत को... यह तीसरा कलश है न। फिर यहाँ से हम गये थे जब ९५ में, तब वहाँ भी मिला था। उसके पहले, हों! ९५ के पहले। ९५ में वहाँ गये थे, (संवत्) १९९६ में गये थे। ९५ का चातुर्मास, ९६ में गये थे, उससे पहले यहाँ थे। गाँव का मकान हुआ कि तुरन्त ही... नागर गुलाबराय। मर गया बेचारा। छोटी उम्र थी।

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदय-मुदय-दात्मारामात्मानमात्मा,
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ।।३।।

उन्होंने श्लोक कण्ठस्थ किया था। वेदान्ती थे। परन्तु यह वस्तु कहाँ? वेदान्त में भी एक व्यापक है और शुद्ध है, इतनी बात है। परन्तु (गुण-पर्याय) अनन्त है और उसकी पर्यायें बदलती हैं और बदले तो यह राग टालकर शुद्धता प्रगट होती है।—ऐसी वस्तु की स्थिति का स्वरूप ही कहाँ है? समझ में आया? नहीं, नहीं, नहीं। यह तो ऊपर से भले कहे, परन्तु उसमें है ही नहीं यह बात। इसका चौथा पद।

★ ★ ★

काव्य - ४

सम्यक्त्व से सम्यग्ज्ञान और आत्मस्वरूप की प्राप्ति (सवैया तेईसा)

जो कबहूं यह जीव पदारथ,
औसर पाइ मिथ्यात मिटावे।
सम्यक धार प्रबाह बहै गुन,
ज्ञान उदै मुख ऊरध धावै।।
तो अभिअंतर दर्वित भावित,
कर्म कलेस प्रवेस न पावै।
आतम साधि अध्यातमके पथ,
पूरन ह्वै परब्रह्म कहावै।।४।।

शब्दार्थ:-कबहू=कभी। औसर (अवसर)=मौका। प्रबाह=बहाव। ऊरध=ऊँचा। धावै=दौड़े। अभिअंतर (अभ्यंतर)=अन्तरंग में। दर्वितकर्म=ज्ञानावरणीय आदि द्रव्यकर्म। भावितकर्म=राग-द्वेष-मोह आदि भावकर्म। कलेस=दुख। प्रवेस=पहुँच। पथ=मार्ग। पूरन=पूरा। परब्रह्म=परमात्मा।

अर्थ:-जब कभी यह जीव पदार्थ मौका पाकर मिथ्यात्व नष्ट करता है और सम्यक्त्वरूप जल की धारा में बहकर ज्ञानगुण के प्रकाश में ऊपर को चलता है, तब उसके अन्तरंग में द्रव्यकर्म और भावकर्म का दु:ख कुछ असर नहीं करता। वह आत्मशुद्धि के साधन अनुभव के मार्ग में लगकर परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त होता है। उसी को परमात्मा कहते हैं।

भावार्थ:-अनन्त संसार में संसरण करता हुआ जीव कभी काललब्धि, दर्शनमोहनीय का अनुदय और गुरु-उपदेश आदि का अवसर पाकर तत्त्वश्रद्धान करता है, तब द्रव्यकर्म वा भावकर्मों की शक्ति शिथिल हो जाती है और अनुभव के अभ्यास से उन्नति करते-करते कर्मबन्धन से मुक्त होकर ऊर्ध्वगमन करता है अर्थात् सिद्धगति को प्राप्त होता है।।४।।

काव्य - ४ पर प्रवचन

जो कबहूं यह जीव पदारथ,
औसर पाइ मिथ्यात मिटावे।
सम्यक धार प्रबाह बहै गुन,
ज्ञान उदै मुख ऊरध धावै॥
तो अभिअंतर दर्वित भावित,
कर्म कलेस प्रवेस न पावै।
आतम साधि अध्यातमके पथ,
पूरन ह्वै परब्रह्म कहावै॥४॥

इसका अर्थ : '**जो कबहूं यह जीव पदारथ...**' जीव—भगवान आत्मा '**औसर कबहूँ**'— किसी काल में। अनन्त काल से भटकता है। अनन्त काल से अनन्त गति में अनन्त-अनन्त भव किये। ओहोहो! आदिरहित का काल। अनादि से निगोद के, आलू के, शकरकन्द के, एकेन्द्रिय के ऐसे भव इसने अनन्त किये। चींटी, मकोड़ा ऐसे अनन्त किये। अरे! अनन्त बार धनाढ्य हुआ, अनन्त बार गरीब हुआ। यह सब अज्ञान के अनन्त भव किये। वे कहीं नवीन और विशेषता (नहीं)। समझ में आया? यह प्रकाशदासजी ने कहा न कि वेश्या को भी करोड़ों रुपये होते हैं। बात सच्ची है। ऐसे भी अभी होते हैं न। बहुत होते हैं, बहुत होते हैं। उसमें करोड़पति की विशेषता क्या? ऐ मलूकचन्दभाई! नहीं? आहाहा! भगवान आत्मा के समक्ष पर की कुछ कीमत ही नहीं है। अखण्डानन्द प्रभु सच्चिदानन्द साहेबा महाप्रभु। आहाहा!

आनन्दघनजी कहते, 'साहेबा तूं चूकीश मा, अवसर लही जी।' देखो, यहाँ अवसर लिया है। साहेबा! तू चूकना मत। यह भव तुझे मिला, अब साहेबा! तू चूकना मत भाई! अवसर पाकर। आनन्दघनजी मन्दिरमार्गी में हुए थे। उन्हें भूतड़ारूप से मानते हैं। ऐसा कहे न (इसलिए) लोग पागल ही कहे। पागल हैं, वे (दूसरे को) पागल ही कहे। गांडा समझते हो? पागल। दुनिया पागल है, वह धर्मी को पागल कहे। ...पागल है, ...पागल। बात तो सच्ची है तेरी दृष्टि से। लो। यह आत्मा ऐसा है ध्रुव शुद्ध चिदानन्द

की मूर्ति। प्रभु! तुझमें क्या कमी है? तुझमें क्या नहीं? और तुझमें क्या अपूर्णता है? आहाहा! वस्तुरूप से, तत्त्वरूप से प्रभु तू है! तेरी प्रभुता में क्या कचाश है? क्या कमी है? वह प्रभुता तेरे पास पड़ी है अन्दर। आहाहा!

'कबहूं यह जीव पदारथ, औसर पाइ...' अवसर-काल पाकर... फिर लिया था न उसमें, काललब्धि पाकर। वह उनको सुहाता नहीं फिर रतनचन्दजी को। काललब्धि नहीं।

मुमुक्षु : उसमें क्या दिक्कत है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं। उन्हें सब अर्थ उल्टे करना है। अर्धपुद्गल (परवर्तन) संसार रहता है न, ऐसा **'औसर पाइ'** इसका अर्थ है। (परन्तु) इसका अर्थ अलग है। सब पावे तब सब कर डाले। अर्धपुद्गल (परावर्तन) हो और पाता है, ऐसा नहीं है। विवाद, नहीं तो फिर नियत हो जाता है। अरेरे! **'जो कबहूं यह जीव पदारथ...'** किसी काल में अनन्तकाल में.... मनुष्यपना भी अनन्त बार मिला, त्यागी अनन्त बार हुआ, धर्म के नाम से धर्मी भी कहलाया, ऐसी क्रियायें त्याग वैराग्य अनन्त बार किये। परन्तु उसमें आत्मा क्या चीज़ है, उसका इसने पता लिया नहीं। आहाहा! उससे बाहर में माथाकूट करके मर गया।

कबहु **'औसर पाइ मिथ्यात मिटावै'** ऐसा कहा, देखा! कर्म मिटे तो मिथ्यात्व मिटे, ऐसा नहीं। यह तो कहे, दर्शनमोह मिटे तो मिथ्यात्व मिटे। बस यही सीधा शब्द। यहाँ तो कहते हैं, **'औसर पाइ मिथ्यात मिटावै'** भ्रमणा आत्मा मिटावे, जीव मिटावे... कबहूं जीव मिटावे, ऐसा कहा है न! कर्म मिटाने की कहाँ बात है? आहाहा! आत्मा को रागवाला माना, पुण्यवाला माना, परवाला माना।—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव उसे, 'मैं तो आनन्दमूर्ति हूँ' ऐसा आत्मा ऐसा भान करके मिथ्यात्व को टाले, भ्रमणा को नाश करे। **'सम्यक धार प्रवाह बहै गुन,...'** तब उसकी ज्ञानधारा सम्यक् प्रकार से एकाकार बहे। ज्ञानधारा—ज्ञान की धारा, राग की नहीं (परन्तु) ज्ञानधारा। चैतन्यस्वभाव सन्मुख होकर मिथ्यात्व को टाला।

'सम्यक धार प्रवाह बहै गुन,...' ऊपर को चलता है। लिखा है न। **सम्यक्त्वरूपी जल की धारा में बहकर ज्ञानगुण के प्रकाश में ऊपर को चलता है।** उस ओर आयेगा।

अर्थात् कि आत्मा जहाँ राग से भिन्न पड़ा, राग की एकत्वबुद्धि का नाश किया तो ज्ञान की धारा निर्मल बहे, '**कथमपि धारावाहिना...**' यह कथमपि शब्द का अर्थ था सही न! '**सम्यक धार प्रवाह बहे गुन, ज्ञान उदै मुख ऊरध धावै...**' अहो! पश्चात् आत्मा के शुद्धस्वभाव की ओर जिसकी गति बहे। ज्ञान आत्मा का भान... उसका ज्ञान '**उदै मुख ऊरध धावै...**' लो, स्वभाव सन्मुख जाये। राग की एकता में राग की धारा बहती थी अनादि से, उसकी पृथक्धारा करके भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी की धारा बही, वह धर्मधारा। आहाहा! यह उस दशा की बात है, हों!

सवेरे तो यह आया कि नाशवान पर्याय है, उससे दूर है। तब तो द्रव्य की—वस्तु की—ध्रुव की व्याख्या करनी थी। उसमें भान हुए की दशा की बात कही जाती है। आया था न विलय। नाशवान। यह धर्म की पर्याय भी नाशवान है। क्योंकि वह पर्याय है—अवस्था है—हालत है, बदलती है; वस्तु है वह त्रिकाल ध्रुव, उसका अन्तरभान होने पर ज्ञान की धारा सम्यक्धारा बहती है। वह है पर्याय—अवस्था—हालत, परन्तु शुद्ध और स्वतन्त्र है। आहाहा! अध्यात्म की भाषा कड़क। वह तो ऐसा सीधा लगे, दया पालना और भगवान की भक्ति करना, मन्दिर दो-चार बनाना, यात्रा करो भाई, चलो पाँच हजार इकट्ठे लेकर ऐई सम्मेदशिखर। कहो, हजार व्यक्ति होकर गये थे न। श्रवणबेलगोला। सत्तर मोटर, एक हजार व्यक्ति एकसाथ। दिखाई तो दे सही कि यह कुछ करते हैं। वह तो क्रिया के काल में राग होता है, उस राग को बतलाते हैं। वहाँ भी जाननेवाला रागमय नहीं होता। आहाहा!

'**ज्ञान उदै मुख ऊरध धावै...**' **ऊरध मुख...** ऐसा। मुख ऊरध है न ऊर्ध्वमुख। अन्तर स्वभाव में राग से भिन्न पड़कर धर्मी आगे बढ़ता है। अन्तर में एकाग्र होते-होते ऊर्ध्वमुख... जो अधोमुखदशा थी, वह ऊर्ध्वमुखदशा हुई। आहाहा! पुण्य और पाप के परिणाम को अपना मानकर जो यह अनुभव करता था, वह अधोदशा के लक्षण थे। यह '**ऊरध मुख धावै...**' अपना स्वभाव शुद्ध आनन्द की दशा में उसकी परिणति बहे '**तो अभिअंतर दर्वित भावित, कर्म कलेस प्रवेस न पावै...**' द्रव्यकर्म ऐसे ज्ञानावरणीय (आदि) आठ कर्म हैं न! ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय—यह आठ कर्म, राग से भिन्न पड़े हुए आत्मभान में धारावाही ज्ञान बढ़ता

हो, उसमें वह कर्म प्रवेश नहीं करते। जिनसे भिन्न पड़ा वे उसमें नहीं आते। अरे, अरे!

'तो अभिअंतर दर्वित भावित...' भावकर्म। पहले अभ्यन्तर द्रव्यकर्म लिये जड़, उनका प्रवेश नहीं। भिन्न पड़ा हुआ तत्त्व, उसके अनुभव में, ज्ञानधारा में, शुद्ध की श्रद्धा-ज्ञान की परिणति की धारा में कर्म का प्रवेश नहीं। और दया, दान, व्रत आदि भावकर्म के विकल्प का भी जहाँ प्रवेश नहीं। भारी महँगा, भाई! ऐसा कहते हैं। ऐसा सब निश्चय एकान्त, ऐसा कहकर निकाल डालते हैं। यह सोनगढ़ का निश्चय एकान्त, हमारा अनेकान्त। भगवान! तुझे खबर नहीं। निश्चय एकान्त अर्थात् क्या? अभी राग की क्रिया सम्यग्दृष्टि को ... धर्म माने, व्रत के परिणाम शुभ को धर्म माने और करते-करते धर्म माने—यह मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व को घूंटता है। अनन्त संसार की वृद्धि होती है वहाँ क्षण-क्षण में। अब उसे धर्म माने। देखो, हम कुछ करते हैं न! भाषा बराबर समझ में आती है भैया? हिन्दी है न, हिन्दी। थोड़ी-थोड़ी आती है। किस गाँव से आये? कोटा। अच्छा। ज्ञानचन्दजी थे न कोटा में। बाबू युगलकिशोर और ज्ञानचन्दजी। यह पूनमचन्द सेठ के घर में रहते थे। युगलकिशोर है न युगलकिशोर। वह तो दूसरे एक हमारे हिन्दी ताराचन्दजी थे।

'कर्म कलेस प्रवेस न पावै...' क्या कहते हैं? कर्म पुण्य-पाप के भाव, वे क्लेश हैं और जड़कर्म, वह तो अजीव है, अजीव है। वस्तु भगवान शुद्ध चैतन्य का जहाँ भान हुआ, उस भान की दशा में वह राग और पर का प्रवेश नहीं। हिन्दी भाषा भी सादी है। **'आतम साधी अध्यातमके पंथ...'** अध्यात्मपंथ। अन्तर आत्मा का आश्रय लेकर, राग का आश्रय छोड़कर, अन्तर आनन्द के पंथ में आत्मा अध्यात्म के पंथ में लगा, वह आत्मा का साधन करता है, वह आत्मा को साधता है। आहाहा! पूर्ण दशा प्राप्त नहीं हुई, जब तक परमात्मा की—अपनी, तब तक आत्मा के स्वभावसन्मुख का साधन करता है। अन्तर में एकाग्रता से साध्य पूर्ण सिद्ध को प्राप्त करने की साधकधारा उसे होती है।

'पूरन ह्वै परब्रह्म कहावै...' भगवान आत्मा, पुण्य-पाप के राग से भिन्न पड़कर अपने स्वरूप में अनुभव करते-करते, आनन्द की एकाग्रता का वेदन करते-करते पूर्ण है। वह पूर्ण परमात्मा की दशा पा जाता है। जैसा परमात्मस्वरूप ध्रुव में है, वैसा पर्याय में पूर्ण परमात्मा हो जाता है। परमब्रह्म, उसे परमब्रह्म कहा जाता है। परमब्रह्म अर्थात्

परम आनन्द। परमब्रह्म दूसरा कोई कर्ता-धर्ता है इस जगत का ईश्वर, वह कोई है (नहीं)। आहाहा! समझ में आया? '**पूरन ह्वै परब्रह्म कहावै...**' इसका नाम परमब्रह्म है। वस्तु का—चैतन्यप्रभु का स्वभाव, जहाँ राग से भिन्न पड़कर स्वभाव का साधन हुआ, वहाँ यह आत्मा का साधन करके परमब्रह्म स्वयं होता है। व्यवहार से—विकल्प से भी होता है और निमित्त से भी होता है, ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं।

'**आतम साधि अध्यातमके पंथ, पूरन ह्वै परब्रह्म कहावै...**' आहाहा! विकल्प से तो भिन्न पड़ा है, वह विकल्प साधन हो और कारण हो? भारी विवाद, भाई! व्यवहार साधन है, व्यवहार कारण कहा है। भाई! वह तो उस काल में वैसा राग होता है, उसका ज्ञान कराया है। उसे साधन का उपचार किया है। साधक का उपचार है, वस्तु साधकपने वह है नहीं। साधना तो अपने स्वभाव की करे, उस समय उस भूमिका प्रमाण राग का भाग होता है, उसे व्यवहार साधन का आरोप देकर उसका ज्ञान कराया है। इतना अधिक लम्बा कौन समझे वहाँ? '**पूरन ह्वै परब्रह्म कहावै...**' लो। पूर्ण होकर परमब्रह्म कहावे।

भावार्थ : **अनन्त संसार में संसरण करता हुआ जीव...** उस ओर है। अर्थ तो आ गया अपने। भावार्थ है न। **अनन्त संसार में संसरण करता...** ओहोहो! जहाँ आदि नहीं इतना अनन्त संसार... संसार... भूतकाल का भाव देखे तो अनन्त संसार में भटकता था। **कभी काललब्धि...** अपनी पर्याय की प्राप्ति, शुद्धता की प्राप्ति वह काललब्धि। स्वकाल है न वह। दर्शनमोहनीय का अनुदय। इसे तो अभी काललब्धि को ऐसा कहते हैं और दर्शनमोह का—जड़कर्म है न उसका—अनुदय, ऐसा कहते हैं। अन्दर एक जड़कर्म है। विपरीत मान्यता करे, वहाँ जड़कर्म है, वह उसमें निमित्त कहलाता है। और विपरीत मान्यता टाले, तब कर्म की जड़ अवस्था उसके कारण से टल जाती है, उसे दर्शनमोह का अण-उदय कहलाता है। यहाँ जड़कर्म का अण-उदय अर्थात् प्रगट नहीं।

गुरु उपदेश आदि का अवसर पाकर... लो। पहले वाणी तो इसे मिलना चाहिए न कान में, कहते हैं। देखो आया। काललब्धि, कर्म और गुरु उपदेश—तीन आये बाहर। गुरु उपदेश आदि... परन्तु वह उपदेश कैसा इसे मिला हो? कि राग से भिन्न करना है, ऐसा इसे उपदेश मिला हो। ऐसा उपदेश होता है। यह राग करते (करते)

होगा, यह गुरु का उपदेश नहीं। वह गुरु भी नहीं। जो कोई ऐसा कहे कि भगवान की भक्ति करते-करते तुम्हारा कल्याण होगा, (वह) गुरु नहीं। समझ में आया? वह गुरु का उपदेश ही झूठा है। आहाहा!

यहाँ तो गुरु का उपदेश ऐसा होता है कि जो उसे करना है, वह उसका उपदेश होता है। भाई! व्यवहार के विकल्प दया... कहा न, भेदज्ञान किया न! पुण्यत्व के विकल्प जो राग है, उससे तू भिन्न चीज़ है। उसे दो फाड़ कर, हिसाब से अलग कर। हिसाब अलग का अर्थ—मूल हिस्सा वह तेरा रख, राग का हिस्सा अलग कर दे। ऐसा जिसका उपदेश है, वह तत्त्व उपदेश और वह धर्म का उपदेश, वह गुरु का उपदेश कहा (जाता है), बाकी सब गप्पगोला। उसे (गुरु के उपदेश को) देशना कहा जाता है। नारणभाई! यह सब सूक्ष्म तत्त्व है!

ऊपर-ऊपर से समान लगे ऐसे मानो। तालाब में पानी हो न, किनारे और अन्दर में पानी समान लगे। ऐसा कितना ही उपदेश ऐसा हो कि ऐसे समान लगे। परन्तु पानी का माप करने जाये तो किनारे और गहराई में बड़ा अन्तर है। ऊपर सपाटी (समान) लगे। किनारे थोड़ा गहरा हो। ऊंडा क्या कहते हैं? गहरा। पानी मध्य में बहुत गहरा हो, ऊपर की सपाटी समान लगे, परन्तु बहुत अन्तर है। वह अन्तर तो मापने जाये, उसे खबर पड़े। ऊपर सपाटी देखे, उसे खबर पड़े नहीं। समझ में आया?

अवसर पाकर तत्त्व श्रद्धान करता है। तत्त्वश्रद्धान अर्थात् सम्यग्दर्शन। '**तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं**' है न! तत्त्वश्रद्धान। तत्त्व अर्थात् ज्ञायकभाव तत्त्व, ज्ञायक चिदानन्द तत्त्व का श्रद्धान करता है। उसमें यह पुण्य-पाप आदि नहीं, उसकी श्रद्धा साथ में आ जाती है। उसमें वह नहीं। **तब द्रव्यकर्म वा भावकर्मों की शक्ति शिथिल हो जाती है।** जड़कर्म है, वे भी शिथिल हो जाते हैं। भावकर्म भी नाश हो जाते हैं। **और अनुभव के अभ्यास से उन्नति करते-करते...** आत्मा के आनन्द के अनुभव में एकाग्रता करने से **कर्मबन्धन से मुक्त होकर ऊर्ध्वगमन करता है।** '**मुख ऊरध धावै**' ऐसा आया था न! **अर्थात् सिद्धगति को प्राप्त होता है।** सिद्ध परमात्मा—भगवान जहाँ बसते हैं ऊपर, उस गति को पा जाता है। अन्तर में आनन्द के अभ्यास द्वारा, राग की पृथक्ता द्वारा ऐसे भाव से मुक्ति भी होती है, दूसरे प्रकार से होता नहीं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६७, चैत्र शुक्ल १२, बुधवार, दिनांक ७-४-१९७१
संवर द्वार, पद ५, ६, ७, ८

यह नाटक समयसार, संवर अधिकार। चौथा कलश है।

निजमहिम-रतानां भेदविज्ञान-शक्त्या,
भवति नियत-मेषां शुद्ध-तत्त्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां,
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः।।४।।

इसका पाँचवाँ पद। **सम्यग्दृष्टि की महिमा**। शुद्ध चैतन्यवस्तु आत्मा की दृष्टि होने पर—पुण्य-पाप से रहित पूर्ण शुद्ध आनन्द की दृष्टि होने से—वह सम्यग्दृष्टि के साथ दृष्टिवन्त हो, उसकी महिमा वर्णन करते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ५

सम्यग्दृष्टि की महिमा (सवैया तेईसा)

भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस,
भेद-विज्ञान कला जिन्ह पाई।
जो अपनी महिमा अवधारत,
त्याग करैं उर सौंज पराई।।
उद्धत रीति फुरी जिन्हके घट,
होत निरंतर जोति सबाई।
ते मतिमान सुवर्न समान,
लगै तिन्हकौं न सुभासुभ काई।।५।।

शब्दार्थः-भेदि=नष्ट करके। बेदि=जान करके। महारस=आत्मानुभव का अमृत।

अवधारत=ग्रहण करता। उद्धत=चढ़ती हुई। फुरी (स्फुरित)=प्रगट। सुवर्न=सोना। काई=मल।

अर्थ:-जिन्होंने मिथ्यात्व का विनाश करके और सम्यक्त्व का अमृतरस चाखकर ज्ञानज्योति प्रकट की है, अपने निजगुण-दर्शन, ज्ञान, चारित्र ग्रहण किये हैं, हृदय से परद्रव्यों की ममता छोड़ दी है और देशव्रत, महाव्रतादि ऊँची क्रियाएँ ग्रहण करके ज्ञानज्योति को सवाया बढ़ाया है, वे विद्वान सुवर्ण के समान हैं; उन्हें शुभाशुभ कर्ममल नहीं लगता है।।५।।

काव्य - ५ पर प्रवचन

भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस,
भेद-विज्ञान कला जिन्ह पाई।
जो अपनी महिमा अवधारत,
त्याग करैं उर सौंज पराई॥
उद्धत रीति फुरी जिन्हके घट,
होत निरंतर जोति सबाई।
ते मतिमान सुवर्न समान,
लगै तिन्हकौं न सुभासुभ काई॥५॥

मतिमान को स्वर्ण समान साथ में कहे सब, कवि की शैली....

क्या कहते हैं ? '**भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस...**' जिसने मिथ्यात्व को टाला है, नाश किया है मिथ्यात्वभाव को। अर्थात् आत्मा अखण्ड अभेद की दृष्टि छोड़कर, 'मैं पुण्यवाला, पापवाला, एक पर्याय जितना, निमित्त के संगवाला मैं' ऐसी जो मिथ्या मान्यता अनादि की है, उसे असंगपदार्थ की दृष्टि करके मिथ्यात्व को टाला है। कहो, समझ में आया ? '**भेदि मिथ्यात...**' मिथ्यात्व पहले था—स्वरूप की भ्रमणा। अखण्ड आनन्द की मूर्ति प्रभु की प्रतीति छोड़कर 'पर मैं, राग मैं, पुण्य मैं, एक समय की अवस्था जितनी उतना मैं'—ऐसी दृष्टि जो थी, वह मिथ्यादृष्टि थी। वह थी, ऐसा सिद्ध

किया। पहला मिथ्यात्वभाव था, उसे भेदा। था, उसे टाला। '**भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस...**' मिथ्याश्रद्धा में मिथ्यादृष्टि राग और द्वेष के विकल्पों की अशान्ति को वेदता था। समझ में आया? मिथ्यात्व के भाव में राग-द्वेष के परिणाम शुभ-अशुभ आदि को वेदता था। उन्हें करता था, उन्हें वेदता था, वह (राग) स्वरूप उतना मैं हूँ—ऐसा मानता था। उसे भेदि... भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध आनन्द का आश्रय लेकर और मिथ्यात्व को जिसने टाला है। देखो, यह मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व टालने की यह पद्धति। आहाहा! समझ में आया?

'**बेदि महारस...**' धर्मी हो अर्थात् कि सम्यग्दृष्टि हो तो आत्मा का आनन्द महा आत्मा आनन्दमूर्ति, ऐसे आनन्दरस को वेदे। जो वस्तु के स्वरूप के अज्ञान में चैतन्य अनाकुल आनन्दरस का कन्द, उसके अभान में अर्थात् कि मिथ्यात्वभाव में राग और द्वेष, पर में सुखबुद्धि या दुःखबुद्धि, ऐसी कल्पना का विकार, वह जहर का वेदन—अनुभव था। वह अधर्मदशा। '**भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस...**' भेदी और वेदी वापस ऐसा। ऐई! कवि है न, लो, भाई हमारे पण्डितजी.... '**भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस...**' कवि के शब्द भी कैसे हैं, देखो न! पण्डितजी! '**भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस...**' भगवान आत्मा आनन्द का धाम अनाकुल आनन्दमूर्ति, उससे विपरीत जो मान्यता मिथ्यात्व कि हम दया-दान, व्रत पालते हैं तो धर्म होगा, भक्ति-पूजा करते हैं तो धर्म होगा, पाप के परिणाम में 'ठीक है'—(ऐसी) सुखबुद्धि रहे, वह सब मिथ्यात्वभाव है।

ऐसे '**भेदि मिथ्यात**' और '**बेदि महारस...**' आत्मा का अनुभव किया, ऐसा कहते हैं। महारस आत्मा आनन्दस्वरूप जिसके अतीन्द्रिय आनन्द में एक क्षण भी आनन्द का वेदन, वह शान्ति का है। स्वरूप तो आनन्द है, परन्तु सम्यग्दर्शन होने पर—धर्म की पहली दशा उत्पन्न होने पर—महारस को अनुभवे। कहो, समझ में आया? वह अमृत का अनुभव करे, ऐसा कहते हैं। मिथ्यात्वभाव में जहर का अनुभव था। यह सब करोड़पति और अरबोंपति कहलाते हैं न? वे सब जहर का अनुभव करनेवाले हैं, कहते हैं। ऐई!

मुमुक्षु : रुपये जहर?

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपये नहीं, उनके प्रति 'यह मैं हूँ' ऐसी मान्यता, वह जहर है।

मुमुक्षु : महारस वह मैं हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। नजदीक आओ भाई। बहुत जगह है, देखो सामने। पीछे सकड़ाई है। सामने छूट हो न, आकर बैठे।

बहुत संक्षिप्त। '**भेदि मिथ्यात बेदि महारस...**' एक शब्द में पूरी व्याख्या। कहो, पण्डित! आहाहा! अर्थात् कि अखण्ड ध्रुव अभेद... देखो, सवेरे व्याख्या चलती है न आत्मा—शुद्धभाव। वह त्रिकाली ध्रुव शुद्धभाव का आश्रय लेकर और जो आनन्द का अनुभव महारस का आया, वह उत्पाद हुआ और राग-द्वेष का वेदन था, उसे छोड़ा, वह मिथ्यात्व को छेदा, ऐसा। कनुभाई! ऐसा मार्ग भारी कठिन! देखो, धर्म हो, तब तो कहते हैं अमृत को अनुभवे और धर्म न हो, वे सब पाप को और जहर को अनुभव करते हैं, ऐसा कहते हैं। ऐ पोपटभाई! यह क्या सब तुम पैसेवाले सब जहर को अनुभव करते हो, ऐसा कहते हैं। अब पैसे तो वेश्याओं के पास भी थे, हमारे प्रकाशदासजी कहते हैं। अब पैसे इतने क्या परन्तु? ऐई! वह जहर का अनुभव है। आहाहा! पाँच-पाँच हजार के, दस-दस हजार के वेतनदार, हम ऐसे अधिकारी, हम अधिकारदार, हम अधिकारी—यह (मान्यता) राग के जहर का अनुभव है। क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : जोरदार काम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ले! यह दुकान में बैठे वहाँ चूड़ियों में। सौ रुपये की आमदनी यह देखे कि आहाहा... महीने में तीन हजार और बारह महीने में छत्तीस हजार।

मुमुक्षु : हर महीने।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो बारह महीने का गिने। फिर जो पूँजी हो, उसमें इतना खर्च हुआ और इतना डाला, ऐसा बढ़े, फिर बारह महीने का दूसरा वापस। छत्तीस हजार में तो दस हजार का खर्च हुआ और छब्बीस हजार बढ़े, ऐसा।

मुमुक्षु : जहर बढ़ा। आप क्या कहते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वह नहीं जहर। उसके ऊपर जो रंग चढ़ा है राग का कि

हमको मिले हैं, उस राग के जहर का प्याला इसने पीया है। आहाहा! ऐई कालीदासभाई! बराबर है, लो!

'**भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस...**' गजब! कवि भी कवि है न! '**भेदविज्ञान कला जिन्ह पाई...**' भेदविज्ञान कहने से दो चीज़ है, एक नहीं। एक हो तो भेदविज्ञान हो नहीं सकता। इसलिए राग-द्वेष भी है, कर्म है, शरीर है और एक ओर भगवान अखण्डानन्द प्रभु आत्मा है। दो को '**भेदविज्ञान कला...**' शुभ-अशुभराग के विकल्प से भिन्न भगवान चैतन्यमूर्ति, ऐसी जो भेदज्ञान की कला प्रगट हुई। '**जिन्ह पाई...**' प्रगटी—पाई है नयी। कहीं भेदविज्ञान अनादि का नहीं होता। समझ में आया? '**भेदविज्ञान कला जिन्ह पाई, जो अपनी महिमा अवधारत...**' धर्मी उसे कहते हैं कि जो अपने आनन्द-ज्ञानस्वरूप की महिमा के निर्णय में, महिमा में होता है। धर्मी को, पुण्य-पाप के परिणाम, उसके फल यह सब धूल के ढ़ेर—उनकी महिमा धर्मी को होती नहीं। समझ में आया?

'**जो अपनी महिमा अवधारत...**' भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द अतीन्द्रिय धाम की महिमा धारे—अवधारे—निश्चित करे। समझ में आया? जिसने अपनी महिमा ग्रहण की है, उसे सम्यग्दृष्टि और धर्मी कहते हैं (और) जिसे पुण्य और पाप के भाव की ही महिमा गयी है। पुण्य-पाप के फलरूप से प्राप्त बाहर की चीज़, उससे अधिक और कुछ बढ़ा हूँ, ऐसा भाव, वह मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? वह महिमा पर की कुछ हो, अपने स्वभाव से दूसरी चीज़ में अधिकता—अतिशयता—विशेषता—महिमा ज्ञात हो तो वह भाव मिथ्यात्व है। आहाहा!

'**अपनी महिमा अवधारत...**' धर्मी जीव को, शुरुआत की पहली दशा में भगवान परिपूर्ण प्रभ की ही महिमा जिसने अन्तर में ग्रहण की है। आहाहा! जिसे इन्द्र के पद की... भाई! यहाँ से मरकर स्वर्ग में जाऊँगा, उसकी महिमा धर्मी को होती नहीं। आहाहा! ऐसा कहते हैं। समझ में आया? पंचम काल में तो सम्यग्दृष्टि या सच्चे श्रावक या मुनि देह छूटकर स्वर्ग में ही जाते हैं, वैमानिकदेव होते हैं। पुरुषवेद में देव होते हैं, देवी नहीं होते। व्यन्तर, भवन, ज्योतिष में नहीं जाते। कहते हैं कि परन्तु धर्मी को महिमा अपने स्वरूप की है, उसे उस भव की महिमा है नहीं। आहाहा!

ऐसे इन्द्राणी हीरा के स्वस्तिक पूरे। अरबों रुपये की कीमत का एक स्वस्तिक हो। ऐसे समकिती धर्मात्मा के पास इन्द्राणियाँ आवे और इतनी महिमा करे तो भी धर्मी को उसकी महिमा नहीं लगती। समझ में आया? आहाहा! जिसके इन्द्र मित्र हों। समकिती चक्रवर्ती आदि हो, उसके तो इन्द्र मित्र होते हैं। हीरा के सिंहासनों में बैठा हो, इन्द्र आकर बैठे। सभा करोड़ों ऐसे, आहाहा! धर्मी को उस बाह्य चीज़ की जरा भी महिमा नहीं लगती। समझ में आया? आहाहा! '**निजमहिमरतानां**' है न? वहाँ से उठाया है न यह? '**निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या**' भगवान आत्मा जिसने राग और पुण्य के परिणाम से भिन्न (ऐसे) पवित्र को भिन्न करके जाना, भिन्न करके अनुभव किया, ऐसे समकिती को अपने स्वरूप की महिमा ही ग्रहण होती है। दूसरी कोई महिमा आती नहीं। आहाहा!

देखो! ऐसा धर्म हो। यह सामायिक करके बैठे और प्रौषध किये और प्रतिक्रमण किये और यात्रा की और धर्म हो गया। धूल भी धर्म नहीं, सुन न! धर्म तो वस्तु के चैतन्यस्वभाव में भरा है। उस स्वभाव की महिमा की खबर नहीं और पर की महिमा में फँस गया है। कहो, जेठाभाई! क्या होगा यह?

मुमुक्षु : पर की महिमा में....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! दस-दस, बारह-बारह लड़के हों कलैयाकुंवर जैसे। बारह-बारह होते हैं न। अभी बारह, पहले तो हजारों हों। बारहभाया कहलाते हैं।

मुमुक्षु : बारहभाया की गली है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न बारहभाया। बारह भाई एक साथ। पालियाद में हैं बारहभाया, विसाश्रीमाली। मुम्बई में रहते हैं। बारह भाई, हों! दस भाई तो अभी हैं न यह धन्यकुमार और... धन्यकुमार दस भाई। एक हजार एकड़ जमीन। नौ विवाहित और स्वयं ब्रह्मचारी। आता है न यहाँ। धन्यकुमार, उसके कारण गये थे न गत वर्ष वहाँ।

मुमुक्षु : अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तरीक्ष। वहाँ तो अनजाना महाराष्ट्र। परन्तु उनकी बहुत माँगी थी वह... वहाँ उसकी छाप बहुत है, हों! आहाहा!

इतने लोग। बारह-बारह हजार... पन्द्रह हजार। बाहर बोला जाता था पन्द्रह-बीस हजार, परन्तु बारह-तेरह हजार होंगे, ऐसा अनुमान लगता है। लो, उसकी महिमा। दस भाई, नौ की बहुएँ, एक-एक के गहने पाँच-दस हजार के और बीस-बीस हजार के अलग। वह महिमा होगी? ऐई! नहीं? यह तुम्हारे लड़के ने दिया (ऐसा) कोई अभी कहता था, लो! सम्बन्ध किया न, सत्ताईस हजार का हीरा दिया दामाद को।

मुमुक्षु : दामाद को दिया उसमें अहसान क्या किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु गाँव में ऐसा हो न। लोगों को कैसे खबर पड़े? सम्बन्ध (सगाई) टीका किया सत्ताईस हजार का हीरा, ऐसी सामने से कोई बातें करते हों। अपने कहाँ देखने गये हैं? उसका काका बात करता था। कहो, महिमा होगी न यह? परन्तु कितना लगे उस समय, आहाहा! धूल भी नहीं, सुन न अब! तेरे चमड़े के पुतले के साथ सम्बन्ध किया और हीरा दिया और उसकी महिमा। धूल भी नहीं। ऐई भीखाभाई! यह तो जिसने अनन्त आनन्द का कन्द प्रभु के साथ सगाई की समकिती ने।

आता है न 'सगाई करि समकित साथे।' उसमें आता है, भजन में आता है। समकित के साथ सगाई की। भूल गये। वहाँ कुछ भाषा है आनन्दघन में। समझ में आया? समकित के साथ सगाई की। आता है....

मुमुक्षु : समकित साथे सगाई कीधी, सपरिवार सुगाढी....

पूज्य गुरुदेवश्री : बस यह, लो। पढ़ा हो कुछ, सब याद होता है? पढ़े तो हजारों शास्त्र पढ़े हैं सब। आनन्दघनजी के सब एक-एक। 'समकित साथे सगाई कीधी, सपरिवार सुगाढी।' अनन्त गुण का नाथ भगवान, उसके साथ सगाई की। गाढ़ी की परन्तु, हों! अब विवाह करके केवलज्ञान प्राप्त करना, इतनी देर है, कहते हैं। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं कि निज—अपनी महिमा में वस्तु ग्रहण की है। हमारे आत्मा के आनन्द की महिमा के समक्ष जगत में कोई चीज़ महिमा (कारक) है ही नहीं। आहाहा! निज महिमा के समक्ष तीर्थंकर त्रिलोकनाथ समवसरण की भी महिमा नहीं। ऐसा है न '**निजमहिमरतानां**।' विशाल समवसरण, ऐसे भगवान की वाणी मिले और आहाहा! समझ में आया?

'त्याग करैं उर सौंज पराई...' धर्मी जीव अपने आत्मा के स्वभाव की महिमा में रत है और **'त्याग करैं उर...'** हृदय में राग से लेकर **सौंज पराई** अर्थात् परवस्तु, उसका त्याग करे। आहाहा! लो, यह त्याग, (वह) त्याग नहीं? यह तो बाहर का त्याग करके माना कि हमने त्याग किया। धूल भी त्याग किया नहीं, सुन न! **'त्याग करैं उर सौंज पराई...'** परवस्तु को दृष्टि में से छोड़ देता है। राग पुण्य का भाव, वह मैं नहीं, उसका फल मैं नहीं। मेरी चीज़ में है, वह मैं। यह वह मैं हूँ नहीं। जिसे मिथ्यात्व का त्याग होने पर, विकल्प आदि का त्याग दृष्टि में हो जाता है। आहाहा! गजब यह! समझ में आया? **'त्याग करैं उर...'** हृदय में भी, ऐसा। ज्ञान में उसका त्याग हो जाता है। आहाहा! रागादि का स्वामित्व उड़ जाता है। धर्मी को भगवान का राग आदि, जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधे, उस भाव का भी दृष्टि में त्याग है। यह नहीं, यह नहीं। इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन की दशा के ध्येय में परवस्तु की सब महिमा उड़ गयी है। आहाहा!

'उद्धत रीति फुरी जिन्हके घट...' आत्मा अपने अन्तर आनन्द के स्वभाव में उद्धत (अर्थात्) राग और कर्म के निमित्त को नहीं गिनता, उसे नहीं गिनता, अपने शुद्ध स्वरूप को गिनता हुआ आगे बढ़ जाता है। अपने उन्नति क्रम में स्वभाव के पर्वत में चढ़ता जाता है अन्दर। अरे, गजब बातें! ऐ हीरालालजी! अधिक बातें हैं, लो। आहाहा! भगवान! तू तो परमात्मा का रूप लेकर पड़ा है, परन्तु छिपा दिया तूने, कहते हैं। शुभराग की महिमा में, शुभराग के अस्तित्व के स्वीकार में भगवान छिप गया अन्दर में। आहाहा! परन्तु जिसने अन्तर में राग के विकल्प से भिन्न आत्मा को जाना। **'त्याग करैं उर सौंज पराई, उद्धत रीति फुरी'** लो। **अपने निज गुण-दर्शन, ज्ञान, चारित्र ग्रहण किये हैं।** यहाँ तो यह ज्ञानज्योति प्रगट की, उसकी बात है। **हृदय से परद्रव्यों की ममता छोड़ दी**—यह **'सौंज पराई'** यह। परद्रव्य अर्थात् **'सौंज'**—परवस्तु।

देशव्रत, महाव्रतादि ऊँची क्रियाएँ ग्रहण करके... यह तो विकल्प से बात ली है। परन्तु यहाँ तो **'उद्धत रीति फुरी जिन्हके घट...'** अखण्ड ज्ञान की धारा, निर्मल पुरुषार्थ की उग्रता द्वारा धारा बढ़ जाती है अन्दर में। शुद्धता अन्दर बढ़ती है, वह उद्धधारा। कर्म को गिनती नहीं, राग को गिनती नहीं, मेरी चीज़ है, उसे गिनती है। गिनती में गिने तो उसके गुण को गिने और स्वभाव को गिनती है। कि हमारी कुछ गिनती? रागभाव

आवे, पुण्यभाव आवे, उसकी कुछ गिनती है हमारे इसमें? आहाहा! घर में नहीं कहते, उसके घर के लड़के के निकट? (कि) परन्तु हमारी तो गिनती ही नहीं। वह वृद्ध हो तो गिने नहीं कोई। कुछ व्यवस्थित न हो फिर कहे, हम अब गिनती में नहीं। यह सब हमने कमाया और फमाया। ऐसा होता है या नहीं?

मुमुक्षु : कहावत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहावत नहीं, यह तो सब नजरों से देखा हुआ है। कमाकर बैठा हो दस-दस लाख रुपये। वे लड़के होशियार हो गये और स्वयं एक ओर वृद्ध बैठे। उसकी घर में गिनती नहीं, उसका विचारा होता नहीं।

मुमुक्षु : परन्तु अब ऐसा भी किसी का विचारा कहाँ होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह माने न! उसका विचारा होता है, ऐसा माने न (इसलिए) ऐसा कुछ होगा। वह लड़के-बड़के गिने नहीं गिनती में। कमाकर बैठा वह, पैसे कमाये उसने।

मुमुक्षु : आज के जमाने के सब....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नाम-ठाम नहीं दिये जाते। है न सब नमूने ढ़ेर यहाँ अपने हाथ में है। यह लड़के गिनते नहीं कुछ। आमदनी पचास-पचास हजार की, दस-दस लाख की पूँजी। उसने इकट्ठा किया है और अब बैठे वे... इसे आता नहीं, लो। तुम्हारे यहाँ रहना, हों, तुम्हें हमारी आज्ञा बाहर नहीं जाना। शरीर से ठीक न हो तुमको, ऐसा कहे वापस। हाँ, ... मार डाला जगत को तो।

यहाँ तो कहते हैं कि '**उद्धत रीति फुरी...**' यह बाहर की चीज़ों की प्रतिकूलता को भी वह गिनता नहीं और अनुकूलता को भी गिनता नहीं, अपने स्वभाव की श्रेणी से चला जाता है। देखो, यह वस्तु। इसका नाम संवर। वे .... प्रत्याख्यान वह जामनगर में करते हैं। आठम के, सब इकट्ठे होते हैं। पाँच-दस व्यक्ति प्रत्याख्यान करो सवेरे तक, लो हो गया संवर। जामनगर में अधिक है। पूरे काठियावाड़ में जामनगर में आठम-चौदस-पाखिये करे। पाँच-पच्चीस-पचास व्यक्ति प्रौषध करे, संवर करे, बैठे। बारह महीने, हों! बारह मास। उस उपाश्रय में, क्या कहलाता है? .... उपाश्रय में।

अरे भाई! वह संवर नहीं। संवर तो अन्तर आत्मा के आनन्द का आश्रय करके महिमा प्रगट की और विकल्पमात्र की महिमा छोड़कर उद्धत होकर आगे बढ़ जाता है, उसे शुद्धता बढ़ने से अशुद्धता टल जाती है। '**जिन्हके घट...**' जिसके ज्ञान में, घट शब्द से (आशय) हृदय में अन्दर हों स्फुरित। '**उद्धत रीति फुरी, होत निरंतर जोति सवाई।**' यह तो (पद्य) रचने के लिये किया। '**सवाई**' का अनन्त (गुणी) निर्मलता बढ़ती जाती है। '**होत निरंतर जोति सवाई।**' चैतन्यज्योति भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप ज्ञान प्रकाश की मूर्ति सवायी होकर ज्योति निरन्तर बढ़ती जाती है। यह तो पद रचने के लिये '**सवाई**' (डाला है)।

'**ते मतिमान सुवर्न समान**' लो। '**ते मतिमान सुवर्न समान।**' कवि भी है न! सवेरे सुना या नहीं वह गायन? लो, वह इन्होंने स्वयं ने गाया। कौन लाया है वह?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक। हाँ, ठीक। एक का है या दूसरा है? दूसरे बहुत। यह अपने गायन नहीं गाया था? वह रमेश स्वयं गाता था वींछिया में। प्रेमचन्दभाई का पौत्र। कवि है वह तो। '**ते मतिमान सुवर्न समान, लगै तिन्हकौं न सुभासुभ काई...**' आहाहा! जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है अर्थात् कि जिसे आत्मा है, वह अनुभव में आया है, उसका नाम सम्यग्दर्शन। उसे कहते हैं, '**ते मतिमान...**' वह मतिमान है। बुद्धिवाला वह है कि जिसने सच्ची चीज़ है, उसे पकड़ा। खोटी है उसे छोड़ दिया अन्दर में से। '**ते मतिमान सुवर्न समान...**' स्वर्ण जैसा है। सुवर्ण को जंग नहीं लगती। स्वर्ण को जंग—काई (नहीं लगती)।

'**लगै तिन्हकौं न सुभासुभ काई**' लो। यह समकिती को पुण्य-पाप के परिणाम का मैल नहीं लगता। वह शुद्धता बढ़ती जाती है, उसमें मैल लगता नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब भाई! ऐई सेठीजी! ऐसा? तुम्हारे जयपुर में सुना था कहीं ऐसा? जयपुर में सुना था या नहीं ऐसा? तो अब.... आहाहा! समयसार नाटक तो था तुम्हारे घर में बनारसीदासजी का। आहाहा! कितना रचा है, देखो न! '**ते मतिमान सुवर्न समान, सो उर सौंज...**' स्पष्ट यह पाना नहीं पड़ता सोना का। क्या कहलाता है वह?

मुमुक्षु : वरक।

पूज्य गुरुदेवश्री : वरक, पाटा। बर्फी में ऐसे चिपकावे, उसमें चिपकावे, लो। समझ में आया? यह बर्फी-बर्फी परोसी उसमें कुछ था। कोई कहता था वहाँ पालियाद।

अमुक व्यक्ति को आमन्त्रण दिया था। मेहमान साथ में थे, उन्हें सबको बर्फी और... कोई कहता था, एक सोने का वरक चढ़ा था बारीक। एक बड़ा... दो लाख का पालियाद में तुम्हारे। काठी... मेहमान और सब जीमे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सबकी उसमें प्लेट और एक-एक प्लेट में दो-दो रुपये की चीज़ें। बर्फी और फलाना और ढींकणा। महाराज के साथ लोग आये हैं। हमने यहाँ दूध पीया और ... खाया। लोगों को कैसा लगे ऐसा, आहाहा! मुख तोड़ डाले, लो। सोने के वरक वाली बर्फी, चाँदी के वरकवाली बर्फी, लड्डू ऐसा कुछ था, कहते थे वह। .... लोगों को .... हमारी रोटी मोटी... बाहर उसकी महिमा लगे जगत में। जगह पालियाद की जगह। ...दस बजे घण्टा बजे। चाहे जो गरीब व्यक्ति आओ। आओ, खाकर (-जीमकर) जाओ। ऐसा कि लोगों में यह प्रसिद्ध है न! हमारे प्रकाशदासजी कहते हैं न? उसका टुकड़ा... क्या कहा प्रकाशदास? 'रोटलानो टुकडो, अेने भगवान ढूंकडो।'

अरे भगवान! वहाँ रोटी का टुकड़ा वह नहीं, यह तो आनन्द का टुकड़ा संवर का, उसे भगवान ढूंकडो। प्रकाशदासजी! आत्मा का अनुभव का रस का टुकड़ा लिया, वहाँ भगवान ढूंकडो है। यह उसकी खुराक है। अब यह धूल की खुराक में... समझ में आया? वह सब सीखे हुए हैं न। सब जहाँ-तहाँ घूमे हैं। बात सच्ची। लोग उसमें उलझ जाते हैं। पैसा और... देखो न, यह एक जगह क्या कहा जाता है? जलाराम...

मुमुक्षु : वीरपुर।

पूज्य गुरुदेवश्री : वीरपुर, लो। कितने रुपये आते हैं बहुत लाखों। अफ्रीका में से और। वह अभी, हों! पहले कुछ नहीं था। अब अभी हुआ। दस-दस लाख का मकान बनाते हैं।

मुमुक्षु : पचास प्रतिशत बनिया....

पूज्य गुरुदेवश्री : बनिया होंगे। वह तो बनिया अर्थात् वांढ रहित बनिया। जलाराम को चढ़ाओ, पाँच हजार दे, दस हजार दे, लो। यह अभी, पहले नहीं था।

मुमुक्षु : भाग निकाल....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाग निकाल डाले अर्थात्... दे उसे दे। यहाँ तो आनन्दमूर्ति प्रभु है, उसे अन्दर में दृष्टि में, अनुभव में लिया, कहते हैं कि उसे अब मैल-बैल-काई लगती नहीं। उसकी लक्ष्मी अन्तर की बढ़ जाती है। आहाहा! पाँचवाँ श्लोक। कलश इस ओर है न!

सम्पद्यते सम्वर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्।।५।।

ओहो! परन्तु क्या श्लोक! भेदविज्ञान (वह) संवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण है। लो, संवर अर्थात् शुद्धता की उत्पत्ति, निर्जरा अर्थात् शुद्धि की वृद्धि, मोक्ष अर्थात् शुद्धि की परिपूर्णता। यह भेदविज्ञान के कारण से संवर-निर्जरा और मोक्ष होता है। कोई व्रत और नियम और तपस्या और क्रियाकाण्ड (के कारण से) संवर-निर्जरा, मोक्ष नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

★ ★ ★

काव्य - ६

भेदज्ञान, संवर निर्जरा और मोक्ष का कारण है (अडिल्ल छन्द)

भेदग्यान संवर-निदान निरदोष है।
संवरसौं निरजरा, अनुक्रम मोष है।।
भेदग्यान सिवमूल, जगतमहि मानिये।
जदपि हेय है तदपि, उपादेय जानिये।।६।।

शब्दार्थ:-निदान=कारण। निरदोष=शुद्ध। निरजरा=कर्मों का एकदेश झड़ना। अनुक्रम=क्रमश:। सिव=मोक्ष। मूल=जड़। हेय=छोड़नेयोग्य। उपादेय=ग्रहण करनेयोग्य।

अर्थ:-लोक में भेदविज्ञान निर्दोष है, संवर का कारण है; संवर निर्जरा का कारण है और निर्जरा मोक्ष का कारण है। इससे उन्नति के क्रम में भेदविज्ञान ही परम्परा मोक्ष का कारण है। यद्यपि वह त्याज्य है तो भी उपादेय है।

भावार्थ:-भेदविज्ञान आत्मा का निजस्वरूप नहीं है; इसलिए मोक्ष का परंपरा कारण है, असली कारण नहीं है। परन्तु उसके बिना मोक्ष के असली कारण सम्यक्त्व, संवर, निर्जरा नहीं होते, इसलिए प्रथम अवस्था में उपादेय है, और कार्य होने पर कारण-कलाप प्रपंच ही होते हैं, इसलिए शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति होने पर हेय है।।६।।

काव्य - ६ पर प्रवचन

भेदग्यान संवर-निदान निरदोष है।
संवरसौं निरजरा, अनुक्रम मोष है॥
भेदग्यान सिवमूल, जगतमहि मानिये।
जदपि हेय है तदपि, उपादेय जानिये॥६॥

भेदविज्ञान संवर का निदान अर्थात् हेतु है। निर्दोष, **लोक में भेदविज्ञान निर्दोष है**। विकल्प से भिन्न करके भगवान को भाना और अनुभव करना, ऐसा जो भेदविज्ञान, वही इस जगत में निर्दोष और धर्म का कारण है। संवर अर्थात् धर्म। यह धर्म। आहाहा! '**भेदग्यान संवर-निदान निरदोष है...**' निदान अर्थात् अवश्य, ऐसा कि हेतु। संवर (का) यही हेतु है भेदज्ञान। संवर का कारण ही भेदज्ञान, ऐसा कहते हैं। संवर का हेतु है भेदज्ञान, ऐसा। '**संवरसौं निरजरा...**' और जिसे वह संवर हुआ, राग और विकल्प से (भिन्न) प्रभु निर्विकल्प वस्तु में अन्तर आरूढ़ हुआ, उसे संवर हुआ और संवर से उसे निर्जरा होती है। उसकी शुद्धि बढ़ती जाती है और अशुद्धि टलती जाती है। लो, वह कहे, अपवास करे तो निर्जरा होती है, तपस्या करे तो निर्जरा। परन्तु कौन सी तपस्या? यह भेदज्ञान की तपस्या, वह तपस्या। आहाहा! लंघन करे, अपवास की, वर्षीतप किये

और यह सब अट्ठम, छट्ठ, वह लंघन है, त्रागा है भगवान आत्मा के पास।

त्रागा नहीं करते ? खून निकाले न... वह पैसा माँगने आवे और पैसा न दे तो छुरी रखे ऐसे। फिर वह पैसा छुआकर उसे (-खून को) दुकान के ऊपर डाल दे। ऐसे ... क्रोधी होते हैं वे बाबा। अब तो कम हो गया है। अपने पहले... अब थोड़ा कम। यह तो ६०-७० वर्ष पहले दुकान पर हम हों और तब बाबा आते। लाओ पैसा। तब मैं तो तुरन्त ही (दे दूँ)। हमारे शिवलालभाई जरा... एक बार फकीर आया तब बहुत विरोध किया। उसने वस्त्र जलाया। अन्त में आठ आना, रुपया देना पड़ा। एक फकीर था वहाँ पालेज में। फिर फकीर वहाँ... ऐसे होंगे त्रागां।

इसी प्रकार भगवान आत्मा निर्विकल्प निराकुलस्वरूप के निकट ऐसे क्लेश के भाव त्रागां है, कहते हैं। त्रागां को क्या शब्द हैं तुम्हारे हिन्दी में ?

मुमुक्षु : मुंडचिरा अर्थात् सिर फोड़नेवाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : सिर फोड़े वे। सिर फोड़े। आहाहा! '**भेदग्यान संवर-निदान निरदोष है...**' देखो, उसमें दोष का जरा एक कण नहीं। राग से भिन्न किया, वह आत्मा की निर्दोष दशा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा!

'**संवरसौं निरजरा, अनुक्रम मोष है...**' और भेद करते... करते... करते... करते वहाँ विशेष भेद होकर स्थिर हुआ, वह निर्जरा हुई और पूर्ण स्थिर हो गया, वह मोक्ष है। समझ में आया ? भेद अभ्यास आता है न! कलश में नहीं आता ? भेद अभ्यास....

मुमुक्षु : नियमसार में।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, नियमसार में आता है न भेद अभ्यास। वहाँ चारित्र का लेते हैं। उसमें भी आता है समयसार में। चारित्र का... भेद अभ्यास करते-करते चारित्र हुआ।

'**भेदग्यान सिवमूल**' लो। अनुक्रम से मोक्ष हो गया। शुद्धता के स्वभाव का आश्रय लेकर राग से भिन्न करके भगवान का अवलम्बन किया है। स्वयं चैतन्यमूर्ति परमात्मा उसकी भेंट अन्दर में हुई है। उसे संवर होता है, उसे शुद्धता बढ़ने से निर्जरा

होती है और उसे ही पूर्ण शुद्धता होकर मोक्ष होता है। उसे अनुक्रम पड़ता है, ऐसा। संवर के समय कहीं मोक्ष नहीं। परन्तु संवर और शुद्धता बढ़ते-बढ़ते उसे मोक्ष होता है। उस दशा से मोक्ष होता है। '**भेदग्यान सिवमूल**' उस मोक्ष का मूल भेदज्ञान। मोक्ष का कारण वह भेदज्ञान।

'**जगतमहि मानिये।**' इस जगत के अन्दर विकल्प से लेकर (सब) परवस्तु से भिन्न भगवान अनुभव में—अभ्यास में आवे, वह भेदज्ञान शिव अर्थात् मोक्ष का मूल है। '**जगतमहि मानिये।**' जगत के अन्दर यह मूल है। '**जदपि हेय है...**' अधूरी दशा है न! भेदज्ञान अधूरी दशा है न। भेदरूप है न। '**हेय है तदपि उपादेय जानिये...**' तो भी पूर्ण होने लगी, उसे स्वभाव का आश्रय लेकर यहाँ से भेद करके रहना, वह उपादेय व्यवहार से कहने में आता है। जैसे केवलज्ञान का स्वरूप है, वैसा यह स्वरूप नहीं। भेद पड़ता है न इतना। यह नहीं और यह। यह नहीं और यह। और अपूर्ण है, इतना भेद है न। अपूर्ण है, इतना भेद है; इसलिए वास्तव में वह निश्चय से आदरणीय नहीं। '**हेय है तदपि उपादेय जानिये...**' लो।

मुमुक्षु : श्रुतज्ञान का व्यय हो, तब केवलज्ञान होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : (श्रुत) ज्ञान है न। (अधूरा) ज्ञान भी हेय है न। लो, भावार्थ है इसमें।

भावार्थ : भेदविज्ञान आत्मा का निजस्वरूप नहीं है। अधूरी दशा है न, वह (ख्याल में) रखकर। **इसलिए मोक्ष का परम्परा कारण है।** पूर्ण पवित्रता का परम्परा कारण है, **असली कारण नहीं है।** असली कारण तो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव कारणपरमात्मा है। **परन्तु उसके बिना मोक्ष के असली कारण...** पर से भिन्न करने की सम्यग्ज्ञान कला के बिना मोक्ष का असली कारण समकित (होता नहीं)। समकित मोक्ष का वास्तविक कारण है। **संवर, निर्जरा नहीं होती, इसलिए प्रथम अवस्था में उपादेय हैं।** कारणरूप है न इसलिए, ऐसा। **कार्य होने पर कारण-कलाप प्रपंच ही होते हैं।** हुई, पूर्ण पर्याय हो गयी, फिर वह अधूरी पर्याय रहती नहीं। **शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति होने पर हेय है।** फिर होता ही नहीं, ऐसा। समझ में आया? कहो, भेदज्ञान का अंश भी हेय है। अभेद पूर्णानन्द की प्राप्ति पूर्ण हो जाना, वही उपादेय है।

छठवाँ कलश।

भावयेद्भेद-विज्ञान-मिदमच्छिन्न-धारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते।।६।।

'**भेदग्यान तबलौं भलौ, जबलौं मुक्ति न होइ। भेदग्यान तबलौं भलो... तबलौं, भलौ..**' और '**जबलौं।**' कवि हैं न कवि! कैसी कविता!

★ ★ ★

काव्य - ७

आत्मस्वरूप की प्राप्ति होने पर भेदज्ञान हेय है (दोहा)

भेदग्यान तबलौं भलौ, जबलौं मुकति न होइ।
परम जोति परगट जहां, तहां न विकलप कोइ।।७।।

शब्दार्थ:-तबलौं=तब तक। भलौ=अच्छा। परम जोति=उत्कृष्ट ज्ञान। परगट (प्रगट)=प्रकाशित।

अर्थ:-भेदविज्ञान तभी तक सराहनीय है, जब तक मोक्ष अर्थात् शुद्धस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती और जहाँ ज्ञान की उत्कृष्ट ज्योति प्रकाशमान है, वहाँ कोई भी विकल्प नहीं है। (भेदविज्ञान तो रहेगा ही कैसे?)।।७।।

काव्य - ७ पर प्रवचन

भेदग्यान तबलौं भलौ, जबलौं मुकति न होइ।
परम जोति परगट जहां, तहां न विकलप कोइ।।७।।

'**भेदग्यान तबलौं...**' तब तक भेदज्ञान को भला कहते हैं, '**जबलौं मुकति न होइ... मुकति न होइ...**' तब तक वह अधूरी दशा भेदज्ञान की होती है, जब तक मुक्ति न हो। '**परम जोति परगट जहां...**' चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा पूर्ण स्वरूप से जहाँ

प्रसिद्धि पाया, जैसा उसका शक्तिरूप से पूर्ण स्वरूप है, उस प्रकार से पर्याय में पूर्ण स्वरूप से प्रसिद्धि को पाया, उसका नाम मुक्ति। ऐसी परम ज्योति प्रगट हुई चैतन्यज्योति, **'तहां न विकलप कोइ...'** वहाँ भेद कुछ रहता नहीं। राग भी नहीं और भेद भी नहीं। कहो, समझ में आया? गजब बातें, भाई! ऐसा इसमें (भांगजड़)। लोग कहे, करना क्या इसमें? करना यह (कि) अन्दर से भिन्न करना। अन्तर्मुख होना और बहिर्मुख से भिन्न होना। आहाहा! ऐसा भारी सूक्ष्म! व्रत और तप का भाव आवे सही न मुनि को भी, परन्तु ऊपर का भाव देखो, परन्तु अन्दर में क्या कस है, उसे देखा नहीं।

मुमुक्षु : छिलका देखा।

पूज्य गुरुदेवश्री : छिलका देखा, छिलका।

दृष्टान्त दिया है न उस बाई का। एक सेठानी थी बड़ी लाखोंपति। खाण्डवे में खाण्डती थी चावल—चावल—चोखा। कमोद, कमोद। वह कमोद ऐसे पृथक् पड़कर चावल अन्दर में जाये खण्डणी में अन्दर। खाण्डणी होती है न खाण्डणी। वह क्या कहलाती है? खाण्डणी फटकने की। गहरी हो, इसलिए वह खाण्डे उसके चावल टूटकर नीचे जाये। छिलके रहे ऊपर—भूसा। उसमें कोई महिला निकली आस-पास की गरीब होगी। कहे, यह हमारे सेठानी तो छिलके खाण्डती है, लाओ न उसमें कुछ होगा। घर में पति को कहे, ऐसे थोड़े छिलके लेकर आओ, दस सेर—पन्द्रह सेर। किसलिए? खाण्डूंगी, उसमें कुछ होगा। उसके बिना सेठानी खाण्डे? चल, तो ले आओ, कहे। छिलके खाण्डने गयी। यह कुछ निकला तो नहीं उसमें। सेठानी को पूछा कि परन्तु तुम तो खाण्डती थीं न छिलके कुछ। (सेठानी कहे), भाई, वह खाण्डते थे परन्तु उसमें चावल पृथक् पड़कर चावल अन्दर जाते थे। अकेले छिलके नहीं।

इसी प्रकार धर्मी को ऊपर के महाव्रत के ऐसे विकल्प के छिलके कुछ दिखें तो दूसरा कहे, वह पालते हैं, लाओ न मैं भी पालन करूँ। उन छिलके के पीछे आनन्दकन्द का कस है, राग से भिन्न पड़ा हुआ भेदज्ञान का भाव, उसे तो वह देखता नहीं। वसन्तलालजी! यह सब त्रागां करते हैं। भगवान ने तप किया था। महिलायें वर्षीतप करें। एक दिन खाना और एक दिन नहीं खाना, लो। ऋषभदेव भगवान ने ऐसा नहीं

किया था, (जैसा) तू करता है, सुन न! उन्हें तो आत्मा के आनन्द की मस्ती में रहते हुए विकल्प आता था, आहार लेने जाते थे। पहले छह महीने (विकल्प) नहीं था। उन्हें आहार नहीं मिला, फिर आनन्द में रहते थे। अतीन्द्रिय आनन्द में रहते थे। इच्छा की वृत्ति टूट जाती थी, उसे तप कहते हैं।

एक दिन खाये और एक दिन न खाये, हो गया तप। फिर बारह महीने का महोत्सव मनावे। फिर कुछ पैसेवाले हों, कुछ महिलायें अच्छी हों या पति अच्छा हो तो दो-पाँच हजार खर्च करावे, तब उसे हर्ष आवे। नहीं तो क्या यह मैंने, क्या किया? यह कुछ लंघन की है मैंने? ऐसा कहे। एकान्त में कहे।

मुमुक्षु : आप तो ऐसा ही कहते हो, लंघन ही किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लंघन ही है तेरा, सुन न! आहाहा!

मुमुक्षु : नजदीक आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नजदीक आता है। वैशाख शुक्ल तीज आयेगी अब। पालीताना में हजारों लोग। आहाहा! ऐई जेठालालभाई! तुमने किये होंगे न किसी दिन वर्षीतप?

मुमुक्षु : नहीं किये।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं किये। स्त्री ने?

मुमुक्षु : नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने नहीं, ठीक। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, भेदज्ञान जहाँ अन्दर प्रगट हुआ। जब तक मुक्ति न हो, तब तक पर से भिन्न की दशा वहाँ होती है। पूरी हुई पश्चात् भिन्न का उसे भेद नहीं रहता।

भेदविज्ञान परम्परा मोक्ष का कारण है। सातवाँ कलश।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।७।।

उसमें अतिभव्य आया था न? वह आ गया। ज्ञान की उपाधि जानना। वहाँ तक

भाना। सब शब्द के समान ऐसे नहीं आते। पद है सही न, अमुक शैली के। क्योंकि उसमें तो ऐसा आया न '**भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया**' ऐसा। फिर अर्थ में कहीं इतना सब नहीं आता। '**भेद भलो जब लग मुकति न होइ**', ऐसा आया। बाकी, जब तक मुक्ति न हो, तब तक भेदज्ञान भाना '**अच्छिन्नधारया**'—बीच में खण्ड पड़े बिना। समझ में आया?

बादाम में से तेल निकालना हो न, तो बादाम डाले और दो घसरका मारे चार-पाँच, और उठे, घिसे, उठे। वह तेल निकले, भिन्न पड़े? (नहीं)। एक धारा जोर करे। यह चौंसठ पहरी करते हैं न? पीपर नहीं? चौंसठ पहरी, हों! घोंटाघोंट करे। यह डाह्या जेठा के यहाँ था वढवाण (में)। वे लोग गृहस्थ व्यक्ति (थे) न, लोगों के लिये रख छोड़े पाँच-छह-दस सेर घर में। डाह्या जेठा। हाँ, पीपर रखते थे। चौंसठ पहरी (घिसावे) घर में भैया को बुलाकर। नम्बर से भैया चौंसठ पहर घूँटा ही करे। एक मिनिट न छोड़े। घर में रखते थे, फिर कोई गरीब व्यक्ति हो वह ले जाये पास से....

चौंसठ पहरी चरपराहट समझते हैं? पीपर... पीपर होती है न? चौंसठ पहरी पीपर। घूँटते-घूँटते चौंसठ... बहुत सर्दी हो न सर्दी, सर्दी बहुत। थोड़ी दे तो गर्मी हो जाये, साता का उदय हो तो। नहीं तो मर जाये, गले पड़े। कहते हैं कि वह जैसे घूँटने में उसे बीच में विश्राम नहीं, उसी प्रकार भेदविज्ञान '**अच्छिन्नधारया।**' आहाहा! निरन्तर उसे राग से भिन्न, राग से भिन्न का अनुभव किया करे। आहाहा!

'**तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं**'... जब तक ज्ञान, ज्ञान में न समाये अर्थात् कि मुक्ति न हो, ऐसा लिखा न फिर इन्होंने। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञान में प्रतिष्ठित—स्थिर न हो जाये, तब तक उस राग से भिन्न भेदज्ञान की भावना होती है, होती है, उसे करना, ऐसा कहते हैं। और यह सातवाँ कलश तो यह है, लो।

★ ★ ★

काव्य - ८

भेदज्ञान परम्परा मोक्ष का कारण है (चौपाई)

भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ।
सो चेतन सिवरूप कहायौ।।
भेदग्यान जिन्हके घट नांही।
ते जड़ जीव बंधैं घट मांही।।८।।

शब्दार्थ:-चेतन=आत्मा। सिवरूप=मोक्षरूप। घट=हृदय।

अर्थ:-जिन जीवों ने भेदविज्ञानरूप संवर प्राप्त किया है, वे मोक्षरूप ही कहलाते हैं और जिनके हृदय में भेदविज्ञान नहीं है, वे मूर्ख जीव शरीर आदि से बँधते हैं।।८।।

काव्य - ८ पर प्रवचन

भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ।
सो चेतन सिवरूप कहायौ॥
भेदग्यान जिन्हके घट नांही।
ते जड़ जीव बंधैं घट मांही॥८॥

वापस बहुत संक्षिप्त लिखा है। '**भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ**' अर्थात् कि भेदविज्ञान से ही सिद्धि होती है। अभी तक जितने मुक्ति को प्राप्त हुए, वे सब भेदविज्ञान से प्राप्त हुए हैं। कोई व्यवहार की क्रिया या दया-दान और व्रत की क्रिया से प्राप्त हुए हैं, ऐसा एक भी दृष्टान्त नहीं है, ऐसा कहते हैं। उससे भिन्न पड़कर स्वभाव का आश्रय लेकर प्राप्त हुए हैं। आहाहा! '**भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ, सो चेतन सिवरूप कहायौ।**' जितने सिद्ध हुए, वे सब भेदज्ञान से सिद्ध हुए, ऐसा कहना है। अभी तक जितने सिद्ध भगवान हुए, वे सब व्यवहार के विकल्प से भिन्न पड़कर हुए हैं, व्यवहार को रखकर हुए नहीं। व्यवहार अर्थात् शुभ विकल्प, शुभ उपयोग। उससे भिन्न करके हुए हैं। उसे रखकर उसकी शरण से मुक्ति हुई नहीं। '**सो चेतन सिवरूप कहायौ।**' लो। यह मोक्षरूप ही

कहलाया है। भेदज्ञान हुआ तो मुक्ति हो गयी, ऐसा कहा इन्होंने। और यहाँ तो ऐसा है कि जितने मुक्ति को प्राप्त हुए, सब भेदविज्ञान से प्राप्त हुए हैं।

'**भेदग्यान जिन्हके घट नांही...**' जिसे भेदज्ञान का अभाव है, '**अस्यैवाभावतो बद्धा।**' कर्म के कारण बँधे और कर्म के जोर के कारण बँधे, ऐसा यहाँ नहीं कहा। राग और पुण्य के भेदज्ञान से मुक्ति पाये और उसका अभाव नहीं किया, उसे (मोक्ष नहीं)। भेदज्ञान का जिसे अभाव है (अर्थात् कि) जिसने राग का अभाव—भिन्नता नहीं की। आहाहा! समझ में आया? '**अस्यैवाभावतो बद्धा।**' ऐसा है न। वह '**जड़**' अर्थात् क्या? जिसे भेदज्ञान नहीं अर्थात् राग से भिन्न पड़ा नहीं और राग से भिन्न पड़ने का भेदज्ञान जिसे अभावरूप है, अर्थात् नहीं है, अर्थात् राग को एकपने जो मानता है, '**ते जड़ जीव बंधें घट मांही**', लो। वह जीव बँधता है। उसमें तो उसके आत्मा पर रखा। कोई फलाने के कारण ऐसा और वैसा, (ऐसा नहीं है)।

दो कारण से कार्य होता है—उपादान और निमित्त। बड़ा झगड़ा, ओहोहो! यहाँ तो एक ही कारण रखा। भले निमित्त हो उस समय, वह तो ज्ञान करने के लिये कहा। अरे, ऐसा विवाद! सवा-सवा, डेढ़-डेढ़ पृष्ठ भरे। नियतक्रम के और अनियतक्रम के। केवली को... केवली जाने वह नियतक्रम होता है, जिस समय में जो होना है (वह होना है)। श्रुतज्ञानी को नियतक्रम और अनियतक्रम। क्यों? कि कारण-कार्य श्रुतज्ञानी शोधता है। कारण-कार्य से मुक्ति होती है, अर्थात् उसे अनियतक्रम होता है। परन्तु उसे नियतक्रम (और अनियतक्रम)—दो है, (उसमें) तुझे नियतक्रम में वापस कारण-कार्य की दिक्कत नहीं आयी? श्रुतज्ञानी को दो है। उसे दो है नियतक्रम और अनियतक्रम।

है उसमें—खानियाचर्चा में। श्रुतज्ञानी को कोई नियतक्रम हो थोड़ा, किसी समय अनियतक्रम हो—ऐसे दो होते हैं। केवली को इस अपेक्षा से नियतक्रम। जबकि पहले नियतक्रम (अर्थात् कि) निश्चय से क्रम से ही मुक्ति होती है, ऐसा भी कोई भाग है जीव में, तो फिर उसे कारण-कार्य का वहाँ विरोध कैसे नहीं आया? आहाहा! यहाँ तो एक ही कहते हैं, देखो न यह! '**भेदविज्ञानतः सिद्धाः**'। राग से भिन्न पड़ा और अन्दर में गया, वह मुक्ति को पाया। फलाना निमित्त था कुछ, ऐसा यहाँ है नहीं। सेठी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हमारे पण्डितजी भी ऐसे कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तुस्थिति यह है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्ची बात है। बात ऐसी हे। लोग विवाद करे। भाई! रहने दे, बापू! लक्ष्मी तिलक करने आयी और मुँह धोने जाऊँ .... आवे न!

यहाँ तो दो धड़ाके मारे हैं, देखो न! भेदविज्ञान से मुक्ति प्राप्त हुए और निमित्त साथ में था और प्राप्त हुए, (ऐसा नहीं है)। '**अस्यैवाभावतो बद्धा।**' इस भेदज्ञान के अभाव से बँधे। उसे निमित्त दूसरा था कर्म के उदय का, इसलिए बँधे, ऐसा कुछ कहा नहीं। पण्डितजी! उपादान की ही बात की है अकेली। अशुद्ध उपादानवाला—राग की एकता माननेवाला, वह बँधा और राग को तोड़नेवाला, भेदज्ञान करनेवाला, वह मुक्ति को प्राप्त हुआ। बस एक ही बात ली है। आहाहा! विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६८, चैत्र शुक्ल १३, गुरुवार, दिनांक ८-४-१९७१
संवर द्वार, पद ९, १०, ११ तथा सार

यह नाटक समयसार, ८वाँ कलश है। १२७ पृष्ठ है न। नीचे आठवाँ कलश।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-
द्राग-ग्राम-प्रलय-करणात्कर्मणां सम्वरेण।
बिभ्रत्तोषं परम-ममलालोक-मम्लान-मेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियत-मुदितं शाश्वतोद्योत-मेतत्।।८।।

भेदज्ञान से आत्मा उज्ज्वल होता है। आत्मा को भेदज्ञान से धर्म होता है, ऐसा कहते हैं। भेदज्ञान का अर्थ कि आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है... पुण्य-पाप का विकल्प जो राग है, उससे भिन्न करके अपना अनुभव करना, उसका नाम भेदज्ञान है। उसका नाम धर्म की प्रथम शुरुआत है।

★ ★ ★

काव्य - ९

भेदज्ञान से आत्मा उज्ज्वल होता है (दोहा)

भेदग्यान साबू भयौ, समरस निरमल नीर।
धोबी अंतर आतमा, धौवै निजगुन चीर।।९।।

शब्दार्थः-साबू=साबुन। समरस=समताभाव। नीर=पानी। अंतर आतमा= सम्यग्दृष्टि। चीर=कपड़ा।

अर्थः-सम्यग्दृष्टिरूप धोबी, भेदविज्ञानरूप साबुन और समतारूप निर्मल जल से आत्मगुणरूप वस्त्र को साफ करते हैं।।९।।

काव्य - ९ पर प्रवचन

भेदग्यान साबू भयौ, समरस निरमल नीर।
धोबी अंतर आतमा, धौवै निजगुन चीर॥९॥

बहुत संक्षिप्त भाषा। '**धोबी अंतर आतमा...**' धोबी अपना चीर (वस्त्र) धोता है न! क्या कहते हैं धोते को?

मुमुक्षु : कपड़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कपड़ा धोता है न! साफ करता है। उसी प्रकार आत्मा अन्तरात्मा; अन्तरात्मा कहो या समकिती कहो। जिसने अपना शुद्ध आनन्द-ज्ञानस्वरूप चिदानन्द को राग और विकल्प से भिन्न अनुभव किया, वह प्रथम सम्यग्दृष्टि और धर्मी कहने में आता है। धर्म वहाँ से शुरु होता है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि के परिणाम, वे कोई धर्म नहीं है; वह पुण्य है। अपनी पवित्रता पुण्य से, पर से पृथक् करके अन्तरात्मा... राग को अपना मानना, वह बहिरात्मा है। पुण्य-पाप का विकल्प जो दया, दान, व्रतादि भाव है, उसे अपना मानना, वह तो बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। उसको तो धर्म होता नहीं। अन्तरात्मा है न। तीसरा बोल।

'**धोबी अंतर आतमा...**' अर्थ में पहले उसे लिया है। पाठ में भले भेदज्ञान (पहले) लिया। अन्तरात्मा वस्तु जो शुद्ध चैतन्य, अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान स्वभावभाव ऐसा अपना त्रिकाली शुद्ध ध्रुवस्वभाव, उसको अन्तर में दृष्टि करके अनुभव किया, वह अन्तरात्मा। समझ में आया? अपना ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य को छोड़कर शरीर, वाणी, मन, पुण्य-पाप के भाव जो पर है, विभाव हैं, दोष हैं—उसको अपना मानना, उसका नाम बहिरात्मा—मिथ्यादृष्टि जीव है। चाहे तो वह साधु हुआ हो बाह्य से, परन्तु अन्तर से तो वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। समझ में आया? पोपटभाई! साधु हुआ हो बाहर से नग्नमुनि... बाहर से कहा न! अट्ठाईस मूलगुण पालता हो। अट्ठाईस मूलगुण अर्थात् विकल्प है, वह शुभराग है, पुण्यास्रव है। वही धर्म है और उससे मुझे धर्म होगा—ऐसी (मान्यतावाले) आत्मा को भगवान बहिरात्मा, जो आत्मा

के स्वभाव में नहीं उसे अपना मानना, उसको बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि कहते हैं। वह जैन नहीं है।

तो कहते हैं कि **अंतर आतमा...** अन्तर अपना निज शुद्ध ध्रुव नित्यानन्दस्वरूप, उसको अपना मानकर राग से पृथक् अपना ज्ञान रखते हैं, उसका नाम अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि धर्मी उसको कहने में आता है। समझ में आया? तो '**धोबी अंतर आतमा...**' अन्तर स्वरूप का दृष्टिवन्त, राग और पुण्य से विमुक्त प्रभु आत्मा की जिसको दृष्टि हुई, वह धोबी अन्तरात्मा। वह अन्तरात्मा धोबी हुआ। (अन्तरात्मा) क्या करता है? कि '**भेदग्यान साबू भयौ...**' राग से पृथक् (का) ज्ञान करना, वह साबुन है। अन्तरात्मा, वह सम्यग्दृष्टि लिया। तीनों बोल समा लिये हैं सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र। समझ में आया?

संवर अधिकार है न! आत्मा शुद्ध चैतन्य सिद्धस्वरूपी आत्मा, उसको अन्तर पकड़ करके राग और विकल्प को छोड़कर जो अन्तरात्मा हुआ, वह भेदज्ञान साबुन से क्रम-क्रम से राग को भिन्न करते... करते... करते... '**भेदग्यान साबू भयौ, समरस निरमल नीर...**' समता—रागरहित परिणाम—वीतरागी परिणाम समरस निर्मल (नीर) में... अन्तरात्मा राग से भिन्न अनुभव करनेवाला धर्मी जीव भेदज्ञान से क्रम-क्रम से राग को भिन्न करते... करते... समतारस में अपने आत्मा को रखता है। '**समरस निरमल नीर, धौवै निजगुन चीर...**' आनन्द और ज्ञानगुण की दशा में रागादि जो है, उसको निकाल देता है। जेठाभाई! गजब भाई ऐसी क्रिया! यह दर्शन, ज्ञान और चारित्र।

'**भेदग्यान साबू भयौ,**' और अन्तरात्मा धोबी और उसे समताभाव (है अर्थात्) पुण्य और पाप दोनों एक सरीखे हैं। '(ये) मेरी चीज़ में नहीं' ऐसी जिसको वीतरागता, वैराग्यता—अन्तर में वैराग्यता प्रगट हुई है। यह समरस निर्मल नीर में राग-द्वेष के परिणाम आत्मा की परिणति में से निकाल देते हैं, छोड़ देते हैं। उसका नाम भेदज्ञान और धर्म कहने में आता है। ऐ सेठी! क्या करना, यह कहते हैं। यह करना।

मुमुक्षु : धोबी हो जाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : देहादि तो जड़-मिट्टी है, उससे तो कुछ सम्बन्ध है नहीं।

अन्दर में पुण्य और पाप—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव होता है और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोगवासना का हो, तो दोनों ही भाव विभाव—विकार है। उससे भेद करके अन्तरात्मा हुआ हो, वह भेदज्ञानी जीव—अन्तरात्मा अपने समतारस में मलिन परिणाम को धोता है। समझ में आया? उसका नाम संवर है। अरे, गजब बात! यह बाहर का तो कुछ आया नहीं इसमें?

मुमुक्षु : है ही नहीं न।

पूज्य गुरुदेवश्री : है ही नहीं?

अर्थ में कहा, देखो! **सम्यग्दृष्टिरूप धोबी...** यह तीसरे पद का अर्थ किया है। तीसरे पद का अर्थ किया है। **भेदविज्ञानरूप साबु और समतारूप निर्मल जल से आत्मगुणरूप वस्त्र को साफ करते हैं।** उसका नाम धोबी अन्तरात्मा कहने में आता है। आहाहा!

अब भेदज्ञान की क्रिया के दृष्टान्त। आत्मा चैतन्यदल ध्रुव पूर्णानन्द प्रभु अपना स्वरूप, उससे भिन्न जो कोई विकल्प उठते हैं दया, दान, व्रत, भक्ति आदि, वह राग है। उसको जैसे धूलधोया... क्या कहते हैं धूलधोया को? ऐ पण्डितजी!

मुमुक्षु : रजशोधा।

पूज्य गुरुदेवश्री : रजशोधा। न्यारीया-न्यारीया... क्या कहते हैं? उसमें लिखा है? कौन... ? लिखा है उसमें? नहीं है, यह शब्द नहीं है। धूलधोया। धूल। न्यारीया होता है न (जो) सोनी (के) पास धोते हैं न धूल। न्यारीया है नहीं उसके अर्थ में। रात्रि में तो तुमको पूछा था। उसमें है नहीं। यहाँ तो रजशोधा आया है पाठ में। समझ में आया? धूल शोधनेवाला।

★ ★ ★

काव्य - १०

भेदविज्ञान की क्रिया के दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसे रजसोधा रज सोधिकैं दरब काढ़ै,
पावक कनक काढ़ि दाहत उपलकौं।
पंकके गरभमैं ज्यौं डारिये कुतल फल,
नीर करै उज्जल नितारि डारै मलकौं।।
दधिकौ मथैया मथि काढ़ै जैसे माखनकौं,
राजहंस जैसैं दूध पीवै त्यागि जलकौं।
तैसैं ग्यानवंत भेदग्ज्ञानकी सकति साधि,
वेदै निज संपति उछेदै पर-दलकौं।।१०।।

शब्दार्थ:-रज=धूल। दरब (द्रव्य)=सोना चाँदी। पावक=अग्नि। कनक=सोना। दाहत=जलाता है। उपल=पत्थर। पंक=कीच। गरभ=भीतर। कुतक फल=निर्मली। वेदै=अनुभव करे। उछेदै (उच्छेदै)=त्याग करे। पर-दल=आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थ।

अर्थ:-जैसे रजसोधा धूल शोधकर सोना चाँदी ग्रहण कर लेता है, अग्नि धाउ को गलाकर सोना निकालती है, कर्दम में निर्मली डालने से वह पानी को साफ करके मैल हटा देती है, दही का मथनेवाला दही मथकर मक्खन को निकाल लेता है, हंस दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है; उसी प्रकार ज्ञानी लोग भेदविज्ञान के बल से आत्म-सम्पदा ग्रहण करते हैं और राग-द्वेष आदि वा पुद्गलादि परपदार्थों को त्याग देते हैं।।१०।।

काव्य - १० पर प्रवचन

‘**जैसे रजसोधा रज सोधिकैं दरब काढ़ै।**’ देखो, काढ़े शब्द आता है हिन्दी में? यह हिन्दी का शब्द है।

जैसे रजसोधा रज सोधिकैं दरब काढ़ै,
पावक कनक काढ़ि दाहत उपलकौं।
पंकके गरभमैं ज्यौं डारिये कुतल फल,
नीर करै उज्जल नितारि डारै मलकौं॥
दधिकौ मथैया मथि काढ़ै जैसे माखनकौं,
राजहंस जैसैं दूध पीवै त्यागि जलकौं।
तैसैं ग्यानवंत भेदग्ज्ञानकी सकति साधि,
वेदै निज संपति उछेदै पर-दलकौं॥१०॥

जैसे रजसोधा... उसमें लिखा है अर्थ में? **जैसे रजसोधा, धूल शोधकर सोना-चाँदी को ग्रहण कर लेता है।** शब्द यही प्रयोग किया है। क्या कहते हैं? कि जो रज का—धूल का शोधनेवाला है... उसमें 'द्रव्य' आया न। रज शोधी द्रव्य काढ़े। सोने का टुकड़ा हो, वह निकाल ले, रज में से निकाल ले। तो उसको पहिचानने में आता है या नहीं? कि यह रज है और यह सोना है। पहिचान बिना कैसे सोना निकाले और रज को कैसे निकाल दे? क्योंकि धूल में रज होती है... सूक्ष्म धूल और पीतल का टुकड़ा—बारीक टुकड़ा भी होता है पीला। और यह चूड़ी होती है न चूड़ी, तो चूड़ी में पीला सळ होता है न पीला सळ, तो वह भी चूरा हो तो उसका टुकड़ा पीला हो जाता है। तो रज, पीला टुकड़ा और पीतल के थोड़े रजकण—उसको पहिचानते हैं कि यह पीतल है, यह काँच है और यह रज है। और उसमें सोना भिन्न है। सोने की पीलाश विशेष, चिकनाई विशेष और वजन विशेष। समझ में आया? सोना, पीतल, चूड़ी के टुकड़े, धूल—प्रत्येक (वस्तु) भिन्न है, ऐसा उसको उस प्रकार का भेदज्ञान है। तो **'रजसोधा रज सोधिकै दरब काढे...'** उसमें से सोना ले लेवे। समझ में आया? दृष्टान्त तो बहुत ऊँचा दिया है, समझ में आये ऐसा।

'ऐसे ग्यानवंत भेदज्ञानकी सकति साधि...' अन्तिम के पद के साथ में सम्बन्ध है। ऐसे धर्मी जीव 'मैं तो ज्ञानप्रकाश का नूर, आनन्द का पूर हूँ।' **'ऐसे ग्यानवंत भेदज्ञानकी सकति...'** पुण्य-पाप का विकल्प हो शुभ या अशुभ... जैसे वह पीतल का टुकड़ा हो, चूड़ी का... बंगडी कहते हैं न? अन्दर हो न सळ पीला, तो टुकड़ा हो जाता

है बारीक-बारीक। बहुत बारीक-बारीक। और धूल, तीनों को पहिचानता है। और सोना भिन्न (है ऐसा) पहिचानता है। ऐसे धर्मी—ज्ञानी जड़ शरीर की क्रिया को पहिचानते हैं कि यह जड़ है। कर्म के उदय की क्रिया पहिचानते हैं कि यह संयोग मिला और राग-द्वेष हुआ। समझ में आया? आहाहा! पुण्य और पाप के विकल्प तो पीतल के टुकड़े जैसा है। समझ में आया?

उसमें भी शुभभाव पीतल का टुकड़ा जैसा और अशुभभाव चूड़ी के पीले टुकड़े जैसा है और शरीर की क्रिया रज—धूल जैसी। समझ में आया? (ऐसे) आत्मा भेदज्ञान से शरीर से, शरीर की क्रिया से, पुण्य-पाप के विकल्प शुभ-अशुभ दोनों ही से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप को... (जैसे) रजशोधा रज को शोध करके द्रव्य निकालता है, सोना ले लेता है; उसी प्रकार धर्मी अपने आनन्द और ज्ञानस्वभाव को पकड़कर राग से भिन्न होकर अनुभव करता है। ऐसी बात! समझ में आया? देखो, यह तो बनारसीदास ने लिखा है इसमें।

'जैसे रजसोधा रज सोधिकैं दरब काढ़ै...' देखो, द्रव्य का अर्थ किया सोना-चाँदी। मूल तो सोना (है, परन्तु) सोना-चाँदी (कहा) है। यह दृष्टान्त। इसी प्रकार धर्मी जीव अपने स्वरूप में से, पुण्य-पाप के विकल्प और शरीर की क्रिया से भिन्न अपना स्वरूप है, ऐसे आनन्द और ज्ञान को अनुभव करता है और रागादि क्रिया को अन्दर से दूर करता है। आहाहा! समझ में आया? बहुत कठिन क्रिया ऐसी। ऐई बसन्तलालजी! धर्म की क्रिया कठोर कहते हैं, बहुत कठिन है। भगवान! कठिन नहीं है, तेरी चीज़ में है। तेरी चीज़ में है, तू चैतन्यप्रकाश का पूर है। चैतन्य का नूर और चैतन्यज्ञानस्वभावी तेरी चीज़ है। वह पुण्य-पाप का विकल्प, शरीर आदि तेरी चीज़ नहीं है। जैसे रजधोया रज को दूर करके सोना निकाल लेता है, उसी प्रकार धर्मी रागादि को दूर करके अपने ज्ञान और शान्ति के स्वभाव का अनुभव करता है, उसका नाम धर्म है। समझ में आया? दुनिया से दूसरी चीज़ है सब।

'जैसे रजसोधा रज सोधिकैं दरब काढ़ै, पावक कनक काढ़ि दाहत उपलकौं।' दूसरा दृष्टान्त। पावक अर्थात् अग्नि सोना लेकर, उपल अर्थात् पत्थर को जला डाले,

भिन्न कर दे। है न अन्दर! **अग्नि धातु को गलाकर सोना निकालती है।** अग्नि-अग्नि। कुलड़ी में होता है न सोना आदि, अग्नि (भिन्न) करते-करते सोना आदि निकाल लेती है और उसमें जो पीतल का और कथीर का भाग हो, वह निकाल देती है। अग्नि, अग्नि का ऐसा स्वभाव है। जैसे अग्नि शुद्ध स्वभाव (रूप) कनक को निकालकर—सोना को लेकर, उपल को—पत्थर को दाहत—जला देती है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव—धर्म का करनेवाला धर्मात्मा, अपनी ज्ञानाग्नि से सुवर्ण (समान) अपना भाव शुद्ध है, वह निकाल लेता है और राग के भाव को पत्थर जानकर जला देता है। गजब धर्म भाई ऐसा! समझ में आया?

'**पावक कनक काढ़ि दाहत उपलकौं।**' पत्थर को जलाकर नाश कर देती है अग्नि। उसी प्रकार '**ग्यानवंत भेदग्यानकी सकति साधि, वेदै निज संपत्ति उछेदै पर-दलकौं...**' ऐसा है न अन्तिम योगफल। धर्मात्मा अपनी निज सम्पत्ति आनन्द और ज्ञानस्वभाव को अनुभव करते हैं। जैसे कनक का दृष्टान्त दिया था। निज सम्पत्ति स्वर्ण समान आनन्द और ज्ञानस्वरूप की निज सम्पदा, उसको वेदते हैं, अनुभवते हैं, '**उछेदै पर-दलकौं...**' पुण्य-पाप के विकल्प को उच्छेद करते हैं—नाश करते हैं। लो, यह धर्मात्मा की भेदज्ञान क्रिया। भारी कठिन भाई! समझ में आया?

तीसरा। '**पंकके गरभमैं ज्यौं डारिये कतक फल...**' पानी में—जल में जो कादव दिखता है, उसे निर्मली औषधि डालकर जल और मैल को भिन्न करते हैं, पृथक् कर देते हैं। है उसमें, देखो। **कर्दम में निर्मली डालने से वह पानी को साफ करके मैल हटा देती है।** जल-जल मैला हो तो निर्मली औषधि से भिन्न कर देते हैं। भेदज्ञान का दृष्टान्त है न! ऐसे धर्मी अपने आनन्द और ज्ञानस्वरूप से अपने में वेदन करते हैं (और) राग को निकाल देते हैं। समझ में आया? कतकफल का दृष्टान्त भेदज्ञान की अपेक्षा से है। पानी में जैसे कादव दिखता है, वैसे भगवान आत्मा में पुण्य-पाप का मैल जो दिखता है, उसको निकाल देते हैं।

'**पंकके गरभमैं ज्यौं डारिये कतक फल, तैसे ग्यानवंत भेदग्यानकी सकति साधि।**' ऐसे धर्मी जीव चाहे तो शरीर स्त्री का हो, पुरुष का हो, नारकी का हो, स्वर्ग

का (-देव का) हो, परन्तु पर से भेदज्ञान करके अपना स्वरूप साधते हैं और राग को निकाल देते हैं। आहाहा! कठिन यह दृष्टान्त आये ऊपराऊपरी! अभी दृष्टान्त है। '**नीर करै उज्ज्वल नितारि डारै मलकौं...**' जल को उज्ज्वल कर डाले निर्मली औषधि से और मल को नितार डाले। मल को छोड़ दे। उसी प्रकार भगवान आत्मा अपने शुद्ध निर्मल स्वभाव में दृष्टि करके अपने निर्मल परिणाम को अनुभवते हैं और राग को दूर कर देते हैं। राग मैल है। चाहै तो शुभराग हो या चाहे तो अशुभराग हो, मैल को निकाल देते हैं। लो, तीन दृष्टान्त हुए। पाँच दृष्टान्त हैं।

'**दधिकौ मथैया मथि काढ़ै जैसे माखनकौं... दधिकौ मथैया...**' यह दही को मथते हैं न दही को। क्या कहते हैं? जेरणी, मथनी... मथनी। वह दही में लकड़ी की मथनी नहीं डालते हैं?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : जेरनी। जेर करते हैं जेर। दही होता न, उसे जेर करे। '**दधिकौ मथैया मथि काढ़ै...**' ऐसा शब्द है। **दही का मथनेवाला दही मथकर मक्खन को निकाल लेता है।** मक्खन निकाल ले और छाछ दूर करे। छाछ समझे मठ्ठा। उसी प्रकार आत्मा अपना ज्ञानस्वभाव का अनुभव करता है और मठ्ठा समान रागादि विकल्प को दूर कर देता है। आहाहा! कहो, सेठी! दृष्टान्त तो बहुत बड़ा....

मुमुक्षु : अच्छा दृष्टान्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा दृष्टान्त हे। दृष्टान्त से तो सिद्धान्त समझने में सरल पड़ता है। '**दधिकौ मथैया मथि काढ़ै जैसे माखनकौं...**' अपने निर्मल शुद्धस्वरूप को राग से भिन्न करने की मंथन क्रिया से अपने आनन्दस्वरूप को निकाल लेते हैं और रागादि पानी के समान (जानकर) छोड़ देते हैं।

'**राजहंस जैसैं दूध पीवै त्यागि जलकौं,**' लो, पाँचवाँ दृष्टान्त। राजहंस हों, साधारण हंस नहीं लिया। राजहंस। '**राजहंस जैसैं दूध पीवै**' जल और दूध एक स्थान में हो, परन्तु राजहंस है, वह दूध पी लेता है, जल निकाल देता है। '**राजहंस जैसैं दूध पीवै त्यागि जलकौं**' जल को छोड़ देता है, दूध की लच्छी करता है। लच्छी अकेली

(उसको) पीवे, जल छोड़ दे। '**तैसें ग्यानवंत भेदग्यानकी सकति साधि।**' लो, यह दृष्टान्त आये (महावीर) भगवान के जन्म दिवस में। पाँच तो दृष्टान्त आये।

मुमुक्षु : पंच परमेष्ठी....

पूज्य गुरुदेवश्री : पाँच दृष्टान्त आये। भाई!

भगवान! तुम तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप हो, प्रभु! राग से भिन्न क्रिया, वह तेरी क्रिया है। भगवान महावीर ने केवलज्ञान में यह कहा। ज्ञानवन्त भेदज्ञान की शक्ति... भेदविज्ञान की शक्ति को साधा, ऐसा है न? अन्तर में राग और पुण्य से भिन्न होकर **ज्ञानी लोग भेदविज्ञान के बल से आत्म-सम्पदा ग्रहण करते हैं,....** आत्मसम्पदा का अनुभव करते हैं। आहा! '**उछेदै पर-दलकौं...**' पुण्य-पाप के भाव को निकाल देते हैं। **पुद्गलादि पर पदार्थों को त्याग देते हैं।** पुण्य-पाप के विकल्प, वे वास्तव में पुद्गल ही हैं, अपना आत्मस्वभाव है ही नहीं। कहो, समझ में आया?

'**वेदै निज संपति...**' यहाँ तो निज सम्पत्ति (अर्थात्) आनन्द का वेदन करे, अनुभव करे, वह आत्मा और राग का—अनात्मा का अनुभव छोड़ दे, उसका नाम आत्मा। मगनभाई! बात गजब! अब इसमें दुकान का करना या लड़के का करना? किसका करना?

मुमुक्षु : कौन करे प्रभु? आप तो भिन्न कराते हो सब प्रकार से।

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्न हो, वह भिन्न पड़े या भिन्न न हो और भिन्न पड़े?

मुमुक्षु : हो वह। भिन्न ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत सरस। पाँच दृष्टान्त आये। न्यारीया का—रजशोधा का, अग्नि का, जल और कादव का, दही मथन का, राजहंस का। आहाहा!

प्रभु! तेरा चैतन्यदल आनन्दस्वरूप है। आहाहा! शरीर तो मिट्टी-जड़ है। वह तो अजीवतत्त्व होकर रहा है और पुण्य-पाप का विकल्प तो आस्रवतत्त्व होकर रहा है। तुम तो आनन्द और ज्ञान होकर रहे हो। तो राग से—विकल्प से... राजहंस जैसे निकाल देते हैं, पानी को और दूध पीते हैं, उसी प्रकार आत्मा अपना शुद्ध शुद्ध पवित्र स्वरूप को

अनुभवता है और राग को दूर कर देता है। अरे! इसे अनुभवे तो राग दूर हो जाता है। उपदेश में कथन कैसे आवे? आहाहा!

देखो, यह धर्म! ऐसा धर्म? कहे। इसका नाम संवर, उसका नाम संवर कहते हैं। संवर, ऐसे बाहर त्याग करके बैठा और संवर हो गया, ऐसा संवर है नहीं। अपना भगवान सच्चिदानन्दस्वरूप है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने आत्मा को महामहिमावन्त कहा है। यह जो महिमावन्त आत्मपदार्थ है, उसकी महिमा करके आनन्द वेदना और राग की महिमा छोड़ देना। पुण्य-पाप के विकल्प की महिमा छोड़ देना, उसका नाम भेदज्ञान और धर्म है। आहाहा! पैसे से धर्म होता है और धूल से होता है। पैसे में तो बहुत प्रसन्न-प्रसन्न हो। ऐ मलूकचन्दभाई! पैसेवाला हो, ऐसा होगा तो कभी धर्म करेगा, पैसा हो तो धर्म करेगा। क्योंकि पैसा-बैसा खर्च करेगा। खर्च करे उसमें कहाँ धर्म होता है? धूल में? वह तो जड़ है। जड़ से तो आत्मा भिन्न है। जड़ को मैं देता हूँ—देता हूँ, यह तो महामिथ्यादृष्टि मानता है, वह बहिरात्मा है। उससे—पैसे से धर्म होता है? पैसा किसके देते हैं यहाँ, धर्म नहीं होता है तो? ऐसा कहते हैं न लोग। लो।

मुमुक्षु : कौन दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : पूछा था, कितने पैसे आये इसमें? क्या कहलाता है तुम्हारा यह आगम? पूछा था। पत्र लेकर आये थे न मगनभाई का। तुम्हारा पत्र लेकर आये थे प्रवीणभाई। दो पत्र थे कोई। आज आये। मैं आहार करके घूमता था, वहाँ लेकर आये। मगनभाई आनेवाले हैं। क्या कहा अभी?

मुमुक्षु : दो पत्र लेकर....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दो। कुछ था सही दूसरा?

मुमुक्षु : पुस्तक....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पुस्तक मोक्षमार्गप्रकाशक इनकी ओर से पच्चीस देना और वे आनेवाले हैं, ऐसा कहते थे। वह तो आज मुझे कहा।

यहाँ तो कहते हैं, तेरी कोई चीज़ है, उसमें कोई शक्ति है या नहीं? तू है आत्मा तो तुझमें कुछ शक्ति है या नहीं? क्या राग और पुण्य-पाप वह तेरी शक्ति है? दया, दान, शरीर, मन, वाणी, लक्ष्मी वह तेरी शक्ति है? वह तो जड़ है। तेरी शक्ति तो अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान, वह तेरी शक्ति है। उस शक्ति की सम्हाल करना और रागादि की सम्हाल छोड़ देना, उसका नाम भेदज्ञानरूपी धर्म कहने में आता है। अभी एक कलश... कलश नहीं। **मोक्ष का मूल भेदविज्ञान है**। लो! मोक्ष का मूल भेदविज्ञान। १२८ पृष्ठ पर।

★ ★ ★

काव्य - ११

मोक्ष का मूल भेदविज्ञान है (छप्पय छन्द)

प्रगटि भेद विग्यान, आपगुन परगुन जानै।
पर परनति परित्याग, सुद्ध अनुभौ थिति ठानै।।
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परगासै।
आस्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै।।
छय करि विभाव समभाव भजि,
निरविकलप निज पद गहै।
निर्मल विसुद्धि सासुत सुथिर,
परम अतीन्द्रिय सुख लहै।।११।।

शब्दार्थ:-परित्याग=छोड़कर। थिति ठानै=स्थिर करे। परगासै (प्रकाशै)=प्रगट करे। निरोधि=रोककर। तिमिर=अन्धकार। समभाव=समताभाव। भजि=ग्रहण करके। सासुत (शाश्वत)=स्वयंसिद्ध। सुथिर=अचल। अतीन्द्रिय=जो इन्द्रियगोचर नहीं।

अर्थ:-भेदविज्ञान आत्मा के और परद्रव्यों के गुणों को स्पष्ट जानता है, परद्रव्यों से आपा छोड़कर शुद्ध अनुभव में स्थिर होता है और उसका अभ्यास करके संवर को प्रगट

करता है, आस्रवद्वार का निग्रह करके कर्मजनित महा अन्धकार नष्ट करता है, राग-द्वेष आदि विभाव छोड़कर समताभाव ग्रहण करता है और विकल्परहित अपना पद पाता है तथा निर्मल, शुद्ध, अनन्त, अचल और परम अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करता है।।११।।

काव्य - ११ पर प्रवचन

प्रगटि भेद विग्यान, आपगुन परगुन जानै।
पर परनति परित्याग, सुद्ध अनुभौ थिति ठानै॥
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परगासै।
आस्त्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै॥
छय करि विभाव समभाव भजि,
निरविकलप निज पद गहै।
निर्मल विसुद्धि सासुत सुथिर,
परम अतीन्द्रिय सुख लहै॥११॥

एकदम मक्खन है यहाँ तो पद में। '**प्रगटि भेद विग्यान...**' जिसको अपने आत्मा में, शरीर, वाणी, कर्म और पुण्य-पाप का भाव से अपना आत्मा भेद है—भिन्न है, ऐसा भेदविज्ञान प्रगट होता है। '**आपगुन परगुन जानै...**' मैं ज्ञान और आनन्द हूँ, यह आपगुण और पुण्य-पाप का विकल्प, यह परगुण। आहाहा! समझ में आया? '**प्रगटि भेद विग्यान, आपगुन परगुन जानै...**' भेदविज्ञान बिना अपना स्वरूप और पर का स्वरूप जानते नहीं। आहाहा! 'मैं एक आतमराम निजानन्दस्वरूप हूँ'—ऐसा अपने गुण को, ज्ञानी—धर्मात्मा चौथे गुणस्थानवाला अविरत सम्यग्दृष्टि हो तो भी अपना स्वभाव ज्ञान और आनन्द है, ऐसा जाने और परगुण जाने। रागादि विकल्प, वह परभाव—परद्रव्य पुद्गल का परिणाम है, अपना नहीं। आहाहा! शरीर तो जड़ है, परन्तु पुण्य का भाव भी जड़ है। वह परगुण है, अपना गुण है नहीं। आहाहा! गले उतरना कठिन। नजर पड़े नहीं और नजर पड़े बिना यह समझ में आये नहीं, ऐसा कहते हैं, देखो!

'**प्रगटि भेद विग्यान, आपगुन परगुन जानै...**' आत्मा में अन्तर्मुख दृष्टि करने से,

अपने में दृष्टि करता (हुआ) अपने निजगुण को जाने। 'मैं तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द हूँ और परगुण दया, दान का विकल्प आदि वह पर है।'—ऐसा भेदज्ञानी अपने आत्मज्ञान के बल से जानते हैं। अरे, अरे! सब निश्चय की बातें, अध्यात्म की बातें, उसमें व्यवहार कहीं आता नहीं? कहे, आया न! व्यवहार से मैं भिन्न हूँ, ऐसा भान करना और व्यवहार को छोड़ना, उसका नाम भेदज्ञान। दृष्टि में से व्यवहार को छोड़ना, वह आता है या नहीं? आहाहा!

'**प्रगटि भेद विग्यान, आपगुन परगुन जानै...**' यहाँ तो यह कहा कि राग से—मलिनता से (भिन्न) अपना निर्मलानन्द प्रभु भेदज्ञान करके जानने में आता है, तब अपना गुण और परगुण जानने में आता है। समझ में आया? '**पर परिनति परित्याग...**' अपना निजगुण जाने और रागादि परगुण है, ऐसा जाने। '**पर परिनति परित्याग...**' परपरिणति के ऊपर से लक्ष्य छूट गया है और अपने स्वभाव में लक्ष्य आ गया है, तो परपरिणति का त्याग करे, ऐसा कहने में आता है। परपरिणति, देखो! पुण्य-पाप के भाव को परपरिणति कहा। है या नहीं?

परद्रव्यों से आपा छोड़कर शुद्ध अनुभव में स्थिर होता है,... लो। '**पर परिनति परित्याग...**' अपना शुद्ध चैतन्य ज्ञाता-दृष्टास्वभाव त्रिकाली, उसमें एकाकार होकर, परपरिणति का त्याग करे। विकल्प आदि मलिन परिणाम मुझमें आते नहीं। आती है, वह शुद्ध चैतन्यमूर्ति अपनी परिणति आती है। गजब! '**सुद्ध अनुभौ थिति ठानै...**' शुभ या अशुभ विकल्प जो राग है, उसको छोड़कर शुद्ध अनुभव (करता है)। पुण्य-पाप का भाव तो अशुद्ध है—मलिन है। कठिन बात, भाई! उसे छोड़कर '**सुद्ध अनुभौ थिति ठानै...**' शुद्ध अनुभव में स्थिर रहे, ऐसा। इसलिए वहाँ दृष्टि में एकाकार हो। भारी क्रिया! ऐसी वस्तु-बिना जन्म-मरण मिटे, ऐसा नहीं है, कहते हैं।

ऐसी बातें करने से कहीं वडा पके नहीं। ऐसा नहीं कहते अपने लोक में? समझते हो, बातें करने से वडा नहीं पकते? पण्डितजी! नहीं समझते हैं। वडा नहीं कहते? वडा नहीं होता? उड़द का-उड़द का। वडा होता है न!

मुमुक्षु : उड़द के।

पूज्य गुरुदेवश्री : वडा कहलाता है। वह उड़द का, मूँग का नहीं होता?

मुमुक्षु : वडा ही कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वडा कहते हैं। तो बातें करने से वडा पके?

मुमुक्षु : चूल्हे के ऊपर हो तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : चूल्हे के ऊपर हो, तेल हो, उड़द हो और (बनाना) आता हो वापस। ऐसा का ऐसा आटा रखे तो पक जाये? वडा होता है न! अन्दर पोला रखे जरा। पोला (रखे) तो व्यवस्थित पके। यह क्रिया करे तो पके। इसी प्रकार राग से भिन्न करे तो आत्मा पके।

मुमुक्षु : क्रिया है सही।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्रिया है। धर्मचन्दजी! यह लोग कहते हैं न, यह सोनगढ़ का निश्चय... निश्चय... परन्तु निश्चय अर्थात् सच्चा। व्यवहार अर्थात् उपचार और खोटा। आहाहा!

रस लग गया है न बाहर में। ऐ गिरधरभाई! रस है, राग का रस। राग के पर्दे के पीछे प्रभु पवित्र सच्चिदानन्द प्रभु सिद्ध समान विराजता है। उसकी ओर नजर नहीं तो महिमा नहीं (और) राग से भिन्न की अधिकता भासती नहीं। समझ में आया? '**सुद्ध अनुभौ थिति ठानै...**' वहाँ स्थिर होता है, कहते हैं। रागादि को छोड़कर शुद्ध चैतन्यदल में स्थिरता करे, वह अनुभव। '**करि अनुभौ अभ्यास...**' लो, यह अभ्यास। शास्त्र का अभ्यास, वह (अभ्यास) नहीं। आत्मा शुद्ध आनन्द का अभ्यास करे अन्दर। अतीन्द्रिय आनन्दरस स्वरूप का अन्तर में अभ्यास—एकाग्रता करे, '**सहज संवर परगासै...**' वहाँ स्वाभाविक धर्म प्रगट होता है, प्रगट होता है। अनुभव अभ्यास में स्वाभाविक धर्मप्रकाश होता है, ऐसा कहते हैं। यह तो गजब! यह सब करे, वह कहाँ गया तब यह? व्रत करे और अपवास करे।

मुमुक्षु : संसार बढ़े....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह संसार के लिये करते होंगे सब?

मुमुक्षु : वह तो सब भ्रमणा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसे संसार है या राग है, इसकी खबर कहाँ है? यह भक्ति की भगवान की, यात्रा की, व्रत ले लिया, हो गया धर्म। धूल में भी धर्म नहीं, सुन तो सही! यह तो विकल्प है, राग है। यहाँ तो कहते हैं कि राग का अभ्यास छोड़कर चैतन्य का अभ्यास करे। देखो न, अभी पैसे के लिये यह लड़के कितना अभ्यास करे! परसों कुछ परीक्षा होनेवाली है दसवीं तारीख। बेचारे इतनी मेहनत करते हैं। आहाहा! परन्तु आत्मा के अभ्यास के लिये समय नहीं मिलता, नहीं मिलता समय। कहे, मर जायेगा, तब मिलेगा अब।

मुमुक्षु : वह समय ही देखता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐ नटुभाई! परन्तु माया ने चारों ओर घेरा डाला है वापस। लो।

परन्तु तू अन्दर ज्ञानानन्दस्वरूप तेरी चीज़ है। आहाहा! तू सुख से और आनन्द से खाली नहीं है। शान्ति और आनन्द से खाली नहीं है। भगवान! तुझे खबर नहीं। तेरी चीज में क्या है, वह कैसे प्राप्त हो? अनन्त काल में कुछ किया नहीं। धर्म के नाम से भी क्रिया करो और यह करो और यह प्रौषध करो। कहते हैं, अनुभव का अभ्यास कभी किया नहीं। वह अनुभव अभ्यास कर। भगवान आत्मा इस पुण्य-पाप के भाव से रहित है, उसका अनुभव कर। '**सहज संवर परगासै...**' वहाँ स्वाभाविक धर्म की दशा प्रगट होती है। '**आस्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै...**' पुण्य और पाप की वृत्तियाँ उठती हैं, वे विकार और आस्रव-बन्ध का कारण है। उसको रोककर '**करमघन...**' कर्म का घन पिण्ड और अज्ञान को विनाशे। **कर्मजनित महा अन्धकार नष्ट करता है...** ऐसा लिखा है। कर्मघन... ऐसा कि कर्म जो जड़ है, उससे उत्पन्न हुई अज्ञानदशा, वह तिमिर—अन्धकार विनाशे।

चैतन्यप्रकाश का प्रभु नूर का पूर आत्मा, उसका अन्तर प्रकाश अनुभव में आवे और अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करता है, उसे धर्मी और धर्म कहा जाता है। आहाहा! गजब भाई धर्म ऐसा! यह सब लाखों-करोड़ों लोग हो-हा करते होंगे न। उसमें युवकों को तो (ऐसा होता है कि) यह और क्या धर्म होगा ऐसा? जेठाभाई! यह

शरीर-बरीर ठीक हो, चमड़ी कुछ रूपवान हो, पैसा दो-पाँच-दस लाख हो, दो-पाँच हजार का वेतन हो मासिक, हो गया, मैं चौड़ा और गली सकड़ी। आहाहा! छोटाभाई! महीने में दो-चार हजार कमाता हो। रळतो समझे? कमाता हो।

मुमुक्षु : वह तो कर्मी कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्मी—कर्म का करनेवाला कहलाये। धर्मी नहीं कहीं, वह तो कर्म का करनेवाला है। लोग ऐसा कहते हैं न, हमारे कुल में कर्मी पका। ऐसा कहते हैं न! या धर्मी पका? ऐसा कहते हैं कि कर्मी पका। हमारे कनुभाई पके, वे बड़े जज हुए अहमदाबाद में। कहाँ गये वासुदेव? हमारे कुटुम्ब में कर्मी पका। कर्मी (अर्थात्) कर्म करनेवाला न? अधर्म करनेवाला न? धर्मी नहीं न? नटुभाई! आहाहा! बापू! तेरी चीज़ कोई अलग है। आहाहा! अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ आत्मा है। उसकी इसे खबर कहाँ है? जहाँ-तहाँ झपट्टे डालकर यहाँ सुख है, यहाँ सुख है, यहाँ सुख है। तब कहे, धर्मी हो उसे भी अभी तो ऐसा हो धर्मी को? होता नहीं भाई! होता है, धर्म का भान होने पर भी उसके स्त्री, पुत्र, राजपाट दिखाई दे, परन्तु अन्दर में उससे भिन्न अनुभव करता होता है। आहाहा! समझ में आया?

'**आस्त्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै, छय करि विभाव।**' देखो, वापस यह आया। शुभ-अशुभभाव का विकल्प है, उसे क्षय करके—नाश करके अपने आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होकर समभाव भजे। शान्ति... शान्ति... वीतरागता, निर्दोषता आत्मा की सेवन करे, वीतरागभाव को आत्मा सेवन करे, उसका नाम संवर और धर्म कहते हैं। आहाहा! '**निरविकलप निज पद गहै**', लो। आत्मा अन्दर निर्विकल्प सच्चिदानन्द प्रभु है। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, सनाथ है। वह सुख से सनाथ है, दुःख से सनाथ नहीं। ऐसा आत्मा अन्तर्मुख वस्तु उसे... निर्विकल्प है, वह वस्तु। भेदरहित, रागरहित अभेद चीज़ अन्तर, वह निजपद। अपना '**निज पद गहै...**' अपना—निज स्वरूप, उसे ग्रहे। आहाहा! यह आठ वर्ष की बालिका भी यदि धर्म पावे तो निजपद को ग्रहे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! निजपद है न! **समताभाव ग्रहण करता है और विकल्परहित अपना पद पाता है।** शुद्ध पद चैतन्य ज्ञानघन ऐसा अपना पद धर्मी—समकिती—भेदज्ञानी पाते हैं।

'**निर्मल विसुद्धि सासुत सुथिर**', लो। आहाहा! कैसा है भगवान आत्मा? कैसे प्राप्ति करते हैं? अपना स्वरूप, संसार की कल्पना से पार और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, भगवान के नामस्मरण के विकल्प—राग से भी पार ऐसा निर्मल प्रभु अनुभव में आता है। धर्मी को वह निर्मल अनुभव में आता है। '**शुद्ध अनंत अचल**।' आहाहा! परमात्मा स्वयं शुद्ध आनन्दस्वरूप अपना—निज स्वरूप है। उसको प्राप्त करके अनन्त-अनन्त... उसकी पर्याय में भी अनन्तता है। समझ में आया? वस्तु जैसी अनन्त अतीन्द्रियस्वरूप है, उसे राग और विकल्प से भिन्न करके अनुभव में अनन्तता आनन्द की आती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अचल है। अपने निज स्वरूप से चलित नहीं, ऐसा है। **अचल...** आनन्दस्वरूप पर्याय है न? पर्याय लेनी है न यहाँ तो। परम अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करता है, लो। ऐसा परम अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त हो, उसका नाम मुक्ति, उसका नाम मोक्षमार्ग का फल कहते हैं। भेदज्ञान का वह फल है।

★ ★ ★

छट्ठे अधिकार का सार

पूर्व अधिकार में कह आये हैं कि मिथ्यात्व ही आस्रव है, इसलिए आस्रव का निरोध अर्थात् सम्यक्त्व संवर है। यह संवर निर्जरा का और अनुक्रम से मोक्ष का कारण है। जब आत्मा स्वयं बुद्धि से अथवा श्रीगुरु के उपदेश आदि से आत्म-अनात्म का भेदविज्ञान अथवा स्वभाव-विभाव की पहिचान करता है, तब सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है। स्व को स्व और पर को पर जानना इसी का नाम भेदविज्ञान है, इसी को स्व-पर विवेक कहते हैं। 'तासु ज्ञानकौ कारन स्व-पर विवेक बखानौ' की उक्ति से भेदविज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण है। जिस प्रकार कपड़ा साफ करने में साबु सहायक है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में भेदविज्ञान सहायक होता है और जब कपड़े साफ हो जावें, तब साबुन का कुछ काम नहीं रहता और यदि साबुन हो तो एक बोझ ही होता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन हुए पीछे जब स्व-पर के विकल्प की आवश्यकता नहीं रहती, तब भेदविज्ञान हेय ही होता है। भाव यह है कि भेदज्ञान प्रथम अवस्था में उपादेय

है और सम्यग्दर्शन निर्मल हुए पीछे उसका कुछ काम नहीं है, हेय है। भेदविज्ञान यद्यपि हेय है तो भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का कारण होने से उपादेय है, इसलिए स्वगुण और परगुण की परख करके परपरिणति से विरक्त होना चाहिए और शुद्ध अनुभव का अभ्यास करके समताभाव ग्रहण करना चाहिए।

सार पर प्रवचन

छठवें अधिकार का सार। सार है न सार। **पूर्व अधिकार में कह आये हैं कि मिथ्यात्व ही आस्रव है।** पुकार करते हैं। इस जगत में... 'पुण्य के परिणाम से धर्म होता है, राग की क्रिया से धर्म होता है, शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, पर से मुझको कुछ लाभ होता है'—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह ही अधर्म और आस्रव है। आस्रव अर्थात् बन्ध का कारण है। देखो, यहाँ तो मिथ्यात्व को ही आस्रव कहा। पश्चात् राग-द्वेष के परिणाम थोड़े रहते हैं, परन्तु भिन्न हैं, इसलिए उसको मुख्य आस्रव नहीं मानते। आहाहा! क्या कहते हैं? **पूर्व अधिकार में कहा है कि मिथ्यात्व ही आस्रव है।** यह संवर का अधिकार है न! आस्रव का अधिकार आ गया पहले।

विपरीत मान्यता, वह ही संसार और आस्रव और मैल है। एक अंश भी राग और पुण्य को अपना मानना, यह मिथ्यात्व ही आस्रव-बन्ध का कारण है। आहाहा! सिर ऊँचा किया नहीं कभी इसने। क्या चीज़ है और क्या मैं हूँ? क्या करता हूँ? यह तो बिना भान के कूटे। अनादि से धर्म के नाम से करे क्रिया पुण्य की और माने धर्म। आहाहा! कहते हैं, **मिथ्यात्व ही आस्रव है।** '**ही**' ऐसा लिया, देखो। इतना अधिक जोर! भगवान पूर्णानन्द का नाथ आत्मा, अनन्त ज्ञानस्वभाव का भण्डार आत्मा, उसको अल्पज्ञ मानना, रागसहित मानना, देहसहित मानना, कर्मसहित मानना, परसहित मानना—यह मिथ्यात्व है। अपने (को) रहित मानना, (वही) उससे (-पर से) सहित मानना। समझ में आया? उसका नाम मिथ्यात्व। मिथ्यात्व अर्थात् महा—घोर पाप।

यहाँ भगवान ऐसा कहते हैं कि इस जगत में मिथ्यात्व ही बड़ा पाप है। अपना—निज स्वरूप शुद्ध आनन्दकन्द को भूलकर देह, वाणी, मन मेरा है और वह क्रिया मैं

करता हूँ जड़ की और मुझमें जो शुभ-अशुभभाव होते हैं, पुण्य-पाप, वे मेरे हैं और मुझे लाभदायक हैं—ऐसा मिथ्यात्वभाव घोर पाप है। आहाहा! गजब! जो नहीं तेरा, उसको तेरा मानना, वह ही विपरीत (मान्यता) मिथ्यात्व महा—घोर अन्धकार पाप है। मिथ्यात्व ही आस्रव है।

इसलिए आस्रव का निरोध ही सम्यक्त्व संवर है,... ऐसा कहना है न! आहाहा! यह मिथ्यात्व—विपरीत मान्यता... अपना—निज स्वरूप ज्ञानानन्द... ज्ञान और आनन्द का धाम जो (कोई) हो तो यह आत्मा है। आनन्द और ज्ञान दूसरे में है नहीं। ऐसा आनन्द का धाम भगवान आत्मा, उसको छोड़कर, कोई भी पुण्य-पाप के भाव में ठीक है, मजा है, ऐसी मान्यता महा—घोर मिथ्यात्व संसार है और उस मिथ्यात्व को रोकना, वह धर्म और संवर है। आहाहा! समझ में आया? सुख तो मुझमें है, मेरा सुख मुझसे दूर नहीं हो (सकता), दूर की चीज़ में मेरा सुख है ही नहीं। गले उतरना भारी कठिन! मलूकचन्दभाई! यह सब पैसेवाले... देखो न, तुम्हारे लड़के की कितनी महिमा करते हैं...। इतने अधिक पैसे होंगे, करोड़ों होंगे तो कभी धर्म करेगा। धूल भी नहीं धर्म। धर्म कब पैसेवाले को?

पैसेवाला कहना, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। पैसा अर्थात् जड़। जड़वाला आत्मा? शान्तिभाई! क्या होगा यह? आत्मा तो आनन्द और ज्ञानवाला स्वरूप भगवान आत्मा है। उसको पैसेवाला मानना, यह मूढ़ और पाप है बड़ा घोर पाप है। आहाहा! कठिन बात, भाई! इस पाप की तो खबर नहीं और कोई हिंसा करे और बाहर में झूठ बोले (तो कहे) यह पाप है। अरे, सुन न अब! बाहर के झूठे का तो... अन्तर के सत् को असत् मानना—मानना वह बड़ा पाप है। उसको रोकना, वह बड़ा धर्म है। विपरीत अभिप्राय छोड़कर अविपरीत अभिप्राय (रूप) सम्यग्दर्शन, अन्तर स्वरूप की रुचि अनुभव में प्रगट करना, वही संवर है। संवर अर्थात् अधर्म को रोकता है और धर्म होता है। बाकी बाहर से क्रियाकाण्ड से ऐसा करे और फैसा करे धर्म होता है, धूल में भी धर्म नहीं। पाँच-दस लाख की पूँजी हो और दो लाख खर्च कर डाले, धर्म हो गया। लोग उसकी (महिमा करनेवाले) हों न। दस लाख हो और दो लाख खर्च करे तो ओहोहो! ऐ सेठी! धूल में भी धर्म नहीं।

और पैसा मिला, यह हमारे प्रयत्न से मिला है। हमारी व्यवस्था विचक्षण है तो हमको पैसे मिलते हैं। मूढ़ है, पापी है। आहाहा! समझ में आया? ऐ हीराभाई! भारी कठिन काम! होशियार नहीं तो तुम्हारे पिता के पास इतने पैसे नहीं थे, लो! यह लोग बातें करे। आहाहा! अरे! यह बाहर के पैसे—धूल मिलना, वह तो पूर्व के पुण्य के रजकण हो तो आता है, उसमें तुझे क्या आया? वह तो जड़ में रहा है पैसा। पैसा जड़ होकर रहा है। तेरा होकर रहा है? मूढ़ मानते हैं कि मैं पैसेवाला हूँ। वही मूढ़ मिथ्यात्वी अज्ञानी है। यह तो कठिन बात है, भाई! दरबार कहते हैं कि ... पैसेवाले को डण्डे पड़ते हैं।

मुमुक्षु : यहाँ पैसेवाला है ही कहाँ, वह उसे डण्डे पड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो कहते हैं, परवस्तु पर रूप है और स्ववस्तु स्व रूप है। पर को को अपना मानना महा मिथ्यात्वभाव है। अपने स्वरूप को जानकर, पर को पर जानकर दृष्टि में से छोड़ दे, दृष्टि में से, दृष्टि में से, हों! तो उसमें धर्म होता है और संवर होता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)